आचार्य चतुरसेन
का
कथा-साहित्य

लखनऊ विश्वविद्यालय की
पी-एच० डी० के लिए
स्वीकृत
शोध-प्रबंध

लेखक
डॉ० शुभकार कपूर
एम. ए. पी-एच. डी.

प्रकाशक
विवेक प्रकाशन, किशोर बुकडिपो
अमीनाबाद, लखनऊ
मुद्रक
विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ
मूल्य २५ रुपये
प्रथम संस्करण १९६५

आशीर्वचन

स्व० श्री चतुरसेन शास्त्री की गणना हिंदी के प्रतिष्ठित उपन्यासकारो मे की जाती है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का सर्वांगीण विवेचन करते हुए हिंदी मे डा० शुभकारनाथ कपूर की यह पहली कृति प्रकाश मे आ रही है जिस पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने १९६२ मे उन्हे पी एच डी की उपाधि प्रदान की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी प्रकाशन के अतर्गत यो तो कई महत्व-पूर्ण शोधप्रबध प्रकाशित हुए हैं, परतु हिंदी के एक विख्यात कथाकार के सबध मे यह पहला ही प्रबध प्रकाशित हो रहा है। मुझे विश्वास है कि हिंदी ससार इसका समुचित आदर करेगा।

डा० कपूर ने प्रस्तुत प्रबध के लिखने मे पर्याप्त श्रम किया है। स्व० शास्त्री जी की कृतियो के अध्ययन मे तो वे दो-तीन वर्ष सलग्न रहे ही, स्वय उनके सपर्क मे भी लगभग तीन मास तक रहकर उन्होंने साहित्य के विविध अगो के साथ-साथ उसके उद्देश्य, रूप आदि के सबध में स्व० शास्त्री जी के परिपक्व विचार सकलित किये जिनका उपयोग प्रस्तुत प्रबध मे किया गया है। निस्सदेह इससे डा० कपूर की इस कृति का मूल्य बहुत बढ गया है।

डा० कपूर अध्यवसायी युवक हैं। वे निरतर साहित्य-सेवा मे सलग्न रहकर राष्ट्रभाषा की श्री वृद्धि म योग देते रहे, यही मेरी शुभ कामना है।

दीनदयालु गुप्त
१-१२-६४

अध्यक्ष हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

प्रस्तावना

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। इसका प्रमुख कारण उनके साहित्य की विपुलता और विविधता तो है ही, इसके साथ ही उसकी रोचकता और उपादेयता भी है। उनका साहित्य, शास्त्रीय ज्ञान-भडार से लेकर उर्वर कल्पना की हरी भरी फसलो तक फैला हुआ है। उसमे प्रादेशिक इतिहास और व्यक्तिचरित्र के इतिवृत्त से लेकर विश्व इतिहास के विकास का विस्तार है। उसमे मानव-जीवन की मार्मिक कथाओ से लेकर राष्ट्रीय चेतना और देश प्रेम की ज्योति का मधुर प्रकाश है। इतना ही नही उनके कथा साहित्य मे वैदिक काल की धुधली झलकियो के साथ हमारी आँखो देखे गये सघर्षों और घटनाओ के वृत्तांत भी है। इसका कारण उनका स्वय का व्यापक जीवनानुभव और विस्तीर्ण भ्रमण था। उनके समस्त ज्ञान और रचनात्मक विराट् कल्पना-विस्तार के कारण उनको सहज और आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य का व्यास कहा जा सकता है।

आचार्य चतुरसेन जी को जहाँ एक ओर जीवन मे विविध अनुभव प्राप्त हुए, वही उन्हे अनेक प्रकार की बाधाओ और रुकावटो का भी सामना करना पडा। एक आयुर्वेदीय शास्त्री के रूप मे धन और सम्मान दोनो ही के वैभव से समृद्ध होते हुए भी, उनकी साहित्यिक आत्मा को चैन न था। फलत उस जीवन को तिलांजलि देकर आचार्य जी ने एक साहित्यकार का जीवन अपनाया। सामान्यत जैसी उक्ति है कि 'लक्ष्मी और सरस्वती' का मेल नही होता, आचार्य जी को भी, एक सिद्धातवादी साहित्यकार होने के नाते अनेक प्रकार के व्यवधानो और आर्थिक सकटो का सामना करना पड़ा। फिर भी एक अदम्य साहित्यकार की मनस्विता उनके अंतर्गत थी, अत: सकटो की चिंता न करते हुए भी उन्होने साहित्य - रचना की अपनी ध्येयनिष्ठा कायम रखी और अन्ततोगत्वा इसी मे अपने को विसर्जित भी कर दिया।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री अपने ध्येय मे कहाँ तक सफल हुए ? इस विषय मे थोडा मतभेद हो सकता है। कहा जा सकता है कि 'सोना और खून', जिससे उन्होने एक बड़े व्यापक और विस्तृत फलक पर चित्रित करने का उपक्रम किया था, जब अधूरा रह गया, तो उनके ध्येय की पूर्णता कैसी ? पर मेरे विचार से उनका यह उपन्यास अधूरा होते हुए भी ध्येय की दृष्टि से अपूर्ण न होकर पूर्ण है। जिस दृष्टिकोण से उन्होंने समग्र विश्व की मानवता के इतिहास को देखना और अकित करना चाहा है वह दृष्टिकोण जब पूर्णतया उसके प्रकाशित चार भागों में स्पष्ट है, तब अपूर्णता

केवल घटना या तथ्य-संयोजन की ही रह जाती है, दृष्टिकोण की नहीं। आचार्य जी दस खण्डों में विश्व के इतिहास की जो झाँकी सम्पूर्ण 'सोना और खून' में प्रस्तुत करना चाहते थे, वह भारतीय जीवन और राष्ट्रीय चेतना के ह्रास और विकास की पृष्ठभूमि बनकर आने वाली थी। वह झाँकी पूरी हमारे सामने न आ सकी इसका हमें दुःख है, पर जो झलकें हम प्रस्तुत दो भागों में प्राप्त होती हैं वे विश्व के इतिहास और ऐतिहासिक घटनाओं को देखने के हेतु हमें एक दृष्टि प्रदान करती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि आचार्य चतुरसेन का यह प्रयास सर्वथा मौलिक और अनूठा था। विश्व के कथा साहित्य के अंतर्गत अभी तक ऐसा प्रयास नहीं हुआ था। यह आचार्यजी के विशाल दृष्टिकोण तथा व्यापक, विस्तीर्ण ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक ज्ञान का एक प्रभूत प्रमाण है। इसमें उनकी एक आश्चर्यकारी उपलब्धि इस बात में देखी जा सकती है कि ये प्रत्येक कथाखण्ड, अलग-अलग पूरी कथा कहते हुए भी, सभी मिलकर एक विश्वव्यापी कहानी को पूरा करनेवाले थे। इस प्रकार के सूत्र संचालन की कल्पना शास्त्री जी की अपनी थी।[१]

चतुरसेन जी की इस कल्पना की पृष्ठभूमि में भारतीय कथा साहित्य के संस्कार थे, इसे स्वीकार करना होगा। भारतीय कथा साहित्य की परंपरा में पंचतंत्र, बृहत्कथा मंजरी, बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, शुक बहत्तरी आदि ऐसी रचनाएँ हैं जिनकी सूत्र बद्धता और रोचकता सुनिश्चित है और मेरा विचार है कि यह विशेषता अपने आधुनिक परिवेश में आचार्य जी के कथा-साहित्य में भी विद्यमान है।

इतिहास और कथा का क्या सम्बन्ध है? यह बात यदि स्पष्ट रीति से देखनी हो, तो आचार्य जी के कथा-साहित्य का पारायण विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगा। उनके आधे से अधिक उपन्यास इतिहास से संबंध रखते हैं और उनमें चित्रित इतिहास का काल खण्ड वेदों से लेकर आधुनिक युग तक फैला

१- नोट—'सोना और खून' का पाँचवां भाग इस प्रबन्ध के लेखक ने पूर्ण करने का प्रयास किया है। यह भाग सन् १८५७ से १८८५ ई० तक पहुँच गया है। इसमें भारतेंदु, दयानंद और अनेक साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक महानुभावों के जीवन की गाथा बड़े ही कलात्मक रूप से आ गई है। छठे भाग में प्रथम महायुद्ध तक की कथा आ रही है। यह दोनों भाग शीघ्र ही प्रकाशित हो रहे हैं। लेखक का प्रयास है कि आचार्य जी के 'सोना और खून' के दसों खंड (१७४७ से १९४७ तक) पूर्ण होकर सामने आ सकें। कैसे आवेंगे इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे।

हुआ है। वैदिक पौराणिक युग, मुस्लिम शासन का मध्य युग तथा अंग्रेजी शासन का आधुनिक युग, सभी युगो के संवेदनात्मक ऐतिहासिक तथ्य, घटनाएँ और व्यक्तित्व आचार्य चतुरसेन की लेखनी के प्रसाद से सजीव ही नही, जीवन्त रूप मे हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इसके साथ ही इनमे विशेषता यह है मानव जीवन की अनेक भूमियो और सहज वृत्तियो और प्रवृत्तियो का इनमे जोरदार चित्रण हुआ है। जीवन की यथार्थ वासनाओ का तिरस्कार न करते हुए भी उनके चित्रण द्वारा प्रगति के मार्ग का सकेत करने की विशेषता चतुरसेन जी के उपन्यासो मे प्राय देखने को मिलती है।

उपर्युक्त तथा अन्य अनेक दृष्टियो से आचार्य चतुरसेन शास्त्री के कथा-साहित्य के मूल्यांकन की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए डा० शुभकारनाथ कपूर ने अपना शोध प्रबध प्रस्तुत किया जिस पर उन्हे लखनऊ विश्वविद्यालय की पी एच डी की उपाधि प्राप्त हुई। यह प्रबध उनके अथक एव सुदीर्घ परिश्रम का परिणाम है। इसके साथ ही इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि लेखक ने स्वय आचार्य चतुरसेन के साथ तीन महीने रह कर उनके दृष्टिकोण तथा विविध उपन्यासो के कथासूत्रो एव प्रेरणाओ को भली भाँति समझा था। आचार्य जी के जीवित-सम्पर्क और उनके श्रीमुख से प्राप्त अनेक विचारो, व्याख्याओ और विवेचनाओ से प्रस्तुत ग्रथ मे एक विशिष्ट प्रकार की प्रामाणिकता आ गई है, जो उन पर लिखे गये अब के ग्रथो मे नही आ सकती।

इन सभी कारणो से प्रस्तुत ग्रथ को प्रकाशित होते देखकर मुझे बडी प्रसन्नता हो रही है। लेखक ने मेरे साथ कतिपय उन स्थानो का भ्रमण भी किया था जो चतुरसेन जी के उपन्यासो मे आये हैं और उनके वर्णनो मे यथातथ्यता देखकर एक विशिष्ट पुलक का अनुभव हम लोगो को होता है। आज मेरे समक्ष वे सभी स्मृतियाँ साकार हो रही हैं जब प्रबन्ध के लेखन काल मे लेखक एक जिज्ञासु शोधार्थी के रूप मे मेरे पास था। मैं कहता हूँ कि शोध के लिए ऐसी लगन विरल है। मेरा आशीर्वाद है कि लेखक अपने जीवन और साहित्य रचना मे उज्ज्वल सफलता प्राप्त करे। मुझे विश्वास है कि उसकी लेखनी से अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियो की रचना होगी और प्रस्तुत ग्रथ का हिंदी-ससार मे समुचित स्वागत होगा।

पूना विश्व विद्यालय
विजयादशमी, १९६४ ई०

भगीरथ मिश्र

आमुख

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के कथा साहित्य के प्रति मेरे हृदय मे शैशव से ही ममत्व रहा है। बचपन मे उनकी 'वीर गाथा' नामक कहानी सग्रह की कुछ कहानियो को मैंने बडे चाव से पढा था। इसी समय के लगभग मैंने उनके कुछ उपन्यासो का भी मनोरञ्जन के लिए अध्ययन किया। सन् १९५५ मे मुझे उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' को पढने का अवसर मिला। मैं उसके कथा सौंदर्य पर मुग्ध हो गया। कथा सौंदर्य के साथ-साथ उसका भाषा एव भाव पक्ष भी पूर्ण पुष्ट था। किंतु सम्पूर्ण उपन्यास का अध्ययन करने के पश्चात् मुझे उसमे कुछ काल दोष दीख पडे। इसी समय कुछ पत्रो मे मैंने इस पुस्तक की आलोचना भी पढी। कुछ ने इस पुस्तक की अत्यत प्रशसा की थी तो कुछ ने 'ऐतिहासिक उपन्यास क्या नही होना चाहिये, इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठो (तृतीय सस्करण मे ७७० ही हैं) का बौद्धकालीन इतिहास रस का मौलिक उपन्यास है'[1] तक कह डाला था। उपन्यास और इन सर्वथा भिन्न आलोचनाओ को पढकर मन मे कुछ शकाएँ उठी और मैंने उपन्यासकार को इस विषय से सबधित एक पत्र लिखा। पत्र मे मैंने यह जानने की इच्छा प्रकट की थी कि उपन्यासकार ने इतने परिश्रम के पश्चात् भी अपनी रचना मे जानते हुए भी इतनी भयकर काल सबंधी भूलें क्यो होने दी ? किंतु मुझे पत्र का कोई उत्तर प्राप्त न हो सका। कुछ दिनो प्रतीक्षा के पश्चात् उत्सुकता स्वय शान्त हो गई। इसी समय मैंने महापुरुषो एव साहित्यकारो की डायरियो पर हिन्दी के दिग्गज विद्वान बाबू गुलाबराय के निर्देशन मे एक स्वतन्त्र पुस्तक के लिए शोध कार्य प्रारम्भ किया। उस समय भी लेखक ने पुन एक पत्र आचार्य चतुरसेन जी को उनकी डायरी के विषय मे लिखा, किंतु उसका भी कोई उत्तर प्राप्त न हुआ। मुझे लगा, बडा विचित्र साहित्यकार है पत्र का उत्तर तक नही देता।

---

१. आलोचना—डा० प्रभाकर माचवे।

इसी बीच मैंने उनकी अन्य कई पुस्तकें और पढ डाली । मैं उनकी पुस्तकों के प्रति आकर्षित ही होता गया । ज्यो ज्यो मैं उनके साहित्य का अध्ययन करता जा रहा था, त्यो त्यो मेरे मस्तिष्क म कितनी ही शकाएँ बढती जा रही थी । पत्रो द्वारा इन शकाओ का समाधान कठिन था अत मेरे मन मे इस मस्त साहित्यकार के व्यक्तित्व को निकट से समझने की तीव्र इच्छा जगी । मैंने पूज्य गुरुवर डा० दीनदयालुगुप्त जी से 'आचार्य चतुरसेन के कथा साहित्य' पर शोध कार्य करने की आज्ञा मांगी । डा० साहब ने सहर्ष आज्ञा दे दी । साथ ही पूज्य गुरुवर डा० भगीरथ जी मिश्र ने प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्देशन का आश्वासन भी प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को दे दिया । मैं इसी समय इन दोनो गुरुजनो से परिचय पत्र लेकर आचार्य चतुरसेन जी से मिलने के लिए दिल्ली जा पहुँचा । अपने आने की सूचना मैं पत्र द्वारा प्रथम ही आचार्य जी को दे चुका था । मिलने से पूर्व इस फक्कड साहित्यकार के विषय म मैं कितने ही लोगो की भ्रात धारणाएँ सुन चुका था । किंतु उनसे प्रथम परिचय के पश्चात् ही मेरी वे समस्त धारणाएँ निर्मूल हो गई थी । मैं प्रथम बार उनके समीप १५ दिन रहा । इन १५ दिनो मे मेरी समस्त शकाओ का समाधान उन्होने कर दिया था । इसके पश्चात् उनके जीवन काल म मैं चार बार और गया, कुल मिला कर तीन माह मुझे इस महान् साहित्यकार के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । इस मध्य में हुए उनसे वार्तालाप एव उनके मुख से सुने सस्मरणो का मैंने प्रस्तुत प्रबध मे यत्र तत्र उपयोग किया है, इससे प्रबध की मौलिकता तो बढी ही है, साथ ही विश्लेषण कार्य को एक नवीन दशा भी प्राप्त हो सकी है । आचार्य चतुरसेन जी के जीवनकाल म ही उन पर मेरे दो 'इन्टरव्यू' 'धर्मयुग' एव 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित हो चुके थे उनकी मृत्यु के पश्चात् मेरे छ लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे उनके जीवन और साहित्य से सबधित और प्रकाशित हुए ।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने जीवनकाल मे लगभग १६० पुस्तकें विविध विषयो पर लिखी, अथच उनके द्वारा लिखित दस हजार से अधिक पृष्ठ विविध सामयिक पत्रिकाओं मे प्रकाशित हुए । प्रस्तुत प्रबध मे केवल उनके 'कथा साहित्य' का अध्ययन ही किया गया है । उनके इस 'कथा साहित्य' के अन्तर्गत लगभग नौ हजार पृष्ठों के २९ उपन्यास एव लगभग तीन हजार पृष्ठो के २५ कहानी सग्रहो रखा गया है । आचार्य चतुरसेन जी का यह कथा साहित्य अपने विशाल कलेवर के साथ निज का मूल्य भी रखता है । आचार्य जी अपने प्रारम्भिक उपन्यासों एव कहानियों मे एक समाज सुधारक के रूप में ही सामने आए हैं । वे हृदय से एक साहित्यकार और व्यवसाय से एक चिकित्सक थे । वास्तव मे वे

केवल मानव शरीर के ही नही वरन् उसके समाज के भी चिकित्सक थे । वे साहित्यकार थे किंतु यशोगान करने वाले नही वरन् कलई खोलने वाले । वे आधुनिक धन्वतरि थे जिनसे मनुष्य शरीर का ही नही उसकी आत्मा का, उसके समाज का कोई भी दाग गुप्त नही रह पाता था । उन्होने समाज के दागो को देखा था दूर से नही, पास से । समाज के ये दूषण देखकर वे मौन नही रहे, तडप उठे थे और यही तडपन उनकी प्रारम्भिक कलाकृतियो से व्यक्त हुई । इस तडपन को व्यक्त करने मे वे कही-कही अति यथार्थवाद अथवा प्राकृतवाद के समीप भी पहुँच गए हैं ।

उन्होंने अतीत की ओर दृष्टिपात किया अवश्य किंतु केवल इतिहास प्रेम के कारण नही वरन् इसी हार्दिक तडपन के कारण । उन्होने वर्तमान कुरीतियो को मूल इतिहास से खोज निकालना चाहा, उनका परिहार करने के लिए, किंतु वहाँ भी, उस अतीत मे भी यह कुरीतियाँ उन्हे ज्यो की त्यो दीखी । उन्होंने देखा कि उस काल की साधारण जनता दोषों से मुक्त है किंतु राजा एव सामत वर्ग उनसे भरे पूरे हैं । वे भोगी हैं, विलासी है जिनकी दृष्टि मे स्त्री केवल मात्र भोग की सामग्री है । धर्म भी केवल इन विलासियो का सरक्षक मात्र रह गया है । धर्म के नाम पर जो मायाचार हो रहे थे वह भी उन्हे स्पष्ट दीख पडे । इन सबके प्रकाश मे हिंदू धर्म के पतन के कारण भी उन्हें स्पष्ट दीखने लगे, उन्होंने इन्ही सबको बखिया उधेडकर अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे रख दी है । आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इन उपन्यासो की रचना केवल मनोरजन के लिए ही नही वरन् मार्ग प्रदर्शन एव सुधार के लिए की है । उनके इन उपन्यासो से हमे केवल मनोरजन एव कुतूहल ही प्राप्त नही होता वरन् स्फूर्ति एव शक्ति भी प्राप्त होती है ।

आचार्य जी ने उपन्यासो का क्षेत्र विस्तृत है । रामायण काल से लेकर आधुनिक काल तक की कथाएँ उनके उपन्यासों मे अनुस्यूत है । उनके उपन्यासो का घटना क्षेत्र भी अत्यत विशाल है । वे श्री वाल्टर स्काट अथवा श्री वृन्दावन-लाल वर्मा की भाँति किसी प्रदेश विशेष तक ही सीमित नही हैं । उनके उपन्यासो का घटना क्षेत्र केवल भारत तक ही नही वरन् विश्व के प्रमुख देशो तक व्याप्त है । इतना ही नही चद्रलोक भी उनके उपन्यासो के घटना क्षेत्र से बाहर नही जा पाया है । अत कहा जा सकता है कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो का घटना क्षेत्र पृथ्वी से आकाश तक परिव्याप्त है ।

आचार्य चतुरसेन मानवतावादी कथाकार थे । उनकी लौह लेखनी ने ईश्वर की नही, मानव की पूजा की थी । उनका साहित्य क्राति और विद्रोह

का साहित्य है। वस्तुत वह जन्म से ही क्रांतिकारी और विद्रोही थे। उनके साहित्यकार व्यक्तित्व का निर्माण जिन तत्वो से हुआ था, उनमे सेवा, श्रम, अभाव और साहस प्रमुख थे। उनके सम्पूर्ण कथा साहित्य के मूल मे यही चारो तत्व थे। इन्ही से प्रेरित होने के कारण उनके कथा साहित्य मे एक ओर जहाँ त्याग, उत्सर्ग, उदारता एव स्नेह आदि की भावनाएँ भरी हुई मिलती हैं, वही क्रांति एव विद्रोह की भावनाएँ भी उनके समानान्तर चलती हुई दीख पडती हैं। इस प्रकार आचार्य जी का साहित्य अति विस्तृत एव विविध क्षेत्र-व्यापी है और एक सीमाबद्ध ग्रंथ मे उनका समग्र अध्ययन कठिन कार्य है। फिर भी प्रस्तुत प्रबंध मे आचार्य चतुरसेन जी के सम्पूर्ण कथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आचार्य जी के कथा साहित्य पर इस दिशा मे अभी तक कोई कार्य नही हुआ। कुछ आलोचना ग्रंथो म उनके उपन्यासो अथवा उनकी औपन्यासिक कला पर किंचित चर्चाएँ अवश्य प्राप्त होती हैं। कुछ पत्रिकाओ मे उनके साहित्य पर कतिपय लेख भी प्रकाशित हुए है। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ने उनकी मृत्यु के उपरात 'श्रद्धांजलि अंक' निकाल कर अवश्य इस दिशा मे एक सराहनीय कार्य किया है। इस 'श्रद्धांजलि अंक' में भी आचार्य जी के 'कथा साहित्य' पर विशेष प्रकाश नही प्राप्त होता। हाँ, उनके जीवन के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डालने वाली कुछ सामग्री अवश्य प्राप्त हो जाती है। इस समस्त प्राप्त सामग्री का प्रस्तुत प्रबंध मे यथोचित उपयोग किया गया है। किंतु वास्तव मे मेरा दृष्टिकोण इन सभी से विस्तृत रहा है। मैंने आचार्य चतुरसेन जी के कथा साहित्य का विश्लेषण करते समय कई अन्य आधार भी ग्रहण किए हैं। इस विश्लेषण के लिए मैंने श्री हडसन, डा० श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाब राय, डा० भगीरथ मिश्र एव डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा आदि विद्वानो द्वारा प्रतिपादित उपन्यास एव कहानी सम्बन्धी सिद्धांतों के निजी मनन, चिंतन की कसौटी पर आचार्य जी के कथा साहित्य को कसा है। इस प्रकार आचार्य जी के सम्पूर्ण कथा साहित्य का उपन्यास और कहानी के विभिन्न तत्वो के आधार पर विश्लेषण प्रस्तुत करना, विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासकारो के उपन्यासो से उनके उपन्यासो की तुलना करते हुए उनके उपन्यासो मे प्राप्त कलात्मक सौंदर्य की खोजना एव उपन्यासकार ने किन परिस्थितियो से प्रभावित होकर विभिन्न उपन्यासो एव कहानियों की रचना की, आदि की खोज निकालना लेखक की दृष्टि में उसका मौलिक प्रयास है।

प्रस्तुत प्रबंध मे नौ प्रमुख अध्याय हैं। प्रथम दो अध्यायो मे आचार्य चतुरसेन जी के जीवन एव रचनाओ का परिचय दिया गया है। इसके पश्चात् के अध्यायो मे आचार्य जी के कथा साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के प्राय सर्वमान्य छ तत्वो के आधार पर आचार्य जी के उपन्यासो के अध्ययन को प्रबंध मे छ अध्यायो मे विभाजित किया गया है। कहानी के भी प्रमुख छ तत्व ही माने गए है। कहानी और उपन्यासो के इन तत्वो मे पर्याप्त साम्य प्राप्त होता है, किंतु इन दोनो मे कही कही भिन्नता भी प्राप्त होती है। अत उपन्यास से चार तत्वो यथा कथावस्तु, चरित्र चित्रण, कथोपकथन एव वातावरण के विवेचन के लिए प्रस्तुत प्रबंध के अगले चार अध्याय प्रथम दे दिए गए हैं। उपन्यासो के इन चारो तत्वो के विवेचन के पश्चात् 'आचार्य जी की कहानियाँ' नामक अध्याय में आचार्य जी की कहानियो म प्राप्त इन चारो तत्वो का विवेचन पृथक प्रस्तुत किया गया है। अतिम दो अध्यायो मे आचार्य जी के उपन्यासो और कहानियो की भाषा एव लेखन शैली तथा इनमे प्राप्त उनके विचारो एव जीवन दर्शन का एक साथ ही अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो और कहानियो को विभिन्न तत्वो की कसौटी पर कसने के पूर्व उस तत्व विशेष की परिभाषा, उसकी विशेषताओ एव गुणो पर विभिन्न विद्वानो के मतो को स्पष्ट करते हुए प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् इन प्रमुख सिद्धांतो की कसौटी पर आचार्य जी के उपन्यासो और कहानियो के तत्व विशेष को उस सबधी अध्याय मे कसा गया है। कसौटी पर परखने के लिए मैंने उस तत्व विशेष से सबधित प्रमुख उदाहरणो को सामने ला रखा है। वे उदाहरण उस कसौटी पर कहाँ तक खरे उतरते है उनको परखने के साथ-साथ मैंने आचार्य चतुरसेन जी की उस तत्व से सबधित मौलिक विशेषताओ पर भी विचार किया है। प्रत्येक अध्याय मे उस अध्याय का निष्कर्ष भी देने का प्रयत्न किया गया है। जिसमे उस अध्याय विशेष के विश्लेषण का निष्कर्ष देते हुए मैंने आचार्य जी के उपन्यासो मे उस तत्व के प्रयोग पर अपना मत देने के साथ साथ अन्य प्रमुख कथाकारो की श्रेष्ठ रचनाओ मे प्राप्त उस तत्व के प्रयोग से तुलना भी की है।

अब रहा आभार प्रदर्शन एव धन्यवाद का प्रश्न। वास्तव में सत्य तो यह है कि मेरे अपने के अतिरिक्त सभी धन्यवाद के पात्र हैं। पूज्य गुरुजनो की कृपा तो मेरे इस प्रबन्ध का अवलम्ब ही रही। पूज्य गुरुवर दीनदयाल जी गुप्त एम ए, एल एल. बी, डी लिट् अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

ने जिस स्नेह और प्रोत्साहन के साथ प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय को प्रदान कर आचार्य चतुरसेन जी के पास परिचय पत्र देकर मुझको भेजा, उसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस प्रबध के निर्देशक डा भगीरथ मिश्र एम ए, पी-एच डी लखनऊ विश्वविद्यालय (अब अध्यक्ष हिंदी विभाग, पूना विश्व-विद्यालय) के मार्ग प्रदर्शन, निर्देशन, स्नेह, प्रोत्साहन के विषय में क्या कहूँ ! आदि से अत तक प्रस्तुत प्रबध का प्रेरणा स्रोत डा० मिश्र का विशाल, उदार एव सुलझा हुआ व्यक्तित्व ही रहा है। डा० साहब के लखनऊ से पूना चले जाने के पश्चात् मेरे मार्ग में कितनी ही कठिनाइयाँ आई । डा० मिश्र ने पूना में रहते हुए ही प्रबध को देखने का मुझे आश्वासन दिया। निराशा, आशा में परिवर्तित हो गई। पूना में मैं उनकी छत्रछाया में लगभग तीन माह रहा। अपने व्यस्त जीवन का एक बडा भाग निकाल कर उन्होंने प्रस्तुत प्रबध का निरीक्षण सशोधन करके इसे पूर्ण कराया। वास्तव मे सत्य तो यह है कि प्रस्तुत प्रबध मे जो कुछ गुण आ सके हैं डा० मिश्र की कृपा के कारण ही। इसके अतिरिक्त मैं लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक स्व० ब्रजकिशोर जी मिश्र एव डा० प्रेमनारायण टडन, पूना विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक श्री न० चि० जोगलेकर, आनद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष प्रो० मोहन वल्लभ पत, सीतापुर निवासी डा० नवल बिहारी मिश्र, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक डा० वृजेन्द्र स्नातक एव डा० दशरथ ओझा एव अपने अभिन्न मित्र श्री दयाशकर शुक्ल, श्री आसनानी, श्री रमापति डोगर, श्री दीनानाथ तिवारी, श्री चाद नारायण महेन्द्र, पूज्य पिता, अग्रज निरकार नाथ, जयकार नाथ कपूर एव अपनी धर्मपत्नी विमला कपूर एम ए आदि के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिनके सुझाव, सहयोग एव प्रोत्साहन से यह प्रबध पूर्ण एव प्रकाशित हो सका। मैं उन विद्वानो का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होने मेरी प्रार्थना पर आचार्य चतुरसेन जी के कथा साहित्य पर अपनी सम्मतियाँ भेजी एव मुझे मार्ग निर्देश किया। प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रकाशक श्री जुगुलकिशोर टडन का भी मैं आभारी हूँ। उन्होंने प्रबन्ध के प्रकाशन मे जो तत्परता एव लगन दिखाई है वह निश्चित रूप से सराहनीय है।

अत मे स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी की कृपा एव उनके स्वजनो के सहयोग के विषय म कुछ कह बिना रहा नही जाता। जैसा कि मैं प्रथम ही कह चुका हूँ कि प्रबध सम्बधी विचार विनिमय के हेतु मैं स्वर्गीय आचार्य जी के समीप उनके निवास स्थान शाहदरा मे कितने ही दिन उनकी छत्र छाया मे

रहा । मुझे उनसे जिस प्रकार की प्रेरणा, प्रोत्साहन, सहयोग, एवं स्नेह प्राप्त हुआ, वह निश्चित रूप से अनिर्वचनीय है । आचार्य जी के आकस्मिक निधन के पश्चात् भी आचार्य पत्नी, उनके अनुज श्री चद्रसेन जी, उनके श्वसुर वैद्यराज श्री कल्याणसिंह जी ने जिस उदारता एवं स्नेह से मुझको मेरे शोध कार्य में सहायता प्रदान की है, उसके लिए मैं इन सभी का हृदय से कृतज्ञ हूँ ।

अन्त मे एक बात और । प्रबन्ध प्रकाशित होने के पूर्व मैंने यह विचार किया था कि प्रस्तुत ग्रन्थ को पूज्य पिता श्री गोविन्द प्रसाद जी कपूर के चरणो मे अर्पित करूँगा । किन्तु ईश्वर को यह स्वीकार न था । ग्रथ के प्रकाशित होने के पूर्व ही १९ अक्टूबर सन् १९६४ को प्रातः साढे सात बजे वे हम सभी को विलखता छोड गए । इस दारुण विपत्ति ने मेरी सम्पूर्ण चेतना को झकझोर दिया । किन्तु समय ने इस घाव को भी भरा । आज उनकी अनुपस्थिति मे यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है, अतः उन्ही की पावन स्मृति को यह ग्रन्थ सादर समर्पित कर रहा हूँ ।

प्रस्तुत प्रबंध मे मुद्रण सबंधी जो अशुद्धियाँ प्रयत्न करने पर भी रह गई हैं, उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ ।

—शुभकार कपूर

विषय-सूची

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ६

अध्याय—१

आचार्य चतुरसेन का जीवनवृत्त

जीवन वृत्त

'स्वस्थ, गठा हुआ स्थूल किन्तु बलिष्ठ एव स्फूर्तिवान शरीर, मुख मडल पर गम्भीरता एव प्रौढता, नेत्रो पर नीले रग का सुनहरी कमानी का चश्मा, बगीन शेव, बाए कपोल पर एक छोटा-सा तिल, चौडा ललाट, ६८ वर्ष से अधिक आयु मे भी एकदम काले सिर के केश, बत्तीसी इस आयु मे भी श्वेत, सबल एव दृढ, गेहुआ रग, गठिया के कारण कुछ रुक-रुककर चलने के अभ्यस्त, अध्ययन के कारण धसे हुए नेत्र, स्वर म दृढता, बातचीत मे आत्मीयता, विद्रोह नवीनता एव अध्ययन का पुट।" यह थे हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार, साहित्यकार एव आयुर्वेद जगत के विख्यात राजवैद्य आचार्य चतुरसेन शास्त्री इसी व्यक्तित्व न अध शताब्दी तक निरन्तर एक ही गति से साहित्य और आयुर्वेद जगत की सेवा की थी।'

मैं जब प्रथम बार उस महान् साहित्यकार से मिला था, उस समय उनके जिस व्यक्तित्व से मैं प्रभावित हुआ था और जो विचार मेरे मस्तिष्क म उस समय आए थे, उन्हीं का ज्यो का त्यो चित्रण मैंने यहां कर दिया है। २ फरवरी सन् १९६० के पश्चात् उस महान् साहित्यकार का भौतिक व्यक्तित्व तो स्थूल शरीर के साथ समाप्त होगया किन्तु उनका अजेय व्यक्तित्व आज भी उनके महान् साहित्य पर ज्यो का त्यो छाया हुआ है। जिस प्रकार उनके व्यक्तित्व मे एक तीखापन था वैसे ही उनके साहित्य में एव जीवन की विभिन्न घटनाओ मे भी एक तीक्ष्णता एव गहराई है। जिस प्रकार उनका भौतिक व्यक्तित्व बहुमुखी था उसी प्रकार उनका साहित्यिक व्यक्तित्व एव जीवन भी बहुमुखी एव विभिन्न घटनाओ से ओत प्रोत था। जिस प्रकार उनके साहित्य मे एक क्रमबद्ध विकास है उतार और चढाव है, उसी प्रकर उनका जीवन क्रम भी विभिन्न घटना चक्रो सघर्षो एवं मोडो से परिपूर्ण है। प्रस्तुत अध्याय मे हम उसी महान् व्यक्तित्व के जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर

रहे हैं। वास्तव मे वह एक ऐसा व्यक्तित्व था जो जब तक जीवित रहा सघर्ष-रत, कार्यरत एव कर्मठ रहा, वह एक ऐसा व्यक्तित्व था जो अमृत होते हुए भी कडुआ था जो आशुतोष की भाँति गरलपायी था। वह एक ऐसा उपेक्षित साहित्यकार था जिसने जीवन पर्यन्त साहित्य साधना की किन्तु लताडे ही खाता रहा। वह एक ऐसा उद्‌बुद्ध महामानव था जो इन लताडो एव उपेक्षाओ से क्रुद्ध होते हुए भी अपने साहित्य को निरन्तर श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर ही बनाता रहा। वह एक ऐसा राजवैद्य था जो मानव के शरीर की ही नही उसके मन की, उसके समाज की भी चिकित्सा करता था। चिकित्सा के समय वह यह न देखता कि औषधि तीक्ष्ण है या मधुर। किसी को भली लगे या बुरी इसकी उसे कभी भी चिन्ता न रही। इसीलिए वह निरन्तर समाज की सेवा करते हुए भी कभी सामाजिक न हो सका। एक भी अपना हितैषी, मित्र न बना सका।

ऐसे महान् साहित्यकार के जीवन के कुछ भूले बिसरे चित्रो एव स्मृतियो को एकत्र करके उसके जीवन विकास पर किंचित मात्र प्रकाश डालना निश्चित ही अनुपयुक्त न होगा। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम उस महान् साहित्यकार के सम्पूर्ण जीवन को विकास के निम्न पाँच क्रमो मे विभक्त करके देखने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम—जन्म से २१ वर्ष की अवस्था तक, (सन् १८९१ से १९११) विवाह पूर्व की स्थिति—

द्वितीय—प्रथम विवाह एव वैद्यक जीवन का प्रारम्भ (१९१२ से १९२५)

तृतीय—सन् (१९२५–१९३४) तक द्वितीय विवाह और क्रान्तिकारी जीवन

चतुर्थ—सन् (१९३४–१९४४) तक चितन मनन काल।

पचम—सन् (१९४५–१९६०) तक साहित्यिक उत्कर्ष काल।

(१) विवाह पूर्व की स्थिति

(सन् १८९१ से १९११)

आचार्य चतुरसेन जी का जन्म उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर नामक जनपद की अनूपशहर तहसील के निकट चान्दोख ग्राम मे एक साधारण से कच्चे घर मे, सम्वत् १९४८ भाद्रपद कृष्ण, चतुर्थी रविवार (२६ अगस्त सन् १८९१) के दिन गोधूलिवेला म हुआ था। यह घर और यह ग्राम उनका

पुश्तैनी निवास न था, अस्थायी प्रवास का स्थान था। वास्तव में उनका स्थायी पैतृक स्थान इसी चान्दोख ग्राम के निकट-दक्षिण-पश्चिम कोई ३-४ कोस पर 'विवियाना' ग्राम है। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने स्थान के विषय में लिखा है, चान्दोख मैंने अपने होश हवास में देखा नहीं है। न उस घर को पहचान सकता हूँ, जिसमें मेरा नार गड़ा है। विवियाना मैंने बालकाल में देखा है, वहाँ के टूटे-फूटे घर का भी मुझे ध्यान है। वहाँ हमारा पैतृक शिवालय, बाग और तालाब भी है। वह भी मैंने देखा है। अब भी मेरे परिजन-कौटुम्बिक एक-दो वहाँ रहते हैं ऐसा सुनता हूँ, पर वे मुझे जानते नहीं हैं, और मैं भी उन्हें नहीं पहचानता हूँ। सुना था कि चान्दोख में मेरे पिता जी बहुत कम रहे, परन्तु उनके जीवन में चान्दोख के निवास का सांस्कृतिक प्रभाव बहुत रहा था।[1]

जन्म-नाम

आचार्य चतुरसेन जी का जन्म का नाम चतुर्भुज था। यह नाम उनके पिता के अनन्य मित्र प्राणाचार्य वैद्य, होमनिधि शर्मा ने रखा था। उन्होंने ही इनकी जन्म कुण्डली भी बनाई थी। उन्होंने उनका नाम रखा था चतुर्भुज, पर कहते थे कुलदीपक। उनका कहना था लड़के के ग्रह तुम्हारे घर के योग्य नहीं हैं। जियेगा तो कुलदीपक होगा। इसी से पिता का प्यार मुझ पर बहुत था।[2]

पिता

आचार्य चतुरसेन जी के पिता का नाम ठाकुर केवल राम वर्मा था। उनका जन्म गदर के साल सन् ५७ में हुआ था। वह विचारों से आर्य समाजी तथा कार्यों से घोर सुधारवादी थे। यद्यपि वह अल्प-शिक्षित थे तो भी विचार में प्रगतिशील थे। आजीविका की तलाश में वह आचार्य चतुरसेन जी के जन्म के कुछ मास प्रथम ही चान्दोख आ गये थे। यहाँ उन्हें दो सांस्कृतिक पुरुषों की मित्रता का लाभ प्राप्त हुआ। एक थे प्राणाचार्य वैद्य होमनिधि शर्मा, उदार विचारों के संस्कृतज्ञ पंडित, और आसपास के प्रसिद्ध चिकित्सक। दूसरे थे ठाकुर महावीरसिंह, गाँव के जमींदार। इन्हीं दोनों मित्रों के सत्संग के कारण आचार्य चतुरसेन जी के पिता भी सुधारवादी हो गये थे। आचार्य चतुरसेन जी

---

१. चतुरसेन-त्रैमासिक, सम्पादिका, कमल किशोरी प्रथम अंक, मेरा बचपन, निदाघ २०१२, पृ. ८६-८७।

२. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक पृ. ८७।

के विचारों पर आर्यसमाजी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव था। स्वामी दयानद सरस्वती जब कर्णवास आए हुए थे, तब इनके पिता जी और ठाकुर साहब ने कर्णवास जाकर स्वामी जी के दर्शन किए और उपदेशामृत सुना था। तभी से उनके विचार आर्य समाज की ओर झुक गए थे। फिर चान्दोख ग्राम मे तीनो मित्रो का रहना हुआ, तो परस्पर विचार विनिमय करने से शीघ्र ही वे कट्टर आर्यसमाजी हो गये। उस समय तक बम्बई और लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना तो हो चुकी थी, परन्तु अभी उसका व्यापक परिपुष्ट स्वरूप प्रकट नहीं हुआ था। परन्तु मूर्तिपूजा आदि के खण्डन की जबरदस्त चर्चा स्वामी दयानन्द के नाम के साथ देहातो मे चल गई थी। "जगह-जगह लोग कहते थे, एक सन्यासी ईधर रम रहे हैं संस्कृत बोलते हैं। मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं। वेद को ईश्वर वाणी बताते हैं।[1]

अचार्य चतुरसेन जी के पिता न केवल उस समय के आर्यसमाजी सुधारवादी आन्दोलन से प्रभावित थे वरन् वे स्वय कट्टर सुधारक थे और अन्ध-विश्वास एवं रूढियो के नाश मे उग्रता और उत्साह के साथ लगे रहते थे।

आचार्य चतुरसेन जी ने उनके इस स्वभाव और व्यक्तित्व का वर्णन निम्न शब्दो मे किया है। "सैंकडो मन्दिरो, मठो और देव-स्थानो से महादेव-चामुण्डा आदि की मूर्तियाँ रातो-रात चुराकर गगा मे या निकट के तालाब मे फैंक देना। जहाँ किसी देवता के स्थान पर बहुधा स्त्रियाँ आती जाती हो, वहाँ पहुँच उन्हे भूत बनकर डरा देना, कि फिर उधर जाने का नाम न लें। कही विवाह आदि कृत्य पौराणिक रीति पर होता तो झट एक आर्य समाजी पण्डित को लेकर जा धमकते, कभी-कभी फौजदारी करके भी उसी से कृत्य कराते। लाठी के धनी थे। लाठी हाथ मे होने पर १०-२० को भारी। डील-डौल मे विशाल, सुर्ख सिंदुरिया रग, घनी दाढी (पीछे दाढ़ी नहीं रखते थे) मजबून सोंटा हाथ मे, नालदार चमरौधे का जूता। बस ठाकुर और आप गाँव-गाँव घूमना और उपर्युक्त अद्भुत रीति से आर्य समाज का प्रचार करना। कभी-कभी केवल 'नमस्ते' कहलाने के लिए लाठी चल जाती थी।[2] इसी से आचार्य चतुरसेन जी के पिता जी आस पास के गाँवो मे 'नमस्ते' के नाम से प्रसिद्ध थे। दुकान के आगे नमस्ते का साइनबोर्ड टगा रहता था। हिन्दू-मुसलमान-हरिजन, अछूत जो भी उनकी दुकान के आगे होकर गुजरता 'नमस्ते' कहता।

१. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक पृ. ८७।
२. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अक, मेरा बचपन पृ. ८८।

आर्य समाज का प्रचार वे डण्डे से भी करते थे, और जबान से भी। सभा में भाषण नहीं देते थे, पर गाँव-देहात में दस-बीस जनों के बीच कड़कती भाषा में जब वे कुरीतियों और रूढ़ियों के विपरीत बोलते थे, दूर से उनकी आवाज को पहचानकर गाँव वाले आ जुटते थे।"[1]

आचार्य चतुरसेन जी के पिता का जीवन एकदम सीधा-सादा था। वे नित्य प्रातः चार बजे उठते, कोई भजन गुनगुनाते हुए गाय, भैंसों को सानी देते, फिर एक चिलम भरकर हुक्का पीते हुए कपास ओटने बैठ जाते। जब तक गरम हों, निकाल लेते दस-पन्द्रह सेर बिनौले और डाल देते भैंसों के आगे। शौच से निवृत्त हुए तो धार निकालते। तब कहीं दिन निकलता। नहा धो सध्या कर तिलक छाप लगा एक लोटा ताजा मट्ठा, पाव भर ताजा मक्खन डाल चढ़ा कर अब निकलते खेती का चक्कर लगाने। कमेरों को काम की हिदायतें दी और चल दिए ठाकुर दोस्त के पास। एक-दो गाँव में अपनी रीति पर प्रचार किया, दोपहर को घर आए। सीधा-सादा भोजन। दाल और मोटी-मोटी रोटियाँ, साथ में पाव भर घी। तानकर सोए, तीसरे पहर उठे, तो ठाकुर की चौपाल या होमनिधि शर्मा की बैठक। कुछ वृद्ध कुछ जवान और आ जुटे, हुक्का गुड़गुड़ाने और गप्पें लड़ाने लगे। सब बातें आर्यसमाजी, खूब कट्टर, न रियायत न संशोधन। आसपास के दस पाँच गाँवों की चर्चा हो गई पचासों आदमियों की आलोचना हुई। जोरशोर से स्कीमें चली, जिनका अन्तिम ध्रुव था माता-चामुण्डा-मूर्तिपूजा, पुराण, श्राद्ध कैसे उठाए जायें। तथा बाल-बच्चों को कैसे और कहाँ पढ़ाया जाय।[2] इसके अतिरिक्त शुद्धि के काम में भी उन्हें पर्याप्त रुचि थी। उन्होंने कई मुसलमान परिवारों की शुद्धि भी की थी।[3]

इस प्रकार इनके पिता का बड़ा प्रभावशाली और तेजवान व्यक्तित्व था। और उसी के अनुरूप क्रियाशील जीवन भी।

माता जी

आचार्य चतुरसेन जी के पिता में जिस प्रकार पुरुष का कर्मठ-पुरुषार्थ था, माता में उसी प्रकार नारी सुलभ ममता और स्नेह विद्यमान था।

वे ममता की प्रतिमूर्ति थीं। उनके स्वभाव का वर्णन करते हुए स्वयं

१. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ. ९०।
२. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ. ८८-८९।
३. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ. ९०-९१।

आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है—"त्याग-स्नेह और सहिष्णुता को मिलाकर जो एक श्रद्धा और आदर्श की देवी की, कल्पना की जा सकती है, वही वे थी। वे पढ़ी-लिखी नही थी। पर वे असल हीरे की कनी थी। प्रकृति ने उन्हे जो लोकोत्तर आभा दी थी, उस पर कृत्रिम चमक करने का किसी कारीगर को अवसर ही नही मिला। कभी उसकी आवश्यकता भी प्रतीत नही हुई।"[१] आचार्य चतुरसेन जी अपनी माता को 'अम्मा' कहते थे और 'तू' कहकर ही बोला करते थे। उन्हे आचार्य जी ने कभी भी 'तुम' या 'आप' कहकर सम्बोधित नही किया। वह भी इन्हे सदा 'भैया करके ही बुलाया करती थी। जिस समय आचार्य जी का जन्म हुआ उनके पिता जी की आयु २१ वर्ष और माता जी की १६ वर्ष होगी। उनके दैनिक जीवन के विषय मे आचार्य चतुरसेन जी ने स्वय लिखा है माता जी अपनी गृहस्थी का सब काम स्वय करती थी। पिताजी की भाँति वे भी प्रातःकाल मे उषा के उदय होने के पूर्व उठकर एकदम घर के कामो मे लग जाती थी। उन दिनो गाँव देहातो मे नौकरो से काम कराने की परिपाटी न थी। वे उठकर सर्वप्रथम तमाम गाय, भैंसो और उनके बच्चो को एक बार प्यार-पुचकार आती। उनपर हाथ फेरती और प्रत्येक का नाम लेकर एक-दो बातें कहती। इसके बाद वे शौच से निवृत्त होकर दूध बिलोने बैठती, पाँच-सात गाय-भैंसो के दूध को वे अनायास ही अपने बलिष्ठ भुजदण्डो से बिलो डालती। इसके बाद घर-आँगन बुहार कर ताजे गोबर से लीपकर निवृत्त होती। तब कही दिन निकलता। फिर वह स्नान कर सूर्य को अर्घ्य दे भोजन बनातीं, और कातने बैठती। सिर के बाल के समान बारीक सूत वे निकालती थी। उनके सूत की गाँव भर मे धूम थी। निरालस्यता उनका अभ्यास था और कर्मठता उनका नित्य का जीवन था।"[२] केवल अन्तिम १६ वर्षों को छोड़कर आचार्य चतुरसेन जी की माता का स्वास्थ्य उत्तम रहा था। उनकी मृत्यु ६८ वर्ष की अवस्था मे हुई थी।

एक बार प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के माता-पिता सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर मे आचार्य चतुरसेन जी ने कहा था कि अपने 'आत्मदाह' नामक उपन्यास मे सुधीन्द्र के माता-पिता के रूप मे मैंने अपने ही माता पिता का वास्तव मे चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त मेरे जीवन से सम्बन्धित कई अन्य घटनाएँ भी प्रस्तुत उपन्यास मे आ गई हैं।

---

१. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ. ९२।

२. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ. ९२।

उपर्युक्त माता-पिता की जो स्वस्थ और सम्पन्न दशा का वर्णन किया गया है वह उनकी वृद्धावस्था में नहीं रह गई थी।

आचार्य चतुरसेन जी की माता जी के अपनी अवस्था के अन्तिम १६ वर्ष रुग्णावस्था में ही कटे थे। उन दिनों आचार्य जी के पिता की आर्थिक स्थिति भी दयनीय हो गई थी। पग पग पर उन्हें अभाव का ही सामना करना पड़ता था। आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है "मैंने बहुत बार देखा कि मेरे पिता जी रोगिणी माता के लिए समय पर ठीक-ठीक पथ्य और औषधि भी न जुटा सकते थे। अत्यन्त आवश्यक होने पर वे हम लोगों को पड़ोसियों से उधार मांग लाने को भेजते और हम लोग वहाँ से नकार लेकर प्रायः लौटते। उन दिनों वह अभाव मुझे कुछ विशेष नहीं खला, पर बाद में तो उसने एक स्थायी दर्द की उत्पत्ति मेरे मन में कर दी। मैं बालक था, पर एक दृश्य नहीं भूल सकता। जब सब ओर से नकार ग्रहण कर पिता जी अर्धमूर्छित माता का सिर गोद में लिए जरा-जरा पानी चम्मच से उनके मुँह में डाल रहे थे। तब, जैसे यह नकार मूर्छित माता के भी अभ्यस्त को छूगया था। उन्होंने बहुत यत्न से बहुत देर तक इंगित किया, पर वह इतना अस्पष्ट था कि पिता जी बहुत ही कठिनाई से समझ पाये, और तब उन्होंने संकेत स्थल से दीवार की एक दराज से मैले कपड़े में लिपटी एक पोटली निकाली, जिसमें कुछ रुपये थे। शायद दो चार। उनमें से एक तुड़ा कर माता के लिए दूध मंगाया गया। दूध तब चार पैसे सेर मिलता था। पर आज भी मैं उस एक पाव दूध की कीमत का अनुमान नहीं लगा सकता। एक पैसे के उस दूध के लिए पिता जी को दो घंटे संघर्ष करना पड़ा था। बीस जगह हाथ फैलाकर नकार प्राप्त किया था। यह था मेरे जीवन पर अभाव का स्पर्श।"[1] इस घटना का आचार्य चतुरसेन जी के साहित्यिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उनका साहित्यकार प्रारम्भ में चार तत्वों— सेवा, श्रम, अभाव और विद्रोह से विशेष प्रभावित हुआ था। उन्होंने इस विषय का वर्णन करते हुए लिखा था "माँ की बीमारी द्वारा मेरे जीवन पर अभाव का स्पर्श हुआ तथा सेवा मैंने पिता जी की देखी। १४ वर्ष निरन्तर अनवरत, वे माता जी को अनायास ही फूल की डाली की भाँति उठा लेते। सेवा, सुश्रुषा, सफाई और न जाने क्या-क्या उन्हें करना पड़ता था, जिसे तब नहीं समझा था, बाद में जीवन भर समझा। यह हुआ मेरे जीवन पर सेवा का स्पर्श। श्रम हम सभी को करना पड़ता था। हमारी ५-७ वर्ष की बहन

---

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन, मैं उपन्यास कैसे लिखता हूँ, पृ १६।

प्रौढा गृहिणी की भाँति-उन दिनो हमारी सारी गृहस्थी चला रही थी। उन्ही दिनो मुझे भी अपने हाथ से काम करने और रसोई बनाने का अभ्यास हो गया जो आज भी है। विद्रोह मुझे पिता से विरासत स्वरूप मिला था। इस प्रकार अभाव, सेवा, श्रम और विद्रोह इन चारो ने मिलकर मेरे बाल भाव का शृ गार किया।'[1]

इस प्रकार इनके माता-पिता का जीवन एक आदर्श पति-पत्नी का जीवन था।

प्रारम्भिक शिक्षा

१८ चादोस से सिकन्दराबाद मे आ बसने से पूर्व आचार्य चतुरसेन के पिता जी सिकन्दराबाद कस्बे के निकट 'रसूलपुर' नामक एक छोटे-से गाव मे रहे थे। उस समय आचार्य चतुरसेन जी की आयु कठिनाई से ४ या ५ वर्ष की होगी। वही पर उन्होंने गगाराम नामक एक गौर वर्ण ब्राह्मण से अक्षराभ्यास प्रारम्भ किया था। आचार्य चतुरसेन जी ने इस विषय पर स्वय लिखा है 'जिस दिन मेरा अक्षराभ्यास हुआ और मैं पहिली बार पाठशाला मे गया। वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है। सुना था कि पन्डित जी मारते हैं, कान खीचते है, मुर्गा बनाते हैं। एकाध बार दूर खडे होकर मुर्गा बनते तथा पिटाई होते मैंने लडको को देखा भी था। माता पिता ने मेरी पिटाई कभी की नही। मुझे याद ही नही कि कभी की हो। पिटाई से मैं घबराता भी बहुत था। अब जब मुझे स्वय पाठशाला जाना पडा, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मुझे मेरा सिर काटने को ले जाया जा रहा है। रोता हुआ मैं मा के आचल से लिपट गया। मा ने बारम्बार चुमकारा, पुचकारा, लल्लू भैया कहा गोद मे उठाया, मिठाई खिलाई, पिता जी ने भी फुसलाया और मुझे पाठशाला जाना ही पडा। उस दिन मुझे नया कुर्ता मिला, नई धोती मिली, नई टोपी, जिसमे गोटा लगा हुआ था। यह मुझे खूब अच्छी तरह याद है। उन दिनो मैं हाथो मे चादी के कडे पहने रहता था। याद आता है, कमर मे चादी की करधनी भी पहनता था। लेकिन पैर मे जूता नहीं था। जूता तो बहुत दिन बाद सिकन्दराबाद मे आकर ही पहना। धोती बाधना मैं नही जानता था। उस दिन पिता जी ने मेरी धोती बाधी थी और व कन्धे पर चढाकर मुझे पाठशाला ले गए थे। पण्डित जी के सम्मुख बताशे रक्खे गए, एक रुपया भेंट किया गया।

१ वातायन, आचार्य चतुरसेन, मैं उपन्यास कैसे लिखता हू, पृ- १७।

बताशे सब लडको को बाटे गए। मैंने पण्डित जी के कहने से सबके तिलक लगाया। उन्होंने मेरे माथेपर टीका दिया। फिर मेरा हाथ पकडकर पण्डित जी ने मेरी पाटी पर "श्री" लिखवाया। तीन बार "श्री" उच्चारण करवाया। बस, उस दिन यही हुआ, और मैं पिता जी की गोद मे चढकर घर चला आया। बताशे जो मुझे मिले थे—मैंने अम्मा को दिए। अब मैं हँस रहा था। हँस हँस कर पाठशाला की बात सुना रहा था। मैंने "श्री" पढा है, यह भी मैंने बता दिया। उस दिन की वह "श्री" जैसे मेरे रक्त की प्रत्येक बूँद मे रम गई। कभी न भूली जा सकी।"

आचार्य चतुरसेन जी प्रारम्भ मे केवल पाठशाला मे जाकर दिन भर तख्ती गोद मे लिए, तथा सरकन्डे की कलम हाथ मे लिए चुपचाप बैठे रहते थे। लिखते कुछ न थे। उनके पिता जी ने पडित जी को उन्हें मारने-पीटने से मना कर दिया था। इस कारण से प्रारम्भ मे पडित जी कुछ न बोलते थे किन्तु ऐसी स्थिति अधिक दिनो तक न चल सकी। इस विषय पर आचार्य जी ने लिखा है "पण्डित जी तरह देते गए। पर मैं तो लिख ही नही सकता था। पण्डित जी प्यार से डाटकर कहते, "अबे, लिखता क्यो नही।" तो मैं मुसकिया लेकर कहता पिता जी लिखेंगे। पिता जी घर पर तख्ती लिखते, मुझे समझाते, तो मैं इत्मीनान से बैठा देखता। मेरी यही धारणा थी कि पिता जी तख्ती लिखते हैं, तो अब मुझे लिखने की क्या आवश्यकता है। काफी दिन बीत जाने पर भी मैं केवल ६ अक्षर सीख पाया। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ। परन्तु हर बार इ, ई भूल जाता। जब बोलता अ, आ, उ, ऊ। पण्डित जी डाटकर कहते अबे, इ, ई। तब मैं इ, ई कहते-कहते हिचकियां लेकर रोते-रोते गगा यमुना के सागर बहा देता। पण्डित जी हैरान होकर किसी बालक के साथ मुझे घर भिजवा देते। पण्डित जी सुबह ही तख्ती पर सोल्हो स्वरो के निशान कर देते थे। कई बार सामने घुटवा देते थे। फिर तख्ती पर लिखने का आदेश देकर दूसरे बच्चो की ओर ध्यान देते थे। बीच बीच मे मेरी भी हाक लगाते रहते थे। परन्तु मेरी गाडी तो वही रुकी खडी रहती थी। हर बार जब वे कहते–लिख, तब मेरा एक ही जवाब था पिता जी लिखेंगे। अन्त मे पण्डित जी एक बार अधीर हो उठे। और अपने मस्तिष्क का सतुलन खो बैठे। उन्होंने क्रोध से लाल आख करके लडको को ललकारा—कोई है, लाओ तो खजूर की कम्मच, आज मैं इस चतुर्भुज के बच्चे की खाल उधेडूगा और पाच सात बालक दौड चले खजूर की कम्मच लेने। खजूर की कम्मच की करामात दो चार बार मैं देख चुका था। बस, मेरी गाडी सरपट

दौड़ चली, और जब तक वम्मच आई, मेरी तख्ती भर चुकी थी। टेढ़े मेढ़े अक्षर काँपते हाथ, आंसू भरी दृष्टि और हिचकियों से भरपूर रुदन सहित अटक-अटक कर उन अक्षरों का अस्फुट उच्चारण। पण्डित जी ने शाबाशी दी, पीठ ठोकी, पुचकारा, गोद मे उठाया, मगर इस लाड प्यार से भी मेरा रोना तो रुका नही। पण्डित जी उस दिन स्वय मुझे लाकर घर छोड़ गए, पिता जी को तख्ती दिखाई, बधाइयाँ दी। इस प्रकार मेरा अक्षराभ्यास आरम्भ हुआ। खेद है कि उन पण्डित जी का हमारे सामने ही देहावसान हो गया। मुझे उनकी पीली हल्दी के रग के समान देह और डोली मे बैठकर वहाँ से जाना भली भाँति याद है।"[१]

इसी "रसूलपुर" ग्राम मे ही एक बार आचार्य चतुरसेन जी का जीवन सकट मे पड गया था। शैशवावस्था की चर्चा करते हुए उन्होंने इस प्रबन्ध के लेखक से कहा था "शुभ, जीवन के प्रारम्भिक काल मे ही मैं एक बार मृत्यु से सघर्ष कर चुका हूँ। इस सकट मे मुझे मेरे एक बाल मित्र ने ही डाल दिया था।" मेरी उत्सुकता देखकर उन्होने मुझे बतलाया था, 'जिस गाव मे मैं रहता था उसके किनारे एक छोटी-सी नहर थी। उस समय मेरी अवस्था पाच वर्ष की रही होगी। एक दिन मैं अपने एक समवयस्क बालक के साथ खेलता-खेलता उस नहर के किनारे पहुँच गया। उस समय हम दो बालको के अतिरिक्त उस स्थान पर अन्य कोई भी व्यक्ति न था। हम दोनो बालक वहीं किनारे खेल रहे थे। मुझे ठीक स्मरण नही, किन्तु इतना स्मरण है कि वह बालक मुझसे किसी बात पर चिढ़ गया था। उसने मुझे धोखे से नहर मे धकेल दिया और स्वय भाग गया था।" इतना कहते-कहते आचार्य चतुरसेन जी का विहसता हुआ मुख मडल गम्भीर हो गया था। उन्होंने पुन कुछ भय मिश्रित स्वर मे कहा था "उस क्षण के अपने डूबने की स्मृति अभी भी मेरे मन मे ज्यों की त्यो है। जब कभी मुझे उस घटना का स्मरण हो आता है तो मुझे रोमाच हो आता है। मुझे कुछ ऐसा भास होने लगता है कि मैं अब डूबा अब डूबा।" आचार्य चतुरसेन जी की मुख-मुद्रा देखकर मुझे भी रोमाच हो आया था। किन्तु दूसरे ही क्षण आचार्य जी ने हसते हुए कहा था 'किन्तु भयभीत होने की कोई बात ही नहीं। मैं तो भला चगा तुम्हारे सामने बैठा हूँ। उस मझधार मे मुझे घास का सहारा मिल गया था। उसी को पकड़कर मैं नहर से बाहर आया था।" आचार्य चतुरसेन जी ने कुछ रुक कर हसते हुए पुन कहा था 'यदि उस समय मैंने जल समाधि ले

---

१. चतुरसेन—त्रैमासिक, दूसरा अक, मेरा बचपन पृ. २३०-२३१।

ती होती, तो आज तुम थीसिस लिखने मेरे समीप कैसे आते। इतना कहकर आचार्य चतुरसेन खुलकर हँस पडे थे।"

सिकन्दराबाद में

आचार्य जी के अक्षराभ्यास के पश्चात् उनके पिता जी उनकी शिक्षा-दीक्षा के विचार से रसूलपुर से सिकन्दराबाद आ बसे थे। सिकन्दराबाद जिला बुलन्द शहर के अन्तर्गत एक अच्छा कस्बा है। वहाँ तहसील और थाना भी है। जिन दिनो आचार्य जी के पिता सिकन्दराबाद मे आए थे, उन दिनो कायस्थ लोग वहाँ के प्रमुख नागरिक थे और आजकल बनियो का आधिक्य है। विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर शान्ति स्वरूप भटनागर यही के निवासी थे और वह आचार्य चतुरसेन जी के बाल सहपाठी थे। आचार्य जी का स्कूल कायस्थ बाडे मे ही था। यहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले अधिकाश विद्यार्थी धनी थे और आचार्य चतुरसेन जी स्वय निर्धन पिता के पुत्र थे। वे लोग सदैव उन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। केवल कायस्थ विद्यार्थियो मे उनकी मित्रता शान्तिस्वरूप भटनागर से ही हो सकी थी, कारण वह भी उन्ही की भाँति दरिद्र थे।

उस कस्बे की एक छोटी सी गली मे आचार्य चतुरसेन जी का मकान था। इस मकान के विषय मे आचार्य जी ने स्वय लिखा है "एक पतली-सी गली मे एक छोटा-सा मकान, शायद आठ आना माह भाडे पर पिता जी ने लिया था। मुझे वह अँधेरी कोठरी अच्छी तरह याद है, जहाँ मेरे दो तीन भाई-बहनो का जन्म हुआ। वहाँ दिन रात अधकार रहता था। कोठरी मे ऊपर को सूराख था, सूराख मे से सूर्य की कुछ किरणें दोपहर को आती थी। सब एक साथ उसी कोठरी मे सोते थे। बहुत दिन तक मैं पिता जी के साथ सोता रहा। बाद मे किसी एक भाई के साथ। अकेले सोने को चारपाई-बिछौना तो मुझे बहुत दिन बाद मिला। उस मकान की कीमत ५०० रु० किसी तरह पिता जी न जुटा सके। परन्तु वर्षों तक घर मे चर्चा होती रही, कि यह मकान खरीदा जायगा। अन्तत पच्चीस वर्ष बाद उसी गली मे मैंने एक मकान खरीदा।"[1]

जिस मुहल्ले मे आचार्य चतुरसेन जी रहते थे, वह बनियो का था। उस मुहल्ले का सबसे धनी व्यक्ति एक कोढी एव काना बनिया था। उसका नाम बसीराम था। वह कस्बे भर मे "काना बसी" के नाम से प्रसिद्ध था। धनी होने पर भी वह परले सिरे का कजूस एव मनहूस आदमी था। उसके न सतान थी, न

१. चतुरसेन—त्रैमासिक, दूसरा अक पृ. २३६।

स्त्री । मरने पर भी उसकी लाश तीन दिनो तक पड़ी सड़ती रही थी। तीसरे दिन बड़ी धूमधाम से उसका विमान निकाला गया था। उस समय आचार्य चतुरसेन जी चौथी या पाचवी कक्षा मे थे। उसी कजूस बनिए पर उन्होने उस समय एक साधारण कविता लिखी थी।''[1] जो बाद मे उस कस्बे मे खूब प्रसिद्ध हुई थी। कस्बे के विभिन्न उत्सवो मे भी उनकी यह कविता बडी धूम-धाम से गायी जाती थी।''[2]

आचार्य चतुरसेन जी उस कस्बे के दो खोचे वालो से एव एक कम्पाउन्डर से भी विशेष प्रभावित थे। खोचे वालो से उन्होने पकौडियां बनाना उसी अवस्था मे सीख लिया था, जिसमे उन्हे कमाल हासिल था। तथा कम्पाउन्डर बद्रीप्रसाद को देखकर ही उन्हे चिकित्सक बनने का शौक हुआ था।''[3]

पारिवारिक परिचय

यही सिकन्दराबाद मे आचार्य चतुरसेन जी के परिवार मे उनके एक भाई और एक बहिन की वृद्धि हुई थी। सब मिलाकर आचार्य जी चार भाई थे। आचार्य जी, खेमसेन, भद्रसेन, चन्द्रसेन। भद्रसेन जी का युवावस्था मे ही देहान्त हो गया था। उनकी अकाल मृत्यु से आचार्य चतुरसेन जी को गहरा आघात लगा था। वास्तव मे भद्रसेन जी ही उनके समस्त कार्यों को देखते थे। वे भाई होने के साथ-साथ आचार्य चतुरसेन जी की दक्षिण भुजा भी थे। आचार्य जी के इसी समय प्रकाशित "आरोग्यशास्त्र" नामक प्रसिद्ध ग्रथ की भूमिका पढने से उनके दुःखी हृदय की किंचित मात्र झलक मिल सकती है। भद्रसेन की मृत्यु के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी के सबसे छोटे भाई श्री चन्द्रसेन जी ने उनके कार्यों मे सहायता देना आरम्भ कर दिया था। उस समय से अन्त समय तक श्री चन्द्रसेन जी आचार्य चतुरसेन जी के साथ ही रहे। उनके दूसरे भ्राता श्री खेमसेन जी आज भी सिकन्दराबाद मे रहकर व्यवसाय करते हैं।

---

१. उसकी कुछ पंक्तियां निम्न हैं—

रे काने बंसी, कैसा विमान बनाया।
जब तक जीता रहा-नरक मे रहा, न मोता खाया।
मरने पर यारों ने तेरा पैसा खूब लुटाया।
रे काने बंसी। चतुरसेन-त्रैमासिक, दूसरा अंक पृ. २३८।

२. चतुरसेन—त्रैमासिक, दूसरा अक पृ २३८-२३९।

३. चतुरसेन—त्रैमासिक, दूसरा अंक पृ. २३९ से २४३।

गुरुकुल में प्रविष्टि

सिकन्दराबाद मे आने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी के पिता श्री ठाकुर केवल राम जी का कार्यक्षेत्र और भी व्यापक हो गया था। यहीं आचार्य चतुरसेन जी के पिता को प्रसिद्ध आर्यसमाजी प्रचारक पन्डित मुरारीलाल शर्मा के सानिध्य का भी अवसर प्राप्त हुआ। "यहीं उन्होंने सम्भवत सन् १९०३ या ४ मे स्वामी *दर्शनानन्द (तब प० कृपाराम)* और प० मुरारीलाल शर्मा के सहयोग से गुरुकुल सिकन्दराबाद की स्थापना की। शायद यही प्रथम गुरुकुल था। गुरुकुल कागडी की स्थापना इसके बाद ही हुई थी।"[१] आचार्य चतुरसेन जी बहुधा कहा करते थे कि इस गुरुकुल के पहले उत्सव मे कुल तीन रुपए चन्दे के आए थे और मुझ सहित केवल तीन विद्यार्थी दीक्षित हुए थे। इन विद्यार्थियो का परिचय देते हुए उन्होंने कहा था "एक थे देवेन्द्र शर्मा (प० मुरारीलाल के पुत्र और पीछे आर्य समाज के प्रसिद्ध प्रचारक) सांख्य-काव्य-तीर्थ, शास्त्री और दूसरे एक और, *जिसका कुत्सित जीवन प्रारम्भ-तारुण्य ही मे समाप्त हो गया* था। एकाक्षी प० भूमित्र शर्मा कर्णवास-निवासी बने हमारे आचार्य और हम सम्भवत छठी कक्षा से स्कूल छोडकर ब्रह्मचारी बन गए।"[२] उन दिनो सिकन्दराबाद अच्छा खासा आर्य-समाज का प्रचार-गढ बन गया था। प्रसिद्ध भजनीक वासुदेव शर्मा और तेजस्वी गायक तेजसिह की बडी धाक थी। रोज ही बाजार में धूम-धाम से प्रचार उपदेश और शास्त्रार्थ होते। "मुरारीलाल शर्मा विशेष पठित तो न थे, पर थे बडे वाग्मी।" इस विषय मे चर्चा करते हुए उन्होंने एक बार डा० कमलेश से कहा था "हम बालक रोज मुसलमानो के बालको को पकड कर कहते—'साले कर शास्त्रार्थ' और से मार पीट करके चम्पत होते। वहीं हमे मेरठ के प्रसिद्ध वाग्मी प० तुलसीराम का सानिध्य प्राप्त हुआ और प० कृपा राम का परिवर्तित दर्शनानन्द रूप देखा। पीछे उन्हीं से हमने दर्शनो का अध्ययन किया। इटावा के प० भीमसेन जी के भी सनातनी होने के बाद वहीं दर्शन हुए। उनके और श्री दर्शनानन्द जी के शास्त्रार्थों की हम लोग खूब नकल उतारा करते थे।"[३] "कभी-कभी गुरुकुल के नीरस वातावरण से इनका मन

---

१. मैं इनसे मिला, डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" प्रथम भाग पृ. ८४।
२. मैं इनसे मिला, डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" प्रथम भाग पृ. ८४।
३. मैं इनसे मिला, डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" पृ. ८४-८५।

उचाट हो जाता था।"[१] अन्त मे एक दिन वे गुरुकुल से चुपचाप काशी भाग गए थे। इस विषय की चर्चा चलने पर उन्होंने कहा था "गुरुकुल में हमें भूगोल और सत्यार्थ प्रकाश आदि पढ़ाये जाते थे। इसका विरोध करके हम तीन-चार विद्यार्थी एक दिन रात को दो बजे दीवार फादकर संस्कृत पढ़ने की धुन मे काशी को भाग गये, परन्तु पहुँचे केवल दो श्री देवेन्द्र और मैं। राह में बहुत विपदाएँ झेली। काशी पहुँचने पर भी कष्टों का सामना किया। वहाँ हम क्षेत्रों मे खाते पीते रहते, और आवारागर्दी मे पढ़ते। विद्यार्थियों तथा पंडों की गुन्डागीरी के भी खूब हथकन्डे देखे, कुछ सीखे भी पीछे पिता जी ने आकर श्री केशवदेव शास्त्री के यहाँ व्यवस्था कर दी।"[२] जब डा० केशवदेव शास्त्री अमेरिका चले गए तब वह प० जीवाराम जी तथा श्यामलाल जी शास्त्री से भी संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य पढ़ते रहे।

जयपुर में शिक्षा

इसके पश्चात् काशी से आचार्य चतुरसेन जी के पिता उन्हें ले आए और ले जाकर जयपुर-संस्कृत-कालेज मे भरती करा दिया। वहाँ के आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष स्वामी लक्ष्मीराम जी प्रख्यात पीयूष-पाणि और विद्वान थे। आचार्य चतुरसेन जी ने उन्ही से वहाँ चार वर्षों तक आयुर्वेद का विधिवत् अध्ययन किया और वहीं से उन्होंने साहित्य और चिकित्सा की विभिन्न परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। जयपुर मे ही आचार्य चतुरसेन जी को आर्य समाज के दिग्गज वेदान्त निष्णात प० गणपति शर्मा से वेदान्त पढ़ने का अवसर मिला था। वहीं श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्री मधुसूदन ओझा एवं महामहोपाध्याय गौरीशंकर

---

१. इस विषय में आचार्य चतुरसेन जी के अनुज श्री चन्द्रसेन जी ने लिखा है, "गुरुकुल उन दिनों नया-नया खुला था। अत चन्दा एकत्र करने के लिए मेधावी और वाक्पटु छात्रों को आस-पास के गाँवों में व्याख्यान देने और चंदा उगाहने भेजा जाता था। उनमें आचार्य चतुरसेन जी का नाम सबसे प्रथम था। दो-चार बार वह गये भी परन्तु चन्दा उगाहना उन्हें पसन्द न था। वह तो विद्या पढ़ने को व्याकुल थे। वहाँ के गुरुओं की ऐसी मनोवृत्ति देख वह चुपचाप काशी भाग गए।"

साप्ताहिक हिन्दुस्तान ६ मार्च १९६० पारिवारिक जीवन की झांकियाँ चन्द्रसेन पृ ९।

२. मैं इनसे मिला, डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" प्रथम किस्त पृ. ८५।

हीराचन्द ओझा आदि के सान्निध्य में आचार्य चतुरसेन जी को आने का अवसर प्राप्त हुआ था। आचार्य चतुरसेन जी ने यहाँ की शिक्षा स्वयं ट्यूशन करके प्राप्त की थी। इस विषय में आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है "उन दिनों मैं जयपुर के संस्कृत कालेज में पढ़ता था। रहता था आर्य समाज मन्दिर में। मेरे साथ एक और दक्षिणात्य विद्यार्थी वहीं रहते थे। वह हैदराबाद के निवासी थे, और महाराजा कालेज में एफ० ए० श्रेणी में पढ़ते थे। बिना फीस की पढ़ाई उन्हें जयपुर खींच लाई थी। शीघ्र ही उनसे मेरा मैत्री सम्बन्ध हो गया। मैत्री सम्बन्ध के जड़ में स्वार्थ भी था। वह और मैं दोनों ही ट्यूशन करके अपनी शिक्षा और रहन-सहन तथा खाने-पीने का खर्च चलाते थे। मुझे ट्यूशन करके मिलते थे तीन रुपए मासिक। आमिडा ब्राह्मणों की विश्वकर्मा पाठशाला में रात को बालकों को पढ़ाना पड़ता था। पढ़ाना क्या था भेड़-बकरियों के बच्चों को दो-तीन घंटे घेरना था। बहुत बच्चे सो जाते थे, बहुत पाखाना पेशाब, कर देते थे, लड़ते-झगड़ते शोर करते थे। उन सबको सार-सम्हार करता और दो ढाई घंटे वहाँ बिता आने के मुझे मिलते थे तीन रुपए-चेहरेशाही। मेरे मित्र अंग्रेजी के छात्र थे, इसलिए उन्हें ट्यूशन के ग्यारह मिलते थे। कोई एक ठाकुर का बच्चा छठी-सातवीं कक्षा में पढ़ता था। उसे ही हिलाते थे वह। इस प्रकार हम दोनों की आमदनी थी ग्यारह जमा तीन कुल चौदह रुपए। इन्हीं चौदह रुपयों में हम दोनों की छात्र-गृहस्थी चलती थी। खर्च का स्वामी मैं था।.........खाना बनाती थी समाज के चपरासी की स्त्री। वेतन पाती थी दो रुपए माहवार। ....हम लोग गेहूँ नहीं खाते थे—जौ खाते थे.......पर हम सदा के बन्दे घी दूध के फेर में न थे। खाते थे जौ के रूखे टिक्कड़ कभी मिरच-खटाई की चटनी से, कभी साग-तरकारी तथा दाल के साथ।"[१] आचार्य जी के उन मित्र महोदय का नाम सूर्य प्रताप था। एवं जिस बालक को सूर्य प्रताप जी ट्यूशन पढ़ाते थे उस बालक का नाम छोटे था, जो आगे चलकर डा० युद्धवीर सिंह के नाम से विख्यात हुए। जीवन के अन्तिम समय तक आचार्य चतुरसेन जी की इन दोनों बाल सखाओं से वैसी ही मित्रता रही, वैसी उस बाल्यकाल में थी।

आचार्य चतुरसेन जी ने सन् १९०९ तक यहाँ अध्ययन किया था, इसके पश्चात् उन्होंने सिकन्दराबाद आकर वैद्यक की प्रैक्टिस प्रारम्भ कर दी थी।

आचार्य चतुरसेन जी की शिक्षा अनेक स्थानों में अव्यवस्थित रूप से हुई

---

१. वानायन, आचार्य चतुरसेन "बुझनो वाली बात" पृ. १००-१०१।

फिर भी उन्होंने अपने स्वाध्याय और प्रतिमा से जो ज्ञान और अनुभव का अर्जन किया, वही उनके व्यक्तित्व के निर्माण मे सहायक हुआ।

निर्माण-काल

(सन् १९१२ से १९२५ तक)

सिकन्दराबाद मे अपनी स्वतन्त्र प्रैक्टिस करते आचार्य चतुरसेन जी को अभी कुछ ही दिन हुए थे कि इनकी नियुक्ति २५ रु० मासिक पर दिल्ली के सेठ रघुमल द्वारा कटरा मेदगरान मे सचालित एक औषधालय मे चिकित्सक के पद पर हो गई थी। इन्ही दिनो सन् १९१२ के आस पास आचार्य चतुरसेन जी का विवाह ग्राम मुहम्मदपुर देवमल (बिजनौर) मे सम्पन्न हुआ। आचार्य जी की प्रथम पत्नी का नाम तारादेवी था। वह वैद्य कल्याणसिंह जी आयुर्वेद महोपाध्याय जी की सुपुत्री थी। अपने श्वसुर श्री कल्याणसिंह जी के जीवन का आचार्य चतुरसेन जी के व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। वैद्य कल्याण सिंह जी स्व० पद्मसिंह शर्मा तथा आचार्य नरदेव शास्त्री के अन्यतम मित्रो मे हैं।"[1] आचार्य चतुरसेन जी के विवाह मे उक्त दोनो महानुभाव भी सम्मिलित हुए थे।

आचार्य चतुरसेन जी के श्वसुर भी वैद्य थे और वह उन दिनो अजमेर मे "हिन्दू धर्मार्थ औषधालय" मे प्रधान चिकित्सक थे। थोड़े दिन पश्चात् सन् १९१६ मे उन्होंने अपना ही औषधालय खोल दिया, जिसका नाम "श्री कल्याण औषधालय" रखा। उन्हें औषधालय को स्थापित किये हुए अभी कठिनाई से एक वर्ष भी न होने पाया था कि उन्हें लाहौर से महात्मा हसराज और प्रिंसिपल साईदास का इस आशय का पत्र मिला कि वह डी० ए० वी० कालिज कमेटी के तत्वावधान मे एक "आयुर्वेदिक कालिज" खोल रहे हैं, उसके प्रधानाचार्य पद के लिए उनकी सेवाओं की आवश्यकता है। इस विषय मे वैद्य कल्याण सिंह जी ने लिखा है "(उनका) अनुरोध अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। इधर मेरठ औषधालय भी काफी चल निकला था। मैंने चतुरसेन जी को बुलाया। अपना औषधालय उनके सुपुर्द कर मैं लाहौर चला गया। मैं दो वर्ष लाहौर रहा। इस अवधि मे मैंने प्रिंसिपल लाला साई दास जी तथा डी० ए० वी० कालेज मैनेजिंग

---

१. आचार्य जी के प्रथम श्वसुर श्री कल्याणसिंह जी आज भी नब्बे वर्ष की अवस्था में पूर्ण स्वस्थ हैं। यह प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक का सौभाग्य ही है कि लगभग एक माह उसे इस महापुरुष के सानिध्य का जो अवसर प्राप्त हो चुका है।

कमेटी के प्रधान महात्मा हसराज जी को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे मेरे स्थान पर श्री चतुरसेन जी को स्वीकार कर लें। उन्होंने यह बात मान ली और चतुरसेन जी लाहौर के डी० ए० वी० कालेज मे आयुर्वेद के सीनियर प्रोफेसर नियुक्त हो गए। चतुरसेन जी वहाँ साल भर रहे, वहाँ उनकी अधिकारियो से नही पटी। साल भर बाद वह अजमेर आ गए और हम दोनो ही औषधालय मे काम करने लगे।"[१]

इस औषधालय से त्याग-पत्र देने वाली घटना से आचार्य चतुरसेन जी के आत्म-सम्मानी एव अक्खड स्वभाव का स्पष्ट भास होता है। आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है 'मैंने कभी किसी के प्रभाव मे रहना सीखा नही। आधीनता का तो कहना ही क्या ? कुल जमा जीवन मे साढे तीन वर्ष पजाब यूनिवर्सिटी की नौकरी की—जो केवल इसी बात पर छोड दी, कि प्रिंसिपल के कमरे मे जाकर हाजिरी के रजिस्टर पर दस्तखत करने पडते थे, और दो चार मिनट की देर होने पर ऐसा मालूम होता था कि प्रिंसिपल सारे अगो से मुझे ही देख रहा है।"[२]

इस बार अजमेर लौटने पर इनका साहित्यकार कुछ उद्बुद्ध हो चुका था। यह प्रथम जर्मन युद्ध के बाद का समय था। इसका वर्णन करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है "प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर, मुझे भयानक महामारी इन्फ्लुएन्जा और उनके बाद प्लेग के दिनो में प्रतिदिन दो सौ, तीन सौ नर-नारियो को भीषण यन्त्रणाओ मे छटपटाते हुए मृत्यु का ग्रास होते और उनके प्रियजनो के क्रन्दन आर्तनाद को अति निकट से देखने का अवसर मिला मेरे जैसे तरुण के लिए, जिसके हृदय मे साहित्य की भावना सोई पडी थी तो तीन सौ नर नारियो का नित्य मेरी आँखो के सामने छटपटा कर प्राण त्यागना प्राण बचाने के भगीरथ प्रयत्नो के बावजूद भी निराश होना कोई साधारण बात न थी। इसने मेरी सम्पूर्ण चेतना को आहत कर दिया। मैं उन दिनो को भूल नही सकता, जब स्वय १०५ डिग्री के ज्वर मे रात दिन एक के बाद दूसरे साघातिक रोगियो को देखना एव उपचार करना पडता था। कोई कोई मृत्यु तो अतिशय भयानक, हृदय विदारक मर्मान्तक पीडा देने वाली होती थी।'

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, आचार्य चतुरसेन श्रद्धांजलि अक ६ मार्च १९६ पृ १४।

२. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ ११६-११७।

३. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ १७ से १८।

इस घटना का आचार्य चतुरसेन जी पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनका सोया हुआ साहित्यकार जाग उठा। और उन्होंने इसी घटना पर अपना प्रथम उपन्यास "प्लेग विभ्राट" लिख डाला।

अपने इस प्रथम उपन्यास के विषय मे आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है " उसी के बाद इन्फ्लुएन्जा और प्लेग ने मेरी चेतना को आहत किया और मैंने उन्ही दिनो अपना सबसे पहला उपन्यास लिखा—उसमे मैंने अत्यन्त मर्मान्तिक प्लेग और इन्फ्लुएन्ज़ा के बीस-बीस केसो के विवरण दिए, जो मेरे आँखो देखे थे। वे सब दिल हिला देने वाले थे। उन्हें पहले मैंने प्रथक विवरणो मे लिखा, फिर प्रत्येक के तीन या चार टुकडे कर डाले उन टुकडो के बीच मे दूसरे प्रसगो के टुकडे डालकर मैंने उस पूरे विवरण सग्रह को उपन्यास का सा रूप दे डाला। यह सब देने मे मेरा ध्यान बाल्यकाल मे पठित "चन्द्रकान्ता सतति" की पद्धति पर केन्द्रित रहा। उसी के अनुकरण पर मैंने इन विवरण खन्डो को परस्पर बीच मे डाल कर गूथ दिया। आरम्भ मे एक विवरण का एक दृश्य, फिर उसे छोडकर दूसरे, तीसरे, चौथे विवरण के अधूरे अश। फिर वही पूर्व का आगे का कथन। इसी प्रकार पूरा उपन्यास तैयार हो गया। उसी का नाम मैंने रखा था शायद "प्लेग विभ्राट'। उन दिनो प्रताप के माध्यम से मेरा परिचय आगरे के श्रीकृष्णदत्त पालीवाल से हो गया था। उन्ही को वह तथा कथित उपन्यास मैंने छपने के लिए भेज दिया। उसे उन्होने शायद लापरवाही से कही डाल दिया, पीछे सूचना दी कि वह पाण्डुलिपि कही खो गई। इस प्रकार मेरे उस तथाकथित प्रथम उपन्यास रूपी शिशु का गर्भपात ही हो गया। इसके खो जाने का दुःख बहुत हुआ। पालीवाल से खिकखिक भी बहुत हुई। पर जो खो गया, वह खो गया।"[१] आचार्य चतुरसेन जी के मानस पटल पर इस उपन्यास के पात्रो ने अपना गहरा प्रभाव छोडा था। उन्होंने लिखा है वे कोई काल्पनिक पात्र न थे। मैंने अति निकट से उन्हें देखा था, इसलिए बहुत दिनो तक उनके रेखाचित्र मेरे नेत्रो मे घूमते रहे और मेरी मनोवृत्ति और चेतना मे उपन्यास तत्व की भूमिका बनाने लगे। बहुधा मैं सोचने लगता, यदि यह न होता वह होता, ऐसा न करके ऐसा किया जाता तो कदाचित ऐसा होता। यद्यपि ये सब विकल्प विक्रिया से सम्बन्धित थे पर उनमे से कल्पनाए मूर्त हो उठी। इस प्रकार आँखो देखे सच्चे रेखाचित्रो के साथ ही साथ काल्पनिक रेखाचित्र भी उभरने लगे। वे अधिक सशक्त थे प्रिय थे। इससे सच्चे घटित रेखाचित्रो के

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ १८-१९।

ऊपर काल्पनिक चित्रों की प्रतिष्ठा मेरे मानस मे होती चली गई। इस प्रकार अभाव, सेवा, श्रम और विद्रोह मे इन्हे हम प्रथम दे चुके हैं दो वस्तु तत्व और आ मिले-वेदना और कल्पना। वेदना सत्य पर आधारित और कल्पना वेदना की प्रतिक्रिया स्वरूप। परन्तु इसमे कहीं उपन्यास तत्व पनप रहा है, यह तब भी मैं समझ नही पा रहा था।"[१] आचार्य चतुरसेन जी की यह प्रथम रचना आज अप्राप्य है, किन्तु आचार्य चतुरसेन जी के इस वर्णन से स्पष्ट है कि इसमे पर्याप्त सजीवता रही होगी। आचार्य जी की मृत्यु के पश्चात् उनके अनुज श्री चन्द्रसेन ने सम्पादित करके उनकी आत्म कहानी निकाली है, उसमे प्रस्तुत उपन्यास के कुछ अंश भी दिए हुए हैं।[२]

आचार्य चतुरसेन जी का यह प्रथम उपन्यास था, यद्यपि इसके पूर्व चिकित्सा सम्बन्धी या सामाजिक कुरीति सम्बन्धी लेख और एक दो पुस्तकें निकल चुकी थी। उनकी सबसे पहली रचना ला० लाजपतराय के माडले-निर्वासन पर "श्री वेंकटेश्वर समाचार" मे प्रकाशित हुई थी। तथा सबसे पहली पुस्तक बाल विवाह के विरुद्ध एक ट्रैक्ट के रूप मे निकली थी। उसका नाम था 'हिन्दुओं की छाती पर जहरीली छुरी"। सबसे प्रथम कथा का रूप उनके एक लेख ने धारण किया, जो उन्होने एक मारवाडी वृद्ध सेठ के एक बालिका से विवाह के विरोध मे लिखा था। यह काल्पनिक कहानी न थी सच्ची घटना थी—इन प्रारम्भिक रचनाओ से आचार्य चतुरसेन जी की इस मनोदशा का आभास प्राप्त हो जाता है, जिसने उनसे भविष्य मे "मारवाडी अंक", अम अभिलाषा (बहते आँसू) आदि कृतियो की सृष्टि करायी थी।

आचार्य चतुरसेन जी का प्रथम प्रकाशित उपन्यास "हृदय की परख' है। उस समय इस उपन्यास की भूमिका मे आचार्य चतुरसेन जी ने जो लिख था उसी को स्पष्ट करते हुए उन्होंने प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को बतलाया था "वास्तव मे उस पुस्तक की मेरी सारी जमा पूंजी उधार की थी। मेरे मित्र बा सूर्यप्रताप ने जिन भावो की झाँकी दिखा कर मुझे मुग्ध कर दिया था, उन्ही व एकत्र करके कथा सूत्र मे बाँध देने मात्र का ही मुझे श्रेय था। उस पुस्तक के आरम्भ के चार परिच्छेद तो मैंने उसी अर्ध-रात्रि को लिपिबद्ध कर डाले थे

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. १८-१९।

२. आचार्य चतुरसेन जी की रचना के कुछ अंश आगे उनके द्वारा सम्पादित सजीवन नामक मासिक पत्र मे "देवदूत" के नाम से प्रकाशित भी हुए थे।

जस रात्रि को उनके श्री मुख से वह कथा सुनी थी।'[१] इस कारण से इसमे भी कथा-तत्व का अभाव ही था। वास्तव मे यह रचना एक सोते हुए कथाकार की अगड़ाई मात्र थी। इसके अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी ने यह भी बतलाया था कि मुझे प्रसन्नता सबसे अधिक इसी पुस्तक को प्रकाशित देखकर हुई थी। इस समय आचार्य जी की अवस्था २६ २७ वर्ष की थी (सन् १९१७-१८ के लगभग) अभी तक उनका साहित्यकार रूप उनके चिकित्सक रूप के नीचे दबा हुआ था। कभी-कभी जब उनका साहित्यकार रूप उद्बुद्ध होता तो कोई न कोई रचना निकल ही जाती थी। किन्तु शनैं शनैं उनका चिकित्सक रूप उनके साहित्यकार रूप पर हावी होता जा रहा था। अब चिकित्सक के नाते धीरे-धीरे राजस्थान के राजवर्गीय जनो से उनका सम्पर्क बढा, और शीघ्र ही नामाङ्कित राजा-ठाकुर जागीरदार महाराजों के रनवासो में उनकी पैठ हो गई। इस जीवन मे उन्हे कितने ही अनहोने चित्र और मानव चरित्र देखने पड़े थे। उन्होंने लिखा है "चिकित्सक का कार्य कितना नाजुक और रहस्यमय होता है, यह कदाचित् सब लोग नही जानते। बड़े-बड़े अनहोने चित्र और मानव चरित्र मेरे सामने आए। बड़े-बड़े पेचीदे मामले मुझे सुलझाने पड़े। बहुत से राजा महाराजाओ के रानियो के तथा अति सम्भ्रात प्रभावशाली जनो के भीतरी आर्तनाद, दुर्बलताए, मूर्खताए, कुत्साए मुझ पर प्रकट होने लगीं। उन दिनों दर्जनो बड़े-बड़े सम्भ्रान्त पुरुषो स्त्रियो की इज्जत आबरू मेरी जेबो मे पड़ी रहती थी वे एक दीन, हीन भिखारी के समान मेरी कृपा के याचक बन मेरे सम्मुख आते थे। मुझे इन सबको नितान्त गोपनीय रखना पड़ता था, भारी भारी व्यवस्थाएँ करनी पड़ती थी, असाधारण उद्योग करने पड़ते थे, जिन सबका मेरे मन पर कभी-कभी इतना दबाव पड़ता था कि बहुधा मैं असयत हो उठता था। इन सब बातो ने और दो नए तत्वा को मेरे मानस पर उदित किया—विवेक और सयम। अब मेरी कलम का नेतृत्व आठ तत्व कर रहे थे—अभाव, सेवा, श्रम, विद्रोह, वेदना, कल्पना, विवेक और सयम। यद्यपि इस समय तक भी मैं कोई उत्तम उपन्यास न लिख सका था, पर ये तत्व मेरे नित्य के जीवन मे ओत प्रोत रहते थे, निरन्तर मुझे उनकी आवश्यकता पड़ती रहती थी, अपने गम्भीर और जटिल व्यवसाय में। इससे प्रत्येक वस्तु को देखने का मेरा अपना एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण हो गया था।'[२]

---

१. साथ ही देखिए "हृदय की परख" आचार्य चतुरसेन—भूमिका।

२. वातायन, आचार्य चतुरसेन पृ. २०।

अपने जनाजे पर लादकर यह मस्ताना साहित्यकार संसार से चल खड़ा हुआ। भरी जवानी में। केवल एक मासिक पत्रिका पर लाखों फूँक दिए। जब तक जिया, कला-सौन्दर्य-साहित्य के संसार में आँसू बखेरता रहा।'[1] हाजी मुहम्मद के मरने के पश्चात् 'अन्तस्तल' प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका में आचार्य चतुरसेन जी का विछोह फूट उठा था।'[2]

हाजी की मृत्यु के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी बम्बई में और अधिक दिन न रह सके। सट्टे की चोट पड़ गई थी, अन्ततः उसका परिणाम बुरा हुआ। आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है "परन्तु शीघ्र ही मुझे एक चोट लगी। एक दिन सर्वस्व दे, छूछे हाथ घर लौट आया। लौटकर देखा, पत्नी क्षय से असाध्य अवस्था में पड़ी है। उसे धर्मपुर चिकित्सार्थ ले जाने के लिए मैंने सौ रुपया बहनों से उधार माँगा, पर न मिला। पत्नी का देहान्त हो गया। बहुत भारी आघात था, केवल जीवन पर नहीं, मानस पर, विचारधारा पर। अब पीड़ा मेरी सम्पूर्ण चेतना को आक्रान्त कर गई। उसने मेरी कलम को गहराई में उतार दिया।'[3] इस घटना के पश्चात् ही आचार्य चतुरसेन जी ने बम्बई त्याग दिया था। बम्बई प्रवास काल में केवल आचार्य चतुरसेन जी के दो-ही प्रमुख ग्रन्थ निकल सके, 'अन्तस्तल' तथा 'सत्याग्रह और असहयोग'। अन्तस्तल की गुरुदेव रवि बाबू ने भी प्रशंसा की थी। इस विषय

---

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. ८७-८८।

२. अन्तस्तल की भूमिका में उन्होंने निम्न पंक्तियाँ लिखी थीं—

मेरी यह रचना विधवा है। हाजी मुहम्मद के साथ एक तौर से मैंने इसका ब्याह कर दिया था यह आदमी गुजराती साहित्य-मन्दिर का मस्ताना पुजारी था। वह "बीसवीं सदी" नामक प्रख्यात गुजराती पत्रिका का संपादक था। सबसे प्रथम उसी की दृष्टि में यह रचना चढ़ी। उसने पागल की तरह उसे लाड़ किया मैंने भी अपने-पराये की परवाह न कर उसी से इसका ब्याह किया। ब्याह होते-होते ही तो वह मर गया।

जितने हौंस से उसने इसे चाहा था 'रूप' को सुनकर उसकी आँखें झूमने लगीं थी 'दुःख' को सुनकर वह रोया और 'अनुताप' को वह सुनकर उद्वेग के मारे खड़ा हो गया था। वातायन आचार्य चतुरसेन पृ. ९२-९३।

३. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. २४।

का उल्लेख करते हुए डा० युद्धवीर सिंह ने लिखा है' आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्तस्तल' प्रकाशित हुई तो उस समय शास्त्री जी की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी और शायद जिन कठिनाइयों में से वह उन दिनों गुजर रहे थे उनके कारण 'अन्तस्तल' के उद्‌गार निकले थे। 'अन्तस्तल' का अच्छा स्वागत हुआ तो मैं एक रोज पूछ बैठा कि क्या इससे कुछ आर्थिक लाभ नहीं हुआ।

उन्होंने जवाब दिया "इससे एक बड़ा लाभ हुआ है। मुझे कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर का एक पत्र मिला है जिसमें गुरुदेव ने मुझे 'अन्तस्तल' पर हार्दिक बधाई दी है। शास्त्री जी बड़े प्रसन्न थे और कहने लगे 'गुरुदेव के इन चार शब्दों का बहुत बड़ा मूल्य है मेरे लिए। इससे बड़ा और क्या लाभ हो सकता है।'[1]

द्वितीय विवाह और क्रान्तिकारी जीवन

(सन् १९२५-१९३४)

बम्बई से लौटने और प्रथम पत्नी की मृत्यु के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी के जीवन में पुनः एक मोड़ आया। बम्बई प्रवास काल में वह साहित्य से दूर जा पड़े थे, यद्यपि हाजी के सान्निध्य से उन्हें वहीं प्रेरणा भी प्राप्त हुई थी।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में आचार्य चतुरसेन जी ने बतलाया था कि 'मेरी प्रथम पत्नी की मृत्यु का मुझे काफी सदमा पहुँचा था। वास्तव में मैं ही उसकी मृत्यु का दोषी था। न मैं सट्टे-फट्टे में पड़ता और न ही वह जाती'। इतना कहकर आचार्य जी मौन हो गए थे। मैंने उनसे पुनः प्रश्न किया था, 'इसमें आपका क्या दोष ?'

'फिर किसका दोष ?' आचार्य चतुरसेन जी ने कुछ तीखे शब्दों में कहा था।

'मुझे आज भी वह दिन ज्यों-का-त्यों स्मरण है जब वह क्षय के असाध्य रोग में पड़ी तड़प रही थी। मैं सट्टे में सब कुछ दे बैठा था, अपनी स्वयं की जमा पूँजी भी। और इधर पत्नी भी हाथ से जा रही थी किन्तु मैं उसे जाने देने को तैयार न था। किन्तु पास एक कौड़ी न थी ? मैंने उसे चिकित्सार्थ

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, आ० च० शा०—अंक ६ मार्च १९६० पृ. २९।

धर्मपुर ले जाने के लिए बहुतो से रुपए उधार मांगे, किन्तु हाय रे भाग्य। कोई अपना न था, यह प्रथम बार मुझे उस दिन ही अनुभव हुआ था।' आचार्य चतुरसेन जी ने कुछ रुक कर पुन कहा था "अब तुम स्वय अनुमान कर सकते हो कि उस समय मेरे हृदय पर, मेरे मानस पर कितना भारी आघात लगा होगा।"

'आपने अपनी उस मानसिक स्थिति का कही चित्रण नही किया।' मैंने प्रश्न किया।

क्यो नही ? किन्तु वास्तव मे मैं उस समय केवल यही विचार रहा था कि ऐसे स्वार्थी ससार मे यदि आग लग जावे तो अच्छा है। किन्तु कुछ उपाय समक्ष मे न आ रहा था। मैं कितने ही दिनो गुमसुम रहा। परिवार वालो को मेरी यह दशा भली न लगी और उन्होने प्रथम पत्नी की मृत्यु के कुछ ही दिनो के अनन्तर मेरा दूसरा विवाह रचा दिया। विवाह हो जाने के पश्चात् भी मैं कितने ही दिनो तक अपने मस्तिष्क को सतुलित न रख सका था। इतना कहकर आचार्य चतुरसेन जी मौन हो गए थे। पुन कुछ स्मरण कर उन्होने कहा था अपने "आत्मदाह" उपन्यास मे द्वितीय विवाह होने पर सुधीर की जिस मानसिक स्थिति का मैंने चित्रण किया है, वह वास्तव मे मेरी अपनी ही है। किन्तु अब मैं ऐसी मानसिक स्थित का अभ्यस्त हो गया हूँ।" मुझे स्मरण है कि इस वाक्य के समाप्त होते ही आचार्य चतुरसेन जी खुलकर हँस पडे थे।

इस प्रकार प्रथम पत्नी तारादेवी के निधन के पश्चात् उनका दूसरा विवाह मन्दसौर मध्यप्रदेश निवासी श्री नानूराम जी जौहरी की सुपुत्री प्रियम्वदा देवी से सन् १९२६ मे हुआ। यह विवाह आचार्य चतुरसेन जी के परम मित्र श्री नारायण प्रसाद के प्रयत्न से हुआ था, जो उन दिनो जोधपुर के गवर्नमेन्ट कालेज मे प्रोफेसर थे। इस विवाह के पश्चात् भी उनके विचार नित्यप्रति क्रान्ति की ओर ही उन्मुख होते जा रहे थे। आचार्य जी ने स्वय लिखा है 'परन्तु जब इस प्रकार मानसिक प्रतिक्रियाएँ विचार क्रान्ति कर रही थी, तभी भारतीय क्रान्ति के भी मैं निकट पहुँचा। इसका कारण भगतसिंह था। उसे मैं तब किसी और ही नाम से जानता था। मेरी लेखन शैली से आकर्षित होकर वह मेरे पास आया था। मुझे अपने गिरोह का सरदार बनाने का उसका आग्रह था। उन लोगो मे मैं सम्मिलित न हुआ, पर सम्पर्क तो रहा ही।"[1]

---

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. २४।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर मे आचार्य चतुरसेन जी ने कहा था "वह उठो और जागो" का काल था। मैं स्वय भी उस समय कुछ कर डालने का इच्छुक था। इसी समय रामरखसिंह सहगल से मेरी भेट हुई। वह इलाहाबाद से 'चांद' मासिक निकालता था। परन्तु 'चांद' की आर्थिक दशा उन दिनो अच्छी न थी। प्रतियाँ भी शायद ढाई तीन हजार ही छपती थी। एक दिन बैठे-बैठे विचार हुआ कि कैसे चांद को उन्नत किया जाय। मैंने ६ विशेषांकों की स्कीम बनाई। जिनमे पहिला 'फासी अक था।" आचार्य चतुरसेन जी ने स्वय इस विषय मे लिखा भी है 'बहुत भारी शका समाधान के बाद श्री सहगल" फासी अक की उपयोगिता पर सहमत हुए। यह भार उन्होंने मुझी पर दिया और मैंने उसके लिए कलम पकडी। मेरी अभिलाषा थी कि उसमे फासी के दन्ड के प्रति तिरस्कार तो प्रकट ही किया जाय, साथ ही मनोरजन की दृष्टि से ससार के प्राण दण्डो को व्यक्त किया जाय। दूसरे इसी बहाने बीसवी शताब्दी मे फासी पाए जाने का रिकार्ड सचित्र एकत्र कर लिया जाय।

इसके विज्ञापन की भी सारी योजना मैंने ही बनाई, विज्ञापन के ड्राफ्ट भी मैंने किए। भारत के अनेक पत्रो मे "फासी अक' का विज्ञापन छपते ही तहलका मच गया।

उधर सरकार भी खिन्नि हो गई। भला सरकार साहित्य मे ऐसी नग्न राजनीति और क्रान्ति कहाँ देख सकती थी। परन्तु हमारा काम चलता गया। इसी समय अकस्मात् मेरे पास सरदार भगतसिंह ने आकर कुछ आर्थिक सहायता चाही और मैंने वह कठिन काम उन्हे सौपा। उन दिनो वे सौन्डर्स को मार चुके थे और पुलिस उनके पीछे थी। वे छद्मवेश म रहते थे तथा नाम बदलकर परिचय देते थे। मैं भी जब तक कि असेम्बली म बम धडाका न हुआ उनका असल परिचय न जान पाया। उन दिनो सहारनपुर और दिल्ली क्रान्तिकारियो का अड्डा हो रहा था। उन्होंने घर घर घूम घूम कर क्रान्तिकारियों के ८० से ऊपर प्रमाणित चरित्र और चित्र चुने दिए। जिसके बदले मे सिर्फ शायद ७०० रु० इन्हे "चाद' की ओर से मिले।"१

फासी अक" निकलते ही एक तहलका मच गया था। आचार्य चतुरसेन जी की उठो जागो की भावना, कुछ कर डालने की इच्छा इसमें पूर्ण उभर कर

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन पृ. १२९

व्यक्त हुई थी। इस अंक के निकलते ही आचार्य जी की लेखनी के चमत्कार पर सब चकित रह गये थे। इस विषय पर सत्यदेव विद्यालंकार ने लिखा है"

प्रकट रूप में शास्त्री जी को कभी किसी ने क्रान्तिकारी के रूप में नहीं देखा और उनकी किसी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का किसी को पता नहीं चला। इसी कारण जब 'फांसी अंक' के सम्पादक के रूप में उनके नाम की घोषणा की गई तब सब विस्मित-से रह गए। फांसी पर हँसते खेलते झूलने वाले और क्रान्तिकारियों की अमर गाथा लिखने का उनको अधिकारी मानने को उनके आलोचक तैयार नहीं थे। परन्तु यह कितनों को मालूम है कि दिल्ली के चाँदनी चौक में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने की ऐतिहासिक घटना के अपनी युवावस्था में वह प्रत्यक्ष दर्शी थे। उसका विशद् विवरण उन्होंने डा० युद्धवीर सिंह को *इस पृष्ठों के एक विस्तृत पत्र में लिखा था।*"[1] वह ऐतिहासिक घटना उनके दिल पर सदा के लिए गड़ गई थी और उससे उनके दिल और दिमाग में देशभक्ति की भावना का जो बीजारोपण हुआ था उसके अंकुर सदा ही हरे भरे बने रहे। उनकी साहित्यिक रचनाओं की पृष्ठभूमि में जो उग्र स्वाभिमान, उत्कट स्वदेशाभिमान और प्रगाढ़ देशभक्ति सर्वत्र झलकती है, निस्संदेह वह इसी घटना का परिणाम है।"[2] किन्तु मेरा विचार है कि यह भावनाएँ इस घटना के पूर्व ही आचार्य चतुरसेन जी के हृदय में थी और इन्हीं भावनाओं ने उनसे 'फांसी-अंक' का सम्पादन करा डाला था। मेरी समझ में उनके हृदय में इस प्रकार की भावनाओं का विकास उनकी प्रथम पत्नी की मृत्यु वाली घटना से हुआ था। इस अंक की प्रशंसा भी उस समय खूब हुई थी।"[3]

---

१. 'पहली सलामी' में भी आचार्य चतुरसेन जी ने इस घटना का पूर्ण विवरण दिया है वातायन पृ. ३७-६४।

२ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६० पृ १९।

३. *सत्यदेव जी ने लिखा है "आचार्य जी ने इस प्रकार इस विशेषांक के सम्पादक* और उसके लिए सामग्री संचय करने में जिस साहस, धैर्य और निर्भीकता से काम लिया, और जो भारी जोखम उठाया उसकी कल्पना कर सकना कठिन नहीं होना चाहिए। वह साहसपूर्ण काम आग से खेलने के समान था। उसमें आचार्य जी ने जो सफलता प्राप्त की वह विस्मयजनक थी। उसको केवल एक *एक विशेषांक के रूप में नहीं देखना चाहिए, अपितु उस वीर-पूजा के रूप में* देखना चाहिए, जिसको उन दिनों में एक भयानक अपराध माना जाता था और जिसके लिए कुछ भी सजा दी जा सकती थी। अंग्रेज नौकरशाही

"फासी-अंक" के कुछ ही माह पश्चात् "चाँद" का "मारवाड़ी अंक" निकला था। इसमें भी आचार्य चतुरसेन जी की वही क्रान्तिकारी भावनाएँ उभरी हुई थी, किन्तु इसमें शासन के विरुद्ध नहीं वरन् धन की कुत्सा और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव था। इस अंक द्वारा वे मारवाड़ को उद्बोधन देना चाहते थे, मारवाड़ की कुरीतियों पर आक्षेप करना चाहते थे, किन्तु "आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है" इस अंक का सम्पादक यद्यपि मैं था, परन्तु सहगल ने कुछ ऐसे लेख छाप दिए जो मैंने नहीं चुने थे। उन्होंने मेरे चुने लेख भी निकाल दिए। पहले मैंने इस बात को कुछ महत्व-पूर्ण नहीं समझा। पर पत्र ज्यों ही प्रकाशित हुआ एक तूफान खड़ा हो गया। खेतान बन्धुओं ने कलकत्ते से मारवाड़ी बाजार को उकसाकर एक मुकदमा खड़ा कर दिया। उसी दौरान में श्री सहगल पर जूता भी फेंका गया और तभी मुझे ज्ञान हुआ कि मारवाड़ी अंक जैसे साधनों से दबाव डाल कर कुछ लाभान्वित होने की भावना भी श्री सहगल में थी।"[1]

सहगल की कुछ भी भावना रही हो किन्तु यह स्पष्ट है कि आचार्य चतुर-सेन जी इस अंक द्वारा समाज-सुधार करना चाहते थे। आचार्य जी ने स्वयं लिखा था कि "उस समय का भारत राजनीतिक दासता की बेड़ियों को काटने के साथ समाज, रूढ़ि एवं परम्परा की सामाजिक दासता के बन्धनों को भी काटने के लिए प्राणपण से प्रयत्नशील था। मुझे अति निकट से मारवाड़ की आत्मा का उसके स्पन्दन का, उसकी रूढ़िवादिता का अनुभव प्राप्त था। वज्र दृष्टि और वज्र मुष्टि यही मेरे दो हथियार थे और वज्र वाणी मेरा शृंगार।"[2]

आचार्य चतुरसेन जी ने "मारवाड़ी अंक" के सम्बन्ध में जो सन्देश प्रकाशित किया था वह धधकती हुई आग उगलने वाले ज्वाला मुखी की तरह सतप्त

और उसकी पुलिस ने उस अंक को तुरन्त जब्त कर लिया। आज क्रान्ति-कारियों के वीरतापूर्ण कारनामों के जिस इतिहास [redacted] लिखने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, हिन्दी में उसका सूत्रपात आचार्य चतुरसेन जी ने इस अंक द्वारा उन दिनों कर दिया था, जब उसकी चर्चा करना भी अपराध था।"

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २७ अप्रैल १९६० पृ. १९।

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन रामरक्ष सिंह सहगल पृ.१२१।

२. "मारवाड़ी अंक"।

था।" उसमे उन्होने छः वाक्य समूहो मे धनपतियो, दादियो, माताओ, बेटियो, युवको और पाखडियो को सम्बोधन करते हुए जो भाव प्रकट किए थे, उनमे आज भी उद्बोधन की वैसी ही शक्ति विद्यमान है। राजस्थान अथवा मारवाड की वीरभूमि का पिछडापन और निरकुश शासन उनके लिए असह्य था।"[1]

माताओ, दादियो और बेटियो के नाम उन्होने लिखा था "तुम हमारे रास्ते से हट जाओ। हमे कदम कदम पर नामर्द, हास्यास्पद और मूर्ख मत बनाओ। हम अपने भाग्य से युद्ध करने चले हैं। हम रूढियो को कुचलकर "युगधर्म" का अनुसरण करेंगे। 'मेरे जीते-जी ऐसा न होने पायेगा'—ऐसा निकम्मा रोडा हमारे मार्ग म मत अडाओ। हमे दौडने दो। वह देखो—वह भयानक प्रवाह प्राचीन महासत्ताओ को कुचलता हुआ उठा और जियो और जीने दो की तूफानी गर्जना करता हुआ बडा चला आ रहा है। तुम झूठे मोहवश हमे रूढियो की दलदल मे रखोगी तो तुम्हारे यशस्वी वश का बीज नाश हो जाएगा। तुम अपने उन्नत मना, जागृत पतियो की सहधर्मिणी बनो। पैर की जूती बनने के दिन गए। हाय, कैसे तुम खुशी से कैदी की तरह दिन काटती हो। क्या तुम्हें याद है कि तुम्हारी माताओ और दादियो ने स्वाधीनता के नाम पर धधकती चिता पर अपने स्वर्ण-शरीर को राख कर दिया था? तुम उस प्राचीन गौरव के नाम पर महाशक्ति का अवतार बनो। घूँघट को फाड डालो अपने पतियो को धर्मात्मा और त्यागी बनाओ।"[2]

इसी उदात्त भावना को लेकर उन्होने "मारवाडी अक" का सम्पादन किया था। किन्तु मारवाडी समाज मे इसकी उल्टी ही प्रतिक्रिया हुई थी। इस अक ने सारे मारवाडी समाज को झकझोर डाला था, उसमें एक "भूचाल-सरीखा कम्पन और बवडर जैसा आन्दोलन" उठ खडा हुआ था। किन्तु उस समय आचार्य चतुरसेन जी को इसकी किंचित् मात्र भी चिन्ता न थी। उस समय की अपनी क्रान्तिकारी एव विरोधी भावनाओ के विषय मे आचार्य चतुरसेन जी ने स्वय लिखा है 'मैं दुनिया को करवट लेते देख रहा था। इसलिए मैं अपनी साहित्य-सेवा के उन दिनो मे न कल्पना का सहारा लेता था, न रसोत्कर्ष की परवाह करता था। मैं तो आग खाता था और आग ही उगलता था। उस आग से कहा कौन जलता है, इसे देखने की मुझे फुरसत नही थी। मैं स्वय जल रहा था, तो मैं

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान २७ अप्रैल १९६० पृ. १९।
२. मारवाड़ी अंक–भूमिका।

दूसरे के जलने पर कैसे तरस खा सकता था। मैं भारत के एक भी व्यक्ति की दासता को किसी भी रूप में सहन करने को तैयार न था। न राजनीतिक और न सामाजिक। मेरी कलम आग उगलने और विष-वमन करने में ढीली नहीं पड़ती थी।"[१]

वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी के इस काल के सम्पूर्ण साहित्य में यही क्रान्ति की एवं सुधार की भावना व्याप्त रही। उनके केवल इन दो अंकों ने ही तहलका नहीं मचाया वरन् इस काल के प्रकाशित उपन्यास "हृदय की प्यास" एवं "अमर अभिलाषा" ने भी सम्पूर्ण समाज एवं साहित्य जगत को एक बार झकझोर दिया था। दोनों ही "अंक" जब्त कर लिए गए थे और साहित्य के ठेकेदारों ने इनकी अन्य कृतियों को "घासलेटी-साहित्य" के अन्तर्गत घोषित कर दिया था। इस समय आचार्य चतुरसेन जी का चिकित्सक एवं साहित्यिक रूप दोनों एक साथ चल रहे थे। वास्तव में साहित्य में भी वह समाज के चिकित्सक बनकर सम्मुख आ रहे थे।

चिन्तन–मनन काल
(सन् १९३४-१९४४)

आचार्य चतुरसेन जी का यह क्रान्तिकारी एवं समाज सुधारक रूप अपने पूर्ण निखार पर था कि इसी समय उनके जीवन ने पुनः एक करवट बदली। दुर्भाग्य से उनकी दूसरी धर्मपत्नी प्रियम्वदा देवी जी का देहावसान भी सन् १९३४ में थोड़ी-सी बीमारी के बाद हो गया। द्वितीय पत्नी की मृत्यु से भी आचार्य चतुरसेन जी के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा किन्तु इस बार वे और अधिक उग्र न हुए। उनकी उग्रता शनैः शनैः शान्त होती गई। इस विषय पर प्रस्तुत प्रबन्ध लेखक के प्रश्न करने पर उन्होंने बतलाया था। "द्वितीय पत्नी की मृत्यु के पश्चात् मेरी उग्रता मेरे हृदय में आ बैठी थी। उस समय भी मैं चीखना चाहता था, कभी-कभी अपने भाग्य पर जी खोलकर रोना चाहता था किन्तु मैं ऐसा कर न पाता था। उस समय मेरे हृदय से यही प्रतिध्वनि मुझे सुन पड़ती थी कि इन दुखों से तपकर, इन आघातों को सहकर ही तुम अपने लक्ष्य पर पहुंच पाओगे। मैं यह सब विचारता था किन्तु कुछ लिखने की इच्छा न होती थी।"

द्वितीय पत्नी की मृत्यु तक आचार्य चतुरसेन जी के कोई सन्तान न थी। अतः परिवार वालों ने उनका तीसरा विवाह भी कर दिया। यह विवाह द्वितीय

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६०, पृ. २०।

पत्नी के देहान्त के लगभग १ वर्ष बाद बनारस के एक रईस ठा० रामकिशोर सिंह की सुपुत्री ज्ञानदेवी से सन १९३५ म हुआ। इन्ही ज्ञानदेवी के नाम पर आचार्य चतुरसेन जी के वर्तमान निवास स्थान का नाम 'ज्ञान धाम" पड़ा है।

आचार्य चतुरसेन जी ने इस विवाह के पश्चात से ही अपने चिकित्सा कार्य को त्याग दिया था। अब वे अपना पूर्ण समय लेखन कार्य मे देने लगे थे, किन्तु तो भी कोई उत्कृष्ट रचना सामने न आ पाई थी। यही प्रश्न मैने आचार्य चतुरसेन जी से भी पूछा था। उन्होंने मेरे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मुझसे कहा था। 'उस समय मैं चिन्तन अधिक करता था, लिखता कम था। मैं दिन रात सोचता रहता कि अब क्या लिखू ? क्या मैं सामयिक साहित्य ही सकलित करता रहू ? किन्तु मेरी आत्मा यह करने की गवाही न दे रही थी। मैं कुछ ऐसी चीज देना चाहता था जो कुछ दिन टिक सके।" वास्तव मे इन दिनो उनके मस्तिष्क मे एक नवीन प्रकार की विचारधारा पनप रही थी। इस विचारधारा की कुछ झलक सन्१९४० के उनके उस पत्र मे देखी जा सकती है, जो कि उन्होंने "उपन्यास अक" के लिए "साहित्य सन्देश" के सम्पादक को लिखा था। "एक उपन्यासकार की हैसियत से मैं अपने को नगण्य समझता हू। मेरे चार-पाँच उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि उनमे कइयो के ५-६ सस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु मेरी अब एक ही अभिलाषा है कि मैं ससार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार होकर मरू, यद्यपि मुझे ही मेरी यह अभिलाषा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है पर मैं उसे त्याग नही सकता।"

"दुर्भाग्य से मैं एक बहुधन्धी व्यक्ति हू और मेरी वृत्तिया बहुत शाखाओ मे बिखरी हुई हैं। यह भी दुर्भाग्य ही है कि मेरा व्यवसाय आजीविका और व्यसन भी कुछ सास्कृतिक और साहित्यिक है। इससे मेरी वारम्बार यह प्रतिज्ञा भग होती रही कि भविष्य मे मैं सिर्फ उपन्यास ही लिखू और कुछ नही। भग भी ऐसी कि और सब कुछ लिख पाता हू सिर्फ उपन्यास ही नहीं लिख पाता हू।"[1] अपने इसी पत्र मे उन्होंने श्रेष्ठ साहित्यकार की परिभाषा भी दी है। "साहित्यिक वह है जो महामानव है।"[2] अन्त मे उन्होंने अपने इसी पत्र मे इस महामानव पद को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करते हुए लिखा है "मैं अपनी इस विचारधारा

---

१. साहित्य सन्देश उपन्यास अक, भाग ४, अक २-३ अक्टूबर १९४० पृ. १४०।

२. साहित्य सन्देश उपन्यास अक, भाग ४, अक २-३ अक्टूबर-नवम्बर १९४० पृ. १७५। शेष इस विषय के विचार, चतुरसेन के विचार और जीवन दर्शन वाले अध्याय मे आगे दिये गये हैं।

को क्रिया रूप मे अपने जीवन मे एकीभूत करने मे प्रयत्नशील हू—मैं चाहता हू कि यह अपदार्थ शरीर नष्ट होने से पूर्व मैं वह महापद प्राप्त करू। और अपनी दुर्धर्ष अभिलाषा मैं बिना सकोच आप पर प्रकट करता हू आप खुशी से मेरे इस दुस्साहस का मजाक उडा सकते हैं, जैसा कि मेरी धर्मपत्नी अक्सर उडाया करती है।"[1]

स्पष्ट है इन दिनो आचार्य चतुरसेन जी किसी उच्च कोटि के कथानक पर चिन्तन कर रहे थे। वास्तव म इन दिनो आचार्य जी "वैशाली की नगर वधू" के कथानक पर पूर्ण तन्मयता से विचार कर रहे थे। यह कथानक सन् १९३८ से उनके मस्तिष्क मे चक्कर लगा रहा था। इस विषय पर उन्होंने लिखा है "अम्बपाली पर उनकी एक कहानी, प्रथम ही प्रकाशित हो चुकी थी। इसके बाद अम्बपाली पर कई कहानी, उपन्यास और लेख मेरे देखने में आए और मेरे मस्तिष्क मे अम्बपाली को लेकर एक उपन्यास लिखने की भावना जड कर बैठी। परन्तु यह काम सहज न था। फिर भी मैं इसकी वास्तविक कठिनाइयो से ठीक-ठीक अभिज्ञ न था। मैं उत्सुक और दत्तचित्त होकर बहुत दिन तक सोचता ही रहा। समझ ही मे न आ रहा था—कहाँ से प्रारम्भ करू, कैसे करू। सन् १९३८ के शरद मे मुझे एक श्रीमन्त की चिकित्सा मे बिहार जाना पडा। वे मुझे हठ करके राजगृह ले गए।" यही राजगृह से उन्हे "नगरवधू" के कथानक की प्रेरणा प्राप्त हुई। यहीं उन्होंने एक रात्रि को देवी अम्बपाली का अपार्थिव नृत्य देखा था।"[2] बस, इसी घटना के बाद से उन्होंने "नगरवधू" का लिखना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु बडी ही धीमी गति से। आचार्य चतुरसेन जी ने स्वय लिखा है "थोडे ही दिन में, मेरा वह उन्माद समाप्त हो गया और फिर एक दो वर्ष तो मैंने इन कागजो को देखा ही नही। इसी बीच एक बार अहमदाबाद जाना हुआ। वहाँ गुर्जर भाषा के मार्मिक कथा-लेखक श्री धूमकेतु से मिलने गया। उन्होंने अपनी कहानियों का एक छोटा सा सग्रह दिया। उसमें एक कहानी अम्बपाली से सम्बन्धित भी थी। उसे पढते ही पुराना उन्माद रोग फिर उभर आया, और इस बार घर लौट कर मैं इस उपन्यास म जुट गया। १९४२ के जून मे उपन्यास तैयार हो गया।"[3] किन्तु इस काल म आचार्य जी की यह रचना

---

१ साहित्य सन्देश उपन्यास अक भाग ४ अक २-३ अक्टूबर १९४० पृ. १७५।
२. वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन—भूमि पृ ७७९, ७८०।
३. वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन—भूमि पृ. ७८०।

निकल न सकी । यदि निकल गई होती तो बहुत सम्भव था कि इसी समय से उनके साहित्यिक जीवन का उत्कर्ष काल प्रारम्भ हो जाता । आचार्य चतुरसेन जी ने स्वय लिखा है "४२ के जून मे उपन्यास तैयार हो गया । अगस्त मे जन अशान्ति हुई । उसी समय दो धूर्त मित्रो ने मेरा सान्निध्य प्राप्त करके मेरी प्रतिष्ठा बढाई । उस अशान्ति मे वे मुझे अपने सरक्षण मे ले गए और भाग्यदोष से मुझे उनका उपकृत होना पडा । इसी समय मेरे इन हितैषी मित्रो ने इस उपन्यास की पूर्णाहुति के उपलक्ष मे एक भव्य समारोह का आयोजन कर डाला । इसी समय पाण्डुलिपि के सम्बन्ध मे कुछ भय के कारण उत्पन्न हो गए, और मैंने उसे लोगो को दिखाना तथा उसके सम्बन्ध मे बातें करना बिल्कुल बन्द कर दिया । परन्तु एक दिन अवसर पा ताला तोड कर यारो ने पाण्डुलिपि चुरा ली ।"[१]

इसके पश्चात् तो आचार्य चतुरसेन जी की सम्पूर्ण चेतना शक्ति एव क्रिया शक्ति समाप्त ही हो गई थी । उन्होने स्वयं लिखा है "बहुत पर फडफडाए पर सब व्यर्थ । विवश जैसे श्मशान से प्रियजन का विसर्जन करके कोई लौट जाता है, उसी भाँति इन भद्र मित्रो को नमस्कार कर उनके सरक्षण का आभार मान कर लौट आया । और दो वर्ष मैंने हस्ताक्षर करने के लिए भी लेखनी नही छुई । सब काम बन्द कर दिए । लोगो से मुलाकात भी बन्द कर दी । इन दो वर्षों मे मैंने यह अनुभव किया कि मेरे रक्त की प्रत्येक बूद आँसू बन गई है, परन्तु वह रक्त मे मिलकर शरीर के भीतर ही चक्कर काट रही है । बाहर नही निकल पाती लोगो ने समझा मेरी साहित्यिक मृत्यु हो गई ।"[२]

अभी इस विपत्ति का घाव भर भी न पाया था कि आचार्य चतुरसेन जी पर एक और विपत्ति टूट पडी । दैव दुर्विपाक से आचार्य चतुरसेन जी की तीसरी पत्नी श्रीमती ज्ञान देवी भी उन्हें इस विपन्न अवस्था मे और भी विपन्न करके दिसम्बर सन् १९४४ मे अकस्मात् चल बसी । इस दुहरे आघात को वह सहन न कर पाए और उनकी दशा अर्धविक्षिप्त जैसी हो गई थी । उनकी वर्तमान पत्नी कमलकिशोरी जी ने लिखा है "मेरी पूज्या बहन के स्वर्गवास के बाद उनकी अवस्था अर्धविक्षिप्त जैसी हो गई थी । यह देखकर मेरी माता जी ने उनसे मेरे विवाह का प्रस्ताव किया । सुनकर उनको विचित्र लगा । मुझे भी ऐसा प्रतीत

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, भूमि पृ. ७८१ ।
२. वैशाली की नगर वधू, आचार्य चतुरसेन, भूमि पृ. १८१ ।

हुआ जैसे गर्म शीशा मेरे कान मे डाल दिया गया हो। रिश्तेदारो से जब इस विषय मे सलाह ली गई तब सभी ने इसका विरोध किया। ऐसे ही काफी समय बीत गया। इस बीच इनके कई शुभ-चिन्तक मित्र अच्छे रिश्ते लेकर आए, लेकिन इन्होंने सबको वही उत्तर दिया कि मेरा जीवन तो समाप्त हो गया, अब मैं विवाह करने की स्थिति मे नही हूँ। इसी संघर्ष मे साल गुजर गया। इनकी अवस्था सुधरती ही नही थी। एक दिन पडे-पडे मेरी आत्मा से आवाज आई कि तेरी-जैसी लडकियाँ रोज-रोज कीडो मकोडो जैसी पैदा होती हैं और मर जाती हैं, तेरे जीवन का क्या मूल्य। पर, ऐसे पुरुष रोज-रोज नही पैदा होते, उनके जीवन की रक्षा कर। मैंने माताजी से कहा। उन्होंने उन्हे राजी करके मेरा उनसे विवाह कर दिया। काफी दिनो बाद उनमे नये जीवन का संचार हुआ।"[१]

इस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी का चौथा विवाह जून १९४५ मे हुआ। आचार्य चतुरसेन जीकी यह पत्नी उनकी तीसरी पत्नी की छोटी बहन है।

साहित्यिक-उत्कर्ष-काल

(सन् १९४५-१९६०)

दस वर्ष घोर विपत्तियो एव कठिनाइयो का सामना करने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी के जीवन मे उनके चौथे विवाह के पश्चात् पुन स्थिरता आई। शनै शनै उनके शरीर मे पुन नवीन जीवनी शक्ति का संचार हुआ। "काल पाकर विदग्ध-हृदय की जलन कम हुई, घाव पुरे, भावना अकुरित हुई'। और उन्होंने (दु साहस करके) दुबारा नए सिरे से "वैशाली की नगर वधू" लिखना प्रारम्भ किया। "आचार्य चतुरसेन जी ने इस विषय मे लिखा है" प्रारम्भ मे मुझे यह असाध्य प्रतीत हुआ। परन्तु वही ध्रुव नक्षत्र के समान उज्ज्वल आँखे मेरे साथ थी। उस दिन जैसे मैंने कहा था—"नाचो' उसी भाँति वह आँखें कह रही थी "लिखो" ? मैंने एक बार कहा था पर वे आँखें हर बार कहती थी। फिर लिखता कैसे नही। अन्तत मेरी जडता दूर हुई। मैंने नए उल्लास मे पुरानी त्रुटियो को यथाशक्ति दूर करते हुए उपन्यास का पुनर्लेखन प्रारम्भ किया।'[२] इस बार लिखने से पूर्व उन्होंने अपने विषय पर अधिक से अधिक अध्ययन भी

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, चतुरसेन श्रद्धांजलि अक, १७ अप्रैल सन् १९६० पृ ४
२. वैशाली की नगर वधू, आचार्य चतुरसेन, भूमि पृ. ७८१।

कर डाला था। इस प्रकार इस काल की उनकी प्रथम रचना "वैशाली की नगर-वधू" सन् १९४८ में प्रकाशित हो सकी। इसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्होंने अपनी चालीस वर्षों की सम्पूर्ण साहित्य सम्पदा को इस रचना पर न्योछावर कर दिया था।"[1]

इस उपन्यास पर उन्होंने केवल अपनी पूर्वार्जित सम्पूर्ण साहित्य सम्पदा को ही न्योछावर नहीं किया था, वरन् तभी से उन्होंने अपनी वैद्यक की प्रैक्टिस को भी पूर्णरूप से त्याग दिया था। किन्तु केवल लेखनी के बल पर निर्भर रहने के कारण उन्हें कितने ही आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ा था। इसीलिये "वैशाली की नगरवधू" के दूसरे संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा था 'प्रथम संस्करण छपने पर, जब मैंने अपनी पूर्वार्जित सम्पूर्ण साहित्य सम्पदा को न्योछावर कर दिया था, तभी मैंने प्रैक्टिस भी छोड़ दी थी। सोचा था—इस उपन्यास के लेखक को अब पेट की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु मेरी आशा फलवती नहीं हुई। फिर भी मैंने अपनी ओर नहीं देखा, कायक्लेश को तप की पूताग्नि में होम दिया। तब देवता के दो वरदान पाए—'सोमनाथ' और 'वयं रक्षाम'। मेरे नेत्र गए, स्वास्थ्य गया, जीवन की सन्ध्या को अन्धकार ने घेर लिया। पर मैं घाटे में नहीं रहा, दो-दो वरों से सम्पन्न होकर।'[2]

---

१. इस विषय में आचार्य चतुरसेन जी ने "वधू" की भूमिका में लिखा है 'अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में सन् १९०९ में, जब भाग्य रुपयों से भरी थैलियाँ मेरे हाथों पकड़ाना चाहता था। मैंने कलम पकड़ी। इस बात को आज ४० वर्ष बीत रहे हैं। इस बीच मैंने छोटी-बड़ी लगभग ८४ पुस्तकें विविध विषयों पर लिखीं, अथवा दस हजार से अधिक पृष्ठ विविध सामयिक पत्रिकाओं में लिखे। इस साहित्य साधना से मैंने पाया कुछ नहीं, खोया बहुत कुछ। कहना चाहिए सब कुछ। धन, वैभव, आराम और शान्ति। इतना ही नहीं, यौवन और सम्मान भी। इतना मूल्य चुकाकर, निरन्तर चालीस वर्षों की अर्जित इस सम्पूर्ण साहित्य-सम्पदा को मैं अपनी प्रसन्नता से रद्द करता हूं, और यह घोषणा करता हूं कि मैं अपनी यह पहली कृति विनयाजंलि सहित आपको भेंट कर रहा हूं।"

वैशाली की नगर वधू, आचार्य चतुरसेन प्रवचन पृ. ५।

२. वैशाली की नगर वधू-भूमिका-दूसरे संस्करण का पृ. ६।

किन्तु पैसों की तंगी के कारण उन्हें कभी-कभी अत्यन्त साधारण चीजें भी लिखनी पड़ी थी। प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उनकी ऐसी ही एक दो साधारण पुस्तकें देखकर कुछ भय मिश्रित स्वर में उनसे कहा भी था 'इन छोटी-छोटी पुस्तकों में आप क्यों अपना अमूल्य समय व्यर्थ फेंक रहे हैं। इससे न प्रतिष्ठा ही बढ़ती है और न ही आपके मन को सन्तोष होता होगा?' मैंने पूछने को यह प्रश्न पूछ तो डाला था किन्तु उस समय मैं आवश्यकता से अधिक भयभीत था, किन्तु मेरी आशा के विपरीत उन्होंने हँसते हुए इसका उत्तर दिया था 'मुझे यह छोटी छोटी व्यर्थ की रचनाएँ लिखकर सुख नहीं होता, वरन् दुःख ही होता है। मेरे आत्म सम्मान को गहरा आघात लगता है किन्तु करूँ क्या? पेट की चिन्ता भी तो करनी पड़ती है। मुझे अपनी तो चिन्ता नहीं किन्तु गृहस्थी जो पाल रखी है, उसे मैं भूखों मरते नहीं देख सकता और इसी कारण से मैं यह सब कुछ निस्संकोच लिख डालता हूँ।' उस समय मुझे लगा कि वास्तव में हिन्दी के साहित्यकार की आज कैसी विपन्न स्थिति है। यदि वह केवल ऊँची चीज लिखता है तो उसे धन नहीं मिलता, उसके पाठक ही कितने हैं? किन्तु जब भूखों मरने लगता है और पेट पालने के लिए एक-दो साधारण रचनाएँ शीघ्रता में घसीट देता है तो आलोचक वर्ग केवल उन्हें ही ले उड़ता है। सभी उत्कृष्ट रचनाओं को वह उस समय भूल जाता है।

आचार्य चतुरसेन जी की पत्नी की निम्नपंक्तियों से मेरी यह बात और स्पष्ट हो जावेगी 'कभी-कभी ऐसे अवसर आए कि घर में पैसे नहीं रहे और सब जगह प्रयत्न करने पर भी रुपए नहीं मिले। तब हमारी आशा के विपरीत वह अपनी कृति को, जिसे वह लिख रहे होते, मेज पर एक ओर को सरका देते और कोई नई छोटी चीज लिखना शुरू कर देते। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्मयुग', 'आजकल' अथवा और किसी मासिक पत्र के लिए लेख लिख डालते या छोटा-मोटा उपन्यास ४-५ दिन में तैयार कर डालते और राजपाल एण्ड सन्स अथवा चौधरी एण्ड सन्स से उसका तुरन्त रुपया मंगवा लेते। इन दोनों ही प्रकाशकों की उनके प्रति अटूट श्रद्धा थी।'[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी आर्थिक-स्थिति प्रेक्टिस त्यागने के बाद में खराब ही होती गई थी। उनकी स्वयं की अर्जित समूची सम्पत्ति को सन् १९४७ के जमुना-प्रवाह ने नष्ट कर दिया था। इस जमुना प्रवाह में उनका

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६० पृ. ४ एवं ४०।

घर १५ दिन तक ९ फुट पानी में डूबा रहा था। किन्तु इतने से ही छुटकारा नही हुआ। आर्थिक-दशा अभी सभल भी न पाई थी कि उन्हे सन् १९५० की मई के अन्तिम सप्ताह मे एक भयकर बीमारी ने आ घेरा। आचार्य चतुरसेन जी की वर्तमान पत्नी ने इस बीमारी का विस्तृत वर्णन किया है।'[१]

अन्त मे उन्होंने लिखा है विपत्तियाँ और भी टूटी। परन्तु अन्तत इनके जीवन की रक्षा हो गई। जीवन रक्षा का श्रेय न चिकित्सा को, न औषधि को, न हमारी अथक सेवा को। प्राणरक्षा हुई इनके अपने अटूट आत्मबल से। अभी इनके हाथो 'सोमनाथ' और 'वय रक्षाम' जैसे साहित्य धन का अर्जन होना था। और भी कुछ होने वाला था।'[२]

इस बीमारी से उठने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी ने पूर्ण तन्मयता से लिखना प्रारम्भ कर दिया। 'सोमनाथ' पूर्ण किया 'वय रक्षाम' भी पूर्ण हुआ। उनका कहना था कि 'मेरे स्वास्थ्य को मेरे उपन्यास' 'वय रक्षाम' ने ले लिया है।'[३] स्वास्थ्य खराब हो जाने के पश्चात् भी उनकी लेखनी रुकी न थी। इसके पश्चात् भी उन्होंने लगभग तीस ग्रथो की रचना की थी—जिनमे 'गोली', 'भारतीय सस्कृति का इतिहास', 'सोना और खून' के दो खन्ड, एव 'खग्रास' ऐसी प्रमुख कृतियाँ भी हैं।

जब प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक उनके समीप प्रथम बार गया था, तो भी उनका स्वास्थ्य विशेष उत्तम न था। इस विषय मे प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उनसे प्रथम बार मिलने पर जो लिखा था, उसका यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा। मैं जिस कमरे मे रुका था, उसी के समीप आचार्य चतुरसेन जी का अध्ययन कक्ष था। रात्रि मे मेरी जिस समय भी नीद खुलती, मैं उन्हे लिखते ही देखता था। यही देखकर मैंने उनसे प्रश्न किया था 'आप इस अवस्था मे भी तो इतना कार्य करते है, कि मैं तो देखकर दग रह गया हूँ।'

मेरे इस प्रश्न का उत्तर आचार्य चतुरसेन जी ने हँसते हुए दिया था 'भाई, मुझसे खाली पडे रहा ही नही जाता। बुढापे मे नीद तो कम आती ही है, खाली पडे रह नही सकता। तब फिर क्या करूँ? लिखने ही बैठ जाता

१. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अक, ९८-९९।

२. चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, ९८-९९।

३. आचार्य चतुरसेन—व्यक्तित्व और विचार, ग्रुमकारनाथ कपूर, धर्मयुग ९ अगस्त, १९५९ पृ. ८।

हूँ ।' उन्होंने कुछ रुककर फिर कहा था 'सत्य तो यह है, कि मैं बिना काम किये रह ही नहीं सकता। लिखते समय अपने रोग, शोक सभी को भूल जाता हूँ ।'[1]

मुझे स्मरण है कि आचार्य चतुरसेन जी अपने अन्तिम वर्षों में पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक बराबर लिखते या पढ़ते रहते थे। एक बार प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से उन्होंने कहा था 'मेरे पास लिखने को बहुत कुछ है। सब कुछ लिख भी डालना चाहता हूँ किन्तु समय बड़ी तेजी से भाग रहा है। मैं आजकल लिखने में चल नहीं रहा हूँ वरन् दौड़ रहा हूँ किन्तु समय मुझसे भी तेज भाग रहा है। मुझे अब कुछ ऐसा लगने लगा है कि मैं इधर एक दो वर्षों में जो कुछ दे सका, वही दे पाऊँगा। शेष को अपने साथ लिए चला जाऊँगा।

आचार्य चतुरसेन जी ने बड़ी शीघ्रता से यह बातें कह डाली थीं। आचार्य जी के स्वास्थ्य को देखकर प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उनसे अपने हृदय की बात कही थी 'आपके स्वास्थ्य को देखकर मैं तो समझता हूँ कि कम से कम पन्द्रह वर्ष आप साहित्य सेवा और कर सकेंगे।'

आचार्य चतुरसेन जी हँसे थे। उन्होंने कहा था 'किन्तु मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। रहा स्वास्थ्य का प्रश्न ? उसे तो मैंने बड़े साज सँवार कर रखा है। केवल इस कारण से कि अन्त समय तक मैं कर्मरत रहूँ, घिसटूँ नहीं। मेरी केवल मात्र यही इच्छा है कि जिस लेखनी ने जीवन पर्यन्त मेरा साथ नहीं छोड़ा है, वह अन्त तक मेरा साथ देती रहे' इतना कहकर आचार्य चतुरसेन जी खुलकर हँसे थे।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने विषय परिवर्तित करने के लिए दूसरा प्रश्न किया था आपका 'सोना और खून' उपन्यास कब तक समाप्त हो रहा है।

'मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि मैं उसे समाप्त कर पाऊँगा, कारण उसे पचास खंडों और दस भागों में समाप्त करने की योजना है। यद्यपि मेरी इच्छा यही है कि मैं उसे समाप्त करके जाऊँ, किन्तु ' आचार्य चतुरसेन जी कुछ रुके पुन उन्होंने कहा था 'काश ! मैं इसके अन्तिम खन्डों को लिख सकता। कारण इस खंड का मेरा जीवन स्वयं प्रत्यक्ष द्रष्टा रहा है। मैंने

१. आचार्य चतुरसेन—व्यक्तित्व और विचार, भुवनारनाथ कपूर, धर्मयुग ९ अगस्त, १९५९ पृ. ८।

बेहोश रहकर आधी शताब्दी तक समूचे विश्व पर नजर रखी है। और अब तक मैंने जो कुछ देखा और जाना है, उसे मैं अपनी इस कलम से इस उपन्यास के अन्तिम खण्डो मे कलमबद्ध करना चाहता हूँ, जो आधी शताब्दी से बराबर चली जा रही है।' किन्तु काल ने उनकी यह इच्छा पूर्ण न होने दी।

एक दिन प्रात काल जब प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक आचार्य चतुरसेन जी के साथ बैठा चाय पी रहा था, तब उसने उनसे एक और प्रश्न किया था 'आपकी श्रेष्ठतम कृति कौन सी है?' आचार्य जी ने चाय की चुस्की समाप्त करते हुए उत्तर दिया था 'किन्तु यह प्रश्न तो मेरे जीवन की समाप्ति के बाद उठेगा' फिर कुछ रुक कर उन्होंने कुछ प्रसन्न मुद्रा मे कहा था 'वैसे यदि मैं लिख सका तो 'आर्य चाणक्य' मेरी सर्वश्रेष्ठ कृति होगी' इतना कहकर उन्होंने प्रकाश अपने भतीजे को आवाज दी थी। आने पर उन्होंने उससे 'ऐटलस' लाने को कहा था। ऐटलस' लेकर उन्होंने 'यूनान' और भारत के मानचित्रो को दिखलाते हुए 'आर्य चाणक्य' के कथानक को बतलाना प्रारम्भ किया था। सक्षिप्त कथानक को बतलाने के पश्चात् उन्होंने चाणक्य के समय की परिस्थितियो पर प्रकाश डालते हुए कहा था "चाणक्य पहला भारतीय महापुरुष था जिसने कानून को आर्थिक और राजनीतिक रूप दिया और जीवन को धर्म से पृथक करने का प्रथम प्रयास किया। जबकि उसके पूर्व की हिंदू स्मृतियो ने धर्म और कानून शास्त्र को एक सयुक्त रूप दे रखा था। इतना ही नही यह उसकी शक्ति थी कि उसने बिना ही अश्वमेध यज्ञ के चन्द्रगुप्त को भारत का सम्राट घोषित कर दिया, जब कि इसके पूर्व भारत की यह परम्परा थी कि केवल वही चक्रवर्ती सम्राट् समझा जाता था, जो अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करे।" इसके साथ कुछ अन्य परिस्थितियो का चित्रण करते हुए उन्होंने कहा था "मैं इन्ही सब महत्वपूर्ण परिस्थितियो को अपने उपन्यास "आर्य चाणक्य" मे चित्रित करना चाहता हूँ", कुछ रुकने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी ने पुन कुछ गम्भीरता के साथ कहा था "किन्तु मुझे कुछ ऐसा भास होता है कि मैं अपने इस उपन्यास को पूर्ण न कर सकूंगा। इसके लिए कम से कम तीन-चार वर्षों का समय चाहिए, जो सम्भवत मेरे समीप अब नही है।"

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने बीच मे ही बात काटते हुए उनसे कहा था "आप अभी से यह सब क्यो विचारते हैं। निश्चित रूप से आप शतायु है। "आचार्य जी खुलकर हस पड़े थे। उन्होने हँसते हुए ही कहा था "तुम्हारे मुँह मे घी-शक्कर। किन्तु मैं अब अपने जीवन के लगभग सभी प्रधान कार्य पूर्ण

कर चुका हूँ। समय भी मुझे अब तेजी से भागता हुआ लगता है, इसके पूर्व मुझे ऐसा कभी ज्ञात नही होता था। और" इस बात को उन्होने बीच मे ही छोड़कर विषय परिवर्तित करते हुए हँसते हुए कहा था "अरे भई! हम बुड्ढो की चिंता क्यो करना है। अब तो तुम नवयुवको को हम सबका भार उठाने को तैयार हो जाना चाहिए। हम लोगो की घिसी-पिटी लेखनी से तुम लोगो की लेखनी मे अधिक शक्ति होनी चाहिए।"

"लोह - लेखनी की-सी शक्ति और सामर्थ्य हम लोगो मे कहाँ से आ पावेगी?"

"क्यो? अब ही तो कार्य करने का वास्तविक समय है। साहित्य भवन का शिलान्यास हम लोगो ने कर दिया है, उसकी नीव भी पुख्ता बना दी है, अब उस पर भव्य भवन का निर्माण तुम तरुणों को करना है। किन्तु स्मरण रखना, इस भवन का निर्माण साधको के हाथो से होगा, विलासियो एव लोभियो के हाथो से नही।" किंचित गम्भीर स्वर मे कुछ रुककर उन्होने पुन कहा था "और तुम लोगो मे तो हमने कितनी ही आशाएँ लगा रखी है।" इसके पश्चात् चाय का प्याला नीचे रखते हुए एव उठकर प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के कधे पर हाथ रखते हुए उन्होने कहा था—"किन्तु यह आशा तभी पूर्ण होगी जब तुम लोग पूर्ण तन्मयता से जुटोगे। मैं समझता हूँ कि निकट भविष्य मे तुम लोगो को उतनी आर्थिक कठिनाइयाँ नही सहन करनी पड़ेंगी, जितनी हम लोगो को सहन करनी पडी। स्वभावत यदि ऐसी स्थिति हो गई तो तुम लोग निश्चिन्त होकर साहित्य सेवा कर सकोगे।"

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को ठीक प्रकार से स्मरण है, यही उनका अन्तिम वाक्य था। उससे आचार्य चतुरसेन जी की यही अन्तिम साहित्य चर्चा थी।[1] सम्भवत जीवन मे भी अन्तिम। इसके पश्चात् वह उसी दिन लखनऊ वापस लौट आया था। अगली बार जब उनके निवास स्थान पर वह गया था, तो उनकी मृत्यु की सूचना पाकर। जब वह वहाँ पर नही थे—जा चुके थे, सभी को बिलखते हुए छोड़कर।

अन्तिम समय और मृत्यु

यह प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक का दुर्भाग्य ही था कि वह उनके अन्तिम

१. जब तीसरी बार प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक आचार्य चतुरसेन जी की भतीजी के विवाह मे गया था, तभी उनसे यह वार्तालाप हुआ था।

समय मे पहुँच न सका था, वास्तव मे उनकी मृत्यु इतनी आकस्मिक हुई थी कि मृत्यु के दिन तक भी कोई इसका अनुमान न कर सका था। मृत्यु की सूचना पाते ही मैं शहादरा पहुँच गया था। मृत्यु का सबसे प्रथम विवरण मैंने आचार्य चतुरसेन जी के अनुज श्री चन्द्रसेन जी के मुख से सुना था। अनन्तर इस विषय से सम्बन्धित कई लेख प्रकाशित भी हुए थे। आचार्य चतुरसेन जी की वर्तमान पत्नी ने इस विषय का वर्णन करते हुए लिखा है "अभी दक्षिण यात्रा से लौटने पर (दस जनवरी को हम लोग आए थे) १२ जनवरी को वह पलग पर लेटे हुए प्रकाशन समाचार के पेज पलट रहे थे। मैं आई तो मुझे देखते ही पत्रिका उन्होंने नीचे डाल दी। मैंने उसे उठा लिया। उसमे बहुत से प्रकाशको के पत्र छपे थे और जिनमे जितना ही दोष था उसने उतना ही अपने को निर्दोष बताने की कोशिश की थी। पढकर मेरे मन पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा और मैं बिस्तर पर लेट गई। शाम को भी मुझसे उठा नही गया। वह स्वय रसोई घर मे गए और चन्द्रसेन जी और उनके बच्चो की सहायता से उन्होंने खूब चीजें बनाई और मेरे पास प्लेटो मे सजा कर भेजी, पर मैंने नींद ही मे मना कर दिया। फिर स्वय आए, और मुझे जगा कर खिलाया। मुझे क्या पता था कि ईश्वर मुझे यह अतिम सौभाग्य प्रदान कर रहा है। १३ जनवरी की रात को ही तो उनको पेशाब बद हुआ और १४ को वह इर्विन अस्पताल चले गए। फिर मैं उन्हे वापस लाई वहाँ। २० दिन बाद निगम बोध घाट पर एक चिता मे स्वर्ग की सीढी चढा आई। मुझ पर ऐसा वज्रपात हुआ, जिसकी अभी कल्पना भी नही थी।"[1]

इर्विन अस्पताल मे आचार्य चतुरसेन जी से अन्तिम समय मे श्री मन्मथनाथ गुप्त मिले थे। उन्होंने इस अतिम भेंट का वर्णन देते हुए अपने लेख "वार्ड नम्बर तीन, बिस्तरा नम्बर बाईस" मे लिखा है "मैं उनसे कितनी ही बार मिला, पर आज जब कि उनका नश्वर शरीर नष्ट हो चुका है (यहाँ पाठको को याद दिलाई जाए कि वह अनीश्वरवादी थे) मेरी मन की आँखो के सम्मुख केवल वह दृश्य आ रहा है जब मैं उनसे अन्तिम बार इर्विन अस्पताल के सर्जिकल वार्ड नम्बर तीन और बिस्तरा नम्बर बाईस पर मिला।" मैं तो यह समझता हूँ कि आचार्य चतुरसेन जी ऐसे महान् लेखक को एक अनाथ रोगी की भाँति जनरल वार्ड मे भर्ती होना पड़े, हिंदी के पाठको के लिए इससे बढकर ग्लानि की बात और कुछ नही हो सकती। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रहे कि आचार्य

१. साप्ताहिक हिंदुस्तान, १७ अप्रैल १९६० पृ ४१।

चतुरसेन केवल आलोचकों के अनुसार एक महान् लेखक ही नहीं थे, बल्कि जनता ने उन्हें अपनाया था और प्रेमचन्द के पश्चात यदि किसी के उपन्यास अधिक से अधिक बिकते थे, तो उन्हीं के बिकते थे। फिर भी उनकी यह हालत थी कि वह नर्सिंग होम में रहकर बहुमूल्य चिकित्सा नहीं करा सकते थे।'

'जब मैं अपने साथी श्री जगदीश गोयल के साथ उनके पास पहुँचा तब स्वाभाविक रूप से पहली बात वार्ड के सम्बन्ध में छिड़ी, तो आचार्य चतुरसेन जी ने मुझे बतलाया कि यो दो हजार का खर्च था, इसलिए उन्होंने जनरल वार्ड में रहना स्वीकार किया। जब वह वहाँ थे ही तो स्वाभाविक रूप से उसका समर्थन करना ही था, और उन्होंने स्वयं भी यही कहा 'हाँ, ठीक है। यहाँ कुछ न कुछ प्लाट मिलने की सम्भावना है। सच तो यह है कि अभी एक बात सूझी है।"[१] इसके आगे गुप्त जी ने उस भयंकर वार्ड का—जिसमें आचार्य चतुरसेन जी थे—वर्णन करते हुए लिखा है 'पता नहीं उस बैरक में कितनी खाटें थी और सब पर एक न एक भयंकर रोगी था। कुछ लोग कराह रहे थे और तरह-तरह के मरहमों और दवाओं की बू चारों तरफ फैल रही थी। सबके चेहरों पर चिन्ता की काली छाया थी, कई तो शायद जीवन और मृत्यु की सीमा रेखा पर थे, वातावरण बहुत ही विषादपूर्ण था। प्लाट प्राप्त करने का प्रलोभन निस्सन्देह बहुत बड़ा प्रलोभन है, फिर भी कठिन रोग से पीड़ित होकर ऐसे वातावरण में रहना केवल मजबूरी में ही स्वीकार किया जा सकता है।'[२] इतना ही नहीं आचार्य चतुरसेन जी ने इस दशा में भी लिखना नहीं त्यागा था। गुप्त जी ने इस विषय में लिखा है "मैं तो इस प्रसंग में इस ओर दृष्टि आकर्षित करना भूल ही गया कि उस हालत में भी जबकि उनको कैथेटर से पेशाब कराया गया था, उन्होंने पेन्सिल से लिखकर "आजकल' के लिये लेख भेजा था, सम्भव है इसी हालत में उन्होंने मद्रास भ्रमण पर वह लेख भी लिखा हो, जो बाद में "साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुआ। यानी एक दिन भी उस कलाकार को, रोग शय्या नहीं बल्कि मृत्यु शय्या पर भी विश्राम नहीं मिला।"[३]

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ मार्च १९६०, पृ. ३५।

२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, आचार्य चतुरसेन, श्रद्धांजलि अंक, ६ मार्च, १९६०, पृ. ३५।

३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, आचार्य चतुरसेन, श्रद्धांजलि अंक, ६ मार्च, १९६० पृ. ३५।

जिस अवस्था मे आचार्य चतुरसेन जी की मृत्यु हुई वह निश्चित ही हिन्दी वालो के लिए ग्लानि की बात है। यही दर्विन अस्पताल मे आचार्य चतुरसेन जी ने २ फरवरी, १९६० को दिन के दो बजे के लगभग अपने इस भौतिक शरीर को त्याग दिया।

स्वभाव और प्रकृति

किसी भी व्यक्ति के स्वभाव को समझने से लिए उसके पारिवारिक एव सामाजिक जीवन को समझना आवश्यक है। अत आचार्य चतुरसेन जी के स्वभाव एव प्रकृति को समझने के लिये हमे उनके घर और बाहर दोनो के रूपो को देखना और समझना पड़ेगा।

घर में

आचार्य चतुरसेन जी के स्वभाव की कोमलतम भावनाओ के वास्तविक दर्शन इस प्रबन्ध के लेखक ने स्वय उनके साथ उनके परिवार मे रहकर किए। जहाँ एक ओर साहित्य मे वे लौह लेखनी के धनी थे वही घर मे उनका अपूर्व वात्सल्य देखते ही बनता था।

आचार्य चतुरसेन जी का लेखन-कार्य रात्रि दो बजे से प्रारम्भ हो जाता था। उनके लिए उसी समय से प्रभात हो जाता और वह साहित्य साधना मे निमग्न हो जाते। इस विषय मे आचार्य जी की पत्नी कमलकिशोरी जी ने लिखा है "इधर उनके जब से पाँव मे दर्द रहने लगा था तब से वह मेज के दूसरे सिरे पर साधारण पल्थी मार बैठते थे। बैठते ही एक बार मुंह पर हाथ फेरते और हाथ मे अपना मोटा फाउन्टेनपेन लेकर अपनी साधना मे लीन हो जाते।' ' " वह एक रस होकर फुलस्केप साइज के पन्ने भरते चले जाते। मैं बहुत बार रोशनी के कारण नीद खुल जाने पर उन्हे देखा करती थी। समाधिस्थ देव पुरुष की भाँति उनकी मुद्रा उस समय होती थी। अपनी लेखनी के पात्र और पात्रियो के साथ उनका मुसकाना, आँसू बहाना, रोना, खीजना, क्रोध करना उनके मुख के भावो से प्रकट होना रहता था। आरम्भ मे मुझे यह गति आश्चर्य जनक लगी, पर बाद मे तो मैं इसकी अभ्यस्त हो गई।"[१]

"सुबह काफी देर तक प्रतीक्षा के बाद जब मैं अन्दर जाकर बत्ती बन्द कर देती तब बिना मेरी ओर देखे ही वह बत्ती को फिर से जला देने का अनुरोध

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, पृ. ५ एवं ४१।

करते थे, कहते थे "दो मिनट ठहर जाओ, अभी उठता हूँ।" दस पन्द्रह मिनट बाद भी जब वह नही उठते थे, तब मैं कलम छीन कर, हाथ पकडकर उन्हे जबरदस्ती खीच लाती थी। हसते हुए कहते थे 'बाबा, बडी जबरदस्त स्त्री से पाला पडा है।"[१]

एक ओर घर मे साहित्य साधना करते समय वह साधक के समान गम्भीर और शान्त रहते थे तो दूसरी ओर साधना से निवृत्त होने के पश्चात् चाय के समय वह मुन्नी के साथ बच्चो के समान चहकने लगते थे। प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने स्वय देखा था उनकी उस एकान्त साधना को भी एव उस बचकाने स्वभाव को, जिसके द्वारा वह विभिन्न प्रकार के अभिनय करके, कभी नेत्र बद करके कभी खोल कर मुन्नी को हँसाते रहते थे। चाय हम सभी की एक साथ होती थी। हम सभी चाय पीते थे तथा "मुन्नी" के लिए वह दूध अलग मगवाते थे। स्वय चाय की चुस्कियाँ लेते जाते और साथ ही मुन्नी को दूध पिलाते जाते। एक दिन मुन्नी ने चाय पीने की हठ की। मुझे उस दिन का उनका मुन्नी को बहलाना स्मरण है। उन्होंने दो ही मिनट मे कितने ही प्रकार के अभिनय कर डाले, कितने ही छोटे छोटे चुटकुले सुना डाले किन्तु मुन्नी दूध पीने को राजी न हुई। अन्त मे उन्होंने उससे बडे स्नेह के साथ कहा "मुन्नी। जो चाय पीते हैं उनका रग कैसा होता है?"

भोली बालिका कोप भूल कर तुरन्त ही बोल उठी थी "काला"

"तो मेरा मुन्ना तो गोरा है, वह चाय नही पीता, दूध पीता है।" इतना कहकर उन्होंने दूध की प्लेट झट बच्ची के होठो पर रख दी थी। बच्ची कुछ देर तक हम लोगो की ओर देखती रही फिर आँख बन्द कर उसने चुपके से दूध पी लिया था। इस समय भी दूध पिलाते समय आचार्य चतुरसेन जी का अभिनय चल रहा था। ज्योही मुन्नी दूध पीना अस्वीकार करती झट दूध की प्लेट उसके होठ पर रखकर स्वय आँख बन्द कर कहते "हमने आँख बन्द कर ली, अब मुन्नी का दूध आकर मोटा बन्दर पी जाएगा" उनका यह वाक्य सुनते ही मुन्नी चुपचाप दूध पी जाती थी। बडे प्रसन्न होते थे वह उस समय।

केवल मुन्नी को ही नही घर भर हम सभी को वह हसाते रहते थे। प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जैनेन्द्र एव श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से मिलकर सध्या समय लौटा तो देखा आचार्य चतुरसेन जी हसते-हसते

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, पृ. ५ एवं ४१।

लोट पोट हो रहे हैं। माता जी (आचार्य पत्नी) की भी वही दशा थी। वह कुछ समझ न सका। उसे देखते ही उन्होंने हसते हसते ही प्रश्न किया "कहो। सब वाडो के साहित्यकारो से मिल आए?" उसने अभी सिर ही हिला पाया था कि उन्होंने पुन कहा "तुम उधर महान् साहित्यकारो से मित्रता बढा रहे थे और इधर मैं किसी दूसरे लोक की यात्रा कर रहा था।" वह अब भी हस रहे थे।

"मैं समझा नही" मैंने (प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने) उनका मुह ताकते हुए कहा था। उन्होंने "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" का एक अक फेंकते हुए कहा "इस कहानी को तुम पढकर देखो, तुम्हे भी वही आनन्द आएगा।"

मैंने देखा वह बँगला हास्य लेखक श्री परशुराम की प्रसिद्ध कहानी थी "आगस्त्य द्वार"। मैंने उसकी एक ही दो पक्तिया पढी थी कि इन्होंने स्वय ही वह कहानी सुनाना प्रारम्भ कर दिया। एक तो कहानी वैसे ही हास्य की उस पर उनके सुनाने का ढग इतना रोचक था कि मैं (प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक) कहानी सुनते ही लोट-पोट हो गया। उस दिन हम सभी को वे रात्रि ग्यारह बजे तक चुटकुल सुना-सुना कर हँसाते रहे थे। "मैं समझ नही पा रहा था कि क्या यह वही व्यक्ति खुले हृदय से बच्चो ऐसी किलकारिया मार-मार कर बात कर रहा है, जो चौदह चौदह घटे तक एकान्त साधक की भाँति बैठा साहित्य साधना किया करता है।"

आचार्य चतुरसेन जी के पारिवारिक जीवन की कुछ झाकियाँ उनके अनुज श्री चन्द्रसेन जी ने भी दिखलाई हैं। जिन्हें पढकर उनके अपूर्व वात्सल्य एव विशाल हृदय का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है। उनकी उदारता एव सरल हृदयता के विषय मे श्री चन्द्रसेन जी ने लिखा है।

"समय बीतता गया मेरी बडी सन्तान (पुत्री) बढकर युवा हुई। उससे छोटे दो पुत्र प्रकाश और सुधीर स्कूल से निकल कर कालिज मे पढने योग्य हुए। वह इन तीनो को देख-देख कर फूले न समाते थे। प्रैक्टिस त्यागने के बाद लेखनी की आय ने कभी-कभी तगदस्ती के दिन भी दिखाए। परन्तु उन्होंने जिस लाड प्यार दुलार और निगरानी से मुझे पाला-पोसा बडा किया और पढाया उसी भावना से उसी प्रकार मेरी इन तीनो सन्तानो को भी पाल-पोस कर बडा किया और शिक्षित किया। कभी-कभी कई दिनो के बाद किसी लेख के पारिश्रमिक के २५-३० रुपये मनीआर्डर से आए, स्कूल से आकर सुधीर या प्रकाश ने धडाम से कह दिया "ताऊजी, कल मास्टर जी ने फीस मगाई है।" बस लीजिए—वह

मनीआर्डर बच्चों के हाथो मे गया और उन्होने जो कई दिनो से सोच रखा था कि कही से रुपए आए तो दो चार दिन मक्खन और फल खाऊँ, घुटनो के दर्द के इन्जेक्शन खरीदूं, पाजामा फट गया है तो दो नए सिलवाऊँ सो सब प्रोग्राम रह गए और सुधीर प्रकाश की फीस दे दी गई।

मैं देखकर तड़प जाता था और बड़े स्वर मे भाभी जी से लड़ता था आपने क्यो रुपए देने दिये। फीस अभी २ ४ दिन और रुक जाती।

पर वह हसतीं। कहती तुम्हे साहस हो तो उन्ही से कहो'।

वास्तव मे मैंने जीवन भर कभी उनसे विरोध प्रकट नहीं किया। जैसा मैं पहले दिन उन्हे देखकर माता के पीछे छिप गया था—वैसे ही लाज और विनय मेरे स्वभाव मे उनकी मृत्यु-घड़ी आने तक अक्षुण्ण बनी रही। मेरे बच्चे कभी-कभी जोर से ताऊ जी से कोई बात कहते थे तो मैं पीछे उन्हे डाँटना था कि इतनी जोर से बोलते हो पर बच्चे निर्द्वन्द्व थे। उन्हे मेरा पूज्य पूजन ज्ञान न था।"[1]

उनकी कोमलतम भावनाओं का परिचय देते हुए चन्द्रसेन जी ने आगे लिखा है "बच्चो के प्रति उनके मन मे असीम प्रेम था। वह बहुत चाहते थे कि भगवान उन्हे पुत्र-पुत्रियो से आप्यायित करे। परन्तु उनकी यह इच्छा अन्तिम दशाब्दी मे पूरी हुई। हम चारो भाइयो मे सबसे प्रथम सन्तान हुई भद्रसेन जी के (पुत्री हुई) शुभ्रज्योति की भाँति उज्ज्वल और सुन्दर उसे देख कर आचार्य चतुरसेन जी ने उसका नाम रखा "शरद कुमारी"। वह उसे गोद मे लेकर खिलाने की अत्यधिक आन्तरिक अभिलाषा रखते थे परन्तु बालिका की माता इतनी उदार न थी वह अपनी बच्ची को "नजर लग जाने" के भय से किसी को नही खिलाने देती थी। ढाई वर्ष की आयु पूरी करके केवल चार घंटे बीमार रहकर एक दिन अचानक "शरदकुमारी' चल बसी। उसे निष्पन्द देखकर आचार्य श्री ने भर्राई आवाज मे भद्रसेन से कहा "अब इसे मेरी गोद मे दो।"

वह उसे २-३ घंटे अपनी गोद मे लिटाये बैठे रहे। चुप चाप गुम-सुम। सब रो रहे थे परन्तु आचार्य श्री उसके भोले सुन्दर मुख पर अपलक दृष्टि डटाए हुए थे। यमुना तट पर उसे विदाई देकर सब परिजन लौट आए। अपने-अपने कामो मे लगे। परन्तु आचार्य श्री अपनी मेज पर बैठे चुपचाप "शरदकुमारी" से

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ मार्च १९६०, पृ. १०।

बातें कर रहे थे। होठ फड़कते थे और आंसू गालों पर ढरक रहे थे। वह सारी रात बैठे रहे और उस बालिका के ऊपर 'ओ शारदे' एक लम्बी कविता लिखी। उसे बहुत समय तक वह छिपा कर रखते रहे और रात को एकान्त होने पर पढ़ते। एक डेढ़ वर्ष के बाद वह कविता हम लोग पढ़ पाये।

उनका मन भ्रातृप्रेम से पूर्ण था। वह पितृतुल्य सब अपराधों-भूलों को क्षमा कर अटूट स्नेह रखते थे। सन् ३१ में उन्होंने आरोग्य शास्त्र लिखा और उसे स्वयं प्रकाशित करने का प्रबन्ध जुटाया कि भद्रसेन पाँच दिन भयंकर ज्वर ग्रस्त रहकर चल बसे। भद्रसेन की मृत्यु के आघात का आभास आरोग्य शास्त्र में लिखी उनकी भूमिका से लगता है। उसमें लिखा है 'मेरी अनगिनत विपत्तियों में सर्वोपरि विपत्ति मेरे पवित्र जीवी और परम आज्ञाकारी पुत्राधिक भाई भद्रसेन का अविकसित यौवनकाल में ही अनायास निधन है, जिसने मेरे साहस और जीवन की मधुरता की नस-नस तोड़ दी। मुझे भय है कि मेरी मानसिक विकलता और अस्थिरता से ग्रंथ में बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई होंगी। जिसके लिये मैं अपनी उपयुक्त करुण दशा की तरफ विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करके दया और क्षमा की आशा करता हूँ।'[१]

इस प्रकार अनेक कठिनाइयों और न्यूनताओं के रहते हुए भी आचार्य चतुरसेन जी का पारिवारिक जीवन प्रसन्नता और उल्लास से भरा हुआ था। भाई और बच्चों के प्रति उनकी अजस्र स्नेह धारा उन सबको आचार्य के प्रति अगाध श्रद्धा में मग्न किए रहती थी। उनकी गहरी भावुकता और विनोदप्रियता का सहज रूप उनके पारिवारिक जीवन में ही प्रस्फुटित होता था।

आचार्य जी मित्रों एवं समाज के बीच

आचार्य चतुरसेन जी अपने मित्रों से भी खुलकर मिलते थे। यद्यपि उनके मित्रों की संख्या बहुत कम थी। वह सत्य कहने वाले, मुंहफट व्यक्ति थे, इस कारण से कम ही लोगों को अपना मित्र बना सके थे। अपनी 'आत्मकथा' का प्रारम्भ करते हुए उन्होंने स्वयं यह बात स्वीकार की है 'मैं एक आहत, किन्तु अपराजित योद्धा हूँ। अपने चिरजीवन में मैंने सब कुछ खोया है पाया कुछ नहीं। मैंने एक मित्र जीवन में उत्पन्न नहीं किया। आज जीवन की सन्ध्या में मैं अपने को सर्वथा एकाकी, असहाय और निरप्रेम अनुभव करता हूँ। मेरी दशा उस मुसाफिर के समान है, जो दिन भर निरन्तर मन्जिल काटता रहा

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ मार्च, १९६०, पृ. १०।

हो, और अब निर्जन राह ही मे सूर्य अस्त हो गया हो, वह वेसरोसामान थक कर राह के एक वृक्ष के सहारे रात काटने पड गया हो—और मजिलो दूर अपने घर मे बिछी सुखद दुग्ध फेन रूपी शय्या की, सन्ध्या की भाँति स्निग्धा पत्नी की, और फूल के समान सुन्दर अपने पुत्र की केवल कल्पना मात्र कर रहा हो।'[१]

उन्होने एक बार प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से स्वय कहा था, पता नही क्यो मेरी किसी से नही निपट पाती। श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' से भी इस विषय की चर्चा करते हुए उन्होने कहा था 'जाने क्या बात है, जिससे मेल होता है उससे लडाई हो जाती है, पर जाने क्या बात है कि तुमसे कभी लडाई नही होती।'[२]

वास्तव मे उनके स्वभाव की एक प्रमुख वृत्ति अहकार थी। अपने आत्म सम्मान को आहत होते वह कभी भी देख न पाते थे। श्री 'प्रभाकर' जी ने उनके स्वभाव की चर्चा करते हुए लिखा है 'अपने लडाकू पने से वह खुश नही थे, पर मजबूर थे। उनके स्वभाव की एक प्रमुख वृत्ति अहकार थी। वह महत्वाकाक्षी थे, समाज मे महत्व पाने के दावेदार थे, हकदार थे, पर समाज ने उनके दावे को स्वीकार नहीं किया, उनका हक उन्हे नही दिया। यही नही उनके मित्रो ने, उनके अपनो ने उनके अहकार पर ढेले फेंके, उनके हक की उपेक्षा की और इस तरह एक उद्बुद्ध मानव को क्रुद्ध मानव बना दिया।'[३]

समाज ने उनकी सदैव उपेक्षा की, इसी कारण से उन्होंने भी कभी समाज की चिन्ता न की। उन्होंने समाज से आदर की आशा की किन्तु मिला अनादर, उन्होंने मित्रो से निश्चित प्रेम चाहा, किन्तु स्वार्थी मित्रो ने उन्हे सदैव प्रवचित ही किया। उनके उपन्यास 'धर्मपुत्र' की भूमिका को पढने से उनके मस्तिष्क की यह निर्बलता स्पष्ट हो जाती है। उर्दू के कहानीकार श्री कृष्ण चन्द्र को एक प्रकाशक ने पार्टी दी थी। उसमे आचार्य चतुरसेन जी भी निमन्त्रित थे। आचार्य जी उस पार्टी मे सम्मिलित हुए। वहाँ पर उस पार्टी को देखकर उनके मस्तिष्क मे जो भाव उठे उन सभी को आचार्य चतुरसेन जी ने

१. चतुरसेन—त्रैमासिक, अक १ पृ० ८२।
२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६०।
३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६०, पृ० ५।

इस भूमिका में लिख डाला है। वे लिखते हैं 'कृशन चन्दर को 'देखो—निपट बालक सा तरुण है। मैं सोच रहा था इसे भला क्या पार्टी दी गई ? ऐसी शानदार पार्टी तो मुझे मिलनी चाहिए थी। उसके बाद अकस्मात मेरे मन में एक विचार पैदा हुआ—कि क्या कारण है अब तक मुझे किसी ने ऐसी शानदार पार्टी नहीं दी। चालीस साल कलम घिसी, पैंसठ की दहलीज पर पहुँचा, ग्रन्थों की सख्या एक सौ इक्कीस को पार कर गई, फिर क्या लोग अन्धे हैं, बहरे है, मूर्ख हैं या साहित्य को समझने नहीं हैं। क्या बात है, वास्तव मे पार्टी यदि किसी को मिलनी चाहिए थी, तो मुझी को। मैंने एक बार आँख और सिर उठा कर चारो ओर देखा—तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उस जमघट म मुझसे बड़ा साहित्यकार तो कोई नजर नही आ रहा है। फिर भी पार्टी मुझे नहीं, कृशन चन्दर को ही दी गई थी। इसमे तनिक भी घुबहा न था। 'बहुत गुस्सा आ रहा था सब लोगो पर। क्या नहीं लोग मुझे ऐसी पार्टियाँ देते। परन्तु कहूँ किससे ? मन ही मन खीझ रहा था कि मन ने एक धक्का दिया, कहा—अपनी इतनी पूजा करता है तो दुनियाँ से क्या ? तू खुद अपनी ओर देख, अपना साहित्य रचे जा, अपनी कलम सम्पदा से आप ही सम्पन्न रह। मगन रह। पार्टी वार्टी को गोली मार, और उठा अपनी कलम। अभी उठा। इस वक्त दिल चुटीला है—ऐसी ही चोट खाकर साहित्यिक वेदनाएँ मूर्त होती हैं। खीच तो एक दर्द की तस्वीर।'[1]

स्पष्ट ही इन पक्तियो मे एक साहित्यकार का आहत, आत्म-सम्मान तड़पता हुआ दीख पड़ता है। उनको इस बात का दुःख था कि 'आज तक किसी साहित्यकार, साहित्य सस्था, या साहित्य सघ ने कभी मेरे पास आकर नहीं कहा था, कि तुझे हम सम्मानित करें। तेरा जन्म मनाएँ, तेरी कुछ धूमधाम करें, पब्लिसिटी करें। न कभी किसी सम्मेलन का सभापति ही मुझे बनाया गया। इन्तजारी बहुत की। सभापति बनाना तो दूर—साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन म कभी मुझे निमन्त्रण नहीं मिला। पिछली बार मेरठ मे हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था—वहाँ मैं बिना बुलाये ही चला गया—इसलिए कि—पास तो है ही—बहुत से साहित्य बन्धुओं के दर्श-पर्श हो जायेंगे। देखा सबने, पर किसी ने भीतर मच पर चल कर

---

१. धर्मपुत्र, भूमिका, 'दर्द की तस्वीर'।

बैठने तक को नही कहा । दो दिन बाहर ही बाहर घूम कर चला आया '[१]

वह सम्मान पाने के अधिकारी थे किन्तु कही भी सम्मान न मिला। यही कारण था कि उनका आहत आत्म-सम्मान किंचित् मात्र झटका खाते ही क्रुद्ध हो उठता था, यही कारण था कि वह समाज मे अन्त समय तक अपना एक भी मित्र न बना सके थे। श्री 'प्रभाकर' जी ने उनके स्वभाव की आलोचना करते हुए लिखा है "उनकी यह असफलता थी कि वह उद्बुद्ध होकर भी क्रुद्ध हुए, पर इस असफलता की जड मे समाज की गन्दगी थी। इस गन्दगी का सबसे गन्दा प्रदर्शन यह कि उन्हें क्रुद्ध बनाने वाला समाज सदा यह नारा लगाता रहा कि वह क्रुद्ध न होते, तो मैं उनकी पूजा करता।' 'मैंने उनकी इस असफलता को कभी महत्व नही दिया और सदा पूरी ईमानदारी के साथ उसे एक बहुत छोटी क्षुद्र और नगण्य असफलता मानता रहा। क्यों ? क्या उनकी मित्रता के कारण? नही, उनकी एक महान् सफलता के कारण कि समाज द्वारा क्रुद्ध किये जाने पर भी वह उद्बुद्ध रहे और अपने जीवन के अंतिम दिन तक उसी समाज को पुष्ट, स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक भोजन परोसते रहे। उनको छोडिए, उनके इस मानसिक भोजन को भी समाज ने कभी उचित महत्व नहा दिया, पर महत्वहीनता के इस दमघोटू वातावरण मे भी उन्होंने अपने भोजन का स्तर नही गिराया, अपना खून पसीना एककर, उसे ऊँचे से ऊँचा उठाया, इसी मे अपने आप को खपा दिया। यह क्या उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की कोई साधारण सफलता है ?[२]

इनके कतिपय मित्रो के सपर्कों के सस्मरण बडे रोचक हैं और वे मित्रो के व्यवहार और उनके द्वारा आचार्य चतुरसेन जी के मन पर प्रगट हुई प्रतिक्रिया के द्योतक हैं। अत उनमे से कुछ को देना यहाँ प्रासंगिक है।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी उत्तर प्रदेश के गवर्नर थे और नैनीताल के राजभवन मे गर्मी बिता रहे थे। समय की बात श्री चतुरसेन भी अपने परिवार सहित नैनीताल जा पहुँचे। मुशी जी एक युग पहले सोमनाथ पर उपन्यास लिख चुके थे और शास्त्री का 'सोमनाथ' इन्ही दिनों छपा था। इस तरह दोनो समानधर्मा और समानकर्मा व्यक्ति थे। शास्त्री जी ने मुशी जी को

१. धर्मपुत्र, भूमिका, 'दर्द की तस्वीर'।
२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६०, पृ. ५।

पत्र लिखा कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ पर शर्त यह कि गवर्नर मुंशी हमारी बातचीत के बीच में न आयें।

मुंशी जी बहुत ऊँचे दर्जे के सामाजिक सुसभ्य व्यक्ति हैं उन्होंने शास्त्री जी को मिलने की तारीख और समय लिख दिया। पधारने की प्रार्थना भी की। नैनीताल पहाडी स्थान है। वहाँ तांगा, मोटर, दिल्ली की तरह सुलभ नहीं। शास्त्री जी ने चार आदमियों वाली दो गाडियाँ किराये पर की और अपनी पत्नी सहित वह समय पर राजभवन पहुँचे।

राजभवनों के नियम पुराने समय से बँधे सधे चले आ रहे हैं। द्वारपाल ने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह डाडी प्रवेश द्वार पर छोड दें, क्योंकि राजभवन में डाडी आने का नियम नहीं है।

शास्त्री जी ने द्वारपाल की ओर नहीं देखा और डाडी वालों से डाटकर कहा "क्यों रे, हमने, तुमसे कन्हैयालाल मुंशी के घर चलने को कहा था पर तुम राजभवन आ धमके ? बड़े मूर्ख हो।"

द्वारपाल ने कहा 'श्रीमन् महामहिम मुंशी यहीं रहते हैं। डाडी वाले ठीक स्थान पर आपको लाये हैं।'

फिर भी गाठ न खुली तो द्वारपाल ने प्रधान द्वारपाल को फोन किया। वह आये, पर शास्त्री जी की दलील थी 'नियम गवर्नर के होंगे, पर हमें तो गवर्नर मुंशी से मिलना ही नहीं।' और तब उन्होंने अपने डाडीवाले से कहा 'डाडिया नीचे रख दो, जितने समय के लिए हमें मुंशी जी ने बुलाया है, हम उतने समय यहीं द्वार पर बैठे रहेंगे और फिर लौट जायेंगे।' प्रधान द्वारपाल चकराया। उसने निजी सचिव को फोन किया और उसने महामहिम मुंशी को सब हाल सुनाया। मुंशी जी ने कहा 'द्वार खोल दो और उन्हें डाडी पर ही आने दो।' द्वार खुला और शास्त्री जी डाडी पर बैठे हुए राजभवन के बरामदे तक पहुँचे जहाँ स्वागत के लिए खड़े मुंशी जी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।[१]

अपना श्रेष्ठ उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' शास्त्री जी ने प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल को समर्पित किया। वह समर्पण क्या था ठीक-ठीक शासन करने की हिदायत थी। इस समर्पण का आरम्भ होना है 'हे ब्राह्मण।' इस

---

१. एक कन्था अमृत, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १८ अप्रैल, १९६०, पृ. ५।

व्यग्यात्मक सबोधन से। स्वाभाविक था कि नेहरू जी इसे पसन्द न करते थे। फिर इस तरह के समर्पण पूंछकर करने की प्रथा है और शास्त्री जी ने न पूछा, था, न स्वीकृति ली थी।

प्रधान मत्री के निजी सचिव ने शास्त्री जी को पत्र लिखा 'आपने बिना पूछे प्रधान मत्री को यह समर्पण क्यो किया ?'

शास्त्री जी ने उत्तर दिया 'समर्पण का अर्थ है देना, तो मैंने प्रधान मत्री को अपने कई वर्षों के परिश्रम का फल दिया है उनसे कुछ मागा नहीं इस तरह मैं दानी हूँ भिखारी नही कि पूछता फिरूँ कि कुछ लेना है क्या ? फिर भी नेहरू को मेरा समर्पण पसन्द न हो, तो उनसे कहना कि पुस्तक का वह पन्ना फाड दें।'[1]

पजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष डा० सत्यपाल ने शास्त्री जी को बहुत आग्रह से बुलाया। वह जिस गाडी से गये उसी से, समय की बात, सम्मेलन के उद्घाटनकर्ता श्री गणेश वासुदेव मावलकर (अध्यक्ष लोकसभा) भी गए। स्टेशन पर बहुत धूमधाम से स्वागत हुआ पर इस स्वागत में मावलकर जी पर ही पुष्प वर्षा होती रही। शास्त्री जी प्लेट फार्म पर अपने सामान के पास खडे रहे उनके पास कोई नही आया। बाद मे एक स्वय सेवक रिक्शा मे बैठाकर उन्हें निवास स्थान पर छोड आया। शाम को वह उत्सव मे गए तो वहाँ भी वही बात कि मावलकर जी का स्वागत राजकीय ढग से और शास्त्री जी मच के एक कोने पर। उद्घाटन भाषण और स्वागत भाषण के बाद उल्लासभरे वातावरण मे शास्त्री जी से मगल वचन कहने का अनुरोध किया गया, तो शास्त्री जी माइक पर आये और प्रसन्नता भरे स्वर मे बोले 'मावलकर जी की इस बारात मे आकर बहुत प्रसन्नता हुई। दूल्हा तो सुन्दर है ही, बारात भी खूब सजी है और प्रबन्ध भी शानदार है पर साहित्य रूपी दुल्हिन इस धूमधाम म ऐसी दब गई है कि छुई-मुई सी घूघट मे लिपटी दवी बैठी है, कही दिखाई नही देती। 'सुनकर दर्शकों, श्रोताओ ने तालियो से पंडाल गुजा दिया, पर मच पर तो पानी ही पड गया।'[2]

---

१. एक कडुवा अमृत, कन्हैयालाल मिश्र, 'प्रभाकर', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', १७ अप्रैल १९६०, पृ. ५।

२. एक कडुवा अमृत, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६०, पृ. ६।

'हिन्दू विश्वविद्यालय की एक परिषद् मे भाषण देने के लिए उन्हे (आचार्य चतुरसेन जी को) बुलाया गया। बुलाने वालो मे श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी भी थे। शास्त्री जी ने अपने भाषण मे कहा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं और एक पुस्तक का उन्होने नाम लिया शायद 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के लेखक भी श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी है। क्या ये दोनो एक ही हैं? यदि एक ही हैं तो मैं कहता हूँ कि इनमे से एक ही पुस्तक उनकी लिखी हुई है या तो पहली या दूसरी, दोनो पुस्तकें एक लेखक की नही है। मैं चाहता हूँ, आप इस पर खोज करें।

बडी हडबडी मची, सारा वातावरण अस्तव्यस्त हो गया और उत्सव के बाद की टी-पार्टी उखडी-उखडी रही।[1]

इसके अतिरिक्त उनकी पुस्तक 'वातायन' मे ऐसे कितने ही सस्मरण प्राप्त है जहाँ इनका उद्बुद्ध मानव क्रुद्ध हुआ दीखता है। 'मुबलिग पाँच रुपए'[2] 'श्री जैनेन्द्र का विवाह'[3] 'ठडी हवाएँ'[4] आदि उनके ऐसे ही सस्मरण है।

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने आचार्य चतुरसेन जी के इस प्रकार के सस्मरणो के आधार पर उनके स्वभाव का विश्लेषण करते हुए लिखा है —

१९५९ की गर्मियो के अन्त मे वह (आचार्य चतुरसेन जी) हरद्वार से लौटते हुए कुछ घटे मेरे पास टिके तो अन्तिम (हजारीप्रसाद द्विवेदी) वाला सस्मरण उन्होंने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बडा अजीब सा लगा और मन मे गहरी अरुचि का भाव जगा। वह साफ बात कहते थे, तो साफ बात सुन भी सकते थे मैंने कहा 'उन्होंने आपको अपने उत्सव की शोभा बढाने के लिए बुलाया था पर आपने उनकी शोभा पर तारकोल छिडक दिया। यह क्या कोई अच्छी बात है?'

शास्त्री जी ने पूरे सन्तुलन से उत्तर दिया 'ऐसी बातें अच्छी थोडे ही हुआ करती हैं।'

---

१. एक कडुवा अमृत, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, पृ. ६।
२. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. १३९-१५४।
३. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. १६१-१६६।
४. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. १७१-१७५।

उनके सन्तुलन और उत्तर से मुझे बढ़ावा मिला और वर्षों की जिज्ञासा एक प्रश्न में भरकर मैंने उनके सामने रख दी 'नैनीताल गए तो आप मुंशी जी से भिड़ गए, अमृतसर गए तो मावलंकर जी से जा टकराए और काशी गए तो द्विवेदी जी को उधेड़ बैठे। जब आप मानते हैं कि ये बातें अच्छी नहीं हैं तब आप यह सब करते क्यों हैं ?'

जरा गम्भीर रहे तब मुस्कुराये कुछ सोचते रहे, फिर बोले 'यह रहस्य जहाँ तक मुझे याद है आज तक मैंने किसी को भी नहीं बताया। शास्त्रों की भाषा में यह 'गुह्यात गुह्यतरं परम्' है, पर तुम्हें बताता हूँ। गद्य लेखक के जीवन का यह रहस्य पद्यमय है और जाने मुझसे पहले ही इसे कौन लिखकर रख गया है।' और तब उन्होंने यह शेर पढ़ा —

चोर आए, घर में घुस गए और लूट ले गए,
क्या कर सकता था क्या, नाम लेने के सिवा।

सुनकर मेरा मन गम्भीर हो गया पूछ बैठा "तो यह सब क्या मजबूरी का खासना है ?" उन का उत्तर एकदम साफ था "और क्या ?"

मैं एक दम किनारे पहुँच गया "तो फिर यह तो गाली देना है।।"

उनका उत्तर एक दम साफ था 'और क्या ?'

सुनकर सोचने लगा "शास्त्री जी अपने साहित्य में ही नहीं, अपने जीवन में भी स्पष्ट हैं। वह स्वप्न दृष्टा ही नहीं, स्पष्ट भी हैं। यहाँ तक कि अपनी खामियों को खूबियों का जामा पहनाना उन्हें पसन्द नहीं। समाज में उनके साथ अन्याय किया है, तो वह उसे गाली देते हैं उनके अहंकार को नम्रता का अर्घ्य न देकर, कोई अपने अहंकार से धकियाए, तो वह बर्बर हो उठते हैं।"

इसी बातचीत में उनकी नई पुस्तकों की चर्चा चल पड़ी, तो मैंने पूछा, "आपको रायल्टी के रुपये मिल जाते हैं ?"

प्रश्न साधारण था पर उनके उत्तर ने उसे असाधारण बना दिया 'बहुत दिन लुटने के बाद मैंने प्रकाशकों पर अपने बुरा आदमी होने की धौंस जमा दी, है, इसलिए कुछ न कुछ मिल ही जाता है।' "वही बात कि उनका मानस उद्-बुद्ध था, हमने उसे क्रुद्ध बना दिया था और अपने पाप की कुरूपता को छिपाने

के लिए हम जोर-जोर से चिल्लाते रहे—यह मानव क्रुद्ध है। सच यह कि वह कड़ुवा अमृत थे।"[1]

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी मे आत्म-सम्मान की मात्रा आवश्यकता से अधिक थी। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि उनका आहत आत्म सम्मान किंचित् मात्र झटका खाते ही क्रुद्ध हो उठता था। उपर्युक्त समस्त सस्मरण उनके क्रुद्ध आत्म-सम्मान को ही प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी की एक विशेषता और थी। यदि उनके आहत आत्म-सम्मान पर आघात न किया जाय तो उनका हृदय सदैव नवनीत के समान शुद्ध एव कोमल रहता था। अपने मित्रो के साथ वे एक सच्चे मित्र थे। वे स्वभाव से अकृतघ्न नहीं थे। जिन स्थानो पर उनके अह की तुष्टि हुई, जिन मित्रो ने उनके आत्म-सम्मान का ध्यान रखा, उन स्थानो पर उन्होंने कैसा व्यवहार किया, इसको यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा। इस प्रकार उनके मित्रो के कुछ सस्मरण यहाँ हम प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्री हरवशराय 'बच्चन' का आचार्य चतुरसेन जी से घनिष्ठ परिचय था। 'बच्चन' जी उन्हे अपना अग्रज और आचार्य चतुरसेन जी उन्हे अपने लघु भ्राता के समान मानते थे। यहाँ आचार्य जी से सम्बन्धित उनके जीवन का एक सस्मरण उद्धृत है—

"इसके बाद मैं शास्त्री जी को सन् १९३९ मे किसी कवि सम्मेलन मे मिला। १९३६ मे मेरी पत्नी का देहावसान हो चुका था 'मधुशाला" की मस्ती मुझे छोड चुकी थी, "निशा निमत्रण" के बाद मैं 'एकात सगीत' गीत लिख रहा था, उन्ही को प्राय सुनाता भी था। एक अवसाद विषाद की छाया मुझे रहती थी। शास्त्री जी मुझे देखकर बोले "मधुशाला" और मधुशाला के लेखक की यह दशा। तुम्हें हो क्या गया है? मैंने उन्हे अपनी कथा व्यथा बताई। वह बोले, "तुम-अस्वस्थ हो, इसी से तुमने जीवन का एक अस्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया है, इसे छोडो मेरे पास आओ, मैं तुम्हारा इलाज करूँगा। शरीर और मन कोई अलग सत्ताएँ नही हैं" शास्त्री जी ने मेरे प्रति जो आत्मीयता दिखलाई उससे मैं कृतकृत्य हो गया।"

शास्त्री जी को सचमुच मेरी चिंता थी। उन्होंने कई पत्र मुझे लिखे, अततोगत्वा सन् १९४० मे मैं दिल्ली आया, और दो-तीन दिन उन्ही के साथ

---

१. एक कडवा अमृत, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, पृ. ६।

लालबाग, शाहदरा में ठहरा। शास्त्री जी को अधिक निकट से देखने का अवसर मिला। उनको मैंने अथक परिश्रमी अदम्य उत्साही और अबाध कर्मठ के रूप मे देखा। वह नियमित रूप से दो बजे रात को उठते और बारह बजे दिन तक काम करते, फिर स्नानादि कर भोजन करते और थोड़ी देर आराम करते। शाम को उनके रोगी, मित्र, मिलने वाले आते और वह उन्हें दवा देते और उनसे बातें करते। लेखन से जो आमदनी उन्हे होती थी उससे वे असन्तुष्ट थे, वह चाहते थे कि वैद्यक छोड़कर अपना सारा ध्यान साहित्य सृजन की ओर लगाएँ, पर परिस्थितियाँ उन्हें मजबूर करती थी कि वह पेशे से कुछ धन कमाते रहे। वह निराश नहीं थे और उसे सत्य करने की दिशा मे लगे रहना चाहते थे, उपलब्धि हो, कम हो, कुछ भी न हो।

मुझे उन्होंने अपनी हार्दिक संवेदना दी, स्नेह दिया। मेरी विधिवत स्वास्थ्य परीक्षा की, घटों बैठकर बचपन से मेरी इमारियों-बीमारियों का इतिहास पूछा। अन्त मे उन्होने मुझे अपनी सलाह दी। "तुम्हें अभी बहुत दिन जीना है, तुम घर परिवार बसा कर ही शात और सुखी रह सकोगे, तुम फिर से विवाह करलो। मैं बिल्कुल तुम्हारी जैसी मन स्थिति से गुजर चुका हूँ। इसलिए तुम मेरे अनुभवो से लाभ उठाओ। फिर कुछ रुककर हँसकर बोले, अगर तुम जाति-पाति का बधन नही मानते तो तुम्हारे लिये एक सुघड कन्या भी मेरी दृष्टि मे है "

'मैं केवल इतने पर राजी हो सका कि यदि कोई लड़की अनिवार्य रूप से मेरे जीवन म आएगी तो मैं विवाह कर लूँगा। शास्त्री जी को बड़ा सतोष हुआ। मैं चलने लगा तो उन्होंने मुझे एक औषधि दी, खानपान, सयम नियम भी बताया। एक राजा के लिए उन्होंने एक रसायन तैयार किया था बोले तुम्हें इससे बड़ा लाभ होगा। मैंने पूछा, दाम ? बोले, दाम इसका कुछ नही, पर कुछ मरीजों को दवा तब फायदा करती है जब वह जान लें कि दवा महँगी है, इसलिए कहता हूँ कि पूरी खुराक के लिए अगर हजार रुपये भी मागे जायें तो इसका दाम कम है। तीन महीने की दवा खत्म हो गई तो उन्होंने तीन महीने की दवा पार्सल से अपने खर्च पर भिजवाई थी। मेरे स्वास्थ्य मे अद्भुत परिवर्तन हुआ और शायद उसके कारण मेरे मन स्वास्थ्य मे भी।

कभी सोचता हूँ शास्त्री जी से इतनी संवेदना "ममता" कृपा पाने का अधिकारी मैं किस माने था ? केवल हिंदी लेखन क्षेत्र मे उनका एक छोटा सा

सहधर्मी होने के नाते। [वह अपना सच्चा नाता साहित्यकारों से ही मानते थे।[1]

"बच्चन" जी के उपर्युक्त संस्मरण से स्पष्ट होता है कि उनके जीवन के निर्माण में आचार्य चतुरसेन जी का बहुत बड़ा हाथ था। इसी प्रकार आचार्य जी से कितने ही साहित्यकारों और रोगियों को प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहायता प्राप्त हुई थी। उनके हृदय में कोमल भाव थे, इस बात को स्पष्ट करने के लिए उनके जीवन से सम्बधित एक और संस्मरण देना मैं उचित समझता हूँ। जैसा कि पिछले पृष्ठों में दिखलाया जा चुका है कि हाजी मुहम्मद से उनकी अत्यंत घनिष्ठता थी। दोनों मित्र थे, आत्मीयता थी किंतु मुसलमान होने के कारण आचार्य चतुरसेन जी अपने उस मित्र के यहाँ का जल भी न पीते थे। इसी प्रसंग से संबंधित आचार्य जी द्वारा लिखित प्रस्तुत संस्मरण यहां उल्लेखनीय है—

'एक दिन जाकर देखा—किसी मित्र से मिलने जा रहे थे। कपड़े पहिनकर तैयार। देखा तो जोर से अट्टहास करके कहा—खूब आये, चलो, एक जगह जाना है। एक खोजा महिला है, उनसे मिलने जाना है। साहित्य में रस लेती है। मौज रहेगी। तब तक भी मैं महिला मित्रों से मिलना बहुत संकोच की बात समझता था। पर इस मित्र का न साथ छोड़ सकता था न अनुरोध। वह एक सम्पन्न धनी विधवा खोजा युवती थी। बेतकल्लुफी की मुलाकात। परिचय देकर मेरा मित्र गुजराती में घुल मिल कर बातें करने लगा। बीच में दोनों मेरी खातिर हिंदी भी बोल लेते। कुछ देर बाद एक बालिका कोई दस ग्यारह बरस की, किंतु स्वप्न की परी के समान सुन्दर, एक ट्रे में तीन लैमोनेड लेकर धीर गति से आई। प्रथम सम्मान मुझ नये अतिथि को देने के लिए पहले वह मेरी ओर बढ़ी। मैं मन ही मन घबरा उठा। कैसे इस मुसलमान लड़की का छुआ पानी पियूँ ? मैं 'ना' करने को ही था, कि उसकी माता ने वह गुजराती में "ना, ना, वे नहीं पियेंगे तेरे हाथ का छुआ। और साथ ही मुझसे कहा—पास ही में हिंदू होटल है, वहाँ से आपके लिए मँगाती हूँ उसने नौकर को आवाज दी "रामा"।

और लड़की का हँसता हुआ मुँह सूख गया। उसने एक विचित्र दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसका स्पष्ट अभिप्राय था, कि वह मुझसे पूछ रही है कि उसके हाथ का छुआ न पीकर उस गंदे नौकर के हाथ का क्योंकर पी सकूँगा'

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ मार्च, १९६०, पृ. २८।

और मेरी अंतरात्मा ने मुझसे बिना पूछे ही कह दिया नहीं-नहीं मैं पियूँगा चिटिया लेआ, लेआ। और तब वह अप्सरा आनंद बखेरती हुई मेरे निकट आई, अपनी चम्पे की कली जैसी उँगलियों से गिलास उठा मेरे हाथ मे दिया, हाजी चुपचाप मेरा पीना देखता रहा। फिर उसने खड़े होकर अनुताप के स्वर मे कहा— 'बड़ी गलती हुई। मैं नाहक समझा आप शास्त्री है, छुआ छूत का ख्याल रखते होंगे। इसी से कभी मैंने आपसे खाने पीने की बात पूछी ही नहीं। आप ऐसे दरियादिल हैं। और तब मैंने कहा—"मित्र, यह आज ही जीवन में पहलीबार कुफ्र तोड़ा है। भला ऐसी सुन्दर बिटिया की भी अवहेलना की जा सकती है ? और फिर सब विषय बातचीत के स्थगित होकर खान-पान छुआ छूत पर वार्तालाप हुई हम तीनों मित्रों की।"[१]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी मित्रों के गहरे मित्र और शत्रुओं के भयंकर शत्रु थे। वे आत्म सम्मानी थे, महत्वाकांक्षी थे। जहाँ उनके आत्म-सम्मान को किंचित मात्र भी आघात लगता था वे अपने को रोक न पाते थे। वास्तव में सत्य यह है कि उनको एक अभाव सदैव खटकता रहा और वह था प्रत्याशित सम्मान का अभाव, प्रत्याशित मूल्यांकन का अभाव, साधना की प्रत्याशित प्रतिष्ठा का अभाव। इस अभाव ने ही व्यक्तिगत विक्षोभ का रूप धारण कर लिया था।

आचार्य चतुरसेन जी चिकित्सक के रूप में—

जैसा कि हम पिछले पृष्ठों मे दिखला चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने जीवन का प्रारम्भ एक चिकित्सक के रूप में किया था। जयपुर संस्कृत महाविद्यालय से ससम्मान 'आयुर्वेदाचार्य' की उपाधि लेने के पश्चात् आपने चिकित्सा कार्य प्रारम्भ कर दिया था। आचार्य जी एक उच्च कोटि के साहित्य-कार होने के साथ-साथ एक कारगर चिकित्सक भी थे। यहाँ हम उनके चिकित्सा सम्बन्धी कुछ संस्मरण देकर प्रस्तुत अध्याय को समाप्त करेंगे।

डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा आचार्य चतुरसेन जी के परिवार के चिकित्सक थे और आचार्य जी स्वयं उनके। डा० साहब ने आचार्य चतुरसेन शास्त्री से अपनी चिकित्सा करवाई थी। उसका विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है 'मैं पुराने नजले से परेशान था। 'क्रानिक राइनाइटीज' लगभग आठ वर्ष से चल रही

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. ८८-८९।

थी, नाक से बदबूदार बलगम आता था। डाक्टरी दवाइयों से कोई लाभ नहीं हो पाया था। इरविन अस्पताल में नासारोगों के विशेषज्ञ डा० सोहनसिंह को भी कन्सल्ट कर चुका था। उन्होंने दो बार नाक में पक्चर भी किया। किंतु फिर भी कोई लाभ न हुआ, केवल आपरेशन अन्तिम उपाय रह गया था। शास्त्री जी को मैंने अपने रोग का हाल बताया तो बोले 'मैं आपकी चिकित्सा करूंगा और आपका यह रोग निश्चित रूप से जाता रहेगा। लेकिन वायदा कीजिए कि ईमानदारी से आप मेरी औषधि ४० दिन खाएंगे। देखिये। इसमें लापरवाही नहीं होनी चाहिये। साथ ही आप मुझसे यह न पूछें कि क्या औषधि दे रहा हूँ।"

मुझे उनकी बातें मान लेने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी। उन्होंने मुझे ४० दिन सेवन करने के लिए बेर के बराबर किसी औषधि की गोलियाँ दीं। १५ दिन औषधि सेवन करने के बाद मुझे बहुत लाभ दिखाई दिया और एक मास में तो रोग बिल्कुल जाता रहा। शेष दस दिन की गोलियाँ फिर मैंने खाई ही नहीं। मैं शास्त्री जी को धन्यवाद देने पहुँचा, मैंने कहा 'शास्त्री जी आपकी औषधि ने वास्तव में चमत्कार कर दिया।'

मेरे आरोग्य लाभ से उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई। बोले 'भाई! आप लोग बड़े डाक्टर हैं बड़ी-बड़ी ही बातें सोचते हैं। छोटी बातें आपकी नजर में नहीं आतीं।' इसके पश्चात् उन्होंने न्यूटन का दृष्टान्त देते हुए कहा 'जैसे न्यूटन जैसा महान् वैज्ञानिक छोटी बात न सोच सका इसी तरह आपने भी पक्चर और आपरेशन की तरफ ध्यान दिया। लेकिन आपको तो साधारण सा रोग था। आप का कफ (बलगम) दूषित हो गया था। और मैंने जो गोलियाँ आपको दी थीं वह साधारण 'व्योषादि वटी थी।'[1]

आचार्य चतुरसेन जी में एक सफल चिकित्सक के सभी गुण विद्यमान थे। अपनी चिकित्सा में दृढ़ आत्म-विश्वास चिकित्सक का सर्वश्रेष्ठ गुण माना जाता है। आचार्य जी में आत्म विश्वास का अभाव न था। डाक्टर लक्ष्मी नारायण शर्मा ने उनके वैद्य जीवन का एक संस्मरण उद्धृत करते हुए लिखा है दर असल शास्त्री जी को अपने निदान पर बड़ा दृढ़ आत्म विश्वास रहता था और यही उनकी चिकित्सा सम्बन्धी सफलता का कारण था। एक बार तो एक

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा, पृ. २७।

मारवाडी सेठ के केस मे सिविल सर्जन से शास्त्री जी की बहस ठन गई। रोगी को निरन्तर ज्वर रहता था और वह बुखार मे बहुत बक-झक भी करता था। सिविल सर्जन का निदान था कि रोगी को 'टायफाइड' हो गया, किंतु शास्त्री जी का कथन था कब्ज के कारण रोगी के पेट मे मल सड रहा है। इसीलिए उसे ज्वर और प्रलाप है। शास्त्री जी रोगी को एनीमा लगाने के पक्ष मे थे और सिविल सर्जन उनकी तजवीज के विरुद्ध। वह कहता था कि एनीमा देने से रोगी की हालत बिगड जाएगी। सेठ जी का शास्त्री जी मे अटल विश्वास था फलत उनकी बात मानकर रोगी को दो बार एनीमा लगाया गया जिससे उसके पेट से लगभग दो सेर मल की सूखी गाठें बाहर आई। अगले दिन ही रोगी ज्वर मुक्त होकर भूख भूख चिल्लाने लगा। सिविल सर्जन महोदय ने अगले दिन देखा तो दग रह गए बोले 'टाइफाइड न होकर शायद पैरा टाइफाइड था।'[१]

आचार्य चतुरसेन जी की चिकित्सा सम्बन्धी 'अमीरो के रोग' मे इस प्रकार के कितने ही सस्मरण प्राप्त हो जाते हैं।

चिकित्सक मे प्रत्युत्पन्नमति का होना भी आवश्यक गुण माना गया है। आचार्य चतुरसेन जी मे यह गुण भी पर्याप्त मात्रा मे था। उनकी बुद्धि कठिन से कठिन अवसरो पर भी स्थिर रहती थी। प्रत्युत्पन्नमतित्व उनके स्वभाव की प्रमुख विशेषता थी। उनकी इस विशेषता को स्पष्ट करने के लिए उनके जीवन के कुछ सस्मरण ही पर्याप्त होंगे—

'बात सन् १९४७ की है। विभाजन के दंगे चल रहे थे। शाम को आठ बजे से कर्फ्यू लग जाता था। साढे सात बजे एक मित्र शास्त्री जी के पास पहुँचे, मित्र की पत्नी को बहुत कष्ट था और कर्फ्यू लगने मे सिर्फ आधा घटा शेष था। आनन-फानन मे शास्त्री जी कपडे पहन कर उनके साथ हो लिए, कर्फ्यू की सीटी बजते-बजते दिल्ली मे किसी प्रकार वह उनके घर दाखिल हुए। मित्र की पत्नी के शिशु प्रसव हुआ था। और किसी कारण से उनका एक स्तन पक गया था। बेचैनी और पीडा से रोगिणी कराह रही थी। लेकिन शास्त्री जी तो खाली हाथ थे, न कोई औषधि, न लेप, न इन्जेक्शन, न प्लास्टर क्या करें। शहर म कर्फ्यू लगा हुआ था। वस्तुत इस समय कोई हिकमत लडाने की जरूरत थी। उन्होंने रोगिणी की परीक्षा की और फिर कुछ देर सोच

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा, पृ. २७।

विचार कर मित्र से बोले—'भई, तुम्हारे घर मे हल्दी तो होगी ही।' मित्र ले आए।

'थोडा नमक और लाओ।'

नमक भी घर मे ही मिल गया।

'अब जरा सा तेल गरम कर लो।'

और शास्त्री जी ने हल्दी और नमक की पोटली बनाकर गरम तेल मे डुबो कर उसका सेंक शुरू कर दिया। पाँच मिनट के सेंक से ही रोगिणी की कराहट बन्द हो गई। आधा घटे की सिंकाई के बाद स्तन-चूचुक से दूध, और मवाद रिसने लगा। दबादबा कर वह बवाल निकाला। ज्यो-ज्यो सिंकाई की रोगिणी को उत्तरोत्तर लाभ होता गया और २-३ घटे पश्चात् तो वह सो गई। किन्तु शास्त्री जी रात भर उसके उपचार मे लगे रहे। सुबह रोगिणी को कोई पीडा शेष न रही। दोस्त और वैद्य दोनो ही के कर्तव्यो को शास्त्री जी ने बखूबी निभाया।'[१]

इन संस्मरणो के अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी के वैद्य जीवन के अन्य कितने ही सस्मरण प्राप्त हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोली' की भूमिका म स्वय लिखा है। 'भारत का कोई ही नामांकित राजा रहा होगा, जिसकी सेवा करने की प्रतिष्ठा मुझे न मिली हो।'[२]

आचार्य चतुरसेन जी ने एक बार प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को स्वय वैद्यक जीवन के सस्मरण सुनाते हुए कहा था 'डा० अम्बेदकर उदर रोग से बहुत दिनो से पीडित थे। उनके उस रोग को मैंने केवल भुट्टे खवाकर ठीक कर दिया था। नेपाल के प्रधान मन्त्री को केवल 'नवरत्न' पहिनाकर ही उनको मैंने पुराने रोग से मुक्त किया था।' इसके अतिरिक्त उन्होने स्वय ही प्रस्तुत प्रबंध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर मे अपने वैद्य जीवन के कितने ही अनुभव बतला डाले थे।

आचार्य चतुरसेन जी वैद्य होते हुए भी रूढिवादी न होकर नवीनता के पक्षपाती थे। "संस्कृतज्ञ वैद्य होते हुए भी वह चिकित्सा सम्बधी आधुनिक विज्ञान की खोजो, गवेषणाओ और सिद्धांतो को पूर्ण मान्यता देते थे। वैज्ञानिक

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा, पृ. ४०।

२. गोली, आचार्य चतुरसेन, टूटे हुए सिंहासन चीत्कार कर उठे।

प्रगति मे वह विश्वास रखते थे। स्टेथस्कोप, ब्लडप्रेशर, इन्स्ट्रमेन्ट, मूत्र परीक्षा, मल परीक्षा, एक्सरे आदि आधुनिक निदान विधियो से वह अपने चिकित्सा कार्य मे सहायता लेते थे। वह अक्सर कहा करते थे कि आयुर्वेद मे वैज्ञानिक खोजो की बडी भारी आवश्यकता है, और यदि इसमे शोध कार्य न किया गया तो यह विज्ञान एक दिन मर जायगा। आधुनिक विज्ञान और आयुर्वेद के समन्वय से उन्होने "आरोग्य शास्त्र" नामक एक काफी बडा चिकित्सा सम्बधी ग्रथ भी अपने चिकित्सा काल मे लिखा था, जो केवल वैद्यो के लिए ही नही अपितु जनसाधारण के लिए भी बडा उपयोगी है। किन्तु बहुत दिनो से वह बाजार मे उपलब्ध नही है।"[1] जैसा कि "रचना-परिचय" वाले अध्याय मे हमने दिखलाया है कि आचार्य चतुरसेन जी ने चिकित्सा सम्बधी लगभग ४० ग्रथ लिखे हैं।

आयुर्वेद और विज्ञान के समन्वय की चर्चा करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से कहा था "मेरा पूर्ण विश्वास है, कि यदि विज्ञान का उपयोग सृजन के कार्यो मे हुआ, तो मनुष्य की औसत आयु बढ जायगी। कैसर, हृदयरोग, रक्तचाप और सिफलिस इन चार रोगो का अभी तक कोई निश्चित निदान नही हुआ है, किंतु मुझे पूर्ण विश्वास है कि अगले दस वर्षों मे विज्ञान इन रोगों पर विजय पा लेगा, तब निश्चित ही मनुष्य अकाल मृत्यु से बच सकेगा।" कुछ रुककर उन्होंने आगे कहा "परन्तु शर्त यह है कि युद्ध के बादल वैज्ञानिक आविष्कारो पर छा न जायें।[2]

आचार्य चतुरसेन जी स्वय आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की नवीन खोजों पर मनन करने के अभ्यस्त हो गए थे। वे रोगियो की चिकित्सा दोनों पद्धतियों के समन्वय द्वारा ही करते थे। उनके चिकित्सा सम्बधी गहन-मनन की छाप उनके कथा-साहित्य मे भी यत्र-तत्र प्राप्त होती है। आधुनिक विज्ञान की नवीन खोज हारमोन्स के विषय मे चर्चा करते समय एक बार आचार्य चतुरसेन जी ने डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा से कहा था ससार के लिए "हारमोन्स और नलिका विहीन ग्रथियो' की बात चाहे नई हो, किन्तु आयुर्वेद मे "ओज" धातु के नाम से इसका उल्लेख बहुत पुराना है। "ओज" शुत्र से भी

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०।

२. धर्मयुग, ९ अगस्त, १९५९, आचार्य चतुरसेन, व्यक्तित्व एवं विचार, शुभकार नाथ कपूर, पृ. ८।

ऊँची धातु है। इसी की पुष्टि इस नई खोज ने भी की है।[1] आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यास "वैशाली की नगर वधू" में जीवक कोमार भृत्य नामक पात्र की रचना इन्हीं नलिकाविहीन ग्रंथियों पर प्रकाश डालने के लिए ही की है। बूढ़े और कामुक राजा प्रसेनजित की चिकित्सा को जीवक बुलाया गया था किन्तु उसकी चिकित्सा से महाराज प्रसेनजित को लाभ न पहुँच सका था। राजकुमार विदूडभ से महाराज की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते समय वह कहता है "तनिक भी नहीं राजपुत्र, मैंने उनसे प्रथम ही कह दिया कि उनकी यौवन ग्रंथियाँ और चुल्लक ग्रंथियाँ निष्क्रिय हो गई हैं। हृदय पर बहुत मेद चढ़ गया है। अतः रसायन से कोई लाभ नहीं पहुँचेगा।"[2]

आचार्य चतुरसेन जी के समस्त चिकित्सा सम्बन्धी ग्रंथों एवं संस्मरणों को पढ़ने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आचार्य जी एक सफल चिकित्सक थे। यहाँ एक प्रश्न और उठ सकता है कि इतने सफल चिकित्सक होते हुए भी अतत: उन्होंने चिकित्सा कार्य त्याग क्यों दिया ? उनकी जीवनी से स्पष्ट है कि चिकित्सा कार्य से सन्यास लेने के पश्चात् से उनके जीवन में आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ गईं थीं। एक बार डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा ने उनसे इसी विषय पर प्रश्न किया था "आपने चिकित्सा कार्य से क्यों सन्यास लिया।"

उत्तर देते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने कहा था "वैद्य का जीवन त्याग और सेवा का जीवन होना चाहिए, यदि मैं भी नन्हें जी जैसा वैद्य बन सकूँ तभी मेरी वैद्यक सार्थक है।"

"नन्हे जी वैद्य अपने समय में देहली में अत्यंत लोकप्रिय वैद्य थे और शास्त्री जी के गाढ़े दोस्त थे।"

"राय जी के चौक" में नन्हे जी का 'मतब' था। सुबह से शाम तक उनके यहाँ मरीज़ों की भीड़ लगी रहती थी। एक दिन शास्त्री जी सुबह से शाम तक नन्हे जी के साथ उनके मतब में बैठे रहे, नन्हे जी दिन भर रोगियों में व्यस्त रहे। शाम को शास्त्री जी ने नन्हे जी से उनकी सदूकची की चाभी माँगी और खोलकर देखा तो वैद्य जी की दिन भर की आय सिर्फ पौने दो रुपए थी। किन्तु नन्हे जी को जैसे आय से कोई सरोकार ही न था, देवदूत की भाँति उन्हें तो

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा, पृ. २८।

२. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. १६१-१६२।

रोगियो की सेवा मे ही परम सन्तोष मिलता था। शास्त्री जी उनसे बहुत प्रभावित हुए थे। नन्हे जी के लिए उनके मन मे बडा आदर था। इन्ही नन्हे जी वैद्य को अपने उपन्यास 'गोली' मे शास्त्री जी ने चित्रित भी किया है।

इसके पश्चात् शास्त्री जी ने कहा "अपनी कार और अपनी कोठी के लिए रोगियो से लम्बी लम्बी फीसें वसूल करना चिकित्सा कर्म का उद्देश्य नही होना चाहिए।

शास्त्री जी का इरादा एक निश्शुल्क (फ्री) औषधालय खोलने का भी था और उन्होने इसके लिए अपने मकान मे एक कक्ष विशेष रूप से बनवाया था, किंतु उनकी इस इच्छा की पूर्ति न हो सकी।"[१]

आचार्य चतुरसेन जी के सम्पूर्ण जीवन पर एक दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि उनका सम्पूर्ण जीवन त्याग और तपस्या का जीवन था। उन्होंने अपने जीवन का प्रारंभ एक राजवैद्य के रूप मे किया था और अंत एक साहित्यकार के रूप मे। चिकित्सक रह कर वे एक सीमित क्षेत्र की, एक निश्चित काल तक ही सेवा कर सकते थे किन्तु साहित्यकार होकर उन्होने कुछ ऐसी रचनायें प्रस्तुत कर दी हैं कि उनके द्वारा सम्पूर्ण संसार का अनन्त काल तक वे कल्याण कर सकते है। अभी उन्होने केवल भारत के ही पाठको के हृदय में स्थान पाया है, यहीं के असख्य हृदयो को साहित्यामृत से प्लावित किया है किंतु अब वह दिन दूर नही है जब उनकी रचनाएं विश्व के पाठको के हृदय का हार बन जायेंगी और उनकी कीर्ति उसी प्रकार विश्वव्यापी हो जायेगी जैसी टालसटाय, ड्यूमा, ह्यू गो, वाल्टरस्काट, गोर्की आदि विदेशी लेखको की है। किंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी भाषा-भाषी दूसरे देशो की मणियो के गुण गाने के साथ-साथ अपनी गुदडी के छिपे हुए लालो को भी पहचान लें।

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा।

अध्याय—२

आचार्य चतुरसेन की रचनाएँ एवं उनके कथा-साहित्य का वर्गीकरण

आचार्य चतुरसेन जी की रचनाएँ एवं उनके कथा-साहित्य का वर्गीकरण

आचार्य जी एक बहुप्रतिभाशाली साहित्यकार थे। उन्होने अपने जीवनकाल मे अकेले ही पाँच व्यक्तियो के बराबर रचनाएँ की हैं। आपने विविध विषयो पर लगभग १६० ग्रथों की रचना की है। आप [redacted] प्रस्तुत रचनाओ मे अधिक सख्या उपन्यास, कहानी, नाटक एव स्वास्थ्य सम्बधी पुस्तको की है। यहाँ हम उनकी रचनाओ को कालक्रमानुसार प्रस्तुत कर रहे हैं —

आचार्य जी द्वारा रचित पूर्ण एवं अपूर्ण, प्रकाशित पुस्तकों की सूची

(कालक्रमानुसार)

सख्या	नाम पुस्तक	विषय	प्रथम बार कब प्रकाशित हुई	प्रथम बार किसने प्रकाशित किया	विशेष
१	हिन्दुओं की छाती पर जहरीली छुरी	विधवा विवाह की कुरीतियो पर एक निबध पुस्तिका	१९११	स्वयं	अप्राप्य
२	शरीर तालिया	शरीर विज्ञान सबंधी परिचय पुस्तिका	१९१५	स्वयं	अप्राप्य
३	अपत्यावतरण	रोगी की सार-सभाल सेवा और साधारण चिकित्सा सबधी पुस्तिका	१९१५	स्वय	अप्राप्य

१	२	३	४	५	६
४	प्लेग विभ्राट	आचार्य जी का सर्व-प्रथम उपन्यास	१९१५	स्वय (मेरी आत्म कहानी मे इसको सशोधित करके प्रकाशित किया गया है)	अप्रकाशित ही रहा बाद में उसका कुछ अंश आचार्य जी की 'सजीवन पत्रिका' मे 'देवदूत' नाम से प्रकाशित हुआ
५	हृदय की परख	उपन्यास	१९१८	हिंदी रत्नाकर कार्यालय बम्बई	अप्राप्य
		इसी का गुजराती अनुवाद	१९२४	बीसवीसदी कार्यालय, बबई	
६	व्यभिचार	चिकित्सा सबधी	१९१८	स्वय	
७	अंतस्तल	हिंदी का सर्व प्रथम गद्यकाव्य	१९२१	हिंदी ग्रथ रत्नाकर, बबई	अप्राप्य
	इसी का मराठीअनुवाद		१९२९	से	
८	सत्याग्रह और असहयोग	सत्याग्रह और असहयोग तथा राजनीतिक और स्वदेश नीति सदाचार सयम आदि की व्याख्या, नियम और परिचलन, पाण्डित्य ज्ञान से भरपूर राजनीति की महत्वपूर्ण पुस्तक इसी का गुजराती सस्करण १९२२ मे	१९२१	गांधी ग्रथ भंडार, बबई	ब्रिटिश सरकार ने जब्त कर ली थी।
९	बनाम स्वदेश	स्वदेश प्रेम की भावनाओ से युक्त गद्य काव्य	१९२६	स्वयं	अप्राप्य
१०	उत्सर्ग	ऐतिहासिक और वीर रस पूर्ण नाटक	१९२८	"	
११	पथ्यापथ्य	रोगी के लिए पथ्य देने और सार सभाल करने की जानकारीपूर्ण पुस्तिका	१९२४	स्वय	अप्राप्य

१२	तव, अब, क्यों और फिर	भारतीय संस्कृति, शासन राजनीतिक और सामाजिक अवस्था से परिपूर्ण विवेचनात्मक २५०० पृष्ठों का बृहद् ग्रंथ तब खंड में भूतकालीन भारत अब खंड में ब्रिटिश कालीन भारत क्यों खंड में ब्रिटिशों द्वारा दुर्दशा के कारण फिर खंड में भविष्य में भारत का निर्माण कैसा होना चाहिए	१९२९ में समूची पांडुलिपि पंजाब सरकार द्वारा जब्त	अप्रकाशित हो रही	
१३	हिंदू राष्ट्र का नव निर्माण	हिंदू समाज में चरित्र और राष्ट्र निर्माण के विकास संबंधी पथ-प्रदर्शन	१९३०		
१४	२१ बनाम ३० भारत में ब्रिटिश राज्य	भारत में १९२१ से १९३० तक भारत में राष्ट्रीय आंदोलन की विवेचनापूर्ण राजनीतिक पुस्तक	१९३०		जब्त
१५	हृदय की प्यास	उपन्यास	१९३१	गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ	
१६	अक्षत	कहानी संग्रह	१९३१	"	
१७	गोल सभा	लंदन में हुई राउंड टेबिल कांफ्रेंस के कारण और उसका परिणाम	१९३१	"	अप्राप्य
१८	गदर के पत्र	राजनीतिक पत्रों का हिंदी भाषांतर	१९३१	"	
१९	आरोग्य शास्त्र	स्वास्थ्य एवं शारीरिक ज्ञान, साधारण चिकित्सा विज्ञान, औषधज्ञान, संबंधी ग्रंथ	१९३२	स्वयं	
२०	खवास का ब्याह (पूर्णाहुति)	पृथ्वीराज रासो के आधार पर लिखा गया उपन्यास	१९३२	गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ	
२१	ब्रह्मचर्य साधन	ब्रह्मचर्य एवं संयम ज्ञान संबंधी युवकों के लिए पथ-प्रदर्शक पुस्तक	१९३२		

१	२	३	४	५	६
२२	सुखी जीवन	लडकियो को आरम्भ से ही अपना जीवन किस प्रकार निर्माण करना चाहिए और विवाह के बाद अपना जीवन किस प्रकार सुखी बना सकती हैं विषय पर उपदेशात्मक पुस्तक	१९३३	"	
२३	अमीरों के रोग	अमीरो के स्वास्थ्य एव चिकित्सा सबधी पुस्तक	१९३३	स्वय	
२४	पुत्र	माता पिता को अपनी सतान और विशेष कर पुत्र को किस प्रकार शिक्षित एव पालन करना चाहिए	१९३३	"	
२५	कन्यादर्पण (हमारी पुत्रियां कैसी हों)	कन्याओ को शिक्षा, उपदेश, यौवनोदय का प्रारम्भिक ज्ञान, वैवाहिक जीवनयापन सबधी पुस्तक	१९३३	"	
२६	रजकण (बार्बचित)	कहानी सग्रह	१९३३	कर्मयोगी प्रेस, इलाहाबाद	
२७	अमर अभिलाषा (बहते आंसू)	उपन्यास	१९३३	साहित्य मडल, दिल्ली	
२८	आदर्श बालक	बच्चों के सबध की आदर्श उपदेशात्मक कहानियां	१९३३	नेशनल लिटरेचर पब्लिशर्स, कलकत्ता	
२९	वीर गाथा	बच्चो से सबधित वीरतापूर्ण कहानियां	१९३३	साहित्य मडल, दिल्ली	

३०	इस्लाम का विषवृक्ष (भारत मे इस्लाम)	इस्लाम धर्म का इतिहास और उसका भारत मे आगमन	१९३३	
३१	बुद्ध और बौद्ध धर्म	बुद्ध की जीवनी और धर्म का विस्तार, विवेचन	१९३३	
३२	धर्म के नाम पर	धर्म की व्याख्या, उसकी ओट मे अनाचार, पाप, ठगी, भयकर परिणाम, समाज मे अंध विश्वास की व्याख्या सहित क्राति-कारी सामाजिक पुस्तक	१९३३	
३३	पराजित गांधी	महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आदोलन के विफलता के कारणों पर तत्कालीन प्रकाश	१९३४	स्वय
३४	अमर राठौर (अमरसिंह)	ऐतिहासिक नाटक	१९३४	साहित्य मडल, दिल्ली
३५	आत्मदाह	उपन्यास	"	"
३६	वेद और उनका साहित्य	वेद सबंधी ज्ञान	१९३५	मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इदौर अप्राप्य
३७	प्राणदण्ड	प्राणदण्ड के विपरीत प्राचीन और वर्तमान मनीषियो के प्रमाण	१९३६	
३८	स्त्रियों का ओज	राजपूती बालाओ की वीरत्वपूर्ण कहानियो का सर्वप्रथम ध्वन्यात्मक एकाकी	"	शारदा मदिर, दिल्ली
३९	राजपूत बच्चे	राजपूती पुरुषो के उत्कर्ष की कहानियो का सग्रह	"	"
४०	मेघनाद	पौराणिक नाटक	"	
४१	अजीतसिंह	ऐतिहासिक नाटक	१९३७	मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर
४२	जवाहर	राजनीतिक गद्यकाव्य	"	दिल्ली से

१	२	३	४	५	६
४३	मुगल बादशाहो की अनोखी बातें (मुगल बादशाहों की सनक)	बच्चों के लिए कहानिया	"	"	
४४	सीताराम	पौराणिक नाटक	१९३८	मेहरचद लक्ष्मणदास, लाहौर	
४५	सिंहगढ़विजय	साहसपूर्ण वीरता की ऐतिहासिक कहानियाँ	१९३९	गगा पुस्तकमाला, लखनऊ	
४६	राजसिंह	ऐतिहासिक नाटक	"	एस० एस० भटनागर, उदयपुर	
४७	सुगम चिकित्सा	साधारण देशी चिकित्सा विज्ञान	१९४०	सस्ता साहित्य मडल, दिल्ली	
४८	आरोग्य प्रवेशिका	विद्यार्थियों के लिए स्वास्थ्य एवं शरीर विज्ञान	१९४०	दिल्ली के कोई प्रकाशक	अप्राप्य
४९	देहाती इलाज	गाव के लिए कुछ-छुट-पुट दवाइयाँ	"	"	
५०	नीलमणि	उपन्यास	१९४१	पटना के कोई प्रकाशक	
५१	श्रीराम	पौराणिक नाटक	१९४०	मेहरचद लक्ष्मणदास, लाहौर	
५२	सीताराम	पौराणिक नाटक	"	"	
५३	काम कला के भेद	काम विज्ञान सबधी अध्ययन पुस्तक	१९४३	एस० आर० सेन एण्ड कम्पनी, दिल्ली	
५४	राधाकृष्ण	राधाकृष्ण के अतीन्द्रिय प्रेम भाव एकाकी नाटक	१९४६	सशोधित परिवर्द्धित सस्करण दिल्ली के प्रकाशन मे छपा	आल इडिया रेडियो के लिए लिखा गया सर्वप्रथमरेडियोरूपक
		"			

५५	हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास	साहित्य इतिहास का बृहद् ग्रंथ मिश्रबंधुओं ने इसकी भूमिका लिखी था	"	मेहरचंद लक्ष्मणदास, लाहौर	
५६	नवाब ननकू	कहानी संग्रह	१९४५	स्वयं	
५७	वैशाली की नगर-वधू (दो भाग में)	उपन्यास	"	गौतमबुक डिपो, देहली	
५८	हिंदू विवाह का इतिहास	समाज और धर्म पर आधारित पुस्तक	"	स्वय	
५९	मरीलाल की हाय	राजनीति एवं देशप्रेम से युक्त गद्यकाव्य	१९४९	गौतम बुक डिपो, देहली	
६०	जीवन के दस भेद	युवकोपयोगी सदुपदेश	"	"	
६१	तरलाग्नि	उत्कृष्ट राजनीतिक गद्यकाव्य	"	"	
६२	हमारे आठ दिन	विप्लववादी एवं क्रांतिकारियों के स्वतंत्रता संग्राम के कार्य, उनकी जीवनी और सचित्र परिचय	"	"	
६३	पाँच एकांकी	एकांकी नाटकों का संग्रह	"	"	पाठ्य पुस्तक
६४	नरमेध	उपन्यास	"	चौधरी एंड संस, वाराणसी	
६५	मंदिर की नर्तकी (देवांगना)	"	१९५१	"	
६६	रक्त की प्यास	"	"		
६७	दो किनारे	"		"	
६८	बापू के घर में (बा और बापू)	महात्मा गांधी और कस्तूरबा गांधी के दाम्पत्य एवं देश सेवा से संबंधित पारिवारिक जीवन की झाँकियाँ	१९५१	स्वयं	
६९	गांधारी	पौराणिक नाटक	१९५१	चंद्र पब्लिशिंग कम्पनी, आगरा	
७०	लम्बग्रीव	राजनैतिक कहानी संग्रह	१९५२	स्वय	

१	२	३	४	५	६
७१	वीर नाबालिग	समस्या, चरित्र कहानियाँ,	१९५२	स्वय	
७२	लालारुख	मुगलकालीन संग्रह	"	"	
७३	अनबन	काम विज्ञान से संबधित वैवाहिक जीवन की कठिनाइयो का विवेचन और उन्हे दूर करने के उपाय	१९५२	"	
७४	मौत के पंजे मे जिंदगी की कराह	राजनीति विषयक	"	"	
७५	बंदी	कहानी संग्रह	"	"	अप्राप्य
७६	दुलवा मैं कासे कहूँ	" "	"	"	"
७७	सोने की पत्नी	" "	"	"	"
७८	आवारागर्द	" "	"	"	"
७९	कमल किशोर	" "	"	"	"
८०	दियासलाई की डिबिया	" "	"	"	"
८१	आरोग्य पाठावलि १, २ भाग	स्वास्थ्य एव शरीर विज्ञान संबधी विद्यार्थियो के लिए पुस्तक	१९५२	एस चद एड कम्पनी, दिल्ली	
८२	पगध्वनि	गाधी वादी नाटक	"	आत्माराम एड संस, दिल्ली	
८३	अपराजिता	उपन्यास	"	"	
८४	हिंदी साहित्य परिचय	विद्यार्थियो के लिए हिंदी साहित्य का संक्षिप्त परिचय	"	राजपाल एड संस, दिल्ली	

८५	बुलबुल हजार दास्ता	मुगल कालीन मनोरजक कहानिया	१९५२	दिल्ली से प्रकाशित	अप्राप्य
८६	बर्मा रोड	कहानी सग्रह	„	स्वय	„
८७	बदल-बदल	उपन्यास	१९५३	चौधरी एड सस	
८८	भारत के मुक्तिदाता	भारतीय स्वाधीनता सग्राम के नायको की जीवनिया विद्यार्थियो के लिए	„	एम० गुलाबसिंह एड, सस देहली	
८९	गाडीवदाह	अर्जुन, अग्नि और गाडीव धनुष पर आधारित गीतमय काव्य	„	स्वय	„
९०	स्त्रियो के रोग और उनकी चिकित्सा	स्वास्थ्य लघु सस्करण	„	चौधरी एड सस, वाराणसी	
९१	कुमारियों के गुप्त पत्र	स्वास्थ्य एव काम विज्ञान	„	स्वय	„
९२	अविवाहितों के पेचीदा गुप्त पत्र	स्वास्थ्य एव काम विज्ञान	„	„	अप्राप्य
९३	छत्रसाल	ऐतिहासिक नाटक	„	अतरचद कपूर एड सस, देहली	
९४	सफेद कौआ	कहानी सग्रह	१९५४	स्वय	अप्राप्य
९५	राजा साहब की पतलून		„	„	„
९६	कालिंदी के कूल पर	राजनीतिक गद्य काव्य	„	„	
९७	अधेडावस्था का दाम्पत्य	स्वास्थ्य एव कामविज्ञान	„	„	अप्राप्य
९८	वृद्धावस्था के रोग	स्वास्थ्य	„	„	

१	२	३	४	५	६
९९	आहार और जीवन	स्वास्थ्य	१९५५	स्वयं	
१००	आप कैसे भरपूर नींदें सो सकते हैं	स्वास्थ्य	१९५४	"	अप्राप्य
१०१	बच्चे कैसे पाले जायें	स्वास्थ्य	"	"	अप्राप्य
१०२	जीजी का रसोई-घर	पाक विज्ञान एवं गृहस्थ विज्ञान	"	"	"
१०३	विवाहित जीवन का आनंद	स्वास्थ्य एवं काम विज्ञान	"	"	"
१०४	पत्नी प्रदर्शिका	पत्नी के लिए पतिगृह, पति-परिजन एवं पति के प्रति कर्तव्य	"	"	"
१०५	आलमगीर	उपन्यास	"	शारदा प्रकाशन, भागलपुर	
१०६	सोमनाथ	उपन्यास	१९५४	स्वयं	
१०७	धर्मपुत्र	उपन्यास			
१०८	आप अधिक कैसे सुन्दर बन सकती हैं	स्वास्थ्य एवं सौंदर्य	"	"	
१०९	मेहनत आराम और तंदुरुस्ती	स्वास्थ्य एवं प्रौढ़ शिक्षा संबंधी	१९५५	"	अप्राप्य
११०	मक्खियां	" "	"	शारदा प्रकाशन, भागलपुर	
१११	तंदुरुस्त रहो बहुत दिन जिओ	" "	"	"	

११२	अच्छा खाओ अच्छा पियो	स्वास्थ्य	"	१९५५	शारदा प्रकाशन भागलपुर
११३	शरीर कपड़े घर की सफाई	"	"	"	"
११४	मौसमी बुखार— मलेरिया	"	"	"	"
११५	साफ हवा	"	"	"	"
११६	प्रकाश, हवा का आवागमन	"	"	"	"
११७	छूत की बीमारियां उनकी रोकथाम	"	"	"	"
११८	तमाखू का गुलाम	"	"	"	"
११९	स्वाभाविक चिकित्साएँ	"	"		"
१२०	बरबाद करनेवाली दो मुसीबतें— पर्जा और शराब	"	"	"	"
१२१	बीमारी फैलाने वाले कीड़े मकोड़े	"	"	"	"
१२२	क्षमा	पौराणिक नाटक		१९५५	स्वयं
१२३	जुआ	"	"	"	"
१२४	सत्यव्रत हरिश्चन्द्र	"	"	"	"
१२५	साहित्य सम्पदा	साहित्य मीमांसा		"	"
१२६	वय रक्षाम (दो भागों में)	उपन्यास		"	"

१	२	३	४	५	६
१२७	ब्रजभाषा पर मुगल प्रभाव	साहित्य	१९५५	शारदा प्रकाशन, भागलपुर	
१२८	सभ्यता के विकास की कहानी	संस्कृति एव इतिहास	"	"	
१२९	मातृकथा	स्त्रियो के जानने योग्य स्वास्थ्य के नियम तथा बच्चो की पालन विधि	१९५६	"	
१३०	स्त्री सुबोध	गार्हस्थ्य धर्मशिक्षा	१९५६	पी० सी० द्वादश श्रेणी अलीगढ़	
१३०	आदर्श भोजन	स्वास्थ्य	१९५७	राजपाल एड [redacted]	
१३२	स्वास्थ्य रक्षा	"	"	"	
१३३	निरोग जीवन	"	"	"	
१३४	जो रुपया कमाया वह कहाँ गया	प्रौढ़ एव मानसिक विकास	"	"	
१३५	हमारा शरीर	स्वास्थ्य शरीर विज्ञान	"	"	
१३६	बड़े आदमियो का बचपन	प्रौढ़ शिक्षा	"	"	
१३७	अच्छी आदतें	" "	"	"	
१३८	धर्मराज	सम्राट अशोक के जीवन पर नाटक	१९५७	राजपाल एड सस, देहली	

१३९	भारतीय संस्कृति का इतिहास	संस्कृति का बृहद् ग्रंथ	"	रस्तोगी एंड कम्पनी, मेरठ	
१४०	गोली	उपन्यास	"	राजहंस प्रकाशन, देहली	
१४१	अष्ट मगन	संस्कृत के आठ प्रसिद्ध नाटकों का हिंदी एकांकी	१९५८	भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली	
१४२	सोना और खून १ भाग २ भाग	उपन्यास	"	राजहंस प्रकाशन, दिल्ली	इसकी पचास खंडों एवं दस भागों में लिखने की आचार्य जी की योजना थी किंतु केवल दो ही भाग लिख सके दूसरे भाग का उत्तरार्द्ध उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ था।
१४३	आभा	"	"	हिंदी पाकेट बुक	
१४४	उदयास्त	"	"	राजपाल एंड संस देहली	
१४५	मेरी प्रिय कहानियाँ	कहानी संग्रह	१९५९	"	
१४६	अपना इलाज आप खुद कीजिए	चिकित्सा ग्रंथ	"	राजहंस प्रकाशन, दिल्ली	
१४७	लाल पानी	उपन्यास	"	जय प्रकाशन, वाराणसी	
१४८	बगुला के पंख	"	"	राजपाल एंड संस, दिल्ली	
१४९	खग्रास	"	१९६१	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली	

१	२	३	४	५	६
१५०	सह्याद्रि की चट्टानें	,,	१९६१	प्रभात प्रकाशन	
१५१	बिना चिराग का शहर	,,	,,	अजन्ता पाकेट बुक दिल्ली	
१५२	पत्थर युग के दो बुत	,,	,,	राजपाल एंड सन्स दिल्ली	
१५३	हरण निमन्त्रण	उपन्यास यह उपन्यास आचार्य जी के 'रक्त की प्यास' नामक उपन्यास के कथानक पर ही आधारित है।	,,	शारदा प्रकाशन भागलपुर	
१५४	खोया हुआ शहर	कहानी संग्रह	१९६१	राजपाल एंड [illegible]	
१५५	दुखवा कासे कहूँ	,, ,,	,,	,,	
१५६	धरती और आसमान	,, ,,	,,	,,	
१५७	बाहर भीतर	,, ,,	,,	,,	
१५८	कहानी खत्म हो गई	,, ,,	,,	,,	
१५९	मोती	उपन्यास	,,	,,	

कुछ अन्य अप्रकाशित एवं अपूर्ण रचनाएँ

अपराधी—

यह एक अधूरा उपन्यास है। केवल हस्तलिखित तीस पृष्ठ प्राप्त हैं। इनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस उपन्यास की रचना उपन्यासकार किसी क्रांतिकारी घटना से प्रभावित होकर कर रहा था। उपन्यास का रचनाकाल सन् १९१८ ज्ञात होता है। पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर २४-८-१८ तिथि पड़ी हुई है। (इसे 'मेरी आत्मकहानी' में संग्रहीत किया गया है।)

ईदो—

यह भी एक अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके लगभग दो सौ हस्त-लिखित पृष्ठ प्राप्त होते हैं। इसमें द्वितीय महायुद्ध के पूर्व के जापान की आन्तरिक दशा का वर्णन प्राप्त होता है। प्रस्तुत उन्यास की मुख्य कथाएँ जापान की राजकुमारी ईदो के चरित्र के चारों ओर चक्कर काटती हुई ज्ञात होती हैं। प्रासंगिक रूप से इसमें हिटलर की कथा भी आ गई है। कथा अंत में किस दिशा की ओर जाती इसका भास इस अधूरे उपन्यास से पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। इस उपन्यास का प्रारंभ आचार्य चतुरसेन जी ने सन् १९४९ के लगभग किया था। किंतु किन्हीं कारणोंवश यह अधूरा ही रह गया। बाद में उनका विचार इस उपन्यास की सामग्री को अपने 'सोना और खून' उपन्यास के आठवें भाग में लेने का था, किंतु वे 'सोना और खून' के दो ही भाग पूर्ण कर सके। इसी से यह उपन्यास भी अधूरा रह गया। (इसको उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुज चन्द्रसेन जी ने पूर्ण किया है। प्रकाशित होने जा रहा है।)

चैतन्य—

महाप्रभु चैतन्य के जीवन से सबंधित इस उपन्यास का लेखन उन्होंने प्रारम्भ ही किया था। हस्तलिखित केवल चालिस पृष्ठ प्राप्त हैं। इनमें केवल चैतन्य के जन्म की घटना एवं उस काल की स्थिति पर प्रकाश प्राप्त होता है। घटनाओं का क्रम अव्यवस्थित है ऐसा ज्ञात होता है कि इन पृष्ठों में वे उपन्यास का ढाँचा खड़ा करने की योजना बना रहे थे।

आर्य चाणक्य—

प्रस्तुत उपन्यास के विषय में आचार्य चतुरसेन जी का कथन था कि यदि यह पूर्ण हो गया तो यह मेरा सर्वश्रेष्ठ उपन्यास होगा। इसके हस्तलिखित केवल

बीस पृष्ठ प्राप्त हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास को लिखना प्रारम्भ किया किंतु किन्ही कारणो से उन्होंने इसे उठाकर बीच ही मे रख दिया। बहुत सम्भव है (जैसा कि उन्होंने प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से कहा था) कि प्रस्तुत उपन्यास के विषय मे समस्त प्राप्त सामग्री का अध्ययन करने के पश्चात् ही उन्होंने इस उपन्यास को लिखना उचित समझा हो। इसीलिए इसका लेखन उन्होंने स्थगित कर दिया हो। इन प्राप्त बीस पृष्ठो मे उन्होंने प्रथम वेद से पूर्व का इतिहास, प्रलय आदि के विषय मे सक्षेप मे बतलाया है। उसके पश्चात् कथा आरम्भ होती है शूद्र राजा महाधननद के पुत्र जन्म से। इसके पश्चात् महाराज के अनुज उग्रसेन द्वारा एक स्त्री बलात् उठा ले जाने की चेष्टा का वर्णन है। यहीं चाणक्य एव राक्षस का मिलन होता है। चाणक्य स्त्री की रक्षा के लिए उग्रसेन के सामने तलवार लेकर आ जाता है। यहाँ राक्षस भी चाणक्य के मन का समर्थन करता है। केवल इतनी ही कथा प्रस्तुत बीस पृष्ठो मे प्राप्त है। इस उपन्यास का प्रारम्भ आचार्य जी ने सन् १९५९ के जून-जुलाई माह मे किया था। उन दिनो प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक उनके समीप ही था। इस विषय मे उनसे उसका वार्तालाप भी हुआ था। जिसका वर्णन जीवन वृत्त वाले अध्याय मे किया गया है।

इसके अतिरिक्त आचार्य जी की कुछ और रचनाएँ भी अभी अप्रकाशित हैं। इनमे प्रमुख हैं—

१ रसार्णव भाष्य—यह एक चिकित्सा सम्बधी ग्रथ है।

२ मिथुन शास्त्र—यह एक काम कला सम्बधी ग्रथ है। इसमे आचार्य जी ने स्त्री पुरुषों के पारस्परिक दैहिक एव आध्यात्मिक सम्बधो की सूक्ष्म एव वैज्ञानिक विवेचनाएँ एव व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

३ आल्मगीर उपन्यास का उत्तरार्द्ध—इसम उपन्यासकार ने अपने "आल्मगीर" नामक उपन्यास मे वर्णित घटनाओ के आगे की कथा दी है। वास्तव मे यह उसी उपन्यास का उत्तरार्द्ध है, जो किन्ही कारणोवश प्रकाशित न हो सका था। सभव है कि आल्मगीर उपन्यास का दूसरा सस्करण होने पर यह सामग्री भी उसके साथ प्रकाशित हो जाय। इसमे आल्मगीर के शासनकाल की प्रमुख घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें औपन्यासिकता पर इतिहास हावी है।

४ भारतीय सस्कृति का इतिहास (उत्तरार्द्ध)—इसका पूर्वार्द्ध एक हजार पृष्ठो मे प्रकाशित हो चुका है। उसमे आपने भारतीय सस्कृति के मध्य युग तक का इतिहास लिया है। उसके आगे का इतिहास प्रस्तुत अप्रकाशित ग्रथ मे है। इस ग्रथ का भी कुछ अश अपूर्ण रह गया है।

ऊपर हमने आचार्य चतुरसेन जी द्वारा रचित पूर्ण एव अपूर्ण प्रकाशित एव अप्रकाशित पुस्तको की कालक्रमानुसार सूची प्रस्तुत की है। किस विषय की कौन सी पुस्तक है इसकी सूचना भी प्रस्तुत सूची से प्राप्त हो जाती है। इसी कारण अब यहाँ विषयानुसार पुस्तको की सूची पुन प्रस्तुत करना व्यर्थ ही है। प्रस्तुत प्रबन्ध मे हमें केवल आचार्य चतुरसेन के कथा-साहित्य का अध्ययन करना है। कथा-साहित्य मे केवल कहानी और उपन्यास को स्थान दिया जाता है। आचार्य चतुरसेन जी के सब मिलाकर २९ उपन्यास एव २५ कहानीसग्रह प्रकाशित हुए हैं। यहाँ हम उनके इन समस्त उपन्यासो एव कहानियो के वर्गीकरण पर ही विचार करेंगे। वर्गीकरण के पूर्व यहाँ हम 'उपन्यास" एव कहानी के विभिन्न तत्वो एव प्रकारो पर विचार करना आवश्यक समझते हैं।

उपन्यास के तत्व—

उपन्यास के छै प्रमुख तत्व माने गए हैं। हडसन ने इन तत्वो का नाम १ कथानक, २ पात्र, ३ कथोपकथन, ४ देशकाल (वातावरण), ५ शैली तथा ६ उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत आलोचना, व्याख्या अथवा जीवन-दर्शन दिया है।[1]

उपन्यास के यही छै तत्व लगभग सभी विद्वान मानते हैं। कुछ विद्वानो ने 'जीवन दर्शन के स्थान पर' "उद्देश्य" को छठा तत्व माना है।[2]

उपन्यासो के प्रकार—

उपन्यासो के विभेद दो आधारो पर किये जा सकते हैं। प्रथम तत्वो के आधार पर और दूसरे वर्ण्य वस्तु के आधार पर। तत्वो के आधार पर उपन्यासो को निम्न वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—

१ कथानक प्रधान २ चरित्र प्रधान

---

१. *दि स्टडी आफ लिट्रेचर, पृ. १७०।*

२. काव्यशास्त्र डा० भगीरथ मिश्र, पृ ८३।

साथ ही देखिये साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दरदास पृ १९२।

३ नाटकीय ४ शैली प्रधान
५ वातावरण प्रधान ६ उद्देश्य प्रधान

जिस उपन्यास मे जिस तत्व का प्राधान्य होता है उस उपन्यास को उसी वर्ग के उपन्यासो मे रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए कथानक प्रधान उपन्यासो में कथानक ही केंद्र में रहता है। उसमें अन्य तत्वो की प्रधानता न होकर केवल कथा विकास घटनाओ द्वारा ही किया जाता है। अन्य तत्वो का समावेश केवल घटनाओ के स्पष्टीकरण के लिए ही किया जाता है।

इस प्रकार चरित्र प्रधान उपन्यासो में उपन्यास का ढाँचा चरित्रो पर आधारित होता है। इसमें पात्रो के चरित्र का प्रस्फुटन एव विकास घटनाओ के द्वारा न होकर घटनाओ का सूत्रपात पात्रो के द्वारा होता है।

इसी प्रकार शैली, वातावरण और उद्देश्य प्रधान उपन्यासों में शैली वातावरण और उद्देश्य का प्राधान्य होता है। यदि शैली प्रधान उपन्यासो में शैली प्राण होती है तो वातावरण प्रधान उपन्यास में वातावरण। शैली प्रधान उपन्यासो में उपन्यासकार की शैली अपना विशिष्ट आकर्षण और रोचकता रखती है। यह शैली अलकृत, काव्यात्मक अथवा टकसाली हो सकती है। उदाहरण के लिए बाणभट्ट की कादम्बरी अपनी लम्बी वाक्यावली एव समास पदावली के लिए प्रख्यात है। इसी प्रकार वातावरण प्रधान उपन्यासो में यह विशेषता होती है कि पाठक अपने को उपन्यास में विभिन्न युग के अन्तर्गत विचरण करता हुआ पाता है। वह थोडे समय के लिए भूल जाता है कि वह वर्तमान युग का व्यक्ति है। यह वातावरण की सृष्टि लेखक विभिन्न दृश्यो के चुनाव और वर्णन द्वारा करता है। उद्देश्य प्रधान उपन्यासो में कथानक किसी उद्देश्य या समस्या को लेकर चलता है।

वर्ण्य-वस्तु के आधार पर—

उपन्यासो का दूसरा वर्गीकरण वर्ण्य वस्तु के आधार पर किया जाता है। विचार से उपन्यासों के प्रागैतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, आंचलिक आदि अनेक भेद किए जा सकते हैं।

वर्ण्य-वस्तु के आधार पर आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो का वर्गीकरण—

आचार्य जी के समस्त उपन्यासो को वर्ण्य-वस्तु की दृष्टि से हम निम्न चार वर्गों मे रख सकते हैं :—

१ प्रागैतिहासिक एव ऐतिहासिक उपन्यास
२ सामाजिक एव राजनीतिक उपन्यास
३ मनोवैज्ञानिक उपन्यास
४ वैज्ञानिक उपन्यास

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक सामाजिक, राजनीतिक एव वैज्ञानिक उपन्यास कौन होते हैं तथा आचार्य जी के कौन-कौन से उपन्यास किन-किन वर्गों मे रखे जा सकते हैं। प्रथम हम उनके ऐतिहासिक उपन्यासो पर विचार करेंगे, कारण आचार्य जी एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप मे ही अधिक विख्यात हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास —

जी० एम ट्रवीलियन ने एक स्थान पर लिखा है "नीरस इतिहास सच्चा इतिहास नही, कारण, बीती घटनाएँ कभी रसहीन होकर नही घटी थी।"[1] इसी कारण एक विद्वान ने यहाँ तक कह डाला था कि "इतिहास मे नामो और तिथियो के अतिरिक्त सब कुछ वास्तविक नहीं और उपन्यास मे नामो और तिथियो के अतिरिक्त सब कुछ वास्तविक है।" अंग्रेजी समालोचक वाल्टर वैगहौट ने ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास की तुलना करते हुए जल प्रवाह मे पडी हुई प्राचीन दुर्ग मीनार की छाया से की है। जल नवीन है। नित्य परिवर्तनशील है परन्तु मीनार पुरानी है और अपने स्थान पर डटी हुई है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक की भी यही समस्या है कि उसके पैर तो इस पृथ्वी पर हो हैं, वह साँस इस युग और निमिष मे ले रहा है। परन्तु उसका स्वप्न पुरातन है। और फिर भी नवीन है। एक ही ऐतिहासिक विषय पर विभिन्न युग के लेखक इसी कारण से विभिन्न प्रकार से लिखेंगे।"[2] इतिहास और कथा का पार्थक्य निश्चित रूप से विज्ञान युग का स्वाभाविक परिणाम है। और यह लगभग दो शताब्दियो पूर्व की घटना है। इसके कुछ पूर्व दोनो अधिक समीप थे और यदि कुछ शताब्दियो के व्यवधान को चीर कर देखें तो वे प्राय अभिन्न दिखाई देते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथा की इस पुरातन समीपता की नूतन समन्वयात्मक अभिव्यक्ति है, जिसके पीछे युग-युग के अतीतोन्मुखी सस्कार निहित हैं। उसकी उत्पत्ति विगत मे आत्म-विस्तार की आतरिक मानवीय वृत्ति से हुई है। कथा की कोई भी कल्पना विगत अथवा ऐतिह्य से उसी प्रकार अपने को सर्वथा मुक्त नही

१. 'ग्लीनिंग्स फ्राम हिस्ट्री' से।
२. आलोचना ५ अक्तूबर, ५३ 'ऐतिहासिक उपन्यास' पृ. १०-१३।

कर सक्ती, जिस प्रकार इतिहास अपने को कल्पना से पृथक नही कर सकता।"[१] अत मे हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि इतिहास और कथा के सानुपातिक समन्वय से ऐतिहासिक कथा की सृष्टि होती है।

ऐतिहासिक उपन्यास की कसौटी:—

ऐतिहासिक उपन्यास के लिए यह अनिवार्य है कि उसमे उसकी ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की गई हो। उसमे प्रचलित ऐतिहासिक तथ्यों को तोडा मरोडा न गया हो कथानक एव वातावरण की कल्पना करते समय उपन्यासकार को उसकी ऐतिहासिकता पर पूर्ण ध्यान देना पडता है। किसी ऐतिहासिक उपन्यास मे यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्त काल मे गुलाबी और फिरोजी रग की साडियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड फानूस लाये जायँगे, सभा के बीच खडे होकर व्याख्यान दिए जायेंगे और उन पर करतल ध्वनि होगी, बात-बात में धन्यवाद, सहानुभूति ऐसे शब्द तथा सार्वजनिक कार्यों मे भाग लेना, ऐसे फिकरे पायेंगे तो काफी हँसने वाले और नाक भौं सिकोडने वाले मिलेंगे।'[२] अत: ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए एक सीमित क्षेत्र रहता है, उसमें वह स्वच्छद विचरण कर सकता है किंतु तत्कालीन इतिहास, देश और काल की उपेक्षा करके, सीमा का अतिक्रमण करके मनमानी कुलाचे मारने से रचना की कलात्मकता एव ऐतिहासिकता समाप्त हो जाती है। इस विषय से सम्बन्धित राहुल साकृत्यायन का कथन उल्लेखनीय है ऐतिहासिक उपन्यास मे हमे ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पडता है जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है। किंतु, उसने, पद-चिह्न कुछ जरूर छोडे हैं जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नही दे सकते। इन पद चिह्नो या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि अपने लिए दुष्कर समझते हैं, तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें ? ऐतिहासिक उपन्यासकार का विवेक वैसा ही होना चाहिये जैसा कि इतिहासकार का होता है। उसे समझना चाहिए कि कौन सी सामग्री का मूल्य अधिक है और किसका कम है। लिखित सामग्री वही प्रथम श्रेणी की मानी जायेगी जिसे उसी समय लिपिबद्ध किया गया हो। ऐतिहासिक अनौचित्य से बचने के लिये जिस तरह

---

१. आलोचना (उपन्यास अंक) इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार, जगदीश गुप्त पृ १७४।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है वैसे ही भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। जिस तरह ऐतिहासिक मानदंड स्थापित करने के लिये तत्कालीन राजाओं के राज्य और शासनकाल की पहले से ही तालिका बनाकर उसमें वर्णनीय घटनाओं के अध्याय क्रम को टांक लेना जरूरी है उसी तरह भौगोलिक स्थानों, उनकी दिशाओं और दूरियों का ठीक-ठीक अन्दाज रहने के लिये तत्सम्बंधी नक्शे या खाका हर वक्त सामने रखना चाहिये। ऐसा न करने से असन्तव्य गलती हो जाती है।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखना सरल नहीं है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को वैयक्तिक आग्रहों से ऊपर उठकर निष्पक्ष, तटस्थ एवं निर्मल ऐतिहासिक दृष्टि से तत्कालीन जन जीवन को देखना पड़ता है। उसे अशरीरी कल्पना के माध्यम से उस युग में विचरण करना पड़ता है। तत्कालीन इतिहास, भूगोल, सामाजिक रीति-रिवाज, रहन-सहन सभी की पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है, अन्यथा उसका ऐतिहासिक उपन्यास लिखना एक बचकाना खिलवाड़ मात्र बन कर रह जाता है।

आचार्य जी का दृष्टिकोणः—

आचार्य जी का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न है। 'उनका मत है कि साहित्यकार ऐतिहासिक तथ्यों से बिल्कुल बंधकर नहीं चल सकता, यदि वह ऐसा करेगा तो अपनी कृति में उस 'रस' का संचार नहीं कर सकेगा, जो साहित्य को अमरत्व के साथ ही साथ माधुर्य और हृदयग्राहिता प्रदान करता है। इतिहास और साहित्य में अंतर ही यह है कि जहाँ इतिहास देश और काल से बंधकर एक जड़ सत्य बनकर रह जाता है, वहाँ साहित्य उस सत्य को गतिवान, स्पंदनशील बनाता है और उसकी धारा को देश तथा काल की सीमा को तोड़ निखिल विश्व को आप्लावित करने की क्षमता प्रदान करता है। पाठक उसे पढ़कर केवल ज्ञान का अर्जन नहीं करता, अपितु वर्णित देश और काल में सदेह पहुँचकर सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन करता है।'[२] वे ऐतिहासिक रस की सृष्टि के लिए जान बूझकर ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करना भी उचित समझते

१. आलोचना उपन्यास अंक 'ऐतिहासिक उपन्यास राहुल सांकृत्यायन पृ. १७० से १७२ तक।
२. साप्ताहिक हिंदुस्तान सम्पादकीय 'उपन्यास और ऐतिहासिक सत्य', ५ जून, १९५५ साथ ही देखिए, 'वैशाली की नगरवधू' भूमि पृ. ७४४।

हैं।'[1] वे ऐतिहासिक सत्यो को स्थिर नही समझते। उनका कथन है 'यह कहा जा सकता है कि उसे ऐतिहासिक उपन्यास और कथानक लिखने से पहिले ऐतिहासिक विशेष सत्यो को जानना चाहिए। परतु यदि वह ऐसा करे तो वह कदापि कोई रचना जीवन मे नही कर सकता, क्योकि ऐतिहासिक विशेष सत्यो का ज्ञान कभी भी पूरा नही हो सकता, उनमे गवेषणा करनेवाले विद्वानो के द्वारा नई-नई जानकारी होते रहने से निरतर परिवर्तन होते रहते हैं। फिर क्यो न साहित्यकार अपनी कहानी और उपन्यास को चिर-सत्य के आधार पर—जिसमे गवेषणा की कोई गुजायश ही नही—रचना करे, और ऐसी रचनाएँ जो साहित्य सश्लिष्ट हैं और जिनका आरम्भ एक अनिर्दिष्ट रस है—अपने स्थान पर पूजित हो। साहित्य के आचार्यो ने भी मूल रसो को साहित्य-सृजन मे महत्व दिया है, परतु उनके सिवा कुछ और 'अनिर्दिष्ट-रस' हैं, जिनमे एक 'इतिहास-रस' भी है।'[2] स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी भी रवीद्र बाबू[3] की भाँति 'ऐतिहासिक-रस' मे विश्वास करते हैं, उसके सत्य मे उतना नही। उन्होंने एक स्थान पर एक घटना की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा है 'इतिहासकार तो इतिहास मे सशोधन कर देंगे, पर उपन्यासकार कैसे सशोधन करेंगे। मैंने देखा, इतिहास के स्थिर-सत्य के बराबर तो दूसरा असत्य कोई पृथ्वी पर है ही नहा। इतिहास मे तो सदैव ही एक सत्य को धकेल कर दूसरा सत्य उसका स्थान लेता जाएगा। पर साहित्य मे ऐसा नही हो सकता। मैंने स्थिर-सत्य और चिर-सत्य के आधार पर ऐतिहासिक साहित्य को इतिहास से पृथक कर दिया।'[4] इसी कारण से उन्होने 'ऐतिहासिक उपन्यास' शब्द का प्रयोग न करके 'इतिहास-रस का उपन्यास' का प्रयोग किया है। वास्तव मे उनका यह कथन एक सीमा तक उचित ही है, कारण ऐतिहासिक उपन्यासो के न तो पात्र ही आँखो-देखे होते हैं और न ही उनकी परिस्थितियाँ एव घटनाएँ ही ऐसी होती हैं। ऐसी दशा मे हम किसी भी उपन्यास को पूर्ण ऐतिहासिक कैसे कह सकते हैं। इतिहासकार को स्वय भी तो कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है, फिर तो उपन्यास शुद्ध कल्पना की देन है, उसके अभाव मे उसका निर्माण ही असम्भव है। सत्य यह है कि 'इतिहास विवरण देता है, उपन्यास चित्रण

१. वैशाली की नगर-वधू भूमि०, पृ. ७७५।
२. नगरवधू-भूमि, पृ. ७७५-७६।
३. सुप्रभात, दीपावलि विशेषांक, १९५८ पृ. १२९।
४. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. २७-२८।

करता है। चित्रण मे चयन मे आतरिक मतव्यो का नैरतर्य होता है, इसी कारण यह अधिक सूक्ष्म एव अधिक व्यजक होता है जब कि विवरण अधिक स्थूल नैरतर्य का सूत्र होता है। उपन्यास का पाठक पढते समय इतिहास की घटनाओ को नहीं जानना चाहता, नाम भी नही याद करना चाहता वह तो चित्रित युग के आतरिक मतव्यो उसके 'चेतना प्रवाह' को जानना चाहता है और इस प्रकार इतिहास की बढती हुई शक्तियो की अवगति नही बिम्ब ग्रहण' की प्रक्रिया स्वीकार करता है। उपन्यास का चरित्र इस 'बिम्ब ग्रहण' की इकाई बनता है, जब कि इतिहास मे घटना का निवारण उसके बोध की इकाई होता है।'[१] उपन्यास मे इतिहास के उस 'बिम्ब ग्रहण' के कारण पाठक को जो आनद (या और कुछ) मिलता है, उसी का आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे समावेश किया है। इसी को उन्होंने 'इतिहास रस' का नाम दिया है।

आचार्य चतुरसेन जी का उद्देश्य किसी युग विशेष के पुनर्निर्माण (Reconstruction) का रहा है। इसके लिए उन्होने प्रमुख और अप्रमुख दोनो ही प्रकार के पात्रों को माध्यम बनाया है। उन्होंने तत्कालीन वातावरण का निर्माण करके उसमे उन पात्रों की स्थापना कर दी है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने केवल इतिहास ग्रथो का ही आश्रय नही लिया है वरन् अवशिष्ट वातावरण, परम्परायें, अवशेषो, स्मारक चिह्नो, किंवदतियो, लोक कथाओ का भी आश्रय लिया है। इन सबके ऊपर उनकी प्रखर कल्पना शक्ति रही है। इसी कारण उनका दृष्टिकोण अन्य विद्वानो से भिन्न रहा है। उन्होंने युग विशेष के बाह्य और आतरिक मतव्यो, विचारधाराओ, इतिहास की विकासमान शक्तियो एव 'सोशल मोरस' को चित्रित करते समय इतिहास के तथ्यो की कभी चिंता नही की है।[२] अत उनके

१. सुप्रभात दीपावलि विशेषाक १९५८ ऐतिहासिक उपन्यास देवीशकर अवस्थी पृ १२९।

२ एक स्थान पर आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए स्वय लिखा है 'ऐतिहासिक उपन्यासो मे तथ्यो को पीछे फेंक देता हू। स्थिर सत्य के आधार पर कल्पना मूर्तियों को आगे ले जाता हू। मेरी वह कल्पना मूर्तियां बनती हैं दूल्हा और ऐतिहासिक तथ्य बन जाते हैं बराती। कहानी मे मानव चरित्र का नहीं चरित्र के प्रेरक भावों को अधिक विकसित करता हू। परन्तु विवाद ग्रस्त्यात विषयो पर मैं खूब अध्ययन और प्रमाणो की धूमधाम से आगे बढता हू।'

उपन्यासो की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय उनके इस दृष्टिकोण को सामने रखना अनिवार्य है। फिर भी किसी ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना करना ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए उचित नही कहा जा सकता। तहासिक उपन्यासकार को बहुअधीत होना चाहिए जिस युग का ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का यह उपक्रम कर रहा है, उस युग की ऐतिहासिक घटनाओ परम्पराओ जीवन की गतिविधियो आदि के विपरीत यदि वह कुछ चित्रण करता है, तो इसे उसकी भूल ही माना जायगा। आचार्य चतुरसेन जी का यह मत कि इतिहास सदैव संशोधित होता रहता है इसलिए उपन्यासकार को ऐतिहासिक तथ्यो से बँधकर नही चलना चाहिए वरन् चिर सत्य को ग्रहण करना चाहिए भी मान्य नही हो सकता। चिर सत्य, ऐतिहासिक सत्य के विरोध मे पडे यह बात नही हो सकती और जिस समय उपन्यास लिखा जा रहा है उस समय तक प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यो का विरोध ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए क्षम्य नही है। वास्तव मे ऐतिहासिक उपन्यासकार प्राप्त ऐतिहासिक घटनाओ और तथ्यो को सप्राण और सजीव तो बनाता ही है इसके साथ ही वह उनसे मिलती-जुलती और सामजस्य रखनेवाली अनेक परिस्थितियो और घटनाओ की कल्पना करता है जिससे ऐतिहासिक तथ्यों से प्रमाणित व्यक्तित्व और वातावरण पूर्णत खिल उठे। इस प्रकार की कल्पना करने मे उसको स्वच्छदता मर्यादित होनी चाहिए

उपर्युक्त कसौटी पर कसने पर आचार्य चतुरसेन जी के निम्न बारह उपन्यास ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं—

१ पूर्णाहुति (खवास का ब्याह), २ वैशाली की नगरवधू, ३ रक्त की प्यास, ४ देवागना (मदिर की नर्तकी), ५ सोमनाथ, ६ आलमगीर, ७ वयरक्षाम, ८ आलमगीर...

इन बारहो ऐतिहासिक उपन्यासो को हम निम्न पाँच वर्गो मे रख सकते हैं—

प्रथम शुद्ध ऐतिहासिक—जिसमे हम 'आलमगीर' को रख सकते हैं, इसमे इतिहास के अत्यधिक आग्रह के कारण औपन्यासिकता गौण हो गई है।

दूसरे 'अतीत रस' के अध्ययन प्रधान उपन्यास इसमें अध्ययन की सामग्री बलात् भरने, अतीत की कितनी ही स्मृतियों को एक साथ चित्रित करने तथा तत्कालीन सांस्कृतिक प्रयासों को मूर्तिमान करने के कारण तत्कालीन संस्कृति एवं इतिहास प्रधान और औपन्यासिकता गौण हो गई है जैसे 'वयरक्षाम'।

तीसरे : वे 'इतिहास रस' के उपन्यास, जिनमें घटनाएँ तो कुछ ही ऐतिहासिक हैं। किंतु जिनमें तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक वातावरण बिल्कुल सजीव हैं। पात्रों के नाम भी ऐतिहासिक हैं। वस्तुतः इसमें ऐतिहासिक वातावरण में एक काल्पनिक रोमांटिक कथा कही गई है। कल्पना का आधार एक दो जन श्रुतियाँ ही हैं। इस कोटि में हम 'वैशाली की नगर वधू', 'बिना चिराग का शहर' आदि उपन्यासों को रख सकते हैं।

चौथी : कोटि में वे उपन्यास जिनमें मूल कथा तो ऐतिहासिक है किंतु जन-श्रुतियों, परम्पराओं एवं अपने निजी निष्कर्षों को प्रस्तुत करने तथा कथा में इतिहास रस का संचार करने के लिए उसने उस ऐतिहासिक चौखटे के के अन्दर ही मनमानी उड़ानें भरी हैं। जैसे 'सोमनाथ', 'लाल्पानी', 'सह्याद्रि की चट्टानें', 'रक्त की प्यास', 'हरण निमत्रण', 'सोना और खून' आदि उपन्यास।

पांचवी : कोटि में आचार्य जी के उन ऐतिहासिक उपन्यासों को रख सकते हैं, जिनमें अप्रमुख पात्र को ही माध्यम बनाकर एक ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करके कथा कही गई है। इस कोटि में हम देवांगना (मंदिर की नर्तकी) को रख सकते हैं।

इन उपन्यासों के कथानक विभिन्न युगों एवं कालों से सम्बंधित हैं। अतः कालक्रमानुसार इनका एक अन्य वर्गीकरण भी किया जा सकता है—

१ प्रागैतिहासिक युग एवं रामायण कालीन—वय रक्षाम
२ जैन-बौद्ध प्रभाव के गुप्त-मौर्यादि युग से सम्बंधित—वैशाली की नगर वधू।
३ मध्ययुग से सम्बंधित—सोमनाथ, रक्त की प्यास, हरण निमंत्रण, मंदिर की नर्तकी (देवांगना), धूर्त्तटिनि (खवास का ब्याह), बिना चिराग का शहर, लाल्पानी
४ मुगल कालीन—आलमगीर, सह्याद्रि की चट्टानें
५ अंग्रेजी राज्यकाल के प्रारंभ से वर्तमान तक सोना और खून (दो भाग)

सामाजिक उपन्यास —

सामाजिक उपन्यासो का सीधा सम्बध समाज से होता है। स्थायी तथा *सर्वसाधारण* महत्व के कुछ सामान्य हितो की पूर्ति के लिए शान्तिपूर्वक प्रयत्न-शील सहयोगी मनुष्यो का समूह समाज है। मनुष्यो या व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बध (शान्तिपूर्वक सहअस्तित्व, मतभेद द्वद्व आदि) तथा उनकी सामान्य हित पूर्ति की दिशा म आई अडचनें, प्रयत्न एव निष्कर्ष ही सामाजिक उपन्यास की रीढ की हड्डी का काय करते हैं।[१]

सामाजिक उपन्यास कई प्रकार के हो सकते है। जैसे समस्यामूलक, राजनीतिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक (इसका आगे प्रथक वर्णन करेंगे) आदि। इस वर्ग मे आचार्यजी के निम्न तेरह उपन्यासो को रखा जा सकता है—

१ हृदय की परख, २ हृदय की प्यास, ३ आत्मदाह, ४ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) ५ दो किनारे, ६ अदल-बदल, ७ नरमेघ, ८ अपराजिता, ९ धर्म पुत्र, १० गोली, ११ उदयास्त, १२ बगुला के पख, एव १३ मोती।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास[२]

मनोवैज्ञानिक उपन्यास कौन ?—मनोवैज्ञानिक एव अन्य उपन्यासो के मध्य हम कोई ऐसी सीमा रेखा नही खीच सकते, जिसके द्वारा हम उन्हें सहज ही पहचान

---

१. उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा, डा० सिहल पृ २५।

२. '*मनोविज्ञान* का अर्थ, जहाँ तक उपन्यास कला का प्रश्न है, है अनुभूति का विषय-गत तथा आत्मनिष्ठ रूप (सब्जेक्टिव आस्पेक्ट आफ एक्सपीरियेन्स)। यदि किसी उपन्यास मे घटना या अनुभूति के आत्म-निष्ठ रूप की अभिव्यक्ति पर आग्रह पायेंगे तो हम उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे। उपन्यास का वह अश जहाँ घटना के मूल मे पैठकर उसके मानसिक कारणों की व्याख्या की गई हो अथवा उसके द्वारा उत्पन्न मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया गया हो, मनोवैज्ञानिक ही कहा जायेगा। इस तरह इस बात की सम्भावना हो सकती है कि पूरे उपन्यास मे मनोविज्ञान का कोई विशेष आग्रह न हो पर उसके विशेष अश मे या कुछ अशों मे मनोविज्ञान की स्पष्ट झलक हो।(आ० हि० क० सा० में मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय पृ० १४)।

सकें। 'पर साधारणत यह बात कही जा सकती है कि जिसमें लेखक मानसिक प्रक्रिया को एक सुनिश्चित और सीधी सादी प्रणाली से प्रवाहित होती हुई न दिखला कर टेढ़ी-मेढ़ी राह से, बाँध को तोड उफन कर बहती हुई दिखलाये वह मनोवैज्ञानिक उपन्यास ही होगा। यह हो सकता है कि कही प्रक्रिया चेतन स्तर पर चलती हो, कही अचेतन स्तर पर। कही लेखक पात्रो की मानसिक क्रियाओ को, तोड-मरोड को (Twists) को, जटिलता को, स्वय दिखलाता जाय। यह भी सम्भव है कि लेखक पात्रो के जीवन मे होने वाले उलट-फेर को दिखलाता तो जाय पर उनको प्रेरित करने वाली आन्तरिक प्रवृत्तियो की चर्चा न करे कारण कि लेखक और लेखक-निबद्ध-पात्र दोनो के अचेतन स्तर पर उन प्रवृत्तियो की व्यापार लीला प्रारम्भ होती है। ऐसे ही अवसरो पर व्याख्याता को स्वतन्त्रता रहती है कि वह मनोवैज्ञानिक प्रचलित सिद्धातो की सहायता लेकर पात्रो को तथा घटनाओ को समझने-समझाने का प्रयत्न करे।'[1] मनोवैज्ञानिक उपन्यास के लिए विषय का भी महत्व है। कुछ विषय ऐसे होते है जिनके समावेश से उपन्यास मे मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश सहज साध्य हो जाता है। यथा—एक प्रेमी की दो प्रेमिकायें, दो प्रेमिकाओ का एक प्रेमी, समाज से निराद्त व्यक्ति का चित्रण, बालको के, विशेषत. ज्येष्ठ, कनिष्ठ या एकलौते बालको के क्रिया-कलाप का वर्णन, प्रचलित सामाजिक प्रथाओ और रूढियो के विरुद्ध क्राति करने वाले पात्र, अकर्मण्य, आत्मलीन तथा हाथ पर हाथ धरे कल्पना-जगत के प्राणी, परस्पर विरोधी आचरण निरत पात्र, किसी विशिष्ट मनोवृत्ति (Master spirit) से सचालित न होकर एक क्षण वीर और दूसरे ही क्षण कायर की तरह आचरण करने वाले व्यक्ति इन सब विषयो की अवतारणा से औपन्यासिक को अधिक मनोवैज्ञानिक जटिलताओ और बारीकियो को दिखलाने का अवसर मिलता है।'[2]

केवल विषय ही नही मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की टेकनीक भी अन्य उपन्यासो से भिन्न होती है। डा० देवराज उपाध्याय ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के टेकनीक पर विचार करते हुए लिखा है 'उपन्यास के क्षेत्र मे मनोविज्ञान के प्रवेश के आग्रह के साथ ही उसके वाह्य कलेवर, अभिव्यक्ति के रग-ढग मे

१. आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, डा० देवराज उपाध्याय पृ. २८।
२. आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय पृ. २८-२९।

परिवर्तन आ जाना अनिवार्य ही है। ठीक उसी तरह जैसे भावो के परिवर्तन होने से तद्सूचक अनुभावो मे सहज परिवर्तन हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यास का ध्येय, मात्र अनुभूति का ही नही परतु अनुभूति के आत्मनिष्ठ तथा विषयगत रूप का प्रदर्शन होना है। अत इसमे (१) सुसगठित कथावस्तु के प्रति उदासीनता होती है, इसमे इस बात की इतनी परवाह नही होती कि कथा की कडियाँ इतनी बारीकी से मिलाई जायें कि कही भी जोड मालूम न पडे। इसमे घटनायें गौण होगी, उपलक्षण मात्र होगी। उनके सहारे पात्रो के आन्तरिक-भावचक्र को खोलकर रखना ही उद्देश्य होगा। (२) कथा भी कोई लम्बी चौडी दीर्घकालीन और महाकाव्य की तरह जीवन के वृहदश को घेरने वाली न होगी। विस्तार से अधिक गहराई की ओर लेखक का ध्यान अधिक रहेगा। (३) मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में कम से कम पात्रो से ही काम चलाने की चेष्टा होती है। (४) वार्तालाप की छटा मनोविज्ञान के प्रदर्शन मे अधिक सहायक होगी। उपन्यास का अधिकाँश वार्तालाप से घिरा रहता है (५) मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे वर्णनात्मकता (Narration) अधिक नाटकीयता (Dramatisation) की प्रवृत्ति होगी। अर्थात् घटनाओ का सयोजन कुछ इस ढग से होगा कि वे स्वय-स्फूर्ति हो, स्वय शक्तिमान हो उनमे अपने स्वरूप को स्पष्ट करने की क्षमता हो, पद-पद पर लेखक के साथ चलने की आवश्यकता न हो। लेखक के अस्तित्व का जहाँ तक कम ज्ञान हो वही अच्छा। अत इस तरह के उपन्यासो मे कुछ विशिष्ट उद्दीप्त और उदात्त क्षणो और घटनाओ को ही स्थान प्राप्त हो सकेगा। घटनायें छोटी सी भले ही हो पर मानव मन के उन्माद से समन्वित हैं (हो)। (६) मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अध्ययन से पाठक मे जो प्रतिक्रिया होती है अन्योपन्यासोत्पन्न प्रतिक्रियाँ से भिन्न होगी। वर्णनात्मक उपन्यास का पाठक श्रोता होगा, वह आश्चर्य चकित हो औपन्यासिक के मुख की ओर देखेगा अर्थात् उसका ध्यान उपन्यास की ओर न होकर उपन्यास के बाहर की ओर होगा। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पाठक की दृष्टि उपन्यास के पात्रो की ओर होगी। वह बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होगा, वह पात्रो के क्रिया-कलाप से अधिक उनकी मूल प्रेरणा को देखेगा। उसका सम्बध वक्ता और श्रोता का न होकर अभिनेता और दर्शक का होगा। दर्शक नाटककार की ओर न देखकर अभिनेता के अभिनय-कौशल १८ उसके सहारे मूल वृत्तियो को ही देखता है। वर्णनात्मक उपन्यास के पात्रो के साथ, पाठक का सम्बध बहुत कुछ वैसा ही रहता है जैसे इतिहास के पात्रो के साथ, नीरस, निर्जीव। हम उन्हे वैसे ही जानते हैं जैसे अकबर और अशोक

को जानते हैं। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्रों की जानकारी में आत्मीयता की आर्द्रता रहती है, हम उन्हें इस तरह जानते हैं जैसे अपने साथी को, अपने स्वयं को। (७) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रणेता और उसके निर्मित पात्रों के पारस्परिक संबंध में भी विभिन्नता है। घटना प्रधान उपन्यास के लेखक और उसके पात्रों के सम्बन्ध से यह भिन्न हैं। घटना प्रधान उपन्यास के पात्रों का सृष्टा तटस्थ दर्शक है, वह पात्रों से अलग हटकर अपनी सर्व-व्यापिनी दृष्टि से पात्रों की गतिविधि का अवलोकन करता रहता है, और उनकी रिपोर्ट देता चलता है। दोनों में प्रभुत्व का भाव नहीं, वे दोनों 'पथ के साथी' हैं और 'बटाऊ की नाईं' कभी भी एक दूसरे को छोड़कर चल दे सकते हैं। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास का निर्माता अपने पात्रों का घनिष्ठ मित्र होता है। वह अपने मित्र के बारे में लिखता है, उसके कथन में जीवनानुभूति होती है। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक कथाकार को बार-बार अपनी ओर से कहने सुनने की, उपदेश देने की, नीति परायणता के नारे बुलंद करने की आवश्यकता नहीं होती। वह जो कुछ कहता है स्वतः पूर्ण है, उसे किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं होती। (८) मनोवैज्ञानिक उपन्यास में सब्जेक्टिव आफ एस्पेक्ट एक्सपीरियेन्स (Subjective aspect of experience) अर्थात् अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप की अभिव्यक्ति ही लक्ष्य रहता है। लेखक चाहता है कि जो भी कथा हो, जो भी घटनायें हों वे अपनी प्रधानता को त्यागकर पात्रों की मानसिकता, उसके मानस की प्रवहमानता को प्रस्फुटित कर नजरों से ओझल हो जाय। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसी कथा की योजना हो जिसमें मनोनीत ध्येय की सेवा भी बन जाने की अधिक से अधिक क्षमता हो। (९) मनोविज्ञान के अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिये उपन्यास को अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। कभी आत्म-कथात्मक, तो कभी पत्रात्मक, कभी डायरीनुमा, कभी चेतना प्रवाहात्मक (Stream of consciousness) और कभी सबों का सम्मिश्रण अर्थात् उपन्यास बहु नानावेश धारण कर मनुष्य के सच्चे स्वरूप को प्रदर्शित करने की क्षमता अपने में लाने की चेष्टा करती रही है और सफलता भी प्राप्त करती रही है। मनुष्य के सच्चे स्वरूप का अर्थ जहाँ पर उसके बाह्य क्रियाकलापों के साथ आन्तरिक प्रेरणाओं का भी अध्ययन करना है।[१]

---

१. आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, डा० देवराज उपाध्याय पृ. २९ से ३२।

अब हम इस कसौटी पर आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो को कसते हैं। इस कसौटी पर उनके केवल दो उपन्यास ही—'आभा' और 'पत्थर युग के दो बुत'—एक सीमा तक खरे उतरते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके अन्य उपन्यास मनोविज्ञान से बिल्कुल अछूते हैं। हृदय की परख' 'हृदय की प्यास', 'गोली' आदि उपन्यासो म यद्यपि यत्र-तत्र मनोविज्ञान का पर्याप्त पुट उपन्यासकार ने दिया है किंतु इन्हे मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। वास्तव मे इन उपन्यासो में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा भावुकतापरक व्यक्तिवादिता अधिक प्राप्त होती है। इसी कारण यहाँ हम उपर्युक्त उपन्यासो (आभा एव पत्थर युग के दो बुत) पर ही विचार करेंगे और देखने का प्रयत्न करेंगे कि वे किस सीमा तक कसौटी पर खरे उतरते हैं। जहाँ तक विषय का सम्बध है दोनो ही उपन्यासो के विषय मनोवैज्ञानिक हैं। दोनो मे ही एक प्रेमिका के दो प्रेमिओ का चित्रण हुआ है। इन उपन्यासो की प्रधान पात्रिया भी जैनेन्द्र के उपन्यास की नायिकाओ की ही भाँति हैं। वे उनमे एक ओर तो देवस्वरूप पति के प्रति स्वय प्रेरित सस्कार जन्य भक्ति एव कर्तव्यनिष्ठा की प्रबल भावना और दूसरी ओर प्रेम का आकर्षण। इस द्वैत का सघर्ष ही इनके उपन्यासों को नाटकीय आकर्षण प्रदान करता है। नायिका का जीवन प्रेम और पत्नीत्व के बीच बडा ही दयनीय एव व्यथामय हो उठता है। एक ओर तो वह देखती है कि उसके कारण एक व्यक्ति (प्रेमी) का जीवन व्यर्थ हुआ जा रहा है और दूसरी ओर नितान्त आज्ञानुवर्ती निरीह पति के प्रति दुराव एव अतर के भार से वह दबी-सी रहती है। इस विषम परिस्थिति मे उसका जीवन बड़ा ही वेदनापूर्ण हो उठता है। सघर्षरत उसके मन की यह व्यथा ही कथा को एक विशेष मोहकता प्रदान करती है।'[1] आभा की समस्या कुछ इसी प्रकार की है। उसे अपने प्रेमी के साथ पलायन करने के पश्चात् अपने सतीत्व का मोह होता है, उसका निजत्व जाग उठता है। कुछ समय के अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात् वह अपने सतीत्व को सुरक्षित लिये हुए पुन अपने पति के समीप लौट आती है। उसका पति अनिल भी देवता ही है, अत उसे पुन रख लेता है किंतु 'पत्थर युग के दो बुत' का सुनील निष्क्रिय दृष्टा मात्र नहीं है, वह एक निष्क्रिय या नपुसक पति नहीं है, न ही वह जैनेंद्र के उन पुरुष पात्रो की भाँति है, न 'आभा' के अनिल की भाँति, जो पत्नी के मनोनुकूल आचरण करते चले जाते हैं, जैसे वे स्वय व्यक्तित्व विहीन हो। किंतु सुनील देवता होते

१. हिन्दी उपन्यास श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. २२४।

हुए भी, पत्नी को प्यार करते हुए भी ऐसे अवसर पर हिंसक बन जाता है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से हम इन दोनों उपन्यासों को मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं, किंतु केवल विषय के निर्वाचन मात्र से कोई उपन्यास मनोवैज्ञानिक नहीं हो जाता, जब तक कि उसका प्रतिपादन भी मनोवैज्ञानिक ढंग से न किया गया हो।

जहाँ तक टेक्नीक का प्रश्न है यह दोनों उपन्यास भी उस कसौटी पर पूर्ण रूप से खरे नहीं उतरते। कथावस्तु यद्यपि दोनों में ही संश्लिष्ट है, किंतु सम्पूर्ण घटनाएँ उसी के चारों ओर चक्कर काटती स्पष्ट ज्ञात होती हैं। यह सत्य है कि इसमें उपन्यासकार ने पात्रों के आन्तरिक आवरण को खोलने का प्रयत्न किया है, किंतु उसने जिन सूत्रों को खोला है, उनके परिपार्श्व में हम किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को सूत्र को अनुस्यूत नहीं पाते। अतः प्रथम दृष्टि में इन उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक होने का जो भ्रम होता है, वह स्वतः दूर हो जाता है। यद्यपि इन दोनों उपन्यासों में नं० २ से लेकर नं० ९ तक के सिद्धांत किसी न किसी प्रकार से खोज करके निकाले जा सकते हैं। इतना ही नहीं अन्तिम गुण (नं० ९) भी इन दोनों ही उपन्यासों में स्पष्ट देखा जा सकता है, किंतु तो भी इन्हें शुद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं माना जा सकता। क्यों ? कारण इन दोनों ही उपन्यासों में सब्जेक्टिव आस्पेक्ट आफ एक्सपीरियन्स (Subjective aspect of experience) अर्थात् अनुभूति के आत्म-निष्ठ रूपाभिव्यक्ति (नं० ८) पर अधिक बल नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के लिए यह आवश्यक रहता है कि उसमें मनोविज्ञान की बातें कहीं तो स्वाभाविक रूप से अनायास ही आ जायें, तो कहीं लेखक मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को दृष्टि में रख कर अपने उपन्यास का ढाँचा खड़ा करता जाय। किंतु हमारे आलोच्य इन दोनों ही उपन्यासों में हम ऐसा कुछ नहीं पाते। मनोविज्ञान के सिद्धान्त कथा के प्रवाह में स्वतः यदि आ गए हों, तो दूसरी बात है, अन्यथा उपन्यासकार ने उपन्यास में बलपूर्वक किसी सिद्धांत विशेष को लाने की चेष्टा नहीं की है। उसे सिद्धान्त से कथा अधिक प्रिय है अतः सिद्धान्त को बलपूर्वक कहीं भी उसने कथा में नहीं ठूँसा है। उसका उद्देश्य सदैव कथा कहने का रहा है, उसके ब्याज से फ्रायड, युंग, एडलर आदि के सिद्धान्तों के प्रतिपादन का नहीं। इस प्रकार से उपर्युक्त दोनों उपन्यासों का विषय तो मनोवैज्ञानिक रहा है, किंतु उनके प्रतिपादन की पद्धति बहुत कुछ अमनोवैज्ञानिक है। अतः हम इन दोनों ही उपन्यासों को शुद्ध

मनोवैज्ञानिक नही कह सकते। इनको हम मनोविश्लेषणपरक चरित्र प्रधान उपन्यासो की सज्ञा दे सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हमारा तात्पर्य यह नही है कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का एकदम अभाव है। उनके कई उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिक सिद्धातो की छटा देखने योग्य है, किंतु वह समग्ररूप मे नही, अशरूप मे ही आई है। ये अशरूप मे आए हुए सिद्धात अयत्नकृत एव स्वत प्रवर्तित ही कथा मे आ गए है, इन्हें उपन्यासकार ने स्वय कथा मे लाने की चेष्टा नही की है। यदि हम किंचित तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे जीवन और उसको प्रवाहित करनेवाली कथा प्रथम है। मनोविज्ञान, इतिहास आदि सभी कुछ उसके पश्चात्। जैनेंद्र, अज्ञेय, जोशी की कला से उनकी कलाभिन्न है। तथा-कथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे भी जैनेंद्र अधूरे चित्र देते हैं, वे रुक रुककर आगे बढते हैं, स्थान छोडते हुए, कूदते हुए, दर्शन के सिद्धातो को साथ मे लिए हुए अज्ञेय कथा को परिपार्श्व मे मनोवैज्ञानिक सिद्धातो का जाल छिपाये कथा पर एकदम टूट पडते हैं, जोशी जी मनोवैज्ञानिक सिद्धातो के जाल को सामने करके अमनोवैज्ञानिक शैली से कथा को घसीटते हुए बढते जाते हैं। उन्हें अपने सिद्धातो की, अपने विश्लेषणो की अधिक चिंता है कथा की उतनी नही। किंतु इन तीनो से भिन्न आचार्य चतुरसेन जी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं। वे किसी सिद्धांत के पीछे नही पडे हैं न कोई ग्रथि ही सुलझाई है। मनोवैज्ञानिक शैली को आगे करके किंतु उसके सिद्धातो को दूर फेंक कर वे निरतर कथा को साथ्रे बढते गए हैं। उन्होने अपनी कथा कहने के लिए नये और पुराने सभी प्रकार के कौशलो का प्रयोग किया है, किंतु उसके चक्कर मे पडकर उन्होंने कहीं भी कथा का बलिदान नहीं किया है। इस प्रकार इनके इन उपन्यासों मे भी मनोविज्ञान का कोई सैद्धान्तिक आग्रह नहीं है, वरन् वे चरित्र स्वय एव मानसिक कोटि के चरित्र होने के कारण सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखते हैं। अत मनोविश्लेषणात्मक चरित्र प्रधान उपन्यासो मे ही इनकी परिगणना होनी चाहिए।

वैज्ञानिक उपन्यास

हिंदी मे अभी तक वैज्ञानिक उपन्यास की कोई कसौटी नहीं बन सकी है। साधारणत 'वैज्ञानिक कहानी' वह कही जा सकती है जिसमे कही न कहीं,

किसी न किसी प्रकार विज्ञान का समावेश हो, अन्यथा नाम सार्थक न होगा परतु इतना व्यापक अर्थ लेने से तो प्रायेण सभी उपन्यास और गल्प वैज्ञानिक कहानी की कोटि मे आ जायेंगे। ऐसा मानना तो किसी को अभीष्ट नहीं है। जहाँ एक ओर विज्ञान पर शास्त्रीय प्रवचन करना वैज्ञानिक कहानी का उद्देश्य नहीं है वहीं यह भी जान लेना चाहिए कि दैनिक जीवन की वैज्ञानिक घटनाओ के समावेश-मात्र से कोई कहानी वैज्ञानिक कहानी नहीं बन जाती। किसी कहानी मे ऐसी आश्चर्यजनक बातो का उल्लेख होना, जिनके लिए उस समय के विज्ञान-भडार से आधार न मिलता हो उस कहानी को कोरी कल्पना बना देना है। वस्तुत क्या असम्भव है यह कहना बहुत कठिन है, परतु किसी काल विशेष मे उन्ही बातो को सम्भव कहना चाहिए जो उस काल के वैज्ञानिको के अनुभवो से बहुत दूर न हो, इतनी दूर न हो कि वैज्ञानिको ने उनके सम्बध मे सोचना भी आरम्भ न किया हो।'[1] इस दृष्टिकोण को समक्ष रखकर देखने पर आचार्य चतुरसेन जी का केवल 'खग्रास' उपन्यास वैज्ञानिक कहा जा सकता है। कारण वैज्ञानिको ने चद्रलोक की यात्रा के लिए प्रयास प्रारम्भ कर दिए हैं। उनके 'नीलमणि' उपन्यास मे भी कुछ वैज्ञानिकता का पुट है किंतु आचार्य चतुरसेन जी ने उसमे वैज्ञानिक ढग की बातो का उसी प्रकार तथा उसी दृष्टि से उपयोग किया है जो रसोत्पादन के इच्छुक कवि के सामने उद्दीपन विभाव से काम लेते समय रहती हैं। • तब मे उनके 'खग्रास' उपन्यास को भी शुद्ध वैज्ञानिक उपन्यास नही कहा जा सकता। उसमे ऐसी बातो की प्रमुखता है। जिनको विज्ञान की नही विज्ञानभास की ही कहा जा सकता है। उसमे जोरोवस्की कुछ ही दिनो मे चद्रलोक की यात्रा कर आता है, जब कि वैज्ञानिको का मत है कि अतिध्वनि गति से यात्रा करने पर भी निकटतम तारे के पास जाकर लौटने के लिए १० वर्ष चाहिए[2] किंतु पीढियो तक फैलाने से कहानी की रोचकता समाप्त हो जायेगी, इसी कारण से वैज्ञानिक उपन्यासो मे विज्ञानाभास से कार्य लिया जाता है। इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी का 'खग्रास' उपन्यास विज्ञान का नहो विज्ञानाभास का उपन्यास कहा जा सकता है।

---

१. आलोचना उपन्यास विशेषांक वैज्ञानिक कथा-साहित्य डा० सम्पूर्णानन्द पृ. १८४।

२. आलोचना उपन्यास विशेषांक वैज्ञानिक कथा-साहित्य डा० सम्पूर्णानन्द पृ. १८६।

आचार्य चतुरसेन जी की कहानियों का वर्गीकरण

आचार्य जी के २५ कहानी सग्रह प्रकाशित हुए हैं[1], इनमे उनकी कहानियो की सख्या लगभग तीन सौ के है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम उनकी समस्त कहानियो को उपन्यासो की भाँति ही कुछ प्रमुख वर्गों मे रख सकते हैं। उनके उपन्यासो की भाँति तत्व विशेष की प्रमुखता एव वर्ण्य-विषय के आधार पर उनकी कहानियो का वर्गीकरण भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कहानियो के वर्गीकरण की एक और पद्धति प्रचलित है। जिसमे हम किसी भी कहानीकार की कहानियो को उसके जीवन के कुछ प्रमुख मोडो के आधार पर अथवा उसकी कहानियो के क्रमिक विकास की कुछ प्रमुख विशेषताओ के आधार पर विभक्त कर लेते हैं। इसे हम 'काल विभाजन' की पद्धति भी कह सकते हैं। डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने अपने प्रबध 'हिंदी कहानियो की शिल्प विधि का विकास' मे प्रेमचद और 'प्रसाद' की समस्त कहानियो का अध्ययन इसी पद्धति के द्वारा किया है। किंतु आचार्य चतुरसेन जी की कहानियो का अध्ययन इस प्रकार के वर्गीकरण के द्वारा सम्भव नही है। कारण आचार्य जी के कहानी सग्रहो मे कोई ऐसी व्यवस्था नही प्राप्त होती कि एक कहानी किसी एक ही सग्रह मे प्राप्त हो। कोई-कोई कहानी तो पाँच-छै सग्रहो मे एक साथ प्राप्त होती है। साथ ही एक समय के प्रकाशित सग्रहो मे उसी समय के आस-पास की कहानियाँ भी नहीं हैं। उनमे नवीन और प्राचीन सभी कहानियाँ एक साथ प्राप्त हो जाती हैं। उन्होंने कहानी के नीचे सन् आदि भी नही दिया है, जिससे यह ज्ञान हो सके कि अमुक कहानी अमुक सन् की लिखी हुई है। सग्रहो के प्रकाशन के अनुसार यदि हम उनकी कहानी-

---

१ १. अक्षत २. रजकण (बार्वाधन), ३. वीरगाथा, ४. राजपूत बच्चे, ५. मुगल बादशाहों की सनक, ६. नवाब ननकू, ७. लम्बग्रीव, ८. पीर नाबालिग, ९. लाला रुख, १०. कैदी, ११. दुखवा मैं कासे कहूं, १२. सोने की पत्नी, १३. दवारागर्व, १४. कमलकिशोर, १५. दियासलाई की डिबिया, १६, बुलबुल हजार दास्तान, १७. बर्मा रोड, १७. सफेद कौआ, १९. राजा साहब की पतलून, २०. मेरी प्रिय कहानियाँ, २१, सोया हुआ शहर, २२. दुखवा मैं कासे कहू, २३. धरती और आसमान. २४. बाहर भीतर, २५. कहानी खत्म हो गई। अन्त के छै सग्रहों मे उनकी प्रथम सग्रहों मे प्राप्त श्रेष्ठ कहानियाँ सम्पादित करके व्यवस्थित रूप से रखी गई है।

कला मे विकास दिखलाने का प्रयत्न करें, तो निश्चित ही वह भ्रमपूर्ण एव त्रुटिपूर्ण होगा, कारण ऐसी कोई शृंखला उनके प्रकाशित 'कहानी सग्रहो मे नही प्राप्त होती। उदाहरण के लिए हम उनके 'लम्बग्रीव' नामक कहानी सग्रह को ले सकते है। इसमे सात राजनीतिक भाव कहानियाँ दी हुई हैं, जो सन् १९३० से लेकर सन् १९५० तक के समय मे विभिन्न अवसरो पर लिखी गई हैं। इस कारण इस पद्धति के द्वारा हम वर्गीकरण करके आचार्य जी की कहानियो का अध्ययन व्यर्थ समझते हैं।

विभिन्न तत्वो की प्रमुखता के आधार पर उपन्यासो की भाँति उनकी कहानियो को भी छै वर्गों मे रखा जा सकता है। वर्ण्य वस्तु के आधार पर उनकी समस्त कहानियो को हम निम्न चार वर्गों मे रख सकते हैं।

१ ऐतिहासिक,
२ सामाजिक एव राजनीतिक,
३ मनोवैज्ञानिक, एव
४ विविध।

आगे (कहानी खड मे) आचार्य चतुरसेन जी की समस्त कहानियो के कथानको को हम उपर्युक्त चार वर्गों मे रखकर ही उनका अध्ययन करेंगे।

अध्याय—३

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों के कथानक

कथानक की परिभाषा

कथानक काल क्रमानुसार शृंखलाबद्ध वह घटनाक्रम है जो कि उपन्यास के नायक अथवा अन्य पात्रों के जीवन में योजनाबद्ध रूप में घटित होता है।

कथानक का महत्व—

यह तत्व उपन्यास के अन्य तत्वों से अधिक महत्व का है। वास्तव में यही वह तत्व है जिस पर उपन्यास के भव्य भवन का निर्माण होता है। विद्वानों ने इसके अभाव में किसी सप्राण उपन्यास का रचना संदिग्ध मानी है। डा० भगीरथ मिश्र ने उपन्यास के इस तत्व के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है 'यद्यपि आधुनिक काल में कथानक का महत्व कम समझा जाता है, पर यह उपन्यास का मूल है। उपन्यास में व्याप्त कुतूहल का तत्व कथानक के सहारे ही विकास पाता है। उपन्यास का समग्ररूप कथानक के ढांचे पर ही विकसित होता है। कथानक का चुनाव और निर्माण उपन्यासकार की प्रमुख विजय है और लेखन में कौशल का संकेत इसमें मिल जाता है। कथानक के समस्त अंगों का सुंदर संगठन, घटनाओं का समुचित विन्यास उपन्यास को सुंदर बनाने के लिए आवश्यक होता है। यह धारणा भ्रांत है कि उपन्यास में कथानक का कोई महत्व नहीं, या सामान्य कथानक को भी वर्णन-कौशल द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है। क्योंकि यदि वर्णन-कौशल के साथ कथानक की उत्कृष्टता भी मिल जाय तो मणिकांचन योग होगा।'[1]

कुछ विद्वानों का कथन है कि 'उपन्यास में कथा-वस्तु अनावश्यक है। हमारे जीवन का संचालन किसी पूर्व निश्चित योजना से तो होता नहीं, फिर उपन्यास में—जो जीवन का प्रतिरूप मात्र है—इस विशिष्ट योजना अथवा वस्तु की आवश्यकता ही क्या ? नित्ट्रो ने एक बार कहा था कि पूर्वनिश्चित सभी

---

१. काव्यशास्त्र डा० भगीरथ मिश्र पृ. ८३।

बातें अयथार्थ होती हैं (आल दैट इज प्रीअरेंज्ड इज फाल्स) । इसमे संदेह नही कि जीवन के अधिकतर अनुभव किसी योजना से सम्बद्ध नही होते तथा जीवन के स्वच्छंद प्रवाह मे कोई निश्चित क्रम नही होता तो भी लेखक का यह कर्तव्य है कि जीवन की इस विशृंखलता मे भी वह कोई शृंखला, कोई क्रम, कोई योजना ढूँढ निकाले । रूपात्मक वैचित्र्यपूर्ण जगत का सौंदर्य स्पष्ट करने के लिए उसे किसी विशेष क्रम से ही हमारे सामने रखना होगा ।'[१]

श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी ने भी उपन्यास में इस तत्व का महत्व बतलाते हुए लिखा है कि कथा मे मानव चित्र का विकास प्रदर्शित किया जाता है, और चूँकि उसका सफल प्रदर्शन ही मुख्य बात है, अत इस तत्व का महत्व सर्वोपरि है ।[२] श्री श्याम जोशी ने भी अपनी पुस्तक 'उपन्यास सिद्धांत' में इस तत्व को सर्वप्रधान मानते हुए लिखा है 'उपन्यास का जो अस्थि-पंजर है वह कथानक ही है । यह कथानक ही वह मूलाधार है जिस पर उपन्यास का भव्य भवन खड़ा किया जाता है । अत जब तक यह आधार पुष्ट न होगा, इस पर खड़ा किया गया भवन भी दृढ़ नही बन सकता । यदि यह आधार ही समतल न हुआ और उसके बीच मे संधियाँ रह गईं, तो भवन के खण्ड-खण्ड हो जाने की सम्भावना है ।'[३] डा० हजारीलाल द्विवेदी ने भी कथा साहित्य मे इस तत्व को सर्वप्रधान बतलाया है ।[४] डा० प्रताप नारायण टंडन ने प्रस्तुत तत्व की प्रधानता का कारण बतलाते हुए लिखा है । 'वास्तव मे उपन्यास के तत्वो मे कथानक की प्रधानता का कारण यही है कि इसके अभाव मे न केवल उपन्यास की रचना नही हो सकती, बल्कि उपन्यास एक कथा-कृति ही नही बन सकता । उपन्यास के जो दायित्व हैं, उनका निर्वाह भी आधार रूप से इसी तत्व पर निर्भर होता है । विशेष रूप से आजकल उपन्यास के जिस दायित्व पर बल दिया जाता है, वह है मानवजीवन की व्याख्या तथा मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित दर्शन । स्पष्ट है कि इसका निर्वाह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक एक विस्तृत कथानक की पृष्ठभूमि न हो । यही कारण है कि कथानक को उपन्यास के अन्य तत्वो की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है ।'[५] अत म हम इसी

१. हिन्दी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. ४४४ ।
२. साहित्य परिचय—पृ ९२ ।
३. उपन्यास सिद्धांत—श्री श्याम जोशी, पृ ९१ ।
४. साहित्य का साथी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ ८२ ।
५. हिन्दी उपन्यास मे कथा शिल्प का विकास—डा० प्रताप नारायण टंडन, पृ. ११० ।

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कथानक के अभाव मे उपन्यास, उपन्यास नही बन सकता, वह और भले कुछ बन जाय। इस प्रकार निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास के अन्य तत्वो की अपेक्षा इस तत्व का महत्व कही अधिक है।

कथानक की प्रमुख विशेषताएँ

क्रमबद्धता एवं सुगठन—

कथानक का क्रमबद्ध एव सुगठित होना उपन्यास की कलात्मक महत्ता को द्विगुणित कर देता है। घटनाओ को एक शृ खला मे स्यूत कर देने मे ही कथाकार का कौशल प्रकट होता है। घटनाएँ इस कौशल से चुनी गई हो कि वे एक दूसरे की आश्रित प्रतीत हो। कथा के मध्य से यदि एक भी कथा सूत्र खिसका दिया जाय, तो कथानक मे तुरत खटक उत्पन्न हो जावे, तभी उपन्यास पूर्ण सुगठित कहा जा सकता है। कथानक के सुगठन के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमे अनावश्यक का त्याग और आवश्यक को ग्रहण किया गया है। कोई आवश्यक बात छूटी नही हो। (A brevity that exclude every thing that is redundant & leaves nothing that is sufficient.)[1]

रोचकता—

*कथानक यदि रोचक न हुआ तो उसकी अन्य समस्त विशेतायें ही महत्व-*हीन हो जाती हैं। पाठक मनोरजन के लिए ही प्राय उपन्यास को हाथ मे लेता है, किन्तु यदि उसे उससे इसी वस्तु की उपलब्धि न हो सकी तो वह उस कृति को महत्वहीन ही समझेगा। अत प्रत्येक उपन्यासकार अपनी रचना को अधिक से अधिक रोचक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। केवल इस गुण की सृष्टि के लिए ही वह कथा के प्रत्येक गुण को दाँव पर लगा देता है। इसी के लिए उपन्यासकार आकस्मिक और अप्रत्याशित का आश्रय लेता है, जिनकी सहायता से वह पाठक की कुतूहल प्रवृत्ति को अत तक जगाए रखने मे पूर्ण सफल रहता है। 'यह आकस्मिक, सम्भावना और कार्य-कारण-शृ खला से अलग न होने हुए भी *पाठक के अनुमान और कल्पना के बाहर होता है।' इसके साथ ही साथ* वह नये ढग से कहानी कहता है, नये प्रकार के पात्रो की सृष्टि करता है, नयी

१. काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र, पृ. ८९।

घटनाओ का सचयन करता है तथा अन्य नवीनतर तत्वो को कृति मे समावेशित करने को प्रस्तुत रहता है ।'[1] रोचकता-सम्पादन के लिए पद-पद पर आकस्मिकता का सयोजन उचित नही, हाँ अप्रत्याशित का सयोजन जो आकस्मिक न हो, अधिक सगत माना जाता है ।

प्रबन्ध कौशल —

उपन्यास कार की प्रतिभा का वास्तविक परिचय उसके प्रबध कौशल से ही चल सकता है । कथानक की आधिकारिक एव प्रासगिक कथाओ को किस प्रकार सगठित एव सुयोजित किया गया है, इस पर उपन्यास का कलात्मक महत्व बहुत कुछ निर्भर करता है । उपन्यासकार का कौशल घटनाओ के चयन मे है । जीवन के विस्तृत-क्षेत्र से वह किन-किन प्रसगो का निर्वाचन करता है और उन्हे किस गहराई तक जाकर साज और सवार कर प्रस्तुत करता है, इसी पर उसकी सफलता निर्भर करती है । अत हम कह सकते हैं कि उपयुक्त घटनाओ का कलात्मक ढग से सयोजन ही उपन्यासकार का प्रबध कौशल है और इससे कथानक का सौंदर्य बढ जाता है ।

मौलिकता:—

इस ससार मे जो कुछ है, वह पुरातन है किंतु उसे खोज निकालने, उसका निर्वाचन करने और उसे एक नवीन ढग से प्रस्तुत करने मे ही उसकी मौलिकता है । मौलिकता एक ऐसी कसौटी है, जिस पर खरी उतरने पर ही उस वस्तु का महत्व द्विगुणित हो जाता है । अत कथानक मे इस वस्तु की उपेक्षा नही की जा सकती । यदि विषय के अनुसार देखा जाय, तो ससार के सभी उपन्यासो का प्रवृत्तिगत वर्गीकरण करके उन्हे निश्चित विषयो के अंतर्गत रखा जा सकता है । परन्तु एक समर्थ उपन्यासकार की दृष्टि की सूक्ष्मता का परिचय इस बात से मिलता है कि वह जीवन की गहनता से किस सीमा तक परिचित है तथा उसकी मूलभूत समस्याओ और उनसे सम्बन्धित तथ्यो का उसने साक्षात्कार किया है अथवा नहीं, क्योंकि इन्ही कुछ बातो से इस बात का पता चलता है कि उपन्यासकार ने कभी जीवन के यथार्थ का तीखा अनुभव किया है या नहीं । यदि कोई उपन्यासकार किसी एक अनुभूति की अभिव्यक्ति अधिक विस्तार और सूक्ष्मता से कर सकता है, तो वह उसकी मौलिक दृष्टि का परिचय दे सकने योग्य है, क्योंकि एक उपन्यासकार के दृष्टिकोण मे मौलिकता की कितनी

१. हिन्दी उपन्यास मे कथा शिल्प का विकास, पृ. ७८-७९ ।

सम्भावनाएँ हैं, यह इन्हीं कुछ बातों पर निर्भर करता है।[1] इसके साथ ही साथ उपन्यासकार की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि पाठक आगामी घटना, क्रियाकलाप अथवा अंतिम परिणाम का अनुमान न लगा सके। अतः कथानक की मौलिकता विषय की नवीनता, नवीन घटनाओं की कल्पना और उनके संयोजन के ढंग, वर्णन और विन्यास की विशेषताओं में देखी जा सकती है।'[2]

संभावना —

उपन्यासकार कल्पना की उड़ान भले ही क्यों न भरे किंतु उसे ध्यान रखना चाहिए कि उसकी सृष्टि विलक्षण होने पर भी सलक्षण और असंगत होने पर भी सुसंगत ज्ञात हो, अन्यथा बुद्धि की कसौटी पर वह खरी न उतर सकेगी। इसके लिए यह अनिवार्य है कि उपन्यासकार अपने एवं अपनी अनुभूतियों के साथ पूर्ण सत्यता का व्यवहार करे। उसे उन सभी बातों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, जिनका समावेश वह अपनी रचना में करना चाहता है। घटनाएँ सम्भावना के क्षेत्र का उल्लंघन न करें इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि स्थानों के विवरण, पारिवारिक एवं सामाजिक दृश्यों के विवरण, वार्तालाप, वेशभूषा आदि के वर्णन भी उपन्यासकार के परिपक्व अनुभवों से ओतप्रोत होने चाहिए। केवल ऊपरी वर्णन ही नहीं पात्रों के अन्तस् से रहस्य के उद्‌घाटन में भी पूर्ण सत्यता एवं यथार्थता की आवश्यकता होती है। इसीलिए अंग्रेजी उपन्यास लेखिका श्रीमती इलियट ने एक बार उपन्यास-लेखिकाओं को फटकार बतलाते हुए कहा था कि पुरुष और स्त्री में प्रकृति भेद है। इसलिए स्त्रियों को कभी पुरुषों की भाँति, उनके दृष्टिकोण के अनुसार लिखने का प्रयत्न न करना चाहिए। उनका अपना ही क्षेत्र क्या कम है जो वे इससे बाहर आने का प्रयत्न करती हैं। कोई लेखिका स्त्री-समाज का, उसकी आशा, आकांक्षा, प्रेम, करुणा, नैराश्य आदि का जितना सफल अंकन कर सकती है उतना पुरुष समाज का नहीं। यह बात पुरुषों के विषय में भी कही जा सकती है। अतएव एक लेखक को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वह संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन कदापि न करे। उसे चाहिए कि वह जिस कल्पना पर भी अपने

१. हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास—डा० प्रतापनारायण टंडन, पृ. ७७।

२. काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र, पृ. ८४।

उपन्यास के कथानक की नीव रखे, वह शक्तिशाली एवं ठोस हो। बिना अनुभूत आधार की कल्पना के कथानक मे सत्यता नही आ पाती, वह जीवन से सदैव दूर ही रहता है अत ऐसे कथानक जन साधारण का मनोरंजन भले ही कर दें किंतु इनकी कलात्मक एवं साहित्यिक महत्ता निश्चित ही न्यून पड जाती है। इसीलिए हेनरी जेम्स ने इस गुण की महत्ता बतलाते हुए लिखा है 'यह कहना व्यर्थ है कि सत्यता के, विवेक के अभाव मे आप एक अच्छा उपन्यास नही लिख सकते किंतु उस सत्य को अपने जीवन मे पाने की कोई विधि आपको बता सकना कठिन है। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि सत्यता का वातावरण एक उपन्यास का सबसे बडा सद्गुण है, जिस पर अन्य सभी गुण निर्भर हैं। यदि वह नही है, तो सब कुछ होना व्यर्थ है। यदि वह है तो वह उन प्रभावो का ऋणी है, जिनके द्वारा लेखक ने जीवन के भ्रम को खडा किया। इस सफलता को पाने की प्रणाली उपन्यासकार की कला का प्रारम्भ और अंत है।'[1]

कथानक के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण

कथानक गठन की दृष्टि से दो वर्गों मे विभक्त किए जा सकते हैं—

१ शिथिल-वस्तु-उपन्यास (नावेल्स आफ लूज प्लाट)
२ सगठित-वस्तु उपन्यास (नावेल्स आफ आर्गेनाइज्ड प्लाट)

वे कथानक जिनमे सम्बद्धता का अभाव होता है तथा जो सूत्रो मे बिखरे हैं, उन्हे प्रथम कोटि के अतर्गत रखा जा सकता है। ऐसे उपन्यासो म घटनाओ का बाहुल्य होता है। इसमे कथानक एक दूसरे से फूटने वाली घटनाओ से सयोजित नही रहता, वरन् मुख्य पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने वाली परस्पर असम्बधित अनेक घटनाओ को लेकर उनका निर्माण होता है। उन घटनाओ म तारतम्य या कार्य-कारण का सबध नही रहता, वे केवल मुख्य पात्र के चारो ओर घूमती हैं। सुगठित कथानक (सगठित-वस्तु-उपन्यास) मे किसी निश्चित योजना को दृष्टि मे रखते हुए घटनाओ को परस्पर गूथा जाता है। ऐसी दशा मे उपन्यासकार के मस्तिष्क मे कथा का पूरा ब्योरा उपन्यास रचना से पूर्व रहता है। उस योजना में पात्र और घटनाएँ उपयुक्त स्थान ग्रहण कर लेते हैं। उन

---

१. हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास—डा० प्रतापनारायण टंडन, पृ. ७८।

सबके मूल मे कथ-सूत्र रहता है जो सबको मिलाता हुआ 'परिणाम' या 'अत' की ओर जाता है।

सुगठित तथा पूर्व नियोजित कथानक अपनी चुस्ती और सौंदर्य के कारण पाठको के आकर्षण का विषय रहता है किंतु कथानक अत्यधिक योजनाबद्ध होने पर उसमे सयोग, दैवयोग या आकस्मिकता के बहुप्रयोग के फलस्वरूप वह यत्र-चालित सा और अस्वाभाविक हो जाता है। सयोग जीवन मे आते हैं। किंतु उपन्यास मे पग पग पर मनोवाछित विधि से घटनाओ का घटना और पात्रो का पदार्पण, पाठको को उपन्यासकार की मनमानी जैसा जान पडेगा। उनकी बुद्धि सयोग की बाढ के प्रति विद्रोह कर उठेगी। अत पूर्व नियोजित कथानक को स्वाभाविक गति से अग्रसर होना चाहिए।

कथानक एक या एक से अधिक कथाओं द्वारा निर्मित होने की दृष्टि से सरल तथा पेचीदा कथानको की दो श्रेणियो मे विभाजित किये जा सकते हैं। सरल कथानक मे केवल एक कथा होती है। पेचीदा कथानक मे दो या दो से अधिक कथाएँ मिलकर चलती हैं। ऐसी दशा मे कथाओ का परस्पर ऐसी रीति से गूथा जाना आवश्यक है कि वे सब किसी बडी सरिता मे स्वत आ मिलने वाली जल-धाराओ जैसी स्वाभाविक और कथानक की अनिवार्य, अविभाज्य अग सी जान पडें।

उपन्यास मे कथावस्तु नाटक की भाँति दो प्रकार की होती हैं, आधिकारिक और प्रासगिक। आधिकारिक, प्रधान पात्रो से सबध रखने वाली मुख्य कथा है, इसका सूत्र प्रारम्भ से फल प्राप्ति तक रहता है। प्रासगिक—प्रसगवश आयी या गौण कथा है। इसका सबध सीधा नायक से न रहकर अन्य पात्रो से रहता है, यह मूल कथा की गति को बढाने के लिए रहती है। इसकी फल सिद्धि नायक के अतिरिक्त किसी अन्य को होती है। यह नायक की अभीष्ट फल सिद्धि से भिन्न होती है किंतु नायक का इससे हित साधन अवश्य होता है। इसके दो प्रकार हैं—पताका और प्रकरी। आधिकारिक के साथ अत तक चलने वाली प्रासगिक कथा पताका, तथा उसके बीच मे ही रुक जाने वाला कथा प्रसग 'प्रकरी' है।[1]

आगे हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो की कथावस्तु पर विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे। पीछे हम उनके उपन्यासो का वर्गीकरण प्रस्तुत कर चुके

१. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय, पृ. २८।

हैं। वर्ण्य-वस्तु के वर्गीकरण के आधार पर यदि उनके उपन्यासो का विश्लेषण किया जावेगा तो उपन्यासकार के मनोविकास का सहज ज्ञान हमे न हो सकेगा। अत आगे हम उनके उपन्यासो की कथावस्तु का कालक्रमानुसार विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे, जिससे उनके उपन्यास-साहित्य का विकास-क्रम भी स्पष्ट हो सके।

हृदय की परख

प्रस्तुत उपन्यास आचार्य चतुरसेन जी का प्रथम प्राप्त प्रकाशित उपन्यास है। यह उनका एक सामाजिक उपन्यास है। कथा का आरम्भ एक अप्रत्याशित घटना से होता है। बूढे लोकनाथ सिंह के पास एक बार सवार अपकी नवजात कन्या (सरला) को एक रात्रि के लिए छोड जाता है किंतु वह लौट कर उसे लेने नही आता। अत वह कन्या लोकनाथ सिंह के सरक्षण मे ही पालित-पोषित होती रहती है। एतदर्थ आगामी घटना के प्रति पाठक की सहज उत्सुकता जाग्रत होती है। सरला की सरलता, लोकनाथ की उस पर अगाध ममता आदि को लेकर प्रमुख कथा आगे बढती है। इसी समय लोकनाथ द्वारा अतिम समय सरला के वास्तविक रहस्य का उद्घाटन और उसका मार्ग से हट जाना आदि घटनाएँ मुख्य घटना की निष्पत्ति कर देती हैं। सरला के हृदय मे उठने वाला अतंर्द्वंद्व, उसकी वैराग्य प्रवृत्ति, सत्य का उसकी ओर आकर्षित होना और सरला द्वारा उसके प्रेम की उपेक्षा आदि प्रवृत्तियाँ तथा घटनायें मुख्य घटना-निष्पत्ति की व्याख्या करती हुई कथा को आगे बढ़ाती हैं। व्याख्या के पश्चात् ही मुख्य कथा एक नाटकीय मोड लेती है और कथानक मे घात-प्रतिघात प्रारभ हो जाते हैं। सरला का इसी समय अपनी वास्तविक माता शशिकला से परिचय होता है। वह अपनी माता की उपेक्षा करती है। इस घटना के पश्चात् ही कथा पुन मोड लेती है। सरला सत्य का आश्रय त्याग कर चुपचाप भाग खडी होती है। रेल मे उसका परिचय सुन्दरलाल से होता है और वह उन्ही के साथ उनके आश्रम मे पहुँच जाती है। यही सरला का सुन्दरलाल की बहन शारदा से परिचय होता है। दोनो का सहज आकर्षण देखकर पाठक कुछ सतर्क होता ही है कि इसी समय पुन. कथानक मे एक नाटकीय मोड आ उपस्थित होता है। सरला, शारदा के साथ अपनी वास्तविक माता शशिकला के यहाँ जा पहुँचती है। प्रथम मिलन मे ही दोनो-दोनो को पहचान लेती हैं। दोनो के हृदय मे. अन्तर्द्वंद्व प्रारभ होता है। घात-प्रतिघात की अवस्था को पार करता हुआ कथानक तीव्रगति से चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। सरला अपनी वास्तविक

माता के गृह से उल्टे पैरो ही लौट पड़ती है। पुत्री की यह उपेक्षा शशिकला सहन नही कर पाती। इस आघात के फलस्वरूप ही उसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के पूर्व सरला की उत्पत्ति का रहस्य वह पति को बतला देती है। इस अप्रत्याशित घटना के घटित होने से, मुख्य कथा का प्रवाह कुछ मद पड जाता है। ऐसा आभास होने लगता है कि चरम सीमा समय से पूर्व ही आ गई किंतु विद्याधर की प्रासगिक कथा सरला की आधिकारिक कथा से कुछ ऐसी उलझ जाती है कि कथानक मे पुन एक त्वरा आ जाती है। सरला, विद्याधर से विवाह करने को तैयार हो जाती है किंतु विद्याधर वर्णसकर सतान होने के कारण विवाह करना अस्वीकार कर देता है। सरला इस आघात को सहन नहीं कर पाती। उसका मस्तिष्क विकृत हो जाता है। एक रात्रि वह शारदा के गृह से भाग कर पुन सत्य के पास पहुँच जाती है। कथा दुखान्त हो जाती है। सरला भी सत्य के आश्रम म ही मृत्यु हो जाती है। और सत्य सदैव के लिए लुप्त हो जाता है। उपसहार मे उपन्यासकार ने सरला के पिता भूदेव को अपनी वास्तविक पत्नी शारदा से पुन मिला दिया है।

इसमे आधिकारिक कथा सरला एवं सत्य की है। विद्याधर की कथा भी सरला की कथा से पूर्णरूपेण घुलमिल गई है। भूदेव, शशिकला, शारदा, सुदरलाल आदि की कथाएँ मूल कथानक मे प्रासगिक कथाओ का कार्य करती हैं। किंतु वस्तुत यह सभी प्रासगिक कथाएँ सरला के चरित्र के विभिन्न पक्षो को उभारने के लिए ही प्रस्तुत उपन्यास मे सजोई गई है।

प्रस्तुत उपन्यास कथानक-सगठन की दृष्टि से पूर्ण सगठित है। कथानक की सभी घटनाएँ एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। प्रासगिक कथाएँ भी आधिकारिक कथा को अग्रसर करने मे सहायता देती हैं। कई नाटकीय मोडो के कारण कथानक मे किंचित कृत्रिमता आ गई है। वास्तव मे प्रस्तुत कथानक सयोगो एव अप्रत्याशित घटनाओं को माध्यम बनाकर अत तक पहुँच सका है। अप्रत्याशित रूप से ही सरला लोकनाथ सिंह के आश्रय मे आती है, सयोगवश ही उसका परिचय अपनी वास्तविक माता शशिकला से होता है, इसी प्रकार सयोग से ही उसका सुदरलाल, शारदा एव विद्याधर से परिचय होता है और अत मे नाटकीय ढग से ही उसका साक्षात्कार पुन अपनी माता शशिकला से होता है। इसके पश्चात् की भी अधिकांश घटनाएँ एव नाटकीयता से पूर्ण हैं। इस प्रकार प्रस्तुत कथानक सयोगो एव नाटकीयता की बहुलता के कारण रोचक भले ही बना रहा हो किंतु उसकी स्वाभाविकता न्यून अवश्य हो गई है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक पूर्णरूप से मौलिक है। यह उपन्यास सन् १९१८ मे प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। उस समय तक हिंदी मे इस प्रकार कथानको का प्राय अभाव ही था। इसमे एक वर्णसंकर सतान की समस्या को उठाया गया है। सरला का जन्म भूदेव एव शशिकला के अवैध सबध से हुआ था। सरला के चरित्र को लेकर ही प्रस्तुत उपन्यास की आधिकारिक कथा खडी की गई है। जारज सतान का समाज मे क्या स्थान है प्रस्तुत कथानक इस पर किंचित् मात्र ही प्रकाश डाल पाता है, कारण सरला और शशिकला दोनो ही को उपन्यासकार शीघ्र ही मार्ग से हटा देता है। उपन्यासकार ने यह दिखलाने का प्रयत्न अवश्य किया है कि समाज मे किसी व्यक्ति के कर्माचरण का तत्काल प्रभाव उतना नही पडता, जितना उसकी जन्म विषयक घटनाओ का। विद्याधर सरला से पूर्णरूप से प्रेम करता है, उसके आचरण और पाडित्य को देखकर वह उसे देवी समझने लगता है किंतु उसके जन्म का रहस्य प्रकट होते ही वह उससे दूर रहने का प्रयत्न करता है, उससे विवाह करना भी स्वीकार नही करता। इस प्रकार उपन्यासकार ने प्रस्तुत कथानक के माध्यम से एक चिरतन समस्या—समाज मे जार-सतान का क्या स्थान हो—को सुलझाने का प्रयत्न किया है। किंतु वास्तव मे उपन्यासकार ने बडे कौशल से जिस समस्या को सामने ला रखा है उसका कोई भी मौलिक हल निकालने मे वह असमर्थ ही रहा है। सम्भव है उपन्यासकार का वास्तविक उद्देश्य प्रस्तुत समस्या को सामने लाना ही रहा हो, हल की ओर उस समय (सन् १९१८ मे) उसका ध्यान भी न गया हो, तभी उसने शशिकला और सरला दोनो को ही मार्ग से बलात् हटा दिया है।

जार-सतान-समस्या को आगे के कितने ही उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासो के कथानक का विषय बनाया है। श्री जयशकर 'प्रसाद' ने 'ककाल' (१९२९) मे तथा श्री इलाचद्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' (१९४६) मे प्रस्तुत समस्या को ही किसी न किसी रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। किंतु इनमे अतर यह है कि आचार्य चतुरसेन जी ने सीधे और सरल ढग से प्रस्तुत समस्या को अपने कथानक मे गुथ दिया है, जब कि प्रसाद जी ने उसे धार्मिक आडम्बरो के मध्य रखकर और जोशी जी ने उस पर मनोविज्ञान का आवरण डाल कर प्रस्तुत किया है। 'ककाल' मे 'प्रसाद' जी ने भी समस्या का कोई हल प्रस्तुत नही किया है। उन्होंने भी जार-सतान विजय को मार्ग से उसी प्रकार हटा दिया है जिस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत उपन्यास से सरला को। जोशी जी ने 'प्रेत और छाया' मे पारस नाथ के जार सतान होने की कल्पना

मात्र की है, वा तव मे वह है नही। उन्होंने केवल एक मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के विश्लेषण के लिए ही प्रस्तुत समस्या को चुना है अत उनसे समस्या के उचित हल की कोई आशा करना ही व्यर्थ था।

हृदय की प्यास

इस उपन्यास मे मुख्य कथा का प्रारम्भ प्रवीण और सुखदा के असफल वैवाहिक जीवन से होता है। सुखदा एक आदर्श पत्नी है किंतु प्रवीण एक उच्छृ खल एव अतृप्त पति। एक को पति से सतोष है तो दूसरे को पत्नी से असतोष। प्रवीण के हृदय का यही असतोष कथा को अग्रसर करता है। वह अपनी पत्नी को अपने जीवन का सबसे महान् अभिशाप समझता है। इसी अवस्था मे जब उसका साक्षात्कार अपने बाल-सखा भगवती की पत्नी से होता है तो प्रथम परिचय मे ही वह अपनी मित्र-वधू पर आसक्त हो जाता है। उसका यह आकर्षण पाठक की सहज उत्सुकता को जाग्रत करता है। इस आकर्षण का परिणाम और सुखदा के निष्कपट सेवा और त्याग का फल शीघ्र से शीघ्र जानने को वह उत्सुक होता है। यही से मुख्य घटना का उत्कर्ष प्रारम्भ होता है। भगवती की बहू के पुत्र होना, प्रवीण को बहू को एकात मे देखने का अवसर मिलना, उसका आकर्षण और बढना, भगवती का प्रवीण पर सदेह हो जाना आदि घटनाएँ मुख्य घटना की निष्पत्ति में पूर्ण योग देती हैं। अभी मुख्य घटना की उपन्यासकार व्याख्या प्रस्तुत भी नही कर पाता कि एक अप्रत्याशित घटना के प्रवेश के कारण कथानक मे घात-प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। भगवती अपने मित्र प्रवीण को अपनी पत्नी के साथ एकात मे देख लेता है। पूर्ण कथा ज्ञात किए बिना ही वह अपनी पत्नी को बुरी तरह से प्रताडित कर अपने गृह से निकाल देता है। नाटकीय ढग से प्रवीण का पुन भगवती की पत्नी से मिलना, उसे मृत्यु के मुख से निकालना तथा उसे लेकर चुपचाप भाग जाना आदि घटनाएँ कथानक को चरम सीमा की ओर बडी त्वरा के साथ खींच ले जाती हैं किंतु इसी समय भगवती द्वारा अपनी पत्नी के निष्कासन की घटना के फलस्वरूप प्रवीण के स्वभाव मे परिवर्तन कथानक को बलात् आदर्शवादी मत की ओर मोड देता है। कथानक का प्रवाह चरम-सीमा पर पहुँच कर मद हो जाता है। भगवती के विचार भी अपनी पत्नी एव प्रवीण के पत्रो को पढकर परिवर्तित हो जाते हैं और वह शुद्ध हृदय से दोनो का पता लगाने निकलता है। कथा मे पुन कुछ गति आने लगती है। इसी समय भगवती और प्रवीण का मिलन, प्रवीण द्वारा विष-पान आदि घटनाएँ कथानक को पुन

अपनी चरम-सीमा पर ला खड़ा करती है। उपसंहार में प्रवीण और सुखदा, भगवती और उसकी पत्नी का मिलन करा दिया गया है।

कथा से स्पष्ट है कि मुख्य कथा प्रवीण, सुखदा एवं भगवती की बहू की हैं। भगवती,' की कथा मुख्य कथा से इस प्रकार गुँथी हुई है कि उसे प्रासंगिक कहना कठिन हो जाता है। वास्तव में यह चरित्र प्रधान उपन्यास है अत इसमें प्रवीण के चरित्र को ही केंद्र बनाकर कथा का विकास हुआ है। प्रवीण के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए ही कथानक में कितनी ही नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं की संयोजना की गई है। प्रवीण की चारित्रिक विशेषताओं को अधिक महत्व देने के कारण कथानक का महत्व अपेक्षाकृत न्यून हो गया है। चरित्र को निखारने के कारण ही कथानक को बलात् यथार्थ से आदर्श की ओर उपन्यासकार ने मोड़ दिया है। परिणामस्वरूप कथानक की कलात्मक निपुणता को गहरा आघात पहुँचा है।

यह सत्य है कि उपन्यासकार ने घटनाओं का संघटन इस कलात्मक ढंग से किया है कि कथा अंत तक रोचक बनी ही रहती है तथापि यह भी सत्य है कि अप्रत्याशित घटनाओं के बाहुल्य, अस्वाभाविक रूप से स्वभाव में परिवर्तन एवं बलात् आदर्शवादी मोड़ ने संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन कर दिया है परिणाम यह हुआ है कि कथानक की अंतिम घटनाएँ अपने यथार्थ रूप में सामने नहीं आ पाई हैं।

प्रस्तुत कथानक के पूर्वार्ध में जीवन की कुछ अवस्थाओं के चित्रण बड़े ही सजीव हैं। प्रवीण की मानसिक उहापोह में अनुभूतियों का पूर्णरूपेण समावेश रहने से तथा यथार्थ का प्रचुर पुट पाठक के हृदय को बरबस स्पर्श कर लेता है। प्रस्तुत कथानक के माध्यम से उपन्यासकार ने यह प्रदर्शित करना चाहा है कि पुरुष को (पति को) नारी का (पत्नी का) केवल रूप ही नहीं वरन् हृदय भी देखने का प्रयास करना चाहिए।

पूर्णाहुति (रनाम का ब्याह)

प्रस्तुत उपन्यास आचार्य चतुरसेन जी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका कथानक महाराज पृथ्वीराज चौहान के जीवन से संबंधित है। इसमें एक प्रधान और दो उप प्रधान कथाएँ एक साथ गुँथी हुई हैं। प्रधान कथा दिल्लीपति पृथ्वीराज की है। उपन्यास की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ भी इसी कथा से हुआ है। तथा उपप्रधान कथाएं जयचंद एवं गोरी से संबंधित हैं। जयचंद की

कथा संयोगिता के माध्यम से पृथ्वीराज की कथा से आ मिली है। संयोगिता का रूप वर्णन सुनकर पृथ्वीराज और पृथ्वीराज का रूप वर्णन सुनकर संयोगिता एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। मुख्य घटना की तैयारी यही से प्रारम्भ हो जाती है। पृथ्वीराज से द्वेष मानने के कारण जयचद उन्हे यज्ञ मे एक राजा के सम्मान के अनुसार निमन्त्रित नही करता। पृथ्वीराज को और भी अपमानित करने के लिए जयचद अपने यज्ञ द्वार पर उनकी स्वर्ण-प्रतिमा को द्वारपाल के स्थान पर खड़ा कर देता है। राजकुमारी संयोगिता उसी स्वर्ण-प्रतिमा को जयमाल पहना कर वरण कर लेती है। मुख्य घटना की निष्पत्ति यही हो जाती है। व्याख्या मे पृथ्वीराज के अतर्द्वंद्व एव तैयारियो का वर्णन है। इसके पश्चात् ही पृथ्वीराज एव जयचद के परस्पर संघर्षों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम अपरोक्ष रूप से और फिर परोक्ष रूप से। पृथ्वीराज, जयचद के दरबार मे चद कवि के साथ खवास बन कर जाता है। यही पृथ्वीराज एव संयोगिता का नाटकीय ढग से मिलन हो जाता है। वही दोनो का विवाह भी सपन्न हो जाता है। चद के कहने पर पृथ्वीराज राजकुमारी संयोगिता का अपहरण कर अपनी सेना के साथ जयचद की अपार वाहिनी को रौंदता हुआ अपनी राजधानी जा पहुँचता है। यह उक्त घटना की चरम-सीमा है और यही से जयचद की कथा समाप्त हो गई है।

दूसरी प्रधान कथा गोरी की है। संयोगिता-हरण के पश्चात् ही पृथ्वीराज पर गोरी का आक्रमण हो जाता है। दोनो मे जम कर युद्ध होता है किन्तु अत मे, पृथ्वीराज, गोरी द्वारा पराजित होकर बदी होता है। गोरी उसे बदी बना कर गजनी ले जाता है। वहाँ उस पर अमानुषिक अत्याचार होने लगते हैं। उसको नेत्रहीन कर दिया जाता है। इसी समय पृथ्वीराज का मित्र चद छद्मवेश मे उसके समीप पहुँच जाता है। यही वह पृथ्वीराज के शब्दभेदी बाण के चमत्कार का प्रदर्शन करवा कर गोरी को पृथ्वीराज के करो से ही समाप्त करवा देता है। अत मे पृथ्वीराज और चद स्वय भी आत्म-हत्या कर लेते हैं। यही प्रस्तुत उपन्यास की कथा का अत हो जाता है। पृथ्वीराज की आधिकारिक कथा जयचद एव शाह शहाबुद्दीन गोरी की प्रासगिक कथा को अग्रसर करने के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक दशा का भी चित्रण करने मे पूर्ण सहायता करती है। अत- इनका महत्व स्वभावत- बढ़ जाता है।

कथाकार प्रस्तुत कथानक की मौलिकता एवं रोचकता को पूर्ण रक्षा करने मे असमर्थ रहा है। किंतु इसमे हम कथाकार को दोषी कदापि नही कह

मकते कारण उसने भूमिका मे ही कह दिया है "इस पुस्तक मे सब कथानक पृथ्वीराज रासो के आधार पर वर्णित हैं। केवल कथानक ही नहीं, भाषा, भाव और वर्णन-शैली भी रासो ही की है। मैंने केवल उसे अपने ढग पर प्रस्तुत करने मात्र का प्रयत्न किया है। जहाँ-तहाँ कुछ पक्तियाँ भी मेरी हैं।"[1] अब ऐसी दशा मे कथानक मे मौलिकता खोजना, वर्णन शैली मे दोष निकालना एव अति नाटकीयता के आधिक्य को सामने ला खड़ा करना व्यर्थ ही होगा।

बहते आँसू (अमर अभिलाषा)

आचार्य चतुरसेन जी का प्रस्तुत उपन्यास समस्या प्रधान है। इसमे हिंदू विधवाओ की समस्या को उठाया गया है। भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती और बसती नाम की छै विधवाओ की कथाएँ इसमे एक साथ गूँथी गई हैं। यह सभी कथायें एक साथ अग्रसर होते हुए भी एक दूसरे की आश्रित नही ज्ञात होती। प्रत्येक कथा अपने मे स्वतत्र हैं, अपना भिन्न अस्तित्व रखती है। इन भिन्न-भिन्न कथाओ का कोई नैसर्गिक सबध भी नही है किंतु तो भी लेखक ने इन सभी को एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न किया है। यद्यपि यह सूत्र नितात क्षीण हैं। भगवती और नारायणी परस्पर बहनें हैं और कुमुद एव मालती सखियाँ। सुशीला और बसती का परिचय मात्र है। अब इन सभी कथाओ को लेखक ने बडे यत्न से एक साथ पिरोना चाहा है। सुशीला की राजा साहब से रक्षा प्रकाश नाम का एक युवक करता है। प्रकाश कुमुद का ममेरा भाई है। इस प्रकार सुशीला की कथा का सबध परोक्ष रूप से कुमुद की कथा से स्थापित हो जाता है। बसती और भगवती की कथा का सबध भी इसी प्रकार खीच तान कर स्थापित किया गया है। भगवती और बसती दोनो ही विधवायें एक ही व्यक्ति (हरगोविंद) द्वारा प्रवचित की जाती हैं। यो इन सभी कथाओ को लेखक ने एक साथ जोड अवश्य दिया है किंतु इससे कथानक की कलात्मकता की रक्षा नही हो सकी है।

प्रस्तुत कथानक मे कौन सी आधिकारिक कथा है और कौन सी प्रासगिक यह ज्ञात नहीं हो पाता। इन सभी के मध्य मे प्रकरी कथायें व्याप्त हैं, जिन्होंने मूल कथानक को अग्रसर होने मे सहायता दी है।

प्रस्तुत उपन्यास की सभी मुख्य कथाओ मे विकास की पाँचो अवस्थायें किसी न किसी रूप म प्राप्त अवश्य हो जाती हैं किंतु कथा सूत्र के क्षीण होने के

१. पूर्णाहुति-दो शब्द।

कारण उन सभी का परिपाक पूर्ण रूप से नही हो सका है। कही कही प्राप्त्याशा और नियताप्ति की अवस्थायें परस्पर इतनी घुल मिल गई हैं कि उनके मध्य भेद रेखा खींचना कठिन हो गया है। चामत्कारिक ढग से सभी कथाओ का सबध परस्पर स्थापित कर देने के कारण सभी कथाओ की "फलागम" अवस्था भी स्पष्ट नही उभर पाई है।

प्रस्तुत उपन्यास मे कथा शिल्प की दृष्टि से सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे लेखक ने एक साथ छ कथाओ को चामत्कारिक ढग से परस्पर सम्बद्ध करके अग्रसर किया है, किंतु अपने इस प्रयास मे वह सफल नही हो सका है इसी कारण प्रस्तुत उपन्यास का कथानक बिखर सा गया है और इसके फलस्वरूप कथानक मे असम्बद्धता और शिथिलता का दोष आ गया है। कथानक मे बिखराव आ जाने पर भी आचार्य चतुरसेन जी अत तक रोचकता बनाये रखने मे सफल रहे हैं, यह उनकी क्षमता का ही प्रमाण है।

घटनाओ का बाहुल्य होने पर भी वे सभावना के क्षेत्र का उल्लघन नही कर सकी हैं, यद्यपि कही-कही पर कथानक मे नाटकीय मोड आ गए हैं। जैसे सुशीला की रक्षा के लिए प्रकाश का अकस्मात् आ उपस्थित होना, एक दुष्ट के चगुल से छूटकर भागती हुई मालती का अकस्मात् दूसरे दुष्ट के चगुल मे पड जाना आदि घटनाएँ अप्रत्याशित एव नाटकीय हैं। किंतु इससे कुतूहल जागृत होने के साथ-साथ कथा स्वाभाविक रूप से आगे बढती हुई दीख पडती है। इससे कथानक मे अति नाटकीयता का दोष नही आने पाया है। कथा मे रोचकता लाने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने एक दो स्थानो पर नाटकीय व्यग्यो का भी प्रयोग किया है जिससे कथानक की कलात्मकता मे कुछ वृद्धि ही हुई है।[1]

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक किसी पुस्तक विशेष से प्रभावित न होकर यथार्थ घटनाओ से प्रभावित होकर लिखा गया है। यह सन् १९३३ ई० मे प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। हिंदू समाज के इतिहास को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय हिंदू विधवाओ की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उस समय के सभी प्रगतिशील विचारको ने समाज के इस दूषण को दूर करने का पूर्ण प्रयास किया था। आचार्य चतुरसेन जी के प्रस्तुत उपन्यास ने भी समाज के इस दूषण को दूर करने के लिए एक सर्वथा निर्दोष मार्ग प्रशस्त करने का सफल

१. बहते आँसू पृ. ७२।

प्रयत्न किया था। यही कारण है कि लेखक का सुधारात्मक एवं उपदेशात्मक दृष्टिकोण होने के कारण जहाँ एक ओर प्रस्तुत उपन्यास का सामाजिक एवं प्रचारात्मक महत्व बढ़ा है वहीं दूसरी ओर बीच-बीच में उपदेशात्मक लम्बे भाषणों के कारण कथा तत्व बाधित हुआ है फलस्वरूप कथानक की कलात्मक महत्ता क्षीण हो गई है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक मध्य वर्ग की हिंदू विधवाओं के जीवन से लिया गया है। जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है, प्रस्तुत कथानक अपने विषय की नवीनता, अभिव्यक्ति के ढंग, वर्णन एवं विन्यास की विशेषताओं के कारण एक सीमा तक सफल हुआ है। किंतु अनुभूतियों के घनीभूत हो जाने के फलस्वरूप उपन्यासकार कथानक में सूक्ष्मता, गहनता एवं मार्मिकता लाने में सफल नहीं हो सका है। इसका प्रमुख कारण यही है कि कई समानान्तर कथाओं को एक साथ चलाने के कारण चित्रण की सूक्ष्मता एवं गहनता किसी में भी पूर्णरूप से नहीं आ सकी है। एक चित्र पाठक के मस्तिष्क में पूर्णरूप से उभर भी नहीं पाता कि उपन्यासकार दूसरे चित्र में रंग भरना प्रारम्भ कर देता है। इससे पाठक कथानक से पूर्णरूप से तादात्म्य स्थापित करने में सफल नहीं हो पाता, फलस्वरूप उसका सहज ही साधारणीकरण नहीं हो पाता। किंतु यह तो निश्चितरूप से स्वीकार करना पड़ता है कि इसमें उपन्यासकार ने कुशलता से उन हथकन्डों को दर्शाया है, जिनका आश्रय लेकर पुरुष की काम बुभुक्षा नारी के शरीर के साथ खिलवाड़ करना चाहती है।

प्रस्तुत उपन्यास में हिंदू समाज में व्याप्त विधवा समस्या को उठाया गया है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत समस्या कोई शाश्वत अथवा सर्वकालीन समस्या नहीं है। अतः प्रस्तुत कथानक से किसी शाश्वत निष्कर्ष की आशा करना ही व्यर्थ है, किंतु इतना निश्चित है कि आचार्य चतुरसेन जी ने जिस समस्या को उठाया है, उसका निष्कर्ष उपस्थित करने में वह निस्सन्देह सफल रहे हैं। प्रस्तुत कथा का अध्ययन करने के पश्चात् एक ओर जहाँ पाठक को बाल-विवाह के प्रति घृणा उत्पन्न होती है, वहाँ दूसरी ओर निर्दोष, समाज द्वारा प्रताड़ित एवं ठुकराई गई, विधवाओं के प्रति सहानुभूति ही जागृत नहीं की है वरन् उसने उनके पुनर्विवाह का भी विधान किया है। सन् १९३३ में 'विधवा विवाह' का विधान प्रस्तुत करना एक बड़े साहस का कार्य था।

प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स अपने समस्या प्रधान उपन्यासों के लिए प्रसिद्ध हैं। वे उपन्यासों द्वारा समाज सुधार के उपदेशों को इतने

मनोरंजक एवं प्रिय ढंग से जनता तक पहुँचाते थे कि जनता को यह आभास भी न हो पाता था कि उस पर कोई उपदेश लादा या थोपा जा रहा है, किंतु प्रस्तुत उपन्यास में हम कला का वह विकास नहीं पाते। इसमें कुछ उपदेशात्मक अंशों को हम सरलता से निकाल सकते हैं।[१] उन अंशों के हट जाने पर भी कथा में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आने पाता। इतना होने पर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि लेखक समस्या और उसका निष्कर्ष प्रस्तुत करने में किसी सीमा तक सफल रहा है।

प्रस्तुत उपन्यास में किंचित् असावधानी के कारण कुछ भद्दी भूलें रह गई हैं, जिनका परिहार उपन्यासकार थोड़ा सा सतर्क रह कर सरलता से कर सकता था। एक स्थान पर प्रकाश, सुशीला को एक चित्र दिखाता हुआ कहता है 'सुशीला, यदि माता जीवित होती तो तुम्हें प्यार करती, पर अब तो वह काम मुझे करना पड़ेगा'[२] इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रकाश की माता का देहांत हो चुका है किंतु सम्भवतः आगे बढ़ने पर आचार्य चतुरसेन जी अपने इस वाक्य को भूल गये, कारण प्रकाश के जेल जाने पर जब सुशीला वायसराय के यहाँ स्त्रियों का डेपुटेशन ले जाने की बात प्रकाश के पिता से कहती है, तब पास ही खड़ी प्रकाश की माँ आगे आकर कहती हैं 'मैं सहायता करूँगी'[३] जिससे यह आभास होता है कि प्रकाश की माता जीवित हैं। प्रकाश की विमाता की तो कथा में कहीं चर्चा है नहीं, फिर यह दो विरोधी बातें मिलती हैं। बसंती की कथा में भी इसी प्रकार के कुछ विरोधी नामों के प्रयोग की भी उपन्यासकार ने कई स्थानों पर भद्दी भूलें का हैं। कुमुद के स्थान पर कुसुम[४], हरगोविंद के स्थान पर गोविंद सहाय[५] आदि के प्रयोग के कारण पाठक भ्रम में पड़ जाता है। इन दोषों के कारण कथावस्तु में अस्वाभाविकता एवं शैथिल्य के दोष आ जाते हैं, जिससे कथानक की कलात्मकता को भारी आघात पहुँचता है।

---

१. श्री रामचन्द्र द्वारा दिए गये लम्बे भाषण।

२. बहते आँसू—पृ. ३८।

३. बहते आँसू—पृ. १८२।

४. बहते आँसू—पृ. १७१।

५. बहते आँसू—पृ. २३१।

आत्मदाह

आचार्य चतुरसेन जी का प्रस्तुत उपन्यास चरित्र प्रधान है। एक ही चरित्र के चारो ओर कथा बिखरी हुई है। अन्य चरित्र-प्रधान उपन्यासो की भाँति इसमे भी सुधीद्र का चरित्र कथा-वस्तु का एक भाग होकर नही आया है वरन् उसका अपना निज का व्यक्तित्व है। कथावस्तु स्वय उसके व्यक्तित्व के आधीन है। कथा का प्रारम्भ उसकी प्रिय पत्नी माया की मृत्यु से हुआ है। यही से उपन्यासकार माया के गुण वर्णन के साथ-साथ अपरोक्ष रीति से सुधीद्र का चरित्र भी उभारता गया है। उसे अपने प्रिय जनो का बिछोह सहन करना पडता है, आत्मीय जनो से प्रवचित होना पडता है। एक के उपरान्त दूसरी विपत्ति से सघर्ष करना पडता है। प्रथम पत्नी माया की मृत्यु के पश्चात् उसे दूसरा विवाह सुधा से करना पडता है। सुधा के भाई मधुसूदन की रक्षा के लिए उसे उसके साथ युद्ध मे विदेश जाना पडता है। वहाँ से मधुसूदन एक टाग का होकर लौटता है। जलियान वाला काड मे वह पुलिस की गोली का शिकार होता है। प्रतिक्रियास्वरूप सुधीद्र अपनी पत्नी सहित स्वतत्रता आदोलन मे भाग लेता है। परिणामस्वरूप उसे कालेपानी भेज दिया जाता है। लौटने पर पत्नी, पिता और नवजात पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर वह विक्षिप्त हो जाता है।

प्रस्तुत कथानक से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कथानक सुधीन्द्र के ही चारो ओर घूमता है।। सुधीद्र की मुख्य कथा के साथ जयगोपाल एव मधुसूदन की प्रासगिक पताका कथा चलती है। इन कथाओ को आगे बढाने के लिए सरला, भगवती आदि की प्रकरी कथाओ का भी समावेश हुआ है किंतु इन सभी कथा आदि का प्रयोग कथानक को सुगठित बनाने के लिए नही हुआ है वरन पात्र विशेष के चरित्र को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ही हुआ है। प्रस्तुत कथानक मे विभिन्न घटनाओ एव परिस्थितियो की योजना केवल सुधीद्र मे पहले से वर्तमान विशेषताओं के प्रदर्शन के लिए हुई हैं।

कथानक मे घटनाओ की बहुलता होने के कारण कथा बिखर गई है। चरित्र प्रधान उपन्यासो मे यह दोष अधिकाधिक प्राप्त होता है। कारण चरित्र को पूर्ण रूप से अनावृत करने के लिए नई-नई स्थितियो की आवश्यकता होती है। उसमे वैचित्र्य बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह कथा वस्तु द्वारा परिमित न हो।[१] अत सुधीद्र के चरित्र के निर्माण एव उसे उभारने के लिए

१. हिंदी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव—पृ. ३६।

लाई गई अनेक अनावश्यक कथाओ के जमघट के कारण कथावस्तु शिथिल हो गई है। उदाहरण के लिए हम सुधीन्द्र के मित्र हरिप्रसाद, सूर्यकुमार एव प्रियवर्मा की कथाओ को ले सकते हैं।[१] इन कथाओ का मूल कथा से कोई सीधा सम्बध नही है किंतु तो भी इनका समावेश किया गया है वास्तव मे सुधीन्द्र के बाल चरित्र के उद्घाटन के लिए ही यह कथा प्रस्तुत उपन्यास मे सँजोई गई हैं। इसी प्रकार सरला की कथा का समावेश भी उसकी चारित्रिक दृढ़ता को प्रकट करने के लिए ही किया गया है। इस प्रकार कथानक गठन की दृष्टि से प्रस्तुत कथानक शिथिल वस्तु कथानक की कोटि मे रखा जा सकता है। इसमे सुधीन्द्र ही समस्त घटनाओ का जोड़नेवाला है नाटकीय सयोजना का भी इसमे पूर्ण अभाव है।

कुछ आलोचको ने प्रस्तुत उपन्यास के कथानक को दोष युक्त बताते हुए कहा है 'अधिकाश पात्र और अधिकाश घटनाएँ इसमे ठूँसी गई सी लगती हैं, जिनका न नायक से सम्बध है और न मूल कथा से।'[२] यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास मे कितनी ही घटनाएँ ठूँसी हुई सी ज्ञात होती हैं किंतु यह कहना कि उन घटनाओ अथवा पात्रो का नायक से कोई सम्बध नही है, सर्वथा असगत है। जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है प्रस्तुत उपन्यास मे पात्रो एव घटनाओ का बाहुल्य केवल नायक सुधीन्द्र के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए ही हुआ है। यह सत्य है कि प्रस्तुत उपन्यास का कथानक शृ खलाबद्ध न रहने के कारण बिखर गया है किंतु उपन्यासकार पर यह दोष लगाना 'उसके पास कोई एक पूर्ण कहानी नही थी। भिन्न-भिन्न, कहानियो अथवा घटनाओ का बखान करने के लिए एक पात्र चुन लिया और उसे देश विदेश मे भटकाते फिरे'[३] चरित्र प्रधान उपन्यासो के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करना है।[४]

कथानक मे विशृखलता एव बिखराव होने के फलस्वरूप भी उसमे रोचकता अत तक बनी रहती है। पाठक का ध्यान सुधीन्द्र के चरित्र पर ही

---

१. आत्मदाह—पृ. ६८ से ७९ तक।
२. हिन्दी उपन्यास के कथा-शिल्प का विकास, डा० प्रतापनारायण टंडन, पृ. ३००
३. *हिन्दी उपन्यास, श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. १७०।*
४. हिन्दी उपन्यास, श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ.३४ से ३६ एवं उपन्यासकला श्री विनोदशंकर व्यास पृ. ९६-९७।

केंद्रित रहना है। नायक के चरित्र को निखारने के लिए घटनाओं को कई स्थानों पर अप्रत्याशित एवं नाटकीय ढग से तोडा मरोडा भी गया है,[१] जिससे कथानक मे कुतूहल एव रोचकता की वृद्धि हुई है किंतु उसकी कलात्मकता अवश्य कुछ क्षीण हो गई है।

प्रस्तुत कथानक मानव जीवन का एक पूर्ण चित्र उपस्थित करता है। इसमे उपन्यास नायक सुधीन्द्र के बाल्यकाल से लेकर अन्त तक की विविध अवस्थाओं को चित्रित किया गया है। एक ओर जहाँ इसमे जीवन की विविध अवस्थाओं को लिया गया है, वही उपन्यासकार ने युग विशेष की कुछ समस्याओं को भी इसमे अनुस्यूत किया है।[२] अत जहाँ एक ओर पाठक चित्रण की सूक्ष्मता, यथार्थता एव गहनता से प्रभावित होता है वही कथानक द्वारा उस युग, समाज एव देश की दशा के आभास के साथ साथ उनकी ज्वलंत समस्याओं की व्याख्या पाकर आश्वस्त भी होता है।

प्रस्तुत उपन्यास मे उपन्यासकार अपनी कुछ अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मे भी पूर्ण सफल रहा है। जैसे पत्नी की मृत्यु के पश्चात् सुधीन्द्र के हृदय मे दूसरे विवाह के प्रश्न पर उठने वाली उथल-पुथल का एव विवाह के पश्चात् भी विरक्ति एव अन्तर्द्वन्द्व का सजीव चित्रण उपन्यासकार की निज की अनुभूतियों से पूर्ण ज्ञात होता है।[३]

प्रस्तुत उपन्यास मे भी उपन्यासकार की असावधानी के कारण कुछ भयकर भूले हो गई हैं। पात्रो के नामो मे इसमे भी कई स्थानो पर उलट फेर हो गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि सुधीन्द्र की छोटी बहन इंदु के पति

---

१. आत्मदाह सुधीन्द्र का निरुद्देश्य घर से पलायन, सरला, सन्यासी जी एव किसानों आदि की कथाएं इसी प्रकार की हैं। पृ ९१-१४५ मधुसूदन के साथ सुधीन्द्र का विदेश जाना भी नाटकीय ढग से होता है जलियाँवाला बाग की कथा भी नाटकीय है।

२. अ. सरला की कथा के माध्यम से विधवा समस्या पर एवं स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के विषय मे विचार (आत्मदाह) पृ १२२-१२९।
   ब. वेश्या समस्या पर विचार (आत्मदाह) पृ. १५१-५७।
   इ युद्ध, हिंसा एव अहिंसा पर विचार (आत्मदाह) पृ. ३०४-३०८।
   ई देश और प्रेम की समस्या पर विचार पृ. ३०४-३०८।

३. आत्मदाह, पृ. ८२, ८३, ८८-९०।

का नाम राजाराम एव पुत्री का नाम सुषा था।[1] किंतु आगे राजाराम नाम का प्रयोग सुधीन्द्र के छोटे भाई रामजस[2] के लिए सर्वदा किया गया है।[3] इसी का उलटफेर सुधींद्र के छोटे भाई राजेंद्र और वीरेंद्र के नामो के साथ हुआ है। कही पर राजेंद्र के स्थान पर वीरेंद्र[4] और कही पर वीरेंद्र के स्थान पर राजेंद्र का प्रयोग किया गया है। इस अनावधानी के परिणामस्वरूप कई अन्य भद्दी भूलें भी हो गई हैं। जैसे माया की मृत्यु के समय वीरेंद्र के विवाह की तैयारियाँ हो रही थी, उसकी बरात आदि का भी विस्तार से वर्णन किया गया है[5] किंतु आगे एक स्थान पर भूल से उसे अविवाहित लिख दिया गया है।[6] इसी प्रकार एक स्थान पर राजाराम (रामजस) की दूसरी पत्नी का नाम रेवती दिया है किंतु वही आगे चलकर बसती[7] हो गई है। वीरेंद्र और राजेंद्र के नाम की गडबडी अत तक चलती है। इमी से पुस्तक मे तो वीरेंद्र की मृत्यु की चर्चा की गई है[8] किंतु एक स्थान पर उपन्यासकार कह जाता है कि मधु और राजेंद्र की मृत्यु ने उन्हे हिला दिया था।[9] राजाराम का नाम तो अत आते-आते सुधरकर रामजस पुन हो जाता है किंतु अन्य नामो की गडबडी ज्यों की त्यो चलती रही है। इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी प्रस्तुत उपन्यास मे कई स्थानो पर काल की अवधि एव पात्रो की आयु भी भूल गए हैं, जिससे पाठक भ्रम मे पड जाता है।[10] यह भद्दी भूलें कथानक के कलात्मक सौदर्य को नष्ट तो करती ही हैं, साथ ही पाठक की रसानुभूति को आघात पहुँचाने के कारण उपन्यासकार के प्रति उसकी श्रद्धा को भी घटाती हैं।

---

१. आत्मदाह, पृ. ४५। २. आत्मदाह, पृ. ४८।

३. आत्मदाह, पृ. ५८ पर राजाराम और रामजस दोनों ही नाम एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हैं। साथ ही देखिए पृ. २०९, २१०, २११, २२६।

४. आत्मदाह, पृ. ६५ पर कहा गया है कि सबसे छोटे भाई का नाम राजेन्द्र था किन्तु पृ. २३२ पर कहा गया है कि वीरेन्द्र माता की सबसे छोटी सन्तान था।

५. आत्मदाह, पृ. ११ से १४ तक, पृ. ६५। ६. आत्मदाह, पृ. २३२।

७. आत्मदाह, पृ. २४१। ८. आत्मदाह, पृ. २८४।

९. आत्मदाह, पृ. २९०।

१०. आत्मदाह पृ. २३ पर कहा गया है कि सुधीन्द्र का विवाह १९ वर्ष की अवस्था मे माया से हो गया था, वह १४ वर्ष तक उनकी भार्या रही

नीलमणि

प्रस्तुत उपन्यास का व्यावहारिक प्रारम्भ नीलम और उसकी माता के वाद विवाद से होता है। नीलम विवाहिता होने पर भी आवश्यकता से अधिक स्वच्छंद है। वह अपने बाल सखा विनय के साथ पूर्ण युवती हो जाने पर भी शैशव की भाँति ही किलोलें किया करती है। यह उसकी माता को रुचिकर प्रतीत नहीं होता। वह विनय और नीलू दोनों पर ही प्रतिबंध लगाना चाहती है। इसी समय अप्रत्याशित रूप से नीलू के पति महेंद्र का आगमन होता है। प्रथम ही भेंट में नीलू पति का अपमान करती है किंतु महेंद्र सहन कर जाते हैं। इसके पश्चात् ही नीलू पति के साथ ससुराल चली आती है। मुख्य कथा की यही निष्पत्ति हो जाती है। अब कथानक एक समस्या के चारों ओर चक्कर काटता हुआ अग्रसर होता है। नीलू शिक्षित नवयुवती है, किंतु तो भी उसका विवाह बिना उसका मत लिए बिना उसकी रुचि जाने एक अपरिचित से कर दिया जाता है। नीलू इसी बात से असन्तुष्ट है। अब कथानक में इसी समस्या को कि 'स्त्रियों की बिना मर्जी के, बिना उनकी रुचि जाने, माता पिता जिनके साथ चाहें बाँध दें, खासकर जब स्त्रियाँ शिक्षित हों? क्या यह न्याय है?' को लेकर ही घात प्रतिघात-प्रारंभ हो जाता है। यह संघर्ष बाह्य जगत से होकर मनोजगत में पैठता है। महेन्द्र, नीलू से अपमान पर अपमान सहन कर भी प्रेम किए जाते हैं, किंतु बिना उसकी इच्छा के उसका स्पर्श तक नहीं करते। नीलू भी पति से प्रेम करने लगी है किंतु उसका वह प्रेम बाहर नहीं आ पाता वरन् वह हृदय में ही सुलगता एवं दहकता रहता है। उसका शरीर घुलने लगता है किंतु वह अपरिचित पति के समक्ष नत कैसे हो? आकर्षण और विकर्षण के मध्य होता हुआ कथानक अग्रसर होता है। इसी समय नीलू अपने बाल्यसखा विनय से मिलती है। उसके समक्ष भी वह अपनी वही समस्या प्रस्तुत करती है। और अंत में विनय ही समस्या का निष्कर्ष उसके समक्ष प्रस्तुत कर उसकी शंकाओं का समाधान करता है। इसके पश्चात् ही कथानक त्वरा के साथ अंत

(पृ २५-२६) किन्तु उसकी मृत्यु के समय सुधीन्द्र की आयु २८ वर्ष थी (पृ. २७) ३३ वर्ष से २८ वर्ष कैसे रह गए? इसी प्रकार पृ. १०१ पर उपन्यासकार ने कहा है सरला ९ वर्ष की अवस्था में विधवा हुई थी, इस समय वह १७ वर्ष की नवयुवती थी, किन्तु पृ १२३ पर ही वह भूल गए हैं। सुधीन्द्र के एक प्रश्न पर सरला १७ वर्ष की अवस्था में अपने को विधवा हुए पाँच ही वर्ष बतलाती है, जब कि होना चाहिए ८ वर्ष।

की ओर भागता है। और अंत तक आते-आते पति-पत्नी का मिलन हो जाता है।

प्रस्तुत कथानक मे नीलू और महेंद्र की कथा ही आधिकारिक कथा है। मणि की कथा प्रासंगिक प्रकरी का कार्य करती है। विनय की प्रासंगिक कथा से उलझ कर ही नीलू की कथा म जटिलता उत्पन्न होती है। किंतु अंत मे विनय की प्रासंगिक कथा ही प्रस्तुत कथानक के अंत का कारण बनती है।

प्रस्तुत उपन्यास मे प्रमुख समस्या है अपरिचित व्यक्ति से विवाह करने के पूर्व माता-पिता को कन्या की इच्छा अथवा रुचि ज्ञात करना आवश्यक है अथवा नही ? प्रमुख समस्या आधुनिक युग की एक प्रमुख समस्या है। इसका हल प्रस्तुत करने मे एक ओर कथाकार ने जहाँ प्राचीन मत-मतांतरो का आश्रय लिया है वही उसने तर्क एव विचारो का सबल भी नही त्यागा है। एक ओर यदि उसने महेंद्र एव उनकी माता के मुख से नियति, प्रारब्ध एव जन्म-जन्मान्तरो की बात कहलाई है[1] तो वही दूसरी ओर उसने विनय को माध्यम बनाकर यह भी कहला दिया है कि कन्या के स्वय के निर्वाचन से माता-पिता का ही निर्वाचन अधिक उत्तम है। कन्या अपनी अनुभवहीनता के कारण स्वय के निर्वाचन मे बहक सकती है, अपरिचित व्यक्ति से स्वयं परिचय प्राप्त करने मे अपनी पवित्रता को नष्ट कर सकती है, अत माता पिता का निर्वाचन ही अधिक श्रेष्ठ एव स्थायी है।"[2]

समस्या का हल कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया गया है कि कही भी कथा सूत्र की शृ खला बिखरने या टूटने नही पाई है। एक दो स्थल ऐसे अवश्य आ गए हैं जहाँ विचार कथानक पर छा गए हैं किन्तु उनसे कथा बोझिल नही हुई है वरन् उसके मध्य से समस्या का निष्कर्ष प्रस्फुटित होने के कारण उनकी कलात्मक महत्ता मे वृद्धि ही हुई है। कथानक की रोचकता अन्त तक बनी रही है। कथानक में नाटकीय एव अप्रत्याशित घटनाएं एक-दो स्थल पर अवश्य आ गई हैं[3], किन्तु उनके प्रयोग से कथा कही भी संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन नही कर पाई है। कथा मे वैज्ञानिक सिद्धान्तो का प्रयोग भी इस कुशलता के साथ किया गया है कि वह कथानक के साथ एक रस हो गए हैं। इससे उत्पन्न विज्ञानाभास प्रस्तुत कथानक को समस्या प्रधान कथानकों से कुछ परे खीच ले जाता है।

---

१. नीलमणि, पृ. ५३।   २. नीलमणि, पृ. १०६।

३. नीलमणि, पृ. ८३, ११२, १२२।

वैशाली की नगरवधू

प्रस्तुत उपन्यास आचार्य चतुरसेन जी की वह प्रथम बृहत्कार्य कलाकृति है, जिसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्होने चालीस वर्षों की अजित अपनी सम्पूर्ण साहित्य सम्पदा को रद कर के इसे अपनी प्रथम कृति घोषित किया था।[१] लगभग सात सौ पृष्ठो का यह उपन्यास उनके दस वर्ष के अध्ययन का परिणाम है। प्रस्तुत उपन्यास भारतीय इतिहास के ९०० ई० पू० से ५०० ई० पूर्व के काल से सम्बन्धित है। इसकी क्रीडा भूमि भी विशाल है। गान्धार से लेकर मगध और अग तक की सभी प्रकार गतिविधियो एव हलचलो को कलात्मक ढग से प्रस्तुत उपन्यास मे सजोया गया है।

प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा वैशाली की नगरवधू अम्बपाली एव मगध सम्राट बिम्बसार के अनुचित प्रेम सम्बन्ध की है। जिसके फलस्वरूप वैशाली और मगध दोनो ही विनाश के गर्त मे जा गिरे है।

प्रस्तुत उपन्यास में कथा का प्रारम्भ एक "धिक्कृत कानून" से होता है। इस धिक्कृत कानून के अनुसार तत्कालीन वैशाली गणराज्य मे यह एक अनिवार्य नियम था कि राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी नगरवधू का जीवन अपनाने को बाध्य होना पडता था। उसे किसी एक व्यक्ति से विवाह करने का अधिकार नही था, वरन् नगर के प्रत्येक व्यक्ति का उस पर समान अधिकार था। इस निर्वाचित सुन्दरी को "नगरवधू" कहा जाता था और राज्य की ओर से उसे प्रत्येक प्रकार की सुख-सुविधा एव सम्मान प्रदान किया जाता था। अम्बपाली एक ऐसी ही निर्वाचित "नगरवधू" थी। कथा का प्रारम्भ उसके प्रारम्भिक जीवन की घटनाओ से हुआ है। अम्बपाली का वाग्दान हर्षदेव नामक एक तरुण के साथ हो चुका था किन्तु वैशाली गणतन्त्र ने उसे बलात् "नगरवधू" घोषित कर दिया था। अम्बपाली ने "नगरवधू" बनने के लिए जितनी भी शर्ते प्रस्तुत की थी, किंचित् सशोधन के पश्चात् गणतन्त्र ने उन सभी को स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार अम्बपाली "नगरवधू" तो बन गई किन्तु उस धिक्कृत कानून के प्रति—जिसके कारण विवश होकर उसे नगरवधू बनना पडा था—प्रतिशोध लेने की भावना उसके हृदय मे सदैव धधकती रही। उसने वैशाली के विपक्ष मे हर्षदेव को उकसाया, सोमप्रभ को भडकाया किन्तु उसकी अभिलाषा पूर्ण न हुई। अन्त मे मगध सम्राट से सम्बन्ध स्थापित करके वह अपनी अभिलाषा की

१. देखिए नगरवधू की भूमिका।

पूर्ति कर सकी थी। इसी के कारण बिम्बसार ने वैशाली पर आक्रमण किया किन्तु विजयी न हो सके। अम्बपाली के बिम्बसार से एक औरस पुत्र भी हुआ किन्तु वह मगध की राजमहिषी न हो सकी। उपन्यास के अन्त मे वह अपना सर्वस्व त्याग कर भिक्षुणी हो जाती है।

इसमे दूसरी प्रमुख कथा है सोमप्रभ एव कुन्डनी की। एक अज्ञात कुलशील युवक है तो दूसरी है नाग कन्या। दोनो का प्रथम परिचय एक अप्रत्याशित घटना के द्वारा होता है। सोम अपने गुरु की आज्ञा से आचार्य शाम्बव्य काश्यप के समीप जाता है। रात्रि मे वह उन्ही की यज्ञशाला मे रुकता है। वही अकस्मात उसे एक अस्पष्ट चीत्कार सुनाई देती है। वह रक्षार्थ उस दिशा की ओर अग्रसर होता है किन्तु वहाँ उसे मिलती है नाग कन्या कुन्डनी—जिस पर आचार्य शाम्बव्य नाग दशन का पयोग कर रहे थे। सोम कुन्डनी की सहायतार्थ आचार्य से समक्ष खड्ग लेकर आ जाता है, किन्तु बन्दी होता है। अन्त मे आचार्य उसके इस गुरुतर अपराध को क्षमा कर उसे कुन्डनी के साथ ही चम्पा देश की विजय को भेज देते है। यही से दोनो की कथा प्रारम्भ होती है। चम्पा की यात्रा के मध्य इसके मार्ग मे अनेक व्यवधान आते हैं किन्तु अन्त मे यह दोनो उन व्यवधानो का अतिक्रमण करते हुए सकुशल चम्पा पहुच जाते हैं। अपने बुद्धिबल एव बाहुबल के द्वारा यह शीघ्र ही चम्पा पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। चम्पा के महाराज दधिवाहन को कुन्डनी अपने मृत्यु चुम्बन से समाप्त कर देती है। चम्पा नरेश की मृत्यु के पश्चात् चम्पा पर मगध का अधिकार स्थापित कर, चम्पा की राजकुमारी को साथ लेकर सोम और कुन्डनी मगध की ओर प्रत्यावर्तित होते हैं। प्रत्यावर्तन के पथ पर पुन अनेक बाधाएँ आती हैं। मार्ग मे दस्युओ के आक्रमण के फलस्वरूप कुन्डनी, राजकुमारी और सोम तीनो एक दूसरे से बिछड जाते हैं। कुन्डनी और सोम तो अपने बुद्धि एव बाहुबल से बच निकलते है किन्तु राजकुमारी चन्द्रप्रभा दस्युओ द्वारा बन्दी बनाकर 'दासो के हट्ट मे" एक क्रीत दासी की भाँति विक्रय कर दी जाती है। उसे महाराज प्रसेनजित के नव विवाह मे देने के लिए क्रय किया जाता है, किन्तु वह महाराज के प्रासाद से राजकुमार विदुडम, सोमप्रभ एव कुन्डनी के प्रयास से निकाल ली जाती है। राजकुमारी और सोम परस्पर प्रेम करने लगते है। किन्तु अन्त मे राजकुमारी का कल्याण देखकर सोम अपना स्वार्थ त्याग देते हैं। सोम और कुन्डनी श्रावस्ती मे ही रुककर राजकुमार विदुडम की उसके पिता प्रसेनजित के विरुद्ध सहायता करते हैं। अन्त मे इन्ही के प्रयास से विदुडम को कोशल का राज्य प्राप्त होता है। चम्पा की राजकुमारी चन्द्रप्रभा का पाणिग्रहण भी राजकुमार विदुडम के साथ करवाकर ये दोनो पुन मगध लौट

जाते हैं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में सोमप्रभ और कुन्डनी दोनों की कथाएँ भिन्न-भिन्न अग्रसर होती हैं। सोम वैशाली में कभी चित्रकार के रूप में तो कभी बलभद्र दस्यु के रूप में कार्य करने लगता है। कुन्डनी भी वही भद्रनन्दिनी वेश्या के रूप में मगध की ओर से कार्य करने लगती है। यही कुंडनी का अंत एक चामत्कारिक घटना के द्वारा होता है। सोम वैशाली महायुद्ध में मगध के महासेनापति के रूप में कार्य करता है, किंतु ज्यों ही उसे ज्ञात होता है कि युद्ध केवल अम्बपाली के लिए हो रहा है, वह तुरत रोक देने की घोषणा कर देता है। इसी बात पर वह महाराज बिम्बसार से भी द्वन्द्व युद्ध करके उन्हें परास्त करता है। इस कथा के अन्त में आर्या मातंगी द्वारा दो रहस्य प्रकट किए जाते हैं—प्रथम सोमप्रभ सम्राट बिम्बसार का पुत्र है और अम्बपाली सोम की भगनी। सोम और अम्बपाली की माता एक और पिता दो हैं। अम्बपाली के पिता आर्य वर्षकार हैं। अम्बपाली की भांति सोमप्रभ भी अन्त में भिक्षु हो जाता है।

तीसरी मुख्य कथा है कोशल नरेश महाराजा प्रसेनजित एवं उनके दासी-पुत्र विदूडभ की। वृद्धावस्था में भी महाराज प्रसेनजित लोलुप, कामी एवं विलासी हैं। उनका पुत्र विदूडभ भी इसी कारण से उनका विरोधी हो जाता है। उसे सर्वाधिक क्षोभ इसी बात का है कि महाराज ने अपनी वासना पूर्ति के लिए उसे दासी से क्यों उत्पन्न किया। उसे इसी कारण पग-पग पर अपमानित होना पड़ता था। अन्ततः वह अपने विलासी एवं मदांध पिता के विरुद्ध षड्यन्त्र प्रारंभ कर देता है। बंधुलमल्ल महाराज की सहायता करते हैं तथा सोमप्रभ विदूडभ की। अन्ततः सोमप्रभ के कारण ही विदूडभ अपने पिता पर विजय प्राप्त करता है और उन्हें देश-निकाला दे देता है। मार्ग में ही महाराज प्रसेनजित एवं देवी मल्लिका की दुःखद मृत्यु हो जाती है। सोमप्रभ कोशल के सिंहासन पर विदूडभ का अभिषेक कर चम्पा की राजकुमारी चन्द्रप्रभा से उसका पाणिग्रहण करा देता है। यह कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

इन तीन प्रमुख कथाओं के अतिरिक्त प्रस्तुत उपन्यास में निम्न प्रासंगिक कथाएँ और हैं हर्षदेव की कथा[१], शाक्यपुत्र गौतम की कथा[२], कुलपुत्र यश की कथा[३], वैज्ञानिक शाम्बव्य काश्यप की कथा[४], मगध महामात्य आर्य की कथा[५],

---

१. नगरवधू, पृ० ४१-४३ तथा १६७ से १७२। २. नगरवधू, पृ. ४६-५२।
३. नगरवधू, पृ. ५३-५८। ४. नगरवधू, पृ ७२-८६।
५. नगरवधू, पृ. ९२-९७, २६६-३००, ४२१-४२३।

आर्या मातंगी की कथा[1], ज्ञातिपुत्र सिंह एवं रोहिणी की कथा[2], शम्बर असुर की कथा[3], महाराज दधिवाहन की कथा[4], महाराज उदयन की कथा[5], बादरायण व्यास की कथा[6], अजित केशकम्बली की कथा[7], शीलभद्र की कथा[8], भगवान् महावीर की कथा[9], कलिंग सेना की कथा[10], सेनापति कारायण की कथा[11], बंधुल की कथा[12], युवराज स्वर्णसेन की कथा[13], हरि केसीबल की कथा[14], नंदन साहु की कथा[15], छाया पुरुष की कथा[16], जयराज की कथा[17], ये कथाएँ कहीं मुख्य कथाओं के सहायतार्थ आई हैं तो कहीं स्वतंत्र विकसित हुई हैं। इन कथाओं का जाल कहीं-कहीं इतना उलझा हुआ है कि मुख्य कथा सो सी गई है।

वास्तव में प्रस्तुत उपन्यास की कथा का सम्बन्ध किसी एक राज्य अथवा व्यक्ति विशेष से न हो कर अनेक राज्यों एवं राजन्य वर्गों से है कुल की प्रमुख कथाएँ चार राज्यों—वैशाली, मगध, चम्पा एवं कोशल से सम्बन्धित हैं। चारों ही राज्यों की राजधानियाँ प्रस्तुत कथानक की क्रीडा भूमि हैं। जिससे इसमें कितनी ही कथाएँ समानान्तर चलती हुई दीख पड़ती हैं, फलस्वरूप कथानक बिखर गया है। कई स्थानों पर विवरण की अधिकता के कारण कथा की गति अवरुद्ध हो गई है।[18] कई स्थानों पर विचाराधिक्य भी कथा की गति को

---

१. नगरवधू, पृ ९८ से १०८ तक। २. नगरवधू, पृ. १२१ से १३६ तक।
३. नगरवधू, पृ. १८१ से २०५ तक। ४. नगरवधू, पृ. २०७ से २३५ तक।
५. नगरवधू, पृ. १११ से १२० तक। ६. नगरवधू, पृ. २४१ से २६४ तक।
७. नगरवधू, पृ. २४४ से २५० तक। ८. नगरवधू, पृ. ३२१ से ३२३, ३२८ से ३३१ तक।
९. नगरवधू, पृ. ३२४ से ३२७ तक। १०. नगरवधू, पृ. २८७ से २९४ तक।
११. नगरवधू, पृ. ४१२ से ४१३ तक। १२. नगरवधू, पृ. १३७ से १४५ तक।
१३. नगरवधू, पृ. ५२९ से ५३१ तक। १४. नगरवधू, पृ. ३१७ से ३२०, ५५२ से ५६० तक।
१५. नगरवधू, पृ. ५४७ से ५४८ तक। १६. नगरवधू, पृ. ५८५ से ५९६, ६०२-६०४, ७०८-७१३।
१७. नगरवधू, पृ. ६३० से ६५२ तक। १८. नगरवधू, पृ. ४४-४८, ८२-९१, २८५-२९४, २९९-३०८, ३२१ से ३३१ आदि।

बाधित करता है। इन दोषो के कारण एक ओर जहाँ कथा-वस्तु बिखर गई है वही अनावश्यक विवरणो के आधिक्य के कारण बोझिल भी हो गई है। किंतु उपन्यासकार की यह बहुत बडी सफलता है कि पूर्वार्द्ध की इस बिखरी हुई कथा को उसने उत्तराद्ध मे बडी कुशलता से समाल लिया है। यद्यपि सभी कथाओ को एक साथ समेटने की शीघ्रता मे उसे कई अस्वाभाविक एव आकस्मिक मोड देने पडे हैं, जिससे कहीं-कहीं पर कथानक यंत्रचालित सा ज्ञात होने लगता है। जैसे कुन्डनी की मृत्यु चुम्बन[1], एकान्त वन में चित्रकार का साहस[2], छाया पुरुष की कथा[3] आदि कई स्थलो पर भारतेंदु-युग के तिलस्मी उपन्यासो के समान ही इसमे भी घटनाएँ कथानक को आक्रांत कर देती हैं, जिससे कथानक इनके बोझ से दबा हुआ अत्यन्त मंदगति से अग्रसर हो पाता है।' जैसे कौशल दुर्ग से राजकुमार विदूडभ के निकालने की कथा[4], शम्बर असुर की कथा[5], चम्पा मे पर्शापुरी के रत्न विक्रेता की कथा[6] आदि कथाएँ इसी प्रकार की है। इनमे उपन्यासकार ने नाटकीय ढग से कथा को अकस्मात् इच्छित पथ पर मोड दिया है। जिससे कथा एक झटके के साथ रुककर, दूसरी दिशा मे मुडकर क्षिप्र गति से भाग चलती है। इससे पाठक की कुतूहल वृत्ति जाग्रत हो जाती है। जिससे कथानक की रोचकता तो बढ जाती है किन्तु इससे कथानक की स्वाभाविकता को गहरा आघात लगता है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक बिखर भले ही गया हो, किन्तु उसकी शृ खला कहीं टूटी नहीं है। साथ ही उपन्यासकार कथा को अन्त तक पूर्ण रोचक बनाए रखने मे सफल रहा है। उपन्यास म रोचकता लाने के लिए ही उसने उपर्युक्त नाटकीय एव आकस्मिक घटनाओ की सयोजना की है। इसलिए एक आलोचक ने प्रस्तुत उपन्यास की आलोचना करते हुए लिखा है "इस उपन्यास मे, विविध प्रसगो की रोचकता के कारण कथा इतनी अरोचक तो नही होने पाती है, परन्तु घटनाओ का सारी सयोजन जासूसी उपन्यास के कथानक की भांति भी है, जिसमे स्थान-स्थान पर अनेक घटनाएँ चलती हैं। अन्तर इतना है कि जहाँ जासूसी उपन्यासो मे इस प्रकार की घटनाएँ एक दम चामत्कारिक रूप मे

---

१. नगरवधू, पृ १८१ से २०५ तक। २. नगरवधू, पृ. ४८६ से ५१७ तक।
३ नगरवधू, पृ ५८५-५९६, ६०२-६०४, ७०८ से ७१३ तक। ४. नगरवधू, पृ ४४१-४५५।
५ नगरवधू, पृ १८१-२०५। ६ नगरवधू, पृ २१७-२२९ तक।

सम्मिलित होती हैं वहाँ इस उपन्यास मे उनका समावेश नाटकीय रूप से हुआ है।[1]

उपन्यासकार ने विलक्षण घटनाओ को भी युक्तिसगत और असगत प्रसगो को भी सुसगत बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है किन्तु तो भी कई स्थलो पर कथा सभावना के क्षेत्र का उल्लघन कर गई है। उसने सम्पूर्ण कथानक को बुद्धि सगत बनाने की चेष्टा की है। किन्तु कथा के कुछ स्थल बुद्धि के लिए अग्राह्य हो गए है। महाराज उदयन का आकाश मार्ग से अम्बपाली के समक्ष वीणा वादन एव पुन उसी मार्ग से प्रत्यावर्तन[2], राक्षसो के नगर का वर्णन, उसमे प्रदर्शित अलौकिक आकर्षण शक्ति[3], विष कन्या कुन्डनी द्वारा मृत्यु-चुम्बन और असुरो का विनाश[4], छाया पुरुष का प्रवेश[5], आदि कुछ ऐसे प्रसग हैं जिन पर साधारण पाठक विश्वास नही कर पाता। उपन्यासकार ने स्वय भी परकाया प्रवेश को भूमिका मे कपोल-कल्पित ही माना है[6] किन्तु फिर भी कुछ प्राचीन मान्यताओ के कारण उसने ऐसे प्रसगो को स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे प्रसग हैं जो कुछ खटकते है। जैसे मगध सम्राट बिम्बसार का युद्ध के वातावरण मे अम्बपाली के आवास म सुरक्षित पहुँच जाना[7], राजकुमार विदटम को बन्दी गृह से मुक्त करना[8], वैशाली मे प्रभजन नायी की धाक जमाने के लिए दैवी प्रकोप का वातावरण एक नाटकीय घटना का सयोजन करके उत्पन्न करना[9], आदि घटनाए, किन्तु यह घटनाएँ नितात काल्पनिक नही ज्ञात होती, कारण इनके प्रस्तुत करने मे उपन्यासकार ने कार्य-कारण सम्बन्ध का ध्यान रखा है, जिससे यह स्थल बुद्धि के लिए अग्राह्य नही होने पाये हैं।

वास्तव मे यही उपन्यास आचार्य चतुरसेन जी का सर्वप्रथम मौलिक इतिहास रस का उपन्यास है। इसी उपन्यास मे उन्होने "इतिहास-रस" की स्थापना की है। प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु का आधार बौद्ध-ग्रन्थो मे उल्लिखित वैशाली की गणिका अम्बपाली है। उपन्यासकार ने स्वय इस कथा-वस्तु के

---

१ हिन्दी उपन्यास मे कथा-शिल्प का विकास डा० प्रतापनारायण टडन पृ ३३०-३३१ तक।

२ नगरवधू, पृ १११ से १२० तक।
३ नगरवधू, पृ १२१ से १८८ तक।
४ नगरवधू, पृ २०० से २०४ तक।
५ नगरवधू, पृ २८५-२९६, ७०८-७१३।
६ नगरवधू भूमि, पृ ८६१।
७ नगरवधू, पृ ७०३ से ७०७ तक।
८ नगरवधू, पृ ४३३ से ४४५।
९ नगरवधू, पृ ५५२ से ५६० तक।

विषय मे कहा है "बहुत दिन हुए सम्भवत अब से बीस बरस पहले मेरी दृष्टि इस गणिका से सम्बन्धित एक बौद्ध उपस्थान पर पडी (महावाग ६/४/७) जिसमे इस बात का उल्लेख था कि गणिका अम्बपाली ने वैशाली मे आने पर बुद्ध को भोजन का निमन्त्रण दिया था और उस पर वैशाली के राजपुरुषो ने ईर्षा की थी। यह भी मैंने सुना कि वैशाली गणतन्त्र मे एक ऐसा कानून था जिसके आधार पर राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या को अविवाहित रखकर उसे वेश्या बना दिया जाता था (पवेणी पोत्थकम्)।[1] इन्ही दो सूक्ष्म सूत्रो पर ही उसने इतने विशाल कथानक का निर्माण किया है। अब देखना यह है कि प्रस्तुत उपन्यास मे कितनी कथाए ऐतिहासिक हैं और कितनी कल्पना प्रसूत। जैसा कि हम दिखला चुके है कि इस उपन्यास मे तीन प्रमुख कथाए हैं अम्बपाली एव बिम्बसार की, प्रसेनजित एव विड्डम की एव अन्तिम सोम प्रभ एव कुन्डनी की।

हर्षदेव, बादरायण व्यास, बन्धुलमल्ल, वर्षकार, आर्या मातगी आदि की लगभग २१ प्रासगिक कथाएँ इन्ही तीनो कथाओ की आश्रित है। वास्तव मे उपन्यास की प्रथम एव द्वितीय दोनो ही प्रमुख कथाएँ एकदम काल्पनिक नही हैं। अम्बपाली और मगध सम्राट बिम्बसार के सम्बन्ध की कथा इतिहास मे भी प्राप्त है। उपन्यासकार ने बिम्बसार के अम्बपाली से एक औरस पुत्र भी होना दिखाया है, वह भी काल्पनिक नही ऐतिहासिक है। इतिहास मे स्पष्ट उल्लेख है कि बिम्बसार का अम्बपाली से विमल कोन्द्रक नामक एक पुत्र था।[2] अम्बपाली का अन्त मे भगवान बुद्ध की शरण मे आना तो ऐतिहासिक है ही।[3] इसके अतिरिक्त प्रस्तुत उपन्यास की द्वितीय प्रमुख कथा प्रसेनजित एव विड्डम की भी बहुत कुछ इतिहास सम्मत है। विड्डम का नाम विरुद्धक भी इतिहास मे प्राप्त होता है। इतिहास मे प्राप्त होता है कि प्रसेनजित काशी तथा कोशल का अधिपति था।[4] भद्दसाल जातक के अनुसार शाक्य देश भी उसी के प्रभुत्व के अन्तर्गत था। (भद्दसाल जातक ४, पृ ११९) शाक्य लोगों ने षड्यन्त्र करके

---

१ नगरवधू भूमि।

२ भाग १ : डिक्सनरी आफ पाली प्रापर नेम्स पृ १५५।

तथा २ : हिन्दू सभ्यता, डा० राधाकुमुद मुकर्जी अनुवादक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृ १८१।

३ मेरी गाथा अंग्रेजी अनुवाद पृ ५५।

३ डिक्सनरी आफ पाली प्रापर नेम्स पृ १५५।

४ मज्झिमनिकाय (पाली टैक्स्ट सोसायिटी) वाल्यूम २, पृ १११।

अपने यहाँ की एक नीचकुलोत्पन्ना कुमारी वासमाखत्तिया[१] से कोशल नरेश का विवाह कर दिया। इसी महादेवी (अंगुत्तरनिकाय पाली टेक्स्ट सोसाइटी) वाल्यूम ३, पृ ५७) का पुत्र विड्डभ अथवा विरूद्धक था जो प्रसेनजित के उपरांत कोशल का शासक बना। कालांतर मे जब इस कुमार को अपने मातृ पक्ष की हीनता का ज्ञान हुआ और शाक्यों की दुर्मति का पता चला तब वह बड़ा कुपित हुआ। शासन भार अपने हाथों मे लेकर उसने शाक्यों से भरपूर वैर चुकाया—बड़ी निर्दयता एवं क्रूरता से उनका नाश किया (धम्मपद अट्ठकथा पाली टेक्स्ट सोसाइटी, वाल्यूम १ पृ ३३९, जातक वाल्यूम १, पृ १३३, वाल्यूम ४, पृ १४४) प्रसेनजित को जब अपनी महादेवी के कुलशील का पता चला तब उसे और उसके पुत्र को उसने अपदस्थ कर दिया था। [२] इसके पश्चात् ही विरूद्धक ने अपने पिता के विरुद्ध विप्लव भी किया था। इस विषय मे प्रधान सेनापति दीघकारायण—दीर्घकारायण ने उसकी बड़ी सहायता की थी और उसी की सहायता से विरूद्धक सिंहासन पर बैठने मे समर्थ हो सका था। बधुल के साथ विश्वासघात और विरूद्धक के गद्दी पर बैठने के दुख से दुखी होकर ही प्रसेनजित की मृत्यु हुई (क) धम्मपद पट्ठ कथा, वाल्यूम १, पृष्ठ २२८, ३४९-५६, जातक वाल्यूम ४, पृ १४८ (ख) आर० एस० त्रिपाठी (हिस्ट्री आफ एंशिएंट इंडिया) पृ ९२[३], इसी प्रकार प्रस्तुत उपन्यास मे प्राप्त बधुल मल्ल एवं मल्लिका वाली कथा भी एक सीमा तक ऐतिहासिक है। (डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, वल्यूम २, पृ २६६-७१)[४] तीसरी प्रमुख कथा—सोमप्रभ एवं कुन्डनी की ऐतिहासिक नहीं है। वह एकदम कल्पना प्रसूत है। उसका निर्माण उपन्यासकार ने तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के निमित्त किया है।

---

१ आचार्य चतुरसेन जी ने इसका नाम नन्दिनी दिया है।

२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ ४५०।

३. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा—पृ० ४५-४६ साथ ही देखिए—हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी—अनुवादक—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृष्ठ १७८।

४. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—पृष्ठ ४५, साथ ही देखिए हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ १७८ से १७९ तक।

प्रस्तुत उपन्यास की उपर्युक्त दो कथाएं इतिहास सम्मत होते हुए भी उसे हम शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नही कह सकते, कारण उपन्यासकार ने देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करके कई जाली पात्रो को एक साथ ला खड़ा किया है, जिससे कथानक मे यत्रतत्र 'काल दोष' का भी आभास होने लगा है।[1] वास्तव मे प्रस्तुत उपन्यास मे उपन्यासकार का उद्देश्य ऐतिहासिक कथा कहने का नही रहा है, वरन् इसमे उसने एक युग विशेष का पुनर्निर्माण किया है। वास्तव मे आचार्य चतुरसेन जी का प्रस्तुत उपन्यास डा० वृन्दावनलाल वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' की भाति ऐतिहासिक आवरण मे लिपटा रोमांस मात्र है।

'वैशाली की नगरवधू' के युग से सम्बधित कितने ही उपन्यासो की रचना हो चुकी है। राहुल ने "जय योधेय" "सिंह सेनापति"। यशपाल ने "दिव्या" और "अमिता" के माध्यम से बौद्ध युग के पुनर्निर्माण की चेष्टा की है तो डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी प्रसिद्ध कृति "बाणभट्ट की आत्मकथा" मे उस युग को साकार करने का सफल प्रयत्न किया है। 'प्रसाद' अपने अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' मे भी इसी युग को लेकर आ रहे थे। भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' और रामरतन भटनागर के 'अम्बपाली' उपन्यास की पृष्ठभूमि मे भी इसी युग का वातावरण प्रदर्शित किया गया है। केवल हिंदी मे ही नही वरन् अन्य भाषाओ मे भी इस युग से सम्बन्धित व्यक्तियो और घटनाओ पर उपन्यासो की रचना हुई है। बगला के उपन्यासकार राखालदास बन्दोपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास शशाक और करुणा, गुजराती के प्रसिद्ध शब्द शिल्पी 'धूमकेतु' के उपन्यास 'नगर सुन्दरी' 'मगधपति' 'वैशाली' 'महामात्य चाणक्य' एव चन्द्रगुप्त मौर्य तथा श्री मुशी के 'भगवान् कौटिल्य' मराठी के उपन्यासकार श्री बा० मा० शाह का 'सम्राट अशोक' तथा हरमॅनहेस का 'सिद्धार्थ' आदि उपन्यास इसी युग की पृष्ठभूमि पर लिखे गये उपन्यास हैं। अब हमे देखना यह है कि इन उपन्यासो के मध्य रखने पर आचार्य चतुरसेन जी का 'नगरवधू' उपन्यास कहाँ तक अपना स्थान बना पाता है। जहाँ तक कथा सौन्दर्य का प्रश्न है 'नगर-वधू' किसी भी उपन्यास से पीछे नही है। राखाल बाबू, इन्दुमा एवं अन्य श्रेष्ठ उपन्यासकारो की भाँति आचार्य जी भी कहानी कहने मे बड़े पटु हैं। वे किसी पात्र को तब तक गोपनीय रखते हैं, जब तक उसकी आवश्यकता न हो। पाठक

१ इस पर विशेष प्रकाश आगे 'देशकाल एव वातावरण सृष्टि' नामक अध्याय मे डाला गया है।

का औत्सुक्य जब चरम-सीमा पर पहुँच जाता है, तब ठीक समय पर वे प्रकट कर देते हैं। इससे पाठक की उत्कंठा अन्त तक जाग्रत रहती है।

किंतु जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, आचार्य जी का यह उपन्यास राखाल बाबू के उपन्यासो अथवा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाण भट्ट की आत्मकथा' से बहुत पीछे है। 'नगर वधू' मे इतिहास कथा के नीचे दबकर सत्ता शून्य हो गया है। तो भी यह राहुल, यशपाल, भगवती चरण वर्मा के उपन्यासो से कही अधिक श्रेष्ठ एव इतिहास सम्मत है।

नरमेध

प्रस्तुत उपन्यास की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ एक अप्रत्याशित घटना से होता है। एक स्त्री नगर के प्रसिद्ध एडवोकेट जनरल गोपालदास की निर्मम हत्या कर देती है। हत्या के पश्चात् ही वह पुलिस के समक्ष आत्म-समर्पण भी कर देती है। इस प्रारम्भिक घटना के पश्चात् ही सर ठाकुरदास और उनके पुत्र त्रिभुवनदास की कथा प्रारम्भ हो जाती है। इस कथा के साथ ही सर शादीलाल एव उनकी पुत्री किरण की कथा भी सहायक कथा के रूप मे चलती है। किरण और त्रिभुवन का विवाह निश्चित हो चुका है। उसी समय सर ठाकुरदास का निधन हो जाता है और अन्तिम समय वे अपनी समस्त सम्पदा किरण के नाम कर जाते है। साथ वे अपने पुत्र त्रिभुवनदास को किरण से विवाह न करने का आदेश दे जाते हैं।

स्वर्गीय पिता की आज्ञा पूर्ति के लिए त्रिभुवन अपनी सम्पूर्ण सम्पदा एव अपनी प्रेयसी किरण को त्याग कर नगर मे अन्यत्र आकर रहने लगते हैं। यही से हत्याकारिणी की कथा पुन प्रारम्भ होती है। पुलिस उस पर केस चलाती है। त्रिभुवनदास बैरिस्टर हैं। उस हत्याकारिणी का केस वे स्वय करने को प्रस्तुत हो जाते हैं गुप्त रूप से वे हत्या के विषय मे ज्ञात करने का प्रयत्न करते है, किंतु उन्हे विशेष सफलता नही प्राप्त होती। अन्त मे उन्हे कुछ सूत्र ऐसे प्राप्त हो जाते हैं कि जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिभुवनदास स्वय उस हत्याकारिणी के पुत्र हैं। वस्तुत वह हत्याकारिणी एक पवित्र देवी थी। पति से सुखी, पुत्र से सम्पन्न, किन्तु गोपालदास के कारण ही उसे पाप पक मे डूबना पडा था। इसी कारण उसने उस दुष्ट की हत्या कर दी थी। यह रहस्य केवल ठाकुरदास को ज्ञात था। उनकी इसी आघात के कारण मृत्यु भी हुई थी। त्रिभुवनदास अपनी माता को निर्दोष सिद्ध करने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं किंतु निष्फल रहते हैं। हत्याकारिणी को मृत्युदण्ड की आज्ञा होती है।

त्रिभुवनदास के जन्म के इस रहस्य के ज्ञान होते ही शादीलाल, उससे घृणा करने लगते हैं। किंतु उनकी पुत्री किरण अपने प्रेमी (त्रिभुवनदास) से और अधिक प्रेम करने लगती है। अत मे वह अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध त्रिभुवनदास से विवाह कर लेती है। यही प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा है।

प्रस्तुत उपन्यास मे आधिकारिक कथा त्रिभुवनदास और किरण की है। इस कथा को अग्रसर करने के लिए शादीराम, गोवर्द्धन, त्रिलोक बाबू आदि की प्रासगिक कथाओ का समावेश किया गया है। त्रिभुवन की माता हत्याकारिणी की कथा मूल कथा मे पताका-स्थानक का कार्य करती है, कारण त्रिभुवन दास की आधिकारिक कथा इसी कथा से उलझकर विस्तार पाती है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक एक शृखला मे बद्ध होने के कारण सगठित कहा जा सकता है, किंतु जहाँ तक रोचकता का प्रश्न है लेखक की विवरणात्मक शैली उसमे बाधक हुई है। जहाँ कही लेखक बिना किसी प्रसग के अपने विचार देने लगता है, वही कथा कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गई है। आधुनिक उपन्यासकारो की भाँति लेखक इस कथा के पीछे रहकर कथा को सकेत द्वारा नही प्रस्तुत करता वरन् वह भारतेंदु युगीन उपन्यासकारो की भाति पग-पग पर सामने आकर कथा कहता हुआ दीख पडता है। इस विवरणात्मक पद्धति के कारण कथा की कलात्मकता को भारी आघात पहुँचा है। यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास के कथानक मे पर्याप्त आकर्षण शक्ति है किंतु उसे प्रस्तुत करने का ढग आकर्षक न होने के कारण उसकी आकर्षण शक्ति न्यून हो गई है।

प्रस्तुत उपन्यास मे 'हृदय की परख' नामक उपन्यास की समस्या पुन सामने आती है। इसमे भी उपन्यासकार ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि समाज मे किसी व्यक्ति के कर्माचरण का तत्काल प्रभाव उतना नही पडता, जितना उसकी जन्म विषयक घटनाओ का। त्रिभुवनदास की माता का रहस्य ज्ञात होते ही शादीराम आदि उससे घृणा करने लगते हैं। किंतु इसमे उपन्यासकार 'हृदय की परख' से कुछ आगे बढ गया है। 'हृदय की परख' का विद्याधर समाज भीरु है किंतु यहाँ किरण समाज, यहाँ तक माता-पिता की चिंता किए बिना ही त्रिभुवनदास से विवाह कर लेती है। 'हृदय की परख' मे उपन्यासकार ने केवल एक चिरन्तन समस्या पर प्रकाश डाला है किंतु प्रस्तुत उपन्यास मे उसने उस समस्या का हल प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

रक्त की प्यास

प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा है राजकुमार भीमदेव एवं राजकुमारी इच्छनी कुमारी के असफल प्रणय की।

कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ महाराज अजयपाल देव के राज्याभिषेक से होता है। यहीं से राजकुमार भीमदेव आबू के परमार की कलमी लेने उसके अन्तःपुर मे आते हैं। यहीं परमार की पुत्री इच्छनी कुमारी के सौंदर्य पर वह मुग्ध हो जाते हैं। और राजकुमारी भी उनके पराक्रम से प्रभावित होकर उनकी ओर आकर्षित होती है।

भीमदेव राजकुमारी को प्राप्त करने के इच्छुक हैं। किंतु प्राप्त करें तो कैसे? अन्ततः उन्होंने राजकुमारी से प्रणय निवेदन करके पूछा कि क्या मैं तेरे पिता से तेरी याचना करूँ? राजकुमारी ने हँसते हुए उत्तर दिया—छि। राजपूत भी कहीं किसी की बेटी मांगते हैं? मुझे चाहते हो तो हरण करने आबू आना। भीमदेव के हृदय को यह बात लग गई। वह उसे हरण करने के लिए आबू जाना चाहता है किंतु वे उसे उसकी भाभी महारानी नायिका देवी आबू जाने से रोक लेती हैं। महारानी नायिका देवी परमार के समीप उनकी पुत्री के लिए प्रस्ताव भेजती हैं किन्तु छत्रधारी राजा को ही अपनी पुत्री देना स्वीकार करते हैं। इसी समय महाराज अजयपाल के विरुद्ध जनता विद्रोह कर देती है। भीमदेव आदि की अनुपस्थिति मे महाराज अजयपाल विद्रोहियो के द्वारा मारे जाते हैं। भीमदेव उनके एकमात्र पुत्र मूलदेव का उनकी मृत्यु के पश्चात् अभिषेक कर देता है। किन्तु शीघ्र ही रोग से उस बालक की भी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार इन अकल्पित घटनाओ के अप्रत्याशित रूप से घटित हो जाने के कारण राजकुमार भीमदेव ही छत्रधारी राजा हो जाते हैं। राजा होते ही उन्हे परमार की बेटी की बात स्मरण हो आती है 'वीर नर जो असल क्षत्रिय होते है, कन्या मांगते नहीं, हरण करते हैं।'[१] हरण करना हो तो आबू आना कुमार, अपने जुझाऊ सोलंकी भटो को साथ लेकर।'[२] वे आठ सौ चुने हुए भटो और साठ सामन्तो की टुकडी लेकर आबू जा पहुँचते हैं। किंतु वहां उन्हे ज्ञात होता है कि राजकुमारी का वाग्दान महाराज पृथ्वीराज से प्रथम ही हो चुका है। वे एकान्त मे पुनः राजकुमारी से भेंट करते हैं किन्तु राजकुमारी अब

१. रक्त की प्यास पृ. २९।

२. रक्त की प्यास पृ. ३०।

उनके साथ जाना एक दम अस्वीकार कर देती है। भीमदेव उल्टे पैर लौट पड़ते हैं। राजकुमारी के विवाह के अवसर पर वह आबू पर चढ़ाई कर देते हैं किंतु महाराज पृथ्वीराज एवं परमार की संयुक्त सेनाओं के समक्ष ठहर नहीं पाते। उनकी पराजय होती है। विवाह मंडप में ही भीमदेव को उन्हीं की पगड़ी से बांधकर खड़ा कर दिया जाता है और उन्हीं के देखते-देखते परमार की बेटी पृथ्वीराज की पत्नी हो जाती है। अन्त में प्यार और तलवार दोनों का घाव खाकर, भीमदेव को पराजित होकर गुजरात की ओर लौटना पड़ता है। किंतु शीघ्र ही उन्होंने इस पराजय का प्रतिशोध लेने के लिए पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर पर आक्रमण कर दिया। सोमेश्वर मारा गया। पिता के वध का प्रतिशोध लेने के लिए पृथ्वीराज ने गुजरात पर आक्रमण किया। भीमदेव पराजित हुआ। इधर भारत के ये दोनों शक्तिशाली राजे परस्पर टकरा रहे थे और उधर उसी समय अवसर देखकर भारत पर गोरी ने आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज और भीमदेव इस परस्पर संघर्ष के कारण शक्तिहीन हो चुके थे। अतः गोरी ने इन दोनों को शीघ्र ही परास्त कर दिया। प्रेम की यह प्यास अन्त में भारत की परतन्त्रता का कारण बनी।

प्रस्तुत कथानक में आधिकारिक कथा भीमदेव एवं इच्छवी कुमारी की है। इस कथा को गतिशील बनाने के लिए कितनी ही प्रासंगिक-पताका और प्रकरी-कथाओं की सृष्टि की गई है। जिनमें मुख्य हैं पृथ्वीराज की कथा, महाराज अजयपाल एवं महारानी नायिका देवी की कथा, रामचन्द्र पंडित, महामंत्री कपर्दि एवं राज माता पद्मावती की कथा, अमरसिंह एवं आम्रभट्ट की कथा। पृथ्वीराज की कथा प्रासंगिक-पताका-कथा है। परमार की राजकुमारी इच्छवी के लिए भीमदेव युद्ध करता है। यहीं से पृथ्वीराज की कथा का उदय होता है। राजकुमारी के लिए ही भीमदेव, पृथ्वीराज का प्रतिद्वन्द्वी बनता है। संघर्ष प्रारम्भ होता है। प्रासंगिक कथा, प्रधान कथा को अपने में पूर्ण रूप से जकड़ कर खींचती हुई, उसे मोड़कर आगे निकल जाती है।

प्रस्तुत उपन्यास की भीमदेव, पृथ्वीराज एवं गोरी के युद्ध की कथा तो ऐतिहासिक है।[1] शेष कथाएँ कल्पना प्रसूत हैं। प्रस्तुत उपन्यास के कथानक पर ही आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यास 'दूरंग निमन्त्रण' की भी रचना की है। वास्तव में उनके 'दूरंग-निमन्त्रण' उपन्यास को हम इसी उपन्यास का विस्तृत सम्वरण कह सकते हैं।

---

१. भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरीप्रसाद पृ. १३७ से १४१ तक

देवांगना (मंदिर की नर्तकी)

प्रस्तुत कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ विक्रमशिला के नगर सेठिठ धनंजय के इकलौते पुत्र दिवोदास के प्रव्रज्या लेकर भिक्षुवृत्ति ग्रहण करने से होता है। भिक्षु होकर दिवोदास अन्य भिक्षुओं के साथ काशी पहुँचता है। यहीं उसका परिचय देवदासी मंजुघोषा से होता है। प्रथम दृष्टि में ही दोनों परस्पर प्रेम करने लगते हैं। मंजुघोषा का लालन-पालन मंदिर के महन्त सिद्धेश्वर ने किया था। उसी ने मंजु की माता सुनयना को भी बन्दी बना कर गुप्त स्थान पर रख छोड़ा था। युवती हो जाने पर वह मंजुघोषा के सौंदर्य पर स्वयं मुग्ध हो जाता है। अवसर पा एक दिन एकान्त में वह मंजुघोषा से प्रणय निवेदन करता है। मंजु उसके इस व्यवहार से अस्थिर हो उठती है। मदान्ध महन्त मंजु के साथ बलात्कार करना चाहता है, किंतु इसी समय अकस्मात् दिवोदास अपने दो सहयोगियों के साथ वहाँ आ पहुँचता है। द्वन्द्व युद्ध में सिद्धेश्वर पराजित होता है। उसके मूर्छित होते ही दिवोदास मंजु को लेकर भाग निकलता है। निरापद स्थान पर पहुँचने पर दिवोदास का सेवक सुखदास मंजु के समक्ष एक रहस्योद्घाटन करता है। मंजु को अभी तक यह ज्ञात न था कि देवी सुनयना कौन है और उनसे उसका क्या सम्बन्ध है ? सुखदास से उसे ज्ञात होता है कि देवी सुनयना, उसकी जन्मदात्री माँ है और वे वास्तव में लिच्छविराज की पट्टराज महिषी सुकीर्ति देवी हैं। वे अपनी पुत्री के कारण ही अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा को लात मारकर सिद्धेश्वर के यहाँ गर्हित जीवन व्यतीत कर रही थीं। सुनयना के कहने पर मंजु और दिवोदास मंदिर में पुनः पहुँचते हैं किन्तु यहाँ मंजु पुनः एक अपराध कर बैठती है, जिसके फलस्वरूप काशिराज की आज्ञा से दोनों बन्दी बना लिए जाते हैं। अन्त में सुखदास की युक्ति और उद्योग से मंजु और देवी सुनयना अन्धकूप से मुक्त होकर सुखदास के साथ भाग निकलती है। मार्ग में ही मंजु के पुत्र उत्पन्न होता है। इसी समय राजसैनिक भी आ पहुँचते हैं। सुनयना मंजु के नवजात् पुत्र को सैनिकों से रक्षा करने के लिए पुत्री को मूर्च्छित अवस्था में ही त्यागकर चली जाती है। कथा आदि से अन्त तक जटिल बनी रही है। अन्त में नाटकीय ढंग से उपन्यासकार ने सुनयना, मंजु, दिवोदास आदि सभी को परस्पर मिला दिया है। जिससे कि उपन्यास की कलात्मक महत्ता अक्षुण्ण नहीं रह सकी है।

इस मुख्य कथा के साथ-साथ प्रस्तुत उपन्यास में सुखदास—सुखानन्द, महास्थविर वज्रसिद्ध एवं महन्त सिद्धेश्वर, शिव शर्मा एवं काशिराज, महारानी

सुनयना, राजा के साले, चरवाहे, कापालिक एवं ज्ञानश्री मित्र आदि की कथाएँ भी प्राप्त होती हैं।

प्रस्तुत कथा में आधिकारिक कथा दिवोदास और मंजुघोषा की है। इस कथा को गति देने के लिए कितनी ही प्रासंगिक-पताका एवं प्रकरी-कथाओं की योजना की गई है। सुखदास की कथा पताका, राजा के साले एवं चरवाहे आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं। सिद्ध एवं सिद्धेश्वर की कथा पताका-स्थानक का कार्य करती है। वज्रसिद्ध एवं सिद्धेश्वर की कथाएँ दिवोदास एवं मंजुघोषा की कथा की उलझन बढ़ाती हैं और उसे एक नए मार्ग पर ला खड़ी करती हैं। प्रस्तुत कथानक की शृंखला अंत तक बनी तो रही है किन्तु इसे हम पूर्ण संगठित कथानक नहीं कह सकते, कारण कुछ स्थानों पर घटनाओं में इतना बिखराव आ गया है कि कथा की गति अवरुद्ध हो गई है। कथा की गति में त्वरा लाने के लिए नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं की संयोजना की गई है। कथा का अंत भी एक अतिनाटकीय घटना के द्वारा होता है। प्रतिमा के स्थान पर अप्रत्याशित रूप से मंजुघोषा के प्रकट होने की घटना एक ऐसी ही घटना है।

जैसा कि हम प्रथम ही कह चुके हैं कि प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास है। किन्तु इसमें उपन्यासकार ने ऐतिहासिक घटनाओं को अधिक महत्व न देकर बौद्धों में विकृत वज्रयान के दुराचारों और षड्यन्त्रों का भंडाफोड़ किया है।

दो किनारे

प्रस्तुत उपन्यास में दो सर्वथा स्वतंत्र कथानक हैं। प्रथम "दो सौ की बीवी" और दूसरा 'दादा भाई"। अतः हम इन दोनों स्वतंत्र कथानकों का अध्ययन करेंगे।

"दो सौ की बीवी' की कथा का प्रारम्भ रमाशंकर की बीवी की मृत्यु से होता है। रमाशंकर अपने ग्यारह वर्षीय पुत्र राजीव के साथ अकेला रह जाता है। इसी समय वह अपने पुत्र के लिए घोड़ा खरीदने जाता है किंतु खरीद लाता है मालती नाम की एक स्त्री को। यहीं मुख्य कथा की भूमिका तैयार हो जाती है। कथा निष्पत्ति की ओर बढ़ती है। राजीव प्रथम मालती से घृणा करता है किन्तु उसके सहज स्नेह से प्रभावित होकर प्रेम करने लगता है रमाशंकर भी हृदय से उससे प्रेम करने लगता है किन्तु ऊपर से वह कठोर बना

रहता है। इसी समय इन दोनो के मध्य मे रमाशंकर का मित्र रामनाथ आ जाता है। मालती का उसके प्रति आकर्षण देखकर रमाशंकर के हृदय मे ईर्ष्या एव सदेह का प्रादुर्भाव होता है। घटना निष्पत्ति होते ही घात-प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। रमाशंकर की प्रताडना सहन न कर पाने से कारण मालती उसका आश्रय त्यागकर रामनाथ के आश्रय मे पहुँच जाती है। कथा तीव्र गति से चरम सीमा की ओर दौडती है। रामनाथ उसे अपने यहाँ आश्रय देता है किन्तु पत्नी नही भाभी मानकर। मालती उसी की होकर रहना चाहती है। रामनाथ ने उसका प्रस्ताव स्वीकार ही किया था कि इसी समय रमाशंकर अपने पुत्र के साथ वहाँ आ पहुँचता है। कथानक अब अन्त की ओर बडी त्वरा से दौडता है। रमाशंकर की दीन अवस्था एव राजीव का स्नेह देखकर मालती पुन उसके साथ लौटना स्वीकार कर लेती है। उपसहार मे रमाशंकर और रामनाथ की कटुता समाप्त हो जाती है। और मालती को साथ ले जाने के साथ-साथ रमाशंकर, रामनाथ को भी साथ ले जाता है। प्रस्तुत कथानक एक सरल कथानक है। इसमे केवल मुख्य कथा ही स्पष्ट है, प्रासगिक कथाओ का सर्वथा अभाव है।

"दादा भाई" की कथा-वस्तु भी सीधी है। इसमे से भी कथा-विकास की पाचो अवस्थाएँ अत्यत सरलता से निकाली जा सकती हैं। कथा का प्रारभ नरेन्द्र (दादा भाई) के कारागार से छूटने से होता है। कारागार से छूटते ही वह पुन एक होटल वाले से भिड जाता है, इसी समय नाटकीय ढग से उसका परिचय जगदम्बा बाबू से होता है। वह नरेन्द्र को अपने साथ ले आते हैं। मुख्य कथा की भूमिका तैयार हो जाती है। जगदम्बा बाबू, नरेन्द्र को काम का व्यक्ति समझकर अपने आश्रय मे रख लेते हैं। नरेन्द्र के व्यक्तित्व को निखारती हुई मुख्य कथा अग्रसर होती है। इसी समय जगदम्बा बाबू की अनुपस्थिति मे उनकी पुत्री नरेन्द्र से अपरिचित होने के कारण उन्हें लुटेरा समझकर अपने घर से निकाल देती है। यहीं मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है। इसी समय नरेन्द्र मोटर दुर्घटना का शिकार हो जाता है। कुछ देर नरेन्द्र को यत्र-तत्र भटकाने के पश्चात् उपन्यासकार उसे पुन कथा के एक मोड पर ला खडा करता है। कथा मे घात-प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। जगदम्बा बाबू का मार्ग से हटना, रमेश और कैलाश से मिल मजदूरो एव नरेन्द्र का संघर्ष, सुधा का नरेन्द्र की ओर आकर्षित होना आदि घटनाओ को पार करता हुआ कथानक तीव्रगति से चरम-सीमा पर पहुँच जाता है। कैलाश एव रमेश के चगुल से

नरेश द्वारा सुधा का उद्धार एवं अन्य नाटकीय घटनाओ के मध्य से होता हुआ कथानक अन्त की ओर अग्रसर होता है। उपसहार मे सुधा एव नरेन्द्र का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है प्रस्तुत उपन्यास के दोनो ही कथानक सर्वथा स्वतत्र हैं। जहाँ तक रोचकता का प्रश्न है दोनो ही कथानक रोचक हैं। "दादा भाई" मे नाटकीय एव अप्रत्याशित घटनाओ के आधिक्य के कारण कथानक की कलात्मकता न्यून हो गई है। किसी किसी स्थान पर तो कथा सभावना के क्षेत्र का भी उल्लघन कर गई है। जैसे नरेन्द्र के कारागार से चुपचाप भागने, सेफ तक पहुँचने एव पुन कारागार मे पहुँचने की घटनाएँ। वास्तव मे इन घटनाओ की योजना नरेन्द्र के व्यक्तित्व को निखारने के उद्देश्य से हुई है, किंतु व्यक्तित्व को निखारते समय कथाकार कथा के स्वाभाविक विकास को भूल गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन दो स्वतत्र कथानको को एक उपन्यास मे क्यो रखा गया है? उपन्यास का नाम है "दो किनारे"। यह नाम ही इन दोनो कथानको को एक शृ खला मे बाँध देता है। दो प्रकार के कथानक होते हुए भी दोनो का उद्देश्य एक है। 'दो सौ की बीबी" मे स्त्री के त्याग की और "दादा भाई' मे पुरुष के त्याग की कथा है। एक मे स्त्री अपनी सेवा और त्याग से पुरुष को अपने वश मे कर लेती है तो दूसरे में बर्बर एव डाकू समझे जाने वाला पुरुष अपने नि स्वार्थ कार्यों से एक स्त्री को अपनी बना लेता है। दोनों के किनारे दो हैं किन्तु अन्त एक। अत दो किनारे नाम सर्वथा सार्थक है।

अपराजिता

प्रस्तुत कथा का आरम्भ एक अप्रत्याशित घटना से होता है। राज और व्रजराज मे परस्पर प्रेम है, दोनो का विवाह निश्चितप्राय है किन्तु इसी समय राज अपने पिता गजराज सिंह के जातीय सम्मान की रक्षा के लिए अपने इस प्रेम को उसपर उत्सर्ग कर देती है। वह ठाकुर राघवेंद्रसिंह से विवाह कर लेती है। साथ ही वह अपने प्रेमी व्रज का विवाह अपनी प्रिय सखी राधा से करा देती है। अपने विवाह मे प्राप्त दहेज भी वह अपनी सखी को दे देती है। राज की समुराल में दहेज के इस प्रश्न पर वाद-विवाद आरभ हो जाता है। इसी प्रश्न पर राज से उसके पति और श्वसुर दोनो रुठ जाते हैं। राज दहेज को स्त्रीधन बतलाकर अपने कार्य को उचित बतलाती है। इस पर राज के श्वसुर

उसके पिता को अपशब्द कह बैठते हैं। राज इसके विरोध में सत्याग्रह का अमोघ अस्त्र प्रयोग करती है। हठधर्मी एवं सत्य का द्वन्द्व प्रारम्भ होता है। चरम-सीमा उस समय आती है जब समस्त ग्राम निवासी राज के सत्याग्रह का साथ देने लगते हैं। और अन्त में राज के समक्ष उनके श्वसुर को झुकना पड़ता है।

इसी समय एक अन्य आकस्मिक घटना घटित होती है। राज के पति ठाकुर राघवेंद्रसिंह मोटर एक्सीडेंट से सख्त घायल हो जाते हैं। अपने रूठे पति के समीप राज सेवा-सुश्रूषा के लिए आ पहुँचती है। ठाकुर उसकी सेवा से स्वस्थ तो हो जाते हैं किन्तु उनके नेत्र जाते रहते हैं। अंधे हो जाने पर भी वे राज के समक्ष नत होना नहीं चाहते। राज अपना कर्तव्य-पालन कर पुन अपने श्वसुर के साथ अपने निवास स्थान पर लौट आती है। इसी प्रकार राज को अपने पति से अलग रहते २१ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। किंतु दोनों में से कोई भी एक दूसरे के समक्ष नत होना नहीं चाहता। इस बीच राज के श्वसुर का भी देहान्त हो जाता है। राज के पति ने गुप्त रूप से एक अन्य स्त्री से विवाह भी कर लिया था। उससे एक पुत्र भी था। नेत्रहीन होने के पश्चात् से उनके आचरण खराब हो गए थे। पत्नी और पुत्र के साथ भी उनका व्यवहार कठोर हो गया था अन्त में उनकी दूसरी पत्नी अपने पुत्र को राज के समीप पत्र लेकर भेजती है। राज पति की दशा सुनकर अपने को रोक नहीं पाती। उसका सम्पूर्ण अहं गल जाता है। वह पति के समीप जा पहुँचती है। अपने व्यवहार से वह अपने रूठे पति को सद्मार्ग पर ले आती है। अत में वह अपने सम्पूर्ण अहं का त्याग कर अपने पति के समक्ष आत्म-समर्पण कर देती है। ठाकुर भी सम्पूर्ण दम्भ एवं आत्म-सम्मान को बिसार कर राज को अपना लेते हैं। अन्त में ठाकुर राज से कहते हैं "जीवन गया, आँखें गईं, पर जीता तो मैं ही, मैंने तुम्हें पा लिया।"[1] राज का उत्तर है "स्वीकार करती हूँ तुम जीत गये प्रिय मैं हार कर ही तो तुम्हारे पास आई हूँ।"[2] किंतु वास्तव में राज पति से पराजित होकर भी अपराजिता रहती है।

इस मुख्य कथा के साथ-साथ राधा और व्रज, माधव और रुक्मिणी, जयराम, रघुनंदन आदि की प्रासंगिक कथायें भी प्राप्त होती हैं।

---

१. अपराजिता-पृष्ठ १३१।

२. अपराजिता-पृष्ठ १३५।

इसी प्रकार प्रस्तुत कथानक की अधिकारिक कथा राज की है। उसके साथ ही ब्रजराज एव राधा की कथा प्रासगिक पताका के रूप मे कथानक के अन्त तक चलती है। जयराम रघुनदन, नारायण शर्मा आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं। माधव की कथा कथानक की रोचकता बढाने के साथ-साथ पताका स्थानक का भी कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक सगठित है। कथानक की समस्त घटनाएँ एक शृंखला मे अनस्यूत है। क्रमबद्ध होने के कारण कथानक की एक सूत्रात्मकता अत तक बनी रह सकी है। व्रज और राधा की प्रासगिक कथा राज की अधिकारिक कथा से मध्य मे एकदम कट गई सी लगती है किंतु अत मे पुन दोनो कथाएँ सयुक्त हो गई हैं।

उपन्यासकार कथानक की रोचकता की रक्षा अन्त तक करने मे सफल रहा है। माधव एव अष्ट मातृ आदि की कथाएँ रोचकता वृद्धि के लिए ही कथानक मे लाई गई हैं। कथानक को सभावना के क्षेत्र के अदर ही सीमित रखने का प्रयत्न किया गया है। कही कही कथानक मे कुछ अत्युक्ति सी दीख अवश्य पडती है, किंतु वे घटनाएँ ऐसी नही है जो पूर्णरूपेण असम्भव ही हो। उदाहरण के लिए राधा एव व्रज के विवाह की घटना एव राज द्वारा श्वसुर हठ के विपक्ष मे सत्याग्रह करने और उसके सत्याग्रह की देखा-देखी गाँव के सभी लोगो द्वारा उसके अनुकरण करने की बात कुछ अटपटी सी अवश्य लगती है किंतु यह असम्भव नही है। जो सत्याग्रह राजनीति मे सत्य एव सफल हो सकता है समाज मे उसकी सत्यता एव सफलता पर सदेह करना उचित नही। राधा और व्रज का विवाह इस नाटकीय ढग से कराया गया है, जिससे वह कुछ असभव सा अवश्य ज्ञात होने लगा है, किंतु जब पाठक का राधा के पिता से साक्षात्कार हो जाता है, तो उसकी यह शका स्वत निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है कथानक पूर्णरूप से मौलिक है। मेरा अनुमान है कि हिंदी मे सम्भवत इस प्रकार का कोई भी कथानक आज तक लिखा नहीं गया है। दहेज की समस्या पर तो कितने लेखको ने विचार किया कितनो ने ही उसके कितने ही समाधान प्रस्तुत किये हैं। प्रेमचद के पूर्ववर्ती और परवर्ती कितने ही लेखको ने प्रस्तुत समस्या को उठाया है किंतु यहाँ आचार्य चतुरसेन जी ने इस पिटे पिटाये कथानक को भी सर्वथा मौलिक ढग से प्रस्तुत किया है। गाधी जी ने जिस सत्याग्रह का राजनीति मे प्रवेश कराया उसी सत्याग्रह का उपयोग उपन्यासकार ने सामाजिक कुरीतियो के निवारण म भी करना चाहा है।

जिस प्रकार गांधी जी ने परतन्त्रता की शृंखला में आबद्ध भारतीयों के लिए एक मौलिक पथ प्रदर्शित किया था, उसी प्रकार उपन्यासकार राज के माध्यम से पग-पग पर लांछित और प्रताड़ित हिंदू अबलाओं को भी एक मार्ग प्रदर्शित कर रहा है। उसका कथन है यह "राज" तो सारे संसार की सभ्य-असभ्य मर्यादों से पृथक अकेली ही खड़ी है। केवल अपनी ही सामर्थ्य पर। वह असहाय नहीं है, परमुखापेक्षी नहीं है क्रोध, दैन्य, आवेश, सधैर्य, सबसे साफ-साफ है। वह संयम, कर्त्तव्य और जीवन के सच्चे तत्वों की अधिष्ठात्री है वह आज की नारीमात्र की पथ-प्रदर्शिका है। मैंने उसे अपराजिता स्वीकार किया है।'[१]

इसमे सन्देह नही कि यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास मे उठाई गई समस्या पुरानी है किन्तु उसकी व्याख्या और निष्कर्ष नितान्त मौलिक है।

अदल-बदल

प्रस्तुत उपन्यास भी समस्या प्रधान उपन्यास है। इसमे उपन्यासकार ने पत्नी के अदल-बदल की समस्या को उठाया है। प्रस्तुत कथानक मे दो कथाएँ एक साथ चलती हैं। डाक्टर कृष्ण गोपाल अपनी साध्वी पत्नी विमला से असन्तुष्ट हैं तो मायादेवी अपने सरल स्वभाव के सज्जन पति मास्टर हरप्रसाद से। इन दोनों असन्तुष्ट पात्रों का क्लब मे परस्पर परिचय हो जाता है। दोनो कथाएँ यहाँ आकर परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं। मायादेवी का आकर्षण डा० कृष्ण गोपाल की ओर बढ़ता जाता है। डा० कृष्ण गोपाल अपनी पत्नी की ओर माया अपने पति की उपेक्षा करने लगती है। डाक्टर अपनी पत्नी को और माया अपने पति को त्याग कर परस्पर विवाह करने का निश्चय करते हैं। कथानक मे घात प्रतिघात अधिक नही निखर पाता कारण उपन्यासकार ने एक पक्ष को सर्वथा मूक दिखलाया है। कथानक एक ही दो आघात पाकर चरम-सीमा की ओर शीघ्र गति से भागता है। माया देवी और डाक्टर का विवाह सम्पन्न हो जाता है किन्तु सुहाग रात्रि के दिन ही अकस्मात् मायादेवी के विचारो मे परिवर्तन होता है और वह भागकर पुन अपने पति के समीप आ जाती है। उपसंहार मे मास्टर हरप्रसाद पुन माया को अपने आश्रय में रख लेते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक सहज गति से चलता है। घटनाओं मे शृंखला है। प्रासंगिक कथाओं का अभाव है। एक दो प्रासंगिक कथाएँ नाममात्र

१ अपराजिता-उत्तप्त-जल-कण पृष्ठ ७।

को ही आई हैं। दो कथा सूत्र भिन्न स्थानो से चलकर मध्य मे एकाकार हो जाते हैं किन्तु अन्त मे दोनो पुन अपने-अपने स्थानों पर लौट आते हैं। यद्यपि उपन्यास का अत नाटकीय ढग मे किया गया है किन्तु वह असम्भव नही ज्ञात होता कारण माया के विचार परिवर्तन के परिपार्श्व म मनोवैज्ञानिक ऊहापोह को स्थान दिया गया है।

नारी और पुरुष के अधिकार और कर्त्तव्यो पर दिये गये दीर्घकाय सैद्धान्तिक भाषणो से भले ही कथानक की रोचकता को अधिक आघात न पहुँचा हो किन्तु उसकी कलात्मक अक्षुण्णता निश्चित रूप से अस्थिर हो उठी है।

प्रथम ही कहा जा चुका है कि प्रस्तुत उपन्यास समस्या प्रधान है। पति-पत्नी के अदल-बदल की समस्या इसमे उठाई गई है। उपन्यासकार इस समस्या को 'नए युग का सबसे कठिन प्रश्न' मानता है।[१] उसका कथन है 'आज की स्त्री पुरुष की सपत्ति-परिग्रह बन कर नही रह सकती। वह पुरुष की सच्चे अर्थों मे सगिनी समभागिनी बन कर रहेगी। पुरुष यदि स्त्री के इस प्राप्तव्य को देने मे आनाकानी करता है तो निस्सदेह उसे स्त्रियो से ऐसी खूनी लडाई लडनी पडेगी जैसी आज तक मनुष्य इतिहास मे मनुष्य ने इस स्त्री-सम्पत्ति को अपहरण करने के लिय भी युग-युग मे कभी नही लडी। फिर भी उसकी जीत नही होगी। जीत होगी स्त्री की। यह मैं अभी से कहे देता हूँ। वीर पुरुषो को खासकर पतियो को यह नेक सलाह देता हूँ कि वे अब केवल परिणय प्रेम और सहृदयता से स्त्री को अपनी जीवन-सगिनी बनाना सीख लें, जिससे उनका घर बसा का बसा रह जाय। क्योंकि यह 'अदल-बदल' की जो हवा योरोप के घरो को उजाड कर यहाँ आई है यदि उनके घरो मे घुस गई तो वे किसी दिन दफ्तर से लौटकर अपने घर को सूना और पडोसी के घर को आबाद पायेंगे।[२] इस प्रकार उपन्यासकार ने भूमिका मे ही प्रस्तुत कथानक मे प्रमुख समस्या की ओर सकेत कर दिया है। आज के युग मे प्रस्तुत समस्या अपना निज का महत्व रखती है, इसमे सदेह नही। किंतु अब देखना यह है कि उपन्यासकार क्या प्रस्तुत कथानक के माध्यम से समस्या का कोई उचित निष्कर्ष निकालने मे समर्थ रहा है? कथानक के अन्त मे उसने दोनों ही पति-पत्नियो को पुन. मिला दिया है किंतु इसके लिए उसे मास्टर हरप्रसाद ऐसे आदर्श पुरुष

१ अदल बदल भूमिका १।
२. अदल बदल भूमिका १।

और विमला ऐसी आदर्श नारी की सृष्टि करनी पडी है। अतिशय आदर्शवादी होने के कारण मास्टर साहब का चरित्र स्वाभाविक नही रह गया है। कथानक के अत तक पहुँचते-पहुँचते पाठक ऐसा अनुभव करने लगता है कि समस्या के निष्कर्ष को उस पर बलात् लादा जा रहा है। यद्यपि मायादेवी के मनोवैज्ञानिक विचार परिवर्तन का आश्रय लेकर एक सीमा तक उपन्यासकार समस्या का निष्कर्ष प्रस्तुत करने मे सफल रहा है फिर भी यह निष्कर्ष एकागी ही रह जाता है।

आलमगीर

प्रस्तुत उपन्यास का सबध मुगलकाल से है। कथा का प्रारभ मुगल सम्राट शाहजहाँ के शासन काल से होता है। कथा प्रारभ होने के साथ ही कई छोटी-छोटी कथाएँ एक साथ चलने लगती है। वास्तव मे प्रस्तुत उपन्यास मे एक व्यक्ति को लक्ष्य बनाकर कथा नहीं कही गई है वरन् एक परिवार का चित्रण कथा का लक्ष्य है। अनेक कथाओं के समानान्तर चलने से कथा बिखर गई है। इन मुख्य कथाओं के साथ सहायक कथाएँ और सहायक कथाओ के साथ प्रासगिक कथाएँ एव अतर्कथाएँ भी लगी हुई हैं। जिससे कथानक मे पर्याप्त जटिलता आ गई है। वस्तुत इसमे केवल दो मुख्य कथाएँ हैं। प्रथम मुख्य कथा शाहजहा की है। इस प्रधान कथा मे विकास की लगभग पाचो अवस्थाएँ आ जाती हैं। मीरजुमला की बादशाह की भेंट, बादशाह के वैभव एव विलासिता के वर्णन प्रारम्भिक अवस्था मे आते हैं। बादशाह के भोग विलास के वर्णन से ही मुख्य घटना की तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। बेगम शाइस्ता खाँ[1] वाली घटना से ही कथानक मे सघर्ष का प्रारम्भ हो जाता है। इसको हम प्रारभिक सघर्षमय घटना कह सकते हैं। बादशाह के अस्वस्थ होने का समाचार फैलने की घटना तक आते-आते मुख्य घटना की निष्पत्ति की अवस्था आ जाती है। यहाँ आकर यह प्रधान कथा कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो जाती है। दूसरी प्रधान कथा है औरगजेब की। यहाँ से शाहजहाँ की कथा को पीछे छोड औरगजेब की कथा सामने आ जाती है। 'कूच का नक्कारा' (अध्याय ३६) से कथानक मे घात-प्रतिघात की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। अब कई प्रधान और सहायक कथाएँ परस्पर उलझ कर आगे बढती हैं। राज्य के लिए भाई-भाई एव पिता पुत्र मे सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। औरगजेब अपने पिता शाहजहा के अस्वस्थ होने का समाचार पाते ही विद्रोह का झडा खडा कर देता है। अवसर देखकर वह राज्य

---

१ आलमगीर-पृष्ठ ६४।

को हस्तगत करने के लिए आक्रमण कर देता है। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारा इनसे भिडने के लिए आ पहुँचता है। दोनो दलो का सम्मुख युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। कथा अँधकारमय भविष्य की ओर क्षिप्रता के साथ अग्रसर होती है। दोनो कथाएँ अपनी पूर्ण शक्ति के साथ परस्पर टकराती हैं। जिससे कुछ समय के लिए कथा की गति स्थिर हो जाती है। किंतु कुछ ही क्षण स्थिर रहने के पश्चात् औरगजेब दारा को परास्त कर आगे बढ आता है। शाहजहाँ को भी परास्त कर यह उसे बन्दी बना लेता है। पिता को बदी बना लेने के पश्चात् औरगजेब को गद्दी प्राप्त हो जाती है। अन्त मे वह स्वय आलमगीर की उपाधि धारण करता है। इसके पश्चात् वह अपने भ्राताओ शुजा और दारा को भी समाप्त कर देता है। 'आखिरी शिकार' मे आकर प्रस्तुत कथा समाप्त हो जाती है।

जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है कि प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा बिखरी हुई है। किसी एक प्रधान कथा सूत्र के अंत तक न होने के कारण कथा की शृ खला भी कई स्थानो पर टूट गई है। ऐतिहासिक विवरणो के आधिक्य एव अनेक छोटी-छोटी कथाओ की भरमार के कारण प्रस्तुत उपन्यास का कथानक सगठन की दृष्टि से शिथिल हो गया है, किंतु छोटी-छोटी प्रासगिक कथाओ के माध्यम से लेखक तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक परिस्थितियो को प्रस्तुत करने मे पूर्ण सफल रहा है।

कथानक मे बिखराव होने पर भी उपन्यासकार अंत तक उसकी रोचकता की रक्षा करने मे सफल रहा है। यत्र तत्र ऐतिहासिक विवरण अवश्य कुछ नीरस हो गए हैं। किन्तु तो भी कथाकार ने बडी कुशलता से कथा की रोचकता की रक्षा की है।

आचार्य चतुरसेन जी का यह उपन्यास विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका कथा नायक अन्तिम मुगल सम्राट औरगजेब है। उसने किस प्रकार से सत्ता हस्तगत की, इस भाग मे उपन्यासकार ने इसी का वर्णन विस्तार से किया है। दूसरे भाग मे (जो अभी अप्रकाशित है) उसके गद्दी पर बैठने के पश्चात् का वर्णन है। प्रथम भाग की कथा का प्रारभ सन् १६२६ ई० की एक घटना से

टिप्पणी—यह उपन्यास का पूर्वार्द्ध ही है। इसका उत्तरार्द्ध अभी प्रकाशित नहीं हो सका है। उसमें औरंगजेब के आलमगीर हो जाने के पश्चात् की कथा विस्तार से दी हुई है।

होता है, जब मीरजुमला ने भागकर मुगल दरबार में शरण ली थी[1]। वास्तव में प्रस्तुत उपन्यास को लिखते समय आचार्य जी ने श्री यदुनाथ सरकार के प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ 'औरंगजेब' का अध्ययन किया था। अतः प्रस्तुत उपन्यास के अधिकांश ऐतिहासिक तथ्य उन्होंने उसी ग्रंथ के आधार पर लिखे हैं। शाहजहाँ की विलासप्रियता प्रसिद्ध है। उसकी इस विलासप्रियता का बड़ा यथार्थ वर्णन उपन्यासकार ने किया है। यह वर्णन कपोल कल्पित नहीं है, वरन् इतिहास सम्मत है। लगभग सभी इतिहासकारों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि 'विलासप्रियता के कारण वह (शाहजहाँ) इस बात को भूल गया कि निरंकुश शासक के चारों ओर कैसे खतरे मौजूद रहते हैं। इसका (विलासप्रियता का) परिणाम यह हुआ कि जब संकट का समय आया तो उसके अफसरों ने विश्वासघात किया और उसके एहसानों की कुछ भी परवाह न की। कैदखाने में इस दुःखमयी वृद्धावस्था में उसे अपनी प्यारी बेटी जहानारा से बड़ी सान्त्वना मिली।'[2] राजगद्दी के लिए हुए शाहजहाँ के चारों पुत्रों के पारस्परिक संघर्ष के रेखा चित्र बिल्कुल यथार्थ हैं।[3] प्रस्तुत उपन्यास के पात्र, घटनाएँ, स्थान आदि सभी कुछ ऐतिहासिक हैं। उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास के प्रथम 'प्रवचन' में और भत में 'निगमन दृष्टि' में औरंगजेब के जीवन की लगभग सभी प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं को प्रस्तुत किया है। यद्यपि उपन्यासकार ने इसमें कहीं पर भी यह नहीं लिखा है कि प्रस्तुत उपन्यास की सामग्री कहाँ से ली गई है। किन्तु वास्तव में सत्य यह है कि औरंगजेब के जीवन पर इतनी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है कि उसका 'भूमिका' में लिख देना भी कठिन कार्य था। वैसे इसकी लगभग सभी प्रमुख घटनाएँ इतिहास सम्मत हैं। इतिहास के अत्यधिक आग्रह के कारण कई स्थानों पर कथा कुछ बोझिल हो गई है, जिससे 'इतिहास रस' का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया है। वस्तुतः प्रस्तुत उपन्यास में आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासकार की अपेक्षा उनका इतिहासकार अधिक प्रबल हो उठा है। इस उपन्यास को हम डा० वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' नामक उपन्यास की भाँति शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास कह सकते

---

१. भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरी प्रसाद पृष्ठ ३४१।
२. भारतवर्ष का इतिहास-डा० ईश्वरी प्रसाद-पृष्ठ ३४१।
३. भारतवर्ष का इतिहास-डा० ईश्वरी प्रसाद-पृष्ठ ३४६-४९।
साथ ही देखिए—औरंगजेब नामा—अनुवादक राय मुन्शी देवी प्रसाद जी प्रथम भाग खण्ड ३ पृष्ठ ३२ से ४८ तक।

हैं। वास्तव मे इसको आचार्य चतुरसेन जी ने अन्य उपन्यासो की भाँति इतिहास का रंग देकर नही सजाया है। वरन् इस इतिहास को उन्होने उपन्यास का रूप देकर सवारा है। "स्थान-स्थान पर रोमास का पुट होने के कारण उपन्यास अरोचक तो नहीं हो पाया है किंतु कथा और इतिहास का उपयुक्त समन्वय होने के स्थान पर ऐतिहासिकता अधिक प्रखर हो गई है। जिससे उपन्यास यत्र-तत्र नीरव हो गया है।

सोमनाथ

'सोमनाथ' की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ एक सर्वथा अकल्पित एव अप्रत्याशित घटना से होता है। यही से कथा के दोनो प्रधान पात्र—भीमदेव एव महमूद—परस्पर टकरा कर अलग हो जाते हैं। 'निर्माल्य' के लिए चौला सोमनाथ महालय लाई जाती है। कोट के भीतर ही छद्मवेशी महमूद की दृष्टि उस पर पड जाती है। वह उसका बलात् हरण करना चाहता है। चौला के रक्षक से उसका सम्मुख युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इसी समय रक्षक की सहायता के लिए युवराज भीमदेव आ उपस्थित होते हैं। छद्मवेशी महमूद एव युवराज भीमदेव की टक्कर प्रारम्भ ही हुई थी कि गग सर्वज्ञ आकर दोनो को शान्त करते हैं। वह महमूद को पहचान कर भी छोड देते हैं। यही से कथा दो सूत्रात्मक होकर अग्रसर होती है। एक सूत्र गग सर्वज्ञ एव भीमदेव के साथ महालय मे रह जाता है और दूसरा सूत्र महमूद के साथ महालय से बाहर चला जाता है। इस घटना को हम प्रारम्भिक सघर्षमय घटना कह सकते हैं। गग सर्वज्ञ एव भीमदेव की कथा अपनी कुछ अन्य सहायक कथाओ जैसे रुद्रभद्र एव अन्य कापालिकों की कथा के साथ क्षिप्र गति से महालय के अन्दर ही विस्तार पाने लगती है। इस मध्य महालय मे कुछ प्रमुख घटनाएँ घटित होती हैं जैसे रुद्रभद्र द्वारा चौला का हरण, गग सर्वज्ञ एव भीमदेव द्वारा चौला का उद्धार, चौला एव भीमदेव का परस्पर आकर्षित होना आदि। इस समय कथा के दो केन्द्र हो जाते हैं। प्रथम सोमनाथ महालय और दूसरा त्रिपुरसुन्दरी का मन्दिर। यही से चौला के प्रश्न पर सोमनाथ देवालय के प्रधान गग सर्वज्ञ एव उनके प्रधान शिष्य रुद्रभद्र मे सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। रुद्रभद्र, त्रिपुर सुन्दरी के मन्दिर मे अपने गुरु के विरुद्ध गुप्तरूप से षड्यन्त्र प्रारम्भ कर देता है। इसके पश्चात् ही दूसरी ओर से महमूद की कथा प्रारम्भ होती है। महमूद अपने आगामी आक्रमण के लिए भूमिका बनाता हुआ गजनी की ओर बढ़ता है। अपने गुप्त दूतो से समाचार लेता हुआ वह गजनी पहुँच जाता है।

गजनी मे महमूद सोमनाथ अभियान की पूर्ण तैयारी करने के पश्चात् अपनी विशाल वाहिनी के साथ भारत मे प्रवेश करता है। उसके गुप्तचर भारत मे प्रथम से ही सजग हैं अत उसे भारत प्रवेश मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती। उसके एक गुप्तचर अलीबिन उस्मान अलजबीसी के कारण ही मुलतान नरेश अजयपाल स्वय मार्ग दे देते हैं। इसके पश्चात् महमूद घोघागढ के महाराज घोघाबापा के समीप भी सधि के लिए अपना दूत भेजता है, किन्तु घोघाबापा मार्ग देना अस्वीकार कर देते हैं। यहाँ आकर महमूद कुछ समय के लिए घोघाबापा से सघर्ष करने को रुकता है। यही से घोघाबापा की कथा से उनके पुत्र सज्जनसिंह और पौत्र सामतसिंह की कथा अलग हो जाती है। ये दोनो ही सोमनाथ महालय की रक्षा के लिए घोघाबापा की आज्ञा से गग सर्वज्ञ के समीप चले जाते हैं। इधर महमूद और घोघाबापा का युद्ध प्रारम्भ होता है और घोघाबापा सपरिवार वीरगति को प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् महमूद का मार्ग स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि महमूद के मार्ग मे कई अन्य छोटे-छोटे अवरोध भी आते हैं किन्तु सपादलक्ष तक आने मे उसे किसी प्रकार की विशेष कठिनाई नही होती। महमूद सपादलक्ष मे रुकने को बाध्य होता है। वह मुलतान नरेश महाराज अजयपाल को अपना दूत बनाकर सपादलक्ष के महाराज धर्मगजदेव के समीप उन्हे अपने पक्ष मे मिलाने के लिए भेजता है, किन्तु उसे सफलता नही प्राप्त होती। अन्तत. उसे युद्ध के लिए बाध्य होना पडता है। वह युद्ध मे महाराज धर्मगजदेव से पराजित होकर सधि कर लेता है किन्तु शीघ्र ही सधि का अतिक्रमण कर वह कपट से महाराज धर्मगजदेव की निशस्त्र पूजन करते समय हत्या करके उन्हें अपने मार्ग से हटा देता है। इसके पश्चात् उसे ससैन्य सोमनाथ महालय तक पहुँचने मे किसी प्रकार की विशेष कठिनाई नही होती।

इस कथा के साथ-साथ देवपट्टन मे युवराज भीमदेव, गुजरात नरेश श्री चामुण्डराय एव मत्री विमल देवशाह की कथा भी चलती जाती है।

महमूद के आगमन का समाचार ज्ञात होते ही युवराज भीमदेव ससैन्य सोमनाथ महालय की रक्षा के हेतु प्रभास मे आ जाते हैं। उनके अतिरिक्त देव-रक्षा के लिए कुछ अन्य हिन्दू राजा जैसे चालुक्यराज, सोरठ का राव आदि भी आ उपस्थित होते हैं।

सोमनाथ महालय के प्रधान गगसर्वज्ञ युवराज भीमदेव को महासेनापति बनाकर महालय की रक्षा का भार उनको सौंप देते हैं। किन्तु महालय के अन्दर गृह-कलह प्रारम्भ हो जाता है। रुद्रभद्र, गगसर्वज्ञ एवं भीमदेव की उपेक्षा करने

लगता है। उसका इन दोनो के विरुद्ध गुप्त रूप से षड्यन्त्र का कार्य और तीव्र हो जाता है। इस प्रकार गृह कलह के कारण परस्पर उलझी हुई प्रस्तुत कथा किसी अन्धकारमय भविष्य की ओर तीव्रता से अग्रसर होती है। इसी समय महमूद अपनी विशालवाहिनी के साथ समस्त अवरोधो का अतिक्रमण करता हुआ सोमनाथ महालय को भग करने के लिए प्रभास मे आ पहुँचता है। अब दोनो ही कथाएँ समीप आकर युद्ध के पूर्व अपनी पूर्ण शक्ति को केन्द्रित करना प्रारम्भ कर देती हैं। यहाँ आकर कथा की गति स्थिर हो जाती है। किन्तु उत्सुकता बढ जाती है कुछ समय तक स्थिर रहने के पश्चात् कथा मे गति आ जाती है। महमूद अपने विपक्षी भीमदेव के पक्ष को निर्बल बनाने के लिए अपनी कूट नीति का प्रारम्भ कर देता है।

कथानक मे उत्कर्ष आने लगता है। शीघ्र ही दोनो पक्षो में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। कथानक तीव्रगति से चरमसीमा की ओर बढता है। निर्णायक युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इस स्थल पर श्वास अवरुद्ध कर देने वाली पाठक की उत्सुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इस समय महमूद अपनी कूट नीति मे सफल होता है। और वह प्रलोभन द्वारा रुद्रभद्र को अपने पक्ष मे मिला लेता है। युद्ध का निर्णायक क्षण आ जाता है। इसी समय देश द्रोह करके रुद्रभद्र महमूद की सेना को गुप्त द्वार के द्वारा महालय मे घुस्वा लेता है। परिणामस्वरूप भीमदेव की विजयी होती हुई सैन्य को महमूद की सैन्य से पराजित होना पडता है। इसके पश्चात् महमूद सोमनाथ महालय को ध्वस्त कर गग सर्वज्ञ की निर्मम हत्या करता है। साथ ही वह देश के साथ विश्वासघात करने वाले रुद्रभद्र आदि को भी यही समाप्त कर देता है।

सोमनाथ महालय के ध्वस्त होने एव गग सर्वज्ञ की मृत्यु के पश्चात् ऐसा ज्ञात होता है कि कथा समाप्ति पर है, किंतु वास्तव मे ऐसा नही है। कारण महमूद के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी युवराज भीमदेव अभी सुरक्षित बचा लिए गए हैं। अत उन्हीं को समाप्त करने के लिए कुछ समय तक महमूद उनका पीछा करता है किंतु असफल रहता है। अन्तत विवश होकर उसे अपनी दिशा परिवर्तित करनी पडती है। अब पुन महमूद और भीमदेव की कथाएँ अलग-अलग स्वतत्र रूप से विकसित होने लगती हैं। महमूद अपने उद्देश्य मे सफल होने के पश्चात् गजनी लौटना चाहता है, किंतु उसके प्रत्यावर्तन के पथ पर अनेक अवरोध आना प्रारम्भ हो जाते हैं। वह भीमदेव के भय से कच्छ प्रदेश से होकर जाता है किंतु वहाँ भी घोघाबापा के पुत्र सज्जन द्वारा उसका प्रतिरोध किया जाता है।

मज्जनसिंह की चतुरता के समक्ष विजेता महमूद को भी पराजित होना पड़ता है। वह कच्छ के महारन मे मार्ग बतलाने के व्याज से महमूद की सम्पूर्ण सैन्य को भटका कर छोड देता है। अन्त में अपनी सम्पूर्ण शक्ति गवाकर अकेला महमूद ही एक भारतीय रमणी शोभना की कृपा से बचकर गजनी पहुँच पाता है। भीमदेव भी महमूद के प्रत्यावर्तित होने के पश्चात् पुन अपनी राजधानी पाटन मे लौट आता है। यहाँ राजा होने के पश्चात् भी भीमदेव अपनी प्रेमिका नर्तकी चौला से कुछ राजनैतिक बन्धनो के कारण विवाह करने मे असमर्थ रहता है। अन्त मे चौला के नृत्य के पश्चात् प्रस्तुत उपन्यास समाप्त होता है।

प्रस्तुत उपन्यास की दोनो ही प्रधान कथाओ मे कथा विकास की पाँचो अवस्थायें प्राप्त हो जाती हैं। दोनो ही अपनी-अपनी चरम-सीमा पर परस्पर गुथ जाती हैं। घात-प्रतिघात तक की अवस्थाएँ दोनो ही कथा सूत्रो की भिन्न-भिन्न चलती हैं। दोनो ही कथा सूत्रो का प्रारम्भ एक साथ होता है। अत दोनो ही की प्रारम्भिक अवस्था 'निर्माल्य' से ही ज्ञात होती है। 'अघोर सम्भवा' तक आते-आते भीमदेव एव गग सर्वज्ञ की कथा मे मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है, 'कठिन अभियान' (अध्याय २१) तक महमूद की कथा में भी मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है। इन दोनो अध्यायो के पश्चात् ही किंचित् व्याख्या के पश्चात् दोनो ही मुख्य कथाएँ 'घात-प्रतिघात' की अवस्था मे पहुँच जाती हैं। दोनो मे ही यह अवस्था 'दैत्य आया' (अध्याय ६६) नामक अध्याय से प्रारम्भ हो जाती है। 'घात-प्रतिघात' की अवस्था के पश्चात् ही 'चरम-सीमा' आ जाती है। 'छत्रभग' (अध्याय ८२) से ऐसा ज्ञात होने लगता है कि दोनो ही कथा सूत्रो की चरम सीमा आ गई है, किंतु वास्तव मे चरम सीमा अभी दूर है। भीमदेव की कथा 'पाटन की ओर' नामक अध्याय से शिथिल हो जाती है। वास्तव मे इस अध्याय तक आते-आते महमूद द्वारा गग सर्वज्ञ की निर्मम हत्या के पश्चात् भीमदेव की कथा अकेली पड जाती है। अत ऐसा ज्ञात होने लगता है कि भीमदेव की कथा अपनी 'चरमसीमा' को पार करती हुई 'उपसहार' की ओर जाने को उन्मुख है। उपन्यास की कथा के 'कार्य' को दृष्टि मे रखकर यदि देखा जाय तो महमूद की कथा मे 'चरम सीमा' की अवस्था 'कच्छ के महारन' (अध्याय १२०) नामक अध्याय पर आती है। यहाँ आकर महमूद की कथा मे अवरोध उपस्थित हो जाता है। अतः यह कथा भी शिथिल गति से 'उपसहार' की ओर अग्रसर होती है। इसके पश्चात् ही भीमदेव एव महमूद दोनो ही की कथाएँ समाप्त हो जाती हैं। प्रस्तुत उपन्यास मे भी 'चरम-सीमा' के पश्चात् 'उपसहार' का क्रम है।

प्रस्तुत उपन्यास की आधिकारिक कथा भीमदेव और महमूद की है, जो आदि से अन्त तक समानान्तर चलती हैं—कहीं परस्पर संघर्ष करते हुए तो कहीं संघर्ष करने के लिए उद्यत इस आधिकारिक कथा के साथ-साथ उसको अग्रसर करने के लिए कितनी ही प्रासंगिक कथाएँ सम्पूर्ण उपन्यास में छाई हुई हैं। शोभना एवं फतेह मुहम्मद तथा 'दामो महता' की कथा मूल कथा के साथ 'पताका' का कार्य करती है। घोघाबापा, धर्मगजदेव, विमलदेव शाह दद्दा चालुक्य, आसकरण सेठ आदि की कथाएँ मूल कथा में 'प्रकरी' की भाँति प्रयुक्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कितनी ही छोटी-छोटी कथाएँ मूल कथा को अग्रसर करने के लिए प्रस्तुत उपन्यास में प्रयुक्त हुई हैं। 'रुद्रभद्र' की कथा 'पताका स्थानक' का कार्य करती है, कारण यह भीमदेव की आधिकारिक कथा की उलझन बढ़ा देती है और इसी से प्रोत्साहित होकर एवं सहायता प्राप्त कर महमूद की कथा भीमदेव की कथा को आक्रान्त करती है।

प्रस्तुत उपन्यास की प्रत्येक प्रासंगिक कथा सोद्देश्य है। फतेह मुहम्मद एवं शोभना की कथा सामने रखकर उपन्यासकार ने तत्कालीन हिंदू समाज की स्थिति को प्रकट करना चाहा है। उसने 'आधार' में स्पष्ट कहा है सबसे प्रथम मेरा ध्यान हिन्दुओं के रूढ़िवाद, अज्ञान, धर्मान्धता, कट्टरता तथा जाति भेद और आत्म-कलह पर गया। मैंने स्वीकार किया, कि इसी ने हिंदुओं को दलित किया, पराजित किया है। मैंने इसकी प्रतिक्रियास्वरूप दासी पुत्र देवा-दत्त स्वामी फतेह मुहम्मद की सृष्टि की।[१] दूसरी जिस अलौकिक मूर्ति की रचना मुझे करनी पड़ी—वह थी 'शोभना', एक विधवा ब्राह्मण कुमारी'

इसी प्रकार चामुण्डराय, विमलशाह आदि की प्रासंगिक कथाएँ भी सोद्देश्य हैं। गुजरात के मालकी राजा चामुण्डराय की कथा उस काल के हिंदू राजाओं के उस असावधान जीवन की ओर संकेत करती है—जिसके कारण हिंदू राजा बराबर पराजित होते गए। विमलदेव शाह की कथा के पीछे भी एक महत्त्वपूर्ण संकेत है। उस कथा द्वारा लेखक ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि पराजय का एक प्रमुख कारण गुजरात की तत्कालीन राजनीति भी थी। उस काल में गुजरात के राजा शैव और मन्त्री जैन थे। प्रजाजन में जन साधारण शैव और साहूकार जैन थे। इनमें उन दिनों साम्प्रदायिक झगड़े होते रहते थे। इससे राजसत्ता राजा और मन्त्री में विभाजित रहती थी। हिंदू राज्यों के पतन का यह भी एक कारण है।[२] इसी कारण को स्पष्ट करने के लिए विमलदेव शाह

१. सोमनाथ, आधार पृष्ठ ९।   २. सोमनाथ, आधार पृ १२-१३।

की कथा को उपन्यासकार ने इसमे रखा है। रुद्रभद्र की प्रासगिक कथा भी इसी प्रकार से सोद्देश्य है।

कथानक सगठन की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास आचार्य जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमे मूल तथा प्रासगिक कथाओ का अभूतपूर्व समन्वय हुआ है। यद्यपि कितनी ही प्रासगिक कथाएँ अधिकारिक कथा के साथ अनुस्यूत हैं किंतु उनके आधिक्य से भी कथा बोझिल नही होने पाई है। सभी कथा सूत्र प्रारंभ से लेकर अत इस कौशल के साथ सुनियोजित किये गए हैं कि सबका सम्बध अबाध एव अटूट रहता है। प्रत्येक कथा सूत्र के विकास में सतुलन और अनुपात का पूर्ण ध्यान रखा गया है। इस सुसगठित कथानक का यही रहस्य है कि सभी प्रासगिक कथाओ के मूल में यही अधिकारिक कथा सूत्र है जो सभी को सयुक्त करता हुआ अत तक कथा को त्वरा के साथ खीच ले गया है। वास्तव मे कलात्मक ढग से प्रत्येक कथा सूत्र के सयोजन के कारण ही प्रस्तुत कथानक का स्वाभाविक गति से विकास सम्भव हो सका है।

प्रस्तुत उपन्यास इतना विशालकाय होने पर भी अत तक रोचक बना रहता है। यह उपन्यासकार की आश्चर्यजनक सफलता है कि ५४७ पृष्ठो के इस उपन्यास मे पाठक की कुतूहलवृत्ति कही भी न्यून नही होती। प्रस्तुत कथानक को पूर्ण रोचक बनाने के लिए ही उपन्यासकार ने 'अघोर वन' (अध्याय १०) आदि जैसी कुछ सर्वथा चमत्कारिक घटनाओ का भी इसमे समावेश किया है।

इतिवृत्तात्मक एव रसात्मक स्थलो का अभूतपूर्व समन्वय प्रस्तुत कथानक मे हुआ है। इन दोनो के आनुपातिक समन्वय के कारण पाठक के हृदय मे वांछित प्रभाव उत्पन्न करने मे उपन्यासकार पूर्ण सफल रहा है। उपन्यास के अन्त तक रोचक होने का कारण यह भी रहा है।

प्रस्तुत कथानक शृ खलाबद्ध एव योजनाबद्ध अवश्य है, किंतु इसमे भी उपन्यासकार ने अनुपात का पूर्ण ध्यान रखा है। कही कथानक अत्यधिक योजनाबद्ध होने के कारण अस्वाभाविक एव यन्त्रचालित-सा नही होने पाया है। कथा सूत्र को धक्का देने के लिए पग-पग पर दैवयोग, सयोग अथवा आकस्मिकता का भी प्रयोग नही किया गया है, जिससे कथानक अन्त तक स्वत गतिमान रहा है।

प्रस्तुत उपन्यास म मानव जीवन की विविध अवस्थाओ का चित्रण बडा ही सजीव एव स्वाभाविक है। एक ओर जहाँ इसम युद्ध की काली घटाए उमडी हुई दीख पडती हैं वही दूसरी ओर पायल की छूमछननननन म प्रेमियो का विप्रलम्भ भी चलता है। वीर मे शृगार, करुण म हास आदि सभी कुछ एक साथ प्रस्तुत उपन्यास मे देखने को मिल जाता है। प्रस्तुत उपन्यास की सर्वप्रधान विशेषता उसके यथार्थ एव सूक्ष्म चित्रण मे है। उपन्यासकार ने जिस कथा सूत्र को भी पकड़ा है, वह पूर्णरूप से उभर कर सामने आ गया है। छोटे छोटे कथा सूत्र भी लेखक की लेखनी का एक ही आघात पाकर पूर्ण सजीव हो उठे हैं। उपन्यास के प्रत्येक कथा सूत्र म लेखक की सर्वरा कल्पना शक्ति, यथार्थ, सूक्ष्म एव मार्मिक चित्रण कला परिव्याप्त है। अपनी इन्ही विशेषताओ के कारण उपन्यासकार अपनी अनुभूतियो की पूर्ण अभिव्यक्ति करने मे सफल रहा है। उपन्यासकार की यह बहुत बडी सफलता रही है कि उसने जिस युग का कथानक चुना है, उस युग को पाठक के नेत्रो के समक्ष प्रत्यक्ष ला खडा किया है। उसने उस युग को इतने सशक्त और प्रखर रूप मे प्रस्तुत किया है कि पाठक अपने मानस चक्षुओं से उस युग की प्रत्येक समस्या, प्रत्येक रहस्य, यहाँ तक कि उस काल के प्रत्यक पात्र का प्रत्यक्षीकरण करने मे पूर्ण सफल रहता है।[1]

प्रस्तुत उपन्यास एक ऐतिहासिक उपन्यास है। अत स्वभावत ही यह प्रश्न हो सकता है कि क्या इसकी कथा इतिहासानुमोदित है? प्रस्तुत उपन्यास की मूल घटना एव प्रमुख पात्र ऐतिहासिक हैं। उपन्यास की मूल घटना है मूर्तिभजक महमूद गजनवी का सोमनाथ महालय पर अभियान और प्रमुख पात्र हैं महमूद और भीमदेव। यह घटना ईस्वी सन् १०२५ मे घटित हुई थी, जबकि मूर्तिभंजक महमूद गजनवी अपनी विशाल वाहिनी लेकर सुदूर गजनी से मुल्तान और अजमेर की राह देव मूर्ति को भग करने के लिए पाटन पहुँचा। इस घटना का उल्लेख "रोजत उस सफा (जो १५ वीं शताब्दी मे लिखी गई थी) मे भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार ने "फरिश्ता" एव अलबरुनी के "तवारीखे हिन्द" का आश्रय लिया है।[2] इस प्रकार इतिहास से उपन्यासकार ने केवल निम्न तथ्य लिए हैं—

१ ईस्वी सन १०२५ मे महमूद ने आक्रमण किया।

---

१. इस विषय पर आगे "देशकाल एव वातावरण" वाले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

२. सोमनाथ, आधार पृ. ३४।

२ क्षत्री राजाओं के भय से उसे मरुस्थल की राह से आना पडा।
३ रास्ते में गुर्जरेश्वर भीम के भय से उसे कच्छ के महारन से वापस जाना पडा।
४ उसने सोमनाथ का मन्दिर तोडा।

इसके अतिरिक्त इस आक्रमण के विषय में अन्य तथ्य प्राप्त भी नहीं होते। इस आक्रमण को उस समय इतना तुच्छ समझा गया कि हेमचद्र, सोमेश्वर और मेरुतुंग जैसे इतिहासकारों ने इसकी चर्चा तक न की।[1] गुजरात में कुछ शिलालेख ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनमें महमूद के इस आक्रमण का उल्लेख है।[2]

इन प्रमुख घटनाओं के अतिरिक्त उपन्यासकार ने शेष घटनाओं की सृष्टि अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा की है। उसने श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी के उपन्यास 'जय सोमनाथ' के कुछ प्रमुख पात्र एवं घटनाऐं अवश्य ली हैं। उपन्यासकार ने स्वीकार किया है 'श्री मुशी, चूँकि मुझसे प्रथम 'जय सोमनाथ' लिख चुके थे—इसलिए इस कथा में मैंने श्री मशी को आप्त पुरुष मान लिया। उनकी अनेक काल्पनिक स्थापनाओं को मैंने सत्य की भाँति ग्रहण कर लिया। इससे मेरे उपन्यास में परंपरा मूलक रसोदय हुआ। दोनों उपन्यास पढने पर पाठक के मन पर उस घटना का द्विगुण प्रभाव होगा। विरोधी भावना नहीं पैदा होगी। इससे रस भग का दोष नहीं आएगा यही मैंने सोचा। ऐतिहासिक सत्यों की मैंने परवाह नहीं की। इतना ही काफी समझा कि महमूद ने सोमनाथ को आक्रान्त किया था। उसने गुजरात की लाज लूटी थी।"[3] इसमें उपन्यासकार ने स्पष्ट कहा है कि मैंने ऐतिहासिक सत्यों की परवाह नहीं की। उसने इसमें 'इतिहास रस' की स्थापना की है। यद्यपि इसमें वह ऐतिहासिक तथ्यों से बचकर नहीं चला है, उसने इसमें मनमानी कुलाचें भी मारी हैं। किंतु तो भी उसने सभावना के क्षेत्र का कहीं भी अतिक्रमण नहीं किया है। "कच्छ का महारन" में महमूद की सम्पूर्ण सेना का विनाश अवश्य असम्भव-सा ज्ञात होता है, किन्तु यह कथा सूत्र भी काल्पनिक न होकर ऐतिहासिक है। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता कहता है कि महरवाल

१. सोमनाथ, आधार पृ. ६७।
२. देखिये कृष्णा जी की रत्नमाला में उल्लिखित शिलालेखों का विवरण और इसी विषय पर रामलाल चन्नीलाल का लेख।
३. सोमनाथ, आधार पृ. ८।

(अनहिलवाड) का राजा विरहम देव (भीमदेव) अजमेर के नरेश तथा अन्य राजाओ की सेनाओ को एकत्रित करके सुल्तान का रास्ता रोकने की भारी तैयारी कर रहा था, इसीलिए उसने सिन्ध के मार्ग से मुलतान जाने का विचार किया। मार्ग मे असह्य गरमी और पानी के नितात अभाव के कारण सेना का अधिकाश भाग पागल होकर मर गया ।[१] इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास की प्रमुख घटनाएँ तो ऐतिहासिक हैं, किंतु उपन्यास मे अन्य अनेक घटनाओ की कल्पना लेखक ने की है। जिनका कि इतिहास मे उल्लेख नही है ऐसी घटनाओ की कल्पना करने का ऐतिहासिक उपन्यासकार को पूर्ण अधिकार है।

तत्कालीन वातावरण तथा घटनाओ की रूप-रेखा बनाने मे गुजराती साहित्य और गुर्जर विद्वानो के लिखे सस्कृत-प्राकृत आदि के अनेक ग्रंथो का लेखक ने आश्रय लिया है ।[२] तत्कालीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक एव सामाजिक परिस्थितियो को चित्रित करने के लिए उपन्यासकार ने कुछ बिलकुल कल्पित पात्र तथा सूत्रो को कथानक मे अनस्यूत किया है ।[३]

उपन्यासकार ने भूमिका मे कहा है कि मैंने इस कथा मे श्री मुशी को आप्त माना है। इसके अतिरिक्त मुशी के "जय सोमनाथ' के विषय मे उसका कथन है इसी समय श्री मुशी का "जय सोमनाथ' मेरे सामने आया। पहले मैंने उसे मूल गुजराती मे पढा पीछे हिंदी अनुवाद पढा। मुझे इस बात का ख्याल ही न रहा कि यह उपन्यास श्री मुशी ने लिखा है या मैंने। मैं यही सोचने लगा, कि क्या वास्तव मे सोमनाथ लिख दिया गया है। परन्तु मेरा मन भरा नही। और किसी एक अनकिन भावना ने मेरे हृदय मे एक ऐसी तीव्र आकाक्षा उत्पन्न करदी, कि अब मैं सोमनाथ पर कलम बिना उठाये रह ही न सकता था। अब मैंने यह विचार किया कि मैं श्री मुशी के इस उपन्यास से कुछ प्राप्त कर सकता हूँ या नहीं। मैंने दो तीन बार उसे बारीकी से पढ़ा। इस समय तक मेरा 'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास प्रकाशित हो चुका था। श्री मुशी के 'जय सोमनाथ' के प्रति मैंने एक प्रतिस्पर्धी की दृष्टि डाली। मन में कहा—यदि मेरा उपन्यास इससे निकृष्ट बना, लोगो ने उसे न पढ़ा तो क्या

---

१. परिषता—जिल्द, पृ. ७५ रतिकांत भट्ट गुर्जरेश्वर भीमदेव सोलंकी, बुद्धिप्रकाश, जुलाई-सितम्बर, १९३५ का अक।
२. सोमनाथ, आधार पृ. ८।
३. सोमनाथ, आधार पृ. ९।

होगा ?[१] अब देखना यह है कि क्या वास्तव मे ही यह उपन्यास मुशी के 'जय सोमनाथ' से उत्कृष्ट बन सका है। दोनो उपन्यासकारो का सोमनाथ लिखते समय उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहा है। इस उपन्यास मे मेरा उद्देश्य सुलतान महमूद के आक्रमण का वर्णन करना नही, गुजरात द्वारा किये गए प्रतिरोध का वर्णन है।[२] इसके विपरीत आचार्य चतुरसेन जी का उद्देश्य इससे कही अधिक विस्तृत है। उन्होने केवल प्रतिरोध को ही नही वरन् तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक एव धार्मिक स्थितियो को भी चित्रित किया है। महमूद के चित्रण मे भी उसने अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक कोमलता, भावुकता और प्रेम की सम्पन्नता उडेल दी है। वास्तव मे उनका उद्देश्य आक्रमण का सास्कृतिक प्रभाव दिखाना था, केवल प्रतिरोध का वर्णन करना नही।

वास्तव मे सभी दृष्टियो से देखने पर आचार्य जी का यह उपन्यास "जय सोमनाथ" से उत्कृष्ट बन पडा है। कम से कम कथानक की दृष्टि से तो यह उससे अधिक उत्कृष्ट, सुसगठित एव कलात्मक है ही। मुशी के उपन्यास मे व्यर्थ विवरणो की भरमार के कारण कथानक कई स्थानो पर अवरुद्ध हो गया है किंतु इसके विपरीत आचार्य जी के प्रस्तुत उपन्यास का कथा सूत्र कही भी विशृ खल अथवा अवरुद्ध नही होने पाया है।

सोमनाथ पर महमूद के इस आक्रमण की तुलना हम नैपोलियन के मास्को पर किए गए आक्रमण से कर सकते हैं। नैपोलियन के मास्को पर किए गए इस आक्रमण का चित्रण रूस के विश्व विख्यात उपन्यासकार काउट लियो टालसटाय ने अपने अमर उपन्यास "युद्ध और शाति" मे किया है। अत यहाँ आचार्य जी के "सोमनाथ" और टालसटाय के "युद्ध और शाति" पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा। दोनो की कथाओ मे भारी साम्य है। दोनो आक्रमण कारी महत्वाकाक्षी थे—और दोनो ने ही पर राज्य मे बलात् प्रवेश किया। नैपोलियन प्रकृति के द्वारा अवरुद्ध होकर पीछे फिरा, किंतु महमूद को शत्रुओ से भय खाकर प्रकृति का भोग होना पडा। जिस प्रकार नैपोलियन अपने विजयोन्माद में रूस पर आक्रमण करता है, वैसे ही महमूद भारत पर। जिस प्रकार उधर नैपोलियन की विशाल वाहिनी को अवरुद्ध करने के लिए जार की सेना कुछ समय के लिए असफल प्रयास करती है, किंतु अत में उन सभी को कुचलकर

१. सोमनाथ, आधार पृ. ३-४।
२. जय सोमनाथ (हिन्दी अनुवाद) आमुख पृ. ७।

नैपोलियन मास्को मे उसी प्रकार प्रवेश करता है जिस प्रकार महमूद घोघाबापा, धर्मगजदेव, भीमदेव आदि को छल बल से पराजित करके सोमनाथ महाल्य मे। नैपोलियन और महमूद दोनो ही देश के शरीर पर अधिकार अवश्य कर लेते हैं वतु देश की आत्मा सदैव प्रतिशोध के लिए तडपती रहती है। और अतत दोनो को ही विपन्नावस्था में अपने देश की ओर प्रत्यावर्तित होना पडता है। अपने इस उपन्यास मे भी आचार्य चतुरसेन जी ने रमाबाई के मुख से टाल्सटाय की भांति "युद्ध और शांति" की समस्या पर प्रकाश डलवाया है। परन्तु अपने समाधान मे आचार्य जी टाल्सटाय से प्रभावित नही कहे जा सकते।

धर्मपुत्र

"धर्मपुत्र" उपन्यास की मुख्य कथा है एक मुस्लिम माता पिता की अवैध सतान दिलीप के एक निष्ठावान् आस्तिक हिंदू परिवार मे पालन-पोषण एव एक जाति च्युत राय साहब की पुत्री माया से उसके पाणिग्रहण की। इस उपन्यास के कथानक मे विकास की लगभग सभी अवस्थायें आ जाती हैं। कथा के प्रारम्भ म ही पाठक के सामने एक अद्भुत समस्या आ जाती है। एक मुस्लिम बालक एक हिंदू परिवार मे पाला जाने लगता है। अत आगामी घटना के प्रति पाठक की सहज उत्सुकता जाग्रत होती है। आरम्भ का सूत्र मुख्य घटना को उभारने के लिए अग्रसर होता है। दिलीप की वास्तविक माता हुस्न बानू मार्ग से हट जाती है। और ससार के सामने डा० अमृतराय और अरुणा उसके पिता तथा माता के रूप मे सामने आते हैं। मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है। और पाठक स्वभावत आगामी घटना के विकास को शीघ्र से शीघ्र देखने को उत्सुक हो जाता है। इसी समय दिलीप के विवाह की समस्या आ उपस्थित होती है। उपन्यासकार अभी घटना निष्पत्ति की व्याख्या दे भी नही पाता कि कथानक मे घात-प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। डा० अमृतराय और अरुणा प्राचीन धार्मिक मान्यता के अनुसार दिलीप को जन्म से विजातीय मानने के कारण, उसका विवाह अपनी जाति की किसी कुलीन कन्या से करना अधर्म समझते हैं। इसी कारण से वे उसका विवाह जाति च्युत राय राधाकृष्ण बैरिस्टर की विलायत रिटर्न पुत्री माया देवी से करना चाहते हैं किंतु दिलीप कट्टर हिंदू होने के कारण इस सबध को अस्वीकृत कर देता है। यह घटना कथानक को आगे बढाती है। राय साहब विवाह के प्रस्ताव के अस्वीकृति की बात सुन पुत्री सहित डा० अमृतराय के यहाँ आ पहुँचते हैं। अब पाठक की कौतूहल वृत्ति पूर्णरूपेण जाग्रत हो जाती है। इसी समय दिलीप और माया का अप्रत्याशित रूप से क्षणिक मिलन और दोनो का

पारस्परिक रूप से आकर्षित होना कथानक मे एक नाटकीय मोड़ ला देता है। दोनो-दोनो के लिए व्याकुल होते हैं अतर्द्वन्द्व प्रारम्भ होता है। दिलीप माया को अस्वीकार करके भी उसी के लिए व्याकुल हो उठता है और उधर माया भी दिलीप द्वारा अपमानित होने पर उसी को अपना मान बैठती है। घात प्रतिघात एव अतर्द्वन्द्वो का अतिक्रमण करता हुआ कथानक तीव्रगति से चरम सीमा की ओर बढता है। इसी समय पुन कथानक मे एक नाटकीय मोड आता है। दिलीप का अपनी वास्तविक माता हुस्नबानू से अप्रत्याशित रूप से साक्षात्कार हो जाता है। यहीं उसे वास्तविक रहस्य, कि वह मुसलमान है ज्ञात होता है। वह इस घटना से इतना प्रभावित होता है कि अपना घर त्यागने तक को प्रस्तुत हो जाता है। कथानक अपनी चरम सीमा तक पहुँचते पहुँचते अकस्मात् मुड जाता है। सयोग से माया भी उस समय वहाँ उपस्थित थी, उस अनिश्चित अवस्था में भी अपनी प्रेयसी की सहानुभूति और प्रेम पाकर दिलीप पुन रुक जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत कथानक की चरम सीमा अपनी नाटकीयता एव सयोग से चरितार्थ होने के कारण उसे बलात् आदर्शवादी अत की ओर खीच ले गई है, फलत कथानक की कलात्मकता को गहरा आघात पहुँचा है। चरम सीमा के पश्चात भी उपन्यासकार आगे बढता है। और उपसहार मे दोनो का शुभ पाणिग्रहण करा देता है जो प्रेमचद युगीन उपन्यासकारो की एक प्रमुख विशेषता है।

इसमे आधिकारिक कथा दिलीप और माया की है। इस मूल कथा को अग्रसर करने और उसमे सौंदर्य वृद्धि करने के लिए डा० अमृतराय, हुस्न बानू नवाब जहाँगीर, वजीर अली, शिशिर, सुशील आदि की प्रासगिक कथाओ का भी प्रयोग हुआ है। दिलीप की आधिकारिक कथा के साथ डा० अमृतराय एव अरुणा, हुस्न बानू एव नवाब की कथा पताका एव शिखर, सुशील आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं। स्वामी जी की कथा का प्रयोग यद्यपि लेखक ने धार्मिक अधविश्वासो का मूलोच्छेदन एव हास्य सृष्टि के लिए ही किया है किंतु वह प्रस्तुत कथा मे पताका स्थानक का कार्य करती है।

कथानक सगठन की दृष्टि से प्रस्तुत कथानक सगठित है। कथानक की समस्त घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। आधिकारिक कथा के साथ आई हुई प्रासगिक पताका और प्रकरी कथाएँ भी कथानक के विकास मे योग देती हैं और उसमे एकसूत्रता बनाए रखती हैं। कथानक के मध्य मे हुस्नबानू एव नवाब की प्रासगिक कथा अवश्य आधिकारिक कथा से दूर जा पडती है। किंतु अत तक पहुँचते-पहुँचते वह पुन मूल कथा से आकर सयुक्त हो गई है। मूल कथा इस प्रासगिक कथा को

लेकर तीव्रता से आगे बढ़ती है। एक के ऊपर एक कुतूहल की सृष्टि होती है। और चरम सीमा को पार करते-करते कथानक घटना और सयोगो के मध्य म दबकर अपना सतुलन खो बैठता है जिससे कथानक अपनी मूल समस्या के निष्कर्ष के समीप आते-आते नाटकीय ढग से मुड जाने के कारण उसका एकत्रित प्रभाव नष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत कथानक की रोचकता अत तक बनी रहती है। रोचकता की सृष्टि के लिए ही उपन्यासकार ने दिलीप, शिशिर एव सुशील के माध्यम से देश-काल को चित्रित किया है। नाटकीय मोड, नवाब साहब का विचित्र स्वभाव और उसके पार्श्व मे धड़कते चार-चार अम्लान, व्यथित किंतु पवित्र नारी हृदय एव स्वामी जी की कौतूहल एव मनोरजनवर्धक कथाओ की सृष्टि इसी उद्देश्य से उपन्यासकार ने की है। रोचकता सम्पादन के प्रयत्न मे कथा कही कही बिखरने लगी है किंतु अत तक आते-आते उपन्यासकार ने उसे बड़े यत्न से सवार लिया है।

कथानक को यथासाध्य सभावना की सीमा मे बाधने का प्रयत्न किया गया है किंतु तो भी एक-दो अप्रत्याशित एव नाटकीय घटनाएँ सीमा का उल्लघन करती हुई ज्ञात होती है। उदाहरण के लिए कट्टर हिंदू दिलीप माया से प्रथम बार मिलकर ही इतना आत्म विस्मृत हो जाता है कि उसके जन्म से पालित-पोषित समस्त सस्कार अकस्मात् से उडन छू हो जाते हैं। वही नारी जिसका कुछ क्षण पूर्व ही उसने अपमान किया था—उसी नारी को एक ही दृष्टि मे अपना हृदय अर्पित कर देना—चित्रपट की घटनाओ के अतिरिक्त यथार्थ जीवन मे नही दीख पडता। कुछ इसी प्रकार की घटना अत मे भी सजोयी गयी है। वही दिलीप जो अपने आश्रयदाता माता पिता के रुदन की उपेक्षा करके, अपने अन्य आत्मीय जनो के प्रेम एव स्नेह को ठुकरा कर घर त्यागने को उद्यत है वही केवल माया की सहानुभूति एव प्रेम पाकर चमत्कारिक ढग से रुक जाता है। यद्यपि कथाकार ने इन दोनो घटनाओ को इस प्रकार सजोया है कि कथा सभावना के क्षेत्र का किंचित उल्लघन करके पुन सीमा में बँध जाती है। कथाकार ने यदि दोनों घटनाओ के मूल मे सयोग और नाटकीयता के स्थान पर मनोविज्ञान का पूर्ण आश्रय लिया होता तो कथा सभावना के क्षेत्र का उल्लघन सभवत न कर पाई होती। साथ ही जो कथा सीमा का उल्लघन करके पुन ससीम हो गई है उसका श्रेय भी उन्ही मनोवैज्ञानिक स्थलो को है जो घटनाओ के मूल मे यत्किंचित् एव अयत्न आ गए हैं।

अब स्वभावत एक प्रश्न उठता है कि क्या कथाकार उस समस्या का निष्कर्ष देने मे सफल रहा है जो कथानक के प्रारम्भ मे उठाई गई थी ? स्पष्ट है कि कथानक एक ऐसी समस्या को लेकर चला है जो किसी सीमा तक शाश्वत कही जा सकती है। समस्या है धर्म का सीमाबधन जन्म एव रक्त से होता है अथवा सस्कारो से ? गुरुदेव रवीन्द्र बाबू ने भी अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' मे प्रस्तुत समस्या को उठाया है। इसमे सदेह नही कि समस्या महत्वपूर्ण है। इसके प्रस्तुत करने का ढग भी मौलिक एव यथार्थ है किंतु कथानक अत तक आते-आते इतनी द्रुतगति से भागा है कि मूल समस्या पीछे ही छूट गई है। अत समस्या का निष्कर्ष भी पूर्णरूपेण निखर नही पाया है। कथा की चरम सीमा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण पाठक अत तक आते-आते कुतूहलो के व्यामोह के मध्य भटकी मूल समस्या को भूल जाता है किंतु कथा समाप्त करते ही मूल समस्या नेत्रो के सम्मुख पुन घूम जाती है। परोक्ष रूप से उसे मूल समस्या का कोई भी समाधान कथानक मे दीख नही पडता किंतु किंचित मात्र ध्यान देने पर उसे कथाओ के मध्य मूल समस्या का निष्कर्ष आवर्तित दीख पडता है। अप्रत्याशित एव नाटकीय ढग से दिलीप और माया का पाणिग्रहण कराकर उपन्यासकार ने रक्त एव जन्म द्वारा प्रवर्तित धर्म विषयक मान्यताओ एव सीमाबधनो को मूल से उखाड फेंकने की चेष्टा की है। लेखक अत मे इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मनुष्य ज्यो-ज्यो प्रगतिशील होता जायेगा, त्यो-त्यो उसकी धर्म विषयक मान्यताओ मे भी क्रांतिकारी परिवर्तन आते जायेंगे। जहाँ भी मानव की कोमल वृत्तियाँ परस्पर सघर्ष करते लगेंगी, वही धर्म की रक्त, जन्म अथवा सस्कार सबधी मान्यताएँ स्वय तिरोहित हो जायेंगी।

प्रस्तुत कथानक की कलात्मकता, समस्या की व्याख्या के साथ-साथ जीवन की विविध अवस्थाओं के चित्रण के समावेश के कारण द्विगुणित हो गई है। कुछ स्थानो पर पात्रो के अतर्द्वन्द्व का चित्रण बडा मार्मिक बन पडा है। यद्यपि नाटकीयता के समावेश के कारण कथानक शीघ्र ही मनोविज्ञान का पल्ला छोडकर घटनाओ और सयोगो की भवर मे पडकर अग्रसर होने लगता है। किंतु जहाँ भी कथानक इन दोनो के जजाल से निकलकर मनोविज्ञान के स्वस्थ्य वातावरण मे श्वास लेता है, वहा उपन्यासकार की अनुभूतियों की सफल अभिव्यक्ति देखते ही बनती है।

अन्य उपन्यासो की भाँति इसमे भी असावधानी के कारण कुछ भद्दी भूलें हो गई हैं। एक दो स्थानो पर करुणा का प्रयोग हुआ है।[१] सम्भव है यह

१. धर्मपुत्र-पृ. १८१।

दोष लेखक का नहीं अपितु मुद्रण की असावधानी के कारण हुआ हो किंतु तो भी दोष तो है ही।

वयं रक्षामः

प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा है रावण के दिग्विजय एवं राम द्वारा उसकी पराजय की। इनमे कथा का प्रारम्भ एक दैत्यबाला के नृत्य के वर्णन से होता है। यहां प्रस्तुत उपन्यास के नायक रावण की उस दैत्यबाला से भेंट हो जाती है। रावण उस दैत्य सुन्दरी के सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है। वह सुरा के लिए स्वर्ण देकर उस दैत्य बाला को अपने साथ ले लेता है। अब यही से रावण की प्रधान कथा शनैं शनैं अग्रसर होती है। विवरणात्मक और वर्णनात्मक ऐतिहासिक खोजो से पूर्ण अध्यायो के बीच-बीच मे आ जाने के कारण यह प्रधान कथा अपनी वक्रगति से ठिठक-ठिठक कर अपना मार्ग स्वयं निर्मित करती हुई आगे बढ़ती जाती है। वास्तव मे उपन्यास के इस भाग मे इस प्रधान कथा की गति उस शैवलिनी की भांति प्रतीत होती है जो पर्वतीय प्रदेश मे शिला खण्डो से टकराती, उन्हें तोड़ती, अपने मे समेटती कभी वक्र, कभी ऊर्ध्व कभी स्थिर तो कभी क्षिप्रगति से पर्वतो को पार करती समतल मैदान की ओर स्वतः प्रेरित सी भागती चली जाती है।

'राक्षसेंद्र रावण' (अध्याय ३१ पृष्ठ १५८) तक प्रधान कथा की यही दशा रहती है। इसके पश्चात् से इस कथा मे गति आती है। रावण एकाकी ही दिग्विजय करने के लिए लंका से बाहर निकल पड़ता है। इस विजय यात्रा मे रावण दो स्थानो पर पराजित हुआ—प्रथम किष्किधापुरी मे बालि से[१] और दूसरे माहिष्मती मे चक्रवर्ती अर्जुन से[२]। किंतु इन दोनो वीरो से पराजित होकर भी उसने इन दोनो से ही मैत्री संबंध स्थापित कर लिया था। वैजयन्ती-पुरी मे अपने साढ़ू असुरराज तिमिध्वज शम्बर से भी वह पराजित हुआ था। असुर की नगरी मे ही रावण ने उसकी पत्नी मायावती से अनुचित संबंध स्थापित करने की चेष्टा की थी। असुर ने उसकी इस लम्पटता को देख लिया था। इसी बात से क्रोधित होकर असुर ने मल्लयुद्ध मे रावण को पराजित करके बंदी बना लिया था। किंतु 'देवासुर-संग्राम' मे असुर के मारे जाने के कारण असुर पत्नी मायावती इसे बंदी गृह से मुक्त कर स्वयं अपने पति के साथ सती हो गई थी।[३] रावण

१. वयं रक्षामः पृ. २१०-२११।

२. वयं रक्षामः पृ. ३४६-३४७।

३. वयं रक्षामः पृ. १८३-१९६ तक।

की इन स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र विजय हुई थी। उसने यम, कुबेर, वरुण और इंद्र तक को अपनी विशाल वाहिनी के द्वारा अपने आधीन कर लिया था।

प्रस्तुत उपन्यास की दूसरी मुख्य कथा है राम की। मिथिला में 'धनुष-यज्ञ' के अवसर पर रावण प्रथम बार राम के दर्शन करता है। इस घटना[1] के पश्चात् से ही प्रस्तुत उपन्यास में राम की कथा प्रारम्भ होती है। यहीं से राम और रावण दोनों ही की कथाएँ समानांतर चलने लगती हैं। उधर रावण देव लोक, गंधर्वलोक, नागलोक, यक्ष लोक आदि पर विजय प्राप्त कर रहा था और इधर कैकेयी के हठ के फलस्वरूप राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास की आज्ञा हो चुकी थी। राम इस अवधि को पूर्ण करने के लिए वन-वन भटक रहे थे। इसी समय रावण की भगिनी सूर्पनखा के माध्यम से राम-रावण की समानांतर चलती हुई कथाओं में संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। यह संघर्ष भयकर युद्ध का रूप धारण कर लेता है। रावण, राम की पत्नी सीता का हरण करता है और राम ससैन्य उस पर आक्रमण। अंत में घनघोर संग्राम के पश्चात् राम, रावण का वध कर अपनी पत्नी सीता को प्राप्त करते हैं। यही प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा है।

इसमे अधिकारिक कथा राम और रावण की है। प्रासंगिक पताका और प्रकरी एवं अप्रासंगिक कथाओं की प्रस्तुत उपन्यास में भरमार है। इसमें प्रागैतिहासिक कालीन देव, दैत्य, दानव, असुर, किन्नर, गन्धर्व, आर्य, अनार्य आदि की सांस्कृतिक गति विधियों को विभिन्न कथा सूत्रों में पिरोने का प्रयत्न किया गया है। इसी कारण से इसमें राम रावण की अधिकारिक कथा के साथ-साथ प्रलय, वाराहो द्वारा धरती का उद्धार, देवासुर-संग्राम, तारकामय, दाशराज-संग्राम, सम्बर-संग्राम आदि की कितनी ही अप्रासंगिक कथायें बलात् लाई गई हैं। कितनी ही इसमे ऐसी भी कथायें हैं जिनका अपरोक्ष रूप से रावण की अधिकारिक कथा से सम्बंध स्थापित किया गया है। रावण के प्रथम अभियानों का विस्तृत विवरण देकर कितनी ही प्रासंगिक कथाओं को एक में समेटने का प्रयत्न अवश्य किया गया है किंतु तो भी अनेक ऐसी प्रासंगिक कथाऐं रह गई हैं। जिनका मूल कथा से किसी प्रकार का सम्बंध स्थापित नहीं हो सका। जैसे *मनुभरत, प्रलय, वरुण, ब्रह्मा, आदित्य, दैत्य-मानव, देवासुर-संग्राम* आदि अध्यायों की कथायें।

---

१ वयं रक्षामः पृ ३६०।

इसमे कथा रावण के चरित्र के चारो ओर चक्कर काटती हुई अन्त तक चली है, इससे कितने ही कथासूत्र बिखर गए हैं। इसके अतिरिक्त इसमे कुछ ऐसे भी चरित्रो का समावेश हुआ है जो भारत भूमि, मध्य एशिया, अरब अफ्रीका और पूर्वी द्वीपसमूह तक फैले हुए है। इससे कथा और भी विशृ खल हो गई है। इसमे कथा की एकसूत्रात्मकता तो समाप्त हो ही गई है, साथ ही खाद्य पदार्थों, शृ गार-सज्जा सामग्री, अस्त्र-शस्त्र के नामों एव प्राचीन राजाओ की वशावलियो के विवरणो के आधिक्य के कारण कथा की रोचकता को भी गहरा आघात लगा है। मेरा अपना विश्वास है कि यदि आचार्य जी इस विवरणात्मक और अप्रासगिक सामग्री को मूल कथा से निकाल कर भाष्य मे दे देते तो निश्चित रूप से प्रस्तुत उपन्यास की कथा की कलात्मक महत्ता द्विगुणित हो गई होती। इतना होने पर भी कुछ अशो को छोडकर कथाकार अत तक कथा को सरस एव रोचक बनाये रखने मे पूर्ण सफल रहा है।

जैसा कहा जा चुका है प्रस्तुत उपन्यास का मुख्य कथानक अत्यन्त प्राचीन है। राम-रावण की कथा ही उसके मूल में है, जिसे आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आज तक के कवियो ने अपनी कथा का माध्यम बनाया है। इतनी प्रचलित कथा को उठाने पर भी उपन्यासकार ने इसे नितात मौलिक ढग से प्रस्तुत किया है। उसने स्वय कहा है इस उपन्यास मे प्राग्वेदकालीन नर, नाग, देव, दैत्य, दानव, आर्य, अनार्य आदि विविध नृवशो के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखाचित्र हैं, जिन्हें धर्म के रगीन शीशे मे देखकर सारे ससार ने उन्हे अतरिक्ष का देवता मान लिया था। मैं इस उपन्यास मे उन्हे नर रूप मे आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूँ। वय रक्षाम एक उपन्यास तो अवश्य है, परतु वास्तव म वह वेद, पुराण दर्शन और वैदेशिक इतिहास ग्रथो का दुस्तर अध्ययन है।[१] प्रस्तुत उपन्यास की इस विशेषता के साथ-साथ इसकी यह मौलिकता भी उल्लेखनीय है कि इसमे राम-कथा को एक नवीन दृष्टिकोण से देखा गया है। आज तक के महाकाव्यो मे केवल राम परिवार का आश्रय लेकर कथा विकसित हुई थी किंतु इसमे आधिकारिक कथा रावण के परिवार की है। बग कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मघनादवध' का प्रभाव प्रस्तुत कथा पर अवश्य है किंतु दोनों का दृष्टिकोण एकदम भिन्न हैं। इसमे 'उपन्यासकार ने वेद, पुराण, दर्शन, ब्राह्मण और इतिहास की प्राप्तियो की एक बडी सी गठरी बांधकर इतिहास रस मे एक डुबकी दे दी है। सबको इतिहास रस मे रग दिया

---

१. वय रक्षाम पूर्व निवेदन पृ ४।

है। फिर भी यह इतिहास रस का उपन्यास नहीं 'अतीत रस' का उपन्यास है। इतिहास रस का तो इसमें केवल रंग है, स्वाद है अतीत रस का।'[1]

इस उपन्यास के विशृंखल हो जाने का एक कारण और है। उपन्यासकार ने इसमें प्रासंगिक और अप्रासंगिक कथाओं के ब्याज से तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का विस्तार से विवरण देने का प्रयत्न किया है। यह सत्य है कि प्रस्तुत कथानक के माध्यम से उपन्यासकार उस युग, समाज तथा संस्कृति का आभास देने में पूर्ण सफल रहा है, किंतु इस सफलता के लिए उसे कथानक के सुगठन का बलिदान करना पड़ा है।

प्रस्तुत कथा में कई स्थानों पर नाटकीय मोड़ हैं। उदाहरण के लिए 'आर्चे पुरुषमालभेत्' 'असुर का विक्रम' आदि अध्यायों को लिया जा सकता है। किंतु इनमें भी 'अति नाटकीयता' नहीं आने पाई है। कथा कुछ अंशों को छोड़कर आदि से अंत तक अपने ही पैरों पर चलती है किंतु जहाँ पर प्रचलित कथानकों को बलात् मोड़ने का प्रयत्न किया गया है वहाँ कथा यंत्रचालित सी एवं अस्वाभाविक हो गई है। उदाहरण के लिए 'सागर-तरण' 'पराक्रम का संतुलन' 'धूर्जटि के सान्निध्य में' आदि अध्यायों को ले सकते हैं। उपन्यासकार ने सभी तथ्यों को बुद्धिसंगत बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है किंतु इंद्रजीत के पराक्रम प्रदर्शन में वह 'मेघनाद वध' से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण इस संतुलन का निर्वाह नहीं कर सका है। कहीं-कहीं वर्णन अतिरंजित हो गए हैं, जिससे कथा के मोड़ टूटे-टूटे से दीख पड़ते हैं। उपन्यासकार ने अपनी पूर्ण प्रतिभा का उपयोग कथा को यथासम्भव औचित्यपूर्ण एवं बुद्धिसंगत बनाने में ही कर दिया है। कथा के बीच-बीच में आए हुए संस्कृत के वार्तालाप इसी बात के साक्षी हैं। इससे कथा को भले ही आघात पहुँचा हो किंतु इन संवादों का समावेश कथाकार ने सम्भावना एवं औचित्य के निर्वाह के लिए ही किया है। बहुत संभव है तुलसी की भाँति संस्कृत के लाने का उसका भी उद्देश्य रहा हो।

जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है कि प्रस्तुत कथा-वस्तु अति प्राचीन है और कितने ही महान् ग्रंथों की रचना इसी कथा का आधार बनाकर हो चुकी है। अब देखना यह है कि प्रस्तुत उपन्यास किस सीमा तक अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं से प्रभावित है? इस उपन्यास पर वाल्मीकि रामायण के 'उत्तरकांड' माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध' का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। कथा की रूप रेखा, उसे प्रस्तुत करने का ढंग आदि उपन्यासकार के अपने हैं। कतिपय

१. वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ. ४-५।

विशिष्ट स्थल तो पूर्णरूप से उपरोक्त दोनो ग्रथो के आधार पर ही लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए 'रवीद्र का अभिगमन'[1], 'मेघनाद-अभिषेक'[2], 'धूर्जटि के सानिध्य म'[3] 'अभिसार'[4], 'समागम'[5], रवीन्द्र-वध'[6] आदि अध्यायो को ले सकते हैं, जो मेघनाद वध' के षष्ठ और सप्तम सर्ग से बहुत कुछ प्रभावित है। कोई-कोई अश तो दोनो मे एक से दीख पडते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ हम केवल एक तुलना देते है–

'ललकार तथा शस्त्रो की झनझनाहट सुन रवीन्द्र मेघनाद ने चौकन्ना होकर नेत्र खोल, सौमित्र की सौम्य मूर्ति को देखा। उसने समझा, प्रसन्न हो भगवान् वैश्वानर ने ही प्रत्यक्ष दर्शन देने का अनुग्रह किया है। उसने उठकर, दूर ही से भूतल मे गिर, साष्टाग प्रणाम कर बद्धाजलि हो कहा—"देव वैश्वानर, यह दास आज आपकी आराधना कर रहा है, क्या इसीलिए आपने इस रूप में प्रकट होकर दास पर अनुग्रह किया है? हे देव, मैं आपको प्रणाम करता हूँ'

सौमित्र खड्ग लिए आगे बढ़े। मेघनाद ने पीछे हटते हुए कहा—"ठहर तू यदि सत्य ही रामानुज लक्ष्मण है, तो मैं अभी तेरी युद्ध कामना पूरी करता हूँ। क्षण भर मेरा आनिथ्य ग्रहण कर। मैं तनिक वीर—साज सज लूँ, शस्त्र ले लू।

लक्ष्मण ने गरज कर कहा 'अरे मूढ,

चौंककर बद आखें खोलकर सहसा देखा बली रावणि ने देवाकृति सामने तेजस्वी महारथी, ही तरुण तरणि ज्यो अशुमाली।

करके प्रणाम पड पृथ्वी मे, हाथ जोड बोला तब वासव-विजेता यो–'पूजा शुभयोग मे है आज है विभाव सो, किंकर ने तुमको, तभी तो प्रभो, तुमने करके पदार्पण पवित्र किया लका को।

रौद्रमूर्ति दाशरथि बोले वीर-दर्प से—"पावक नही मैं, देख रावणि, निहार के! लक्ष्मण है नाम मेरा, जन्म रघुकुल मे। मारने को घूर सिंह, तुमको समर मे आया हूँ यहाँ मैं, अविलम्ब मुझे युद्ध दे।"

विस्मय से बोला बली "सत्य ही जो तुम हो रामानुज, तो हे रथि, किस छल मे कहो, राक्षसराज-पुर मे घुसे हो तुम।

"रामानुज लक्ष्मण हो यदि तुम सत्य ही, तो हे महाबाहो, मैं तुम्हारी रण—लालसा मेटूगा अवश्य घोर

१ वय रक्षाम अध्याय १०८।
२ वय रक्षाम अध्याय १०९।
३ वय रक्षाम अध्याय १११।
४ वय रक्षाम अध्याय ११२।
५. वय रक्षाम अध्याय ११४।
६. वय रक्षाम अध्याय ११८।

बाघ के जाल मे फँसने पर क्या किरात उसे छोड देता है। मैं तुझे इसी क्षण निरस्त्र वध करूँगा।"

मेघनाद ने क्रुद्ध होकर कहा—"अरे, अधम मानव, निरस्त्र शत्रु पर आघात करना वीरकुल की मर्यादा नही। तूने चोर की भांति मेरे मन्दिर मे प्रवेश किया। ठहर, मैं तुझे चोर ही की भाँति दण्ड दूँगा।" उसने एक शृ ङ्गपात्र उठाकर लक्ष्मण के सिर पर दे मारा। अपि[1]

युद्ध मे, भला। कभी होना है विरत इन्द्रजित रण-रंग से। सज लूँ जरा मैं वीर-साज से।"

बोले तब लक्ष्मण गम्भीर घन-घोष से "छोडता किरात है क्या पा के निज जाल मे बाघ को अबोध? अभी वैसे ही करूँगा मैं तेरा वध।

बोला तब इन्द्रजित "क्षत्र-कुल का है तू कलक, तुझे धिक है।

लक्ष्मण। नही है तुझे लज्जा किसी बात की मूँद लेगा कान वीर-वृन्द घृणा करके सुनकर तेरा नाम।

अरघा उठाकर तुरत महावीर ने मारा घोरनादयुक्त लक्ष्मण के भाल मे।"[2]

इसके अतिरिक्त भी कई अन्य स्थानो पर उपन्यासकार 'मेघनाद वध' से प्रभावित हुआ है। जिन स्थानो पर उपन्यासकार माइकेल से प्रभावित है, वे स्थान प्रभावशाली नहीं रह पाये है। उनके चरित्रो का विकास उन स्थानो पर स्वतत्र रूप से नहीं हो सका है। 'मेघनाद वध' से 'षष्ठ सर्ग' का पूर्ण रूपेण अनुकरण करने से इसके उत्तरार्ध मे भी वही दोष आ गये हैं, जो 'मेघनाद वध' मे थे। 'मेघनाद वध' के षष्ट सर्ग के विषय मे श्री युत योगीन्द्रनाथ वसु ने कहा था 'मेघनाद वध' का षष्ट सर्ग ही सारे काव्य मे सबसे निकृष्ट है। मधुसूदन जिस कारण से इस सर्ग की इस प्रकार रचना करने के भ्रम मे पडे हैं उसके दो कारण थे। पहला कारण रावण-वंश पर उनकी अत्यधिक सहानुभूति है (आचार्य जी भी रावण जगदीश्वर के तेज से अत्यधिक प्रभावित थे) और दूसरा कारण वाल्मीकि को छोडकर होमर को आदर्श रूप मानकर उसके अनुकरण की चेष्टा है। राक्षस वीरो के वीरत्व ने मधुसूदन को ऐसा मुग्ध कर दिया था कि इसके प्रतिपक्षी भी वीर हैं, इसे वे एक बार ही भूल गए थे। 'क्षुद्रनर' लक्ष्मण

१. वय रक्षामः पृ. ७०९-१०।

२ मेघनाद वध—माईकेल मधुसूदनदत्त, अनुवादक—मधुप षष्ट सर्ग पृ १७८-१८२ तक।

उनके द्वन्द्व विजयी महावीर को न्याययुद्ध में वध करें, कवि के लिए यह मानो असह्य था। इसी से उन्होंने लक्ष्मण को एक बालिका की अपेक्षा भी दुर्बल बना डाला। नायक का गौरव बनाने के लिए प्रतिनायक को भी गौरव युक्त रखना पडता है, जान पडता है मेघनाद-वध के कवि को इस बात का भी स्मरण नही रहा है। जिन स्थलो पर आचार्य जी ने 'मेघनाद वध" का अनुकरण किया है वहाँ निश्चित रूप से यही दोष उनके उपन्यास में भी उभर आया है किंतु जहाँ उन्होने अपनी कल्पना से वाल्मीकि रामायण एवं 'मेघनाद वध" की कथाओ का समन्वय प्रस्तुत किया है अथवा किसी नवीन घटना की उद्भावना की है वहाँ पर निश्चित रूप में उन्हे सफलता प्राप्त हुई है। ऐसे ही स्थलो पर उनकी प्रतिभा निखर आई है। नवीन उद्भावनाओ की दृष्टि से इसी कारण से प्रस्तुत उपन्यास का पूर्वार्ध अधिक सफल रहा है यद्यपि कथा सगठन की दृष्टि से उत्तरार्ध अधिक सुगठित है।

प्रस्तुत कथा वस्तु के सगठन में उपन्यासकार ने दोनो ग्रथो के अतिरिक्त अन्य कितने ही प्राचीन ग्रथो का आश्रय लिया है। उपन्यासकार का गभीर अध्ययन उसके तीन सौ पृष्ठो के भाष्य से प्रकट होता है। उसने स्वय कहा है उपन्यास में व्याख्यात तत्वो की विवेचना मुझे उपन्यास में स्थान-स्थान पर करनी पडी है। मेरे लिए दूसरा मार्ग था नही। फिर भी प्रत्यक्ष तथ्य की सप्रमाण टीका के बिना मैं अपना बचाव नही कर सकता था। अत ढाई सौ पृष्ठो (यद्यपि हो तीन सौ पृष्ठो का गया है) का भाष्य भी मुझे अपने इस उपन्यास पर रचना पडा।[2] वास्तव में उस भाष्य से और प्रस्तुत कथानक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक ने सब वेद, पुराण, दर्शन, ब्राह्मण और इतिहास ग्रथो को निचोड कर एक ही भाजन में भर दिया है, जिससे कि यह उपन्यास से अधिक इन प्राचीन ग्रथो का व्याख्या ग्रथ बन गया है।

जहाँ तक प्रस्तुत उपन्यास की ऐतिहासिकता का प्रश्न है मैं नही समझ पाता कि इसे इतिहास कहूँ या उपन्यास। स्वय उपन्यासकार ने लिखा है ['वय रक्षाम' की गणना अब तक प्रचलित उपन्यासो की श्रेणी में नहीं की जा सकती। कथा की दृष्टि से इसमे रावण की कथा है, चरित्र सम्बन्धी नही, सांस्कृतिक प्रयास की वास्तव में यह रामचरित का विपर्याय है और उसकी पृष्ठभूमि में

---

१. मेघनाद वध—माईकेल मधुसूदनदत्त, अनुवादक—'मधुप' परिचय और आलोचना पृ. १२५-२७।

२ वय रक्षाम पूर्व निवेदन पृ ४।

देव, दानव, दैत्य तथा तत्कालीन जातियो से जीवित सपर्क है।[1] उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास को ऐतिहासिकता प्रदर्शित करने के लिए लगभग तीन सौ पृष्ठो का एक भाष्य भी प्रस्तुत किया है, इसमे उसने उपन्यास की लगभग प्रत्येक प्रमुख घटना की ऐतिहासिकता पर विचार किया है। आचार्य जी ने प्रस्तुत उपन्यास को 'इतिहास-रस' का नही वरन् 'अतीत-रस' का मौलिक उपन्यास माना है।[2] वास्तव मे इसमे प्राग्वेदकालीन जातियो के सम्बन्ध मे सर्वथा अकल्पित-अतर्कित नई स्थापनाए है, मुक्त सहवास है, विवसन विचरण है, हरण और पलायन है। शिश्न देव की उपासना है, वैदिक-अवैदिक अश्रुत मिश्रण है। नरमास की खुले बाजार मे बिक्री है, नृत्य है, मद है उन्मुख अनावृत यौवन है।[3] इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास के विषय का खूब अध्ययन कर और प्रमाणो की धूमधाम लेकर आचार्य चतुरसेन जी अग्रसर हुए है। जिससे 'इतिहास-रस' पर 'ऐतिहासिक-सत्य' (यहा 'अतीत-रस' पर अतीत-सत्य !) हावी हो गया है, जिससे यह उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास न होकर तत्कालीन सस्कृति का इतिहास अधिक हो गया है, किन्तु तो भी इसको अनेक अतीत की स्मृतियाँ, रेखा-चित्र बड़े सजीव और उभरे हुए हैं। तात्पर्य यह कि प्रस्तुत उपन्यास का कथानक भी अतीत के इतिहास के नीचे से झलझला अवश्य रहा है, किन्तु यह इतिहास का आवरण इतना स्थूल हो गया है कि कथानक पूर्णरुप से उभर नही पाया है, जिससे 'अतीत-रस' का पूर्ण

---

१. वातायन पृ २९।

२. वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ ४-५।

३. वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ. २। उपन्यासकार ने इसके अतिरिक्त भी लिखा है इस उपन्यास में प्राग्वेदकालीन नर, नाग, देव, दैत्य, दानव, आर्य, अनार्य आदि विविध नृवंशों के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखा चित्र हैं, जिन्हें धर्म के रंगीन शीशे में देखकर सारे संसार ने उन्हें अंतरिक्ष का देवता मान लिया था। मैं इस उपन्यास में उन्हें नर रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूँ। 'वयं रक्षामः' एक उपन्यास तो अवश्य है, परन्तु वास्तव में वह वेद, पुराण, दर्शन और वैदेशिक इतिहास ग्रन्थों का दुस्सह अध्ययन है।...... संक्षेप में, मैंने सब वेद, पुराण, दर्शन, ब्राह्मण और इतिहास के प्राप्तों को एक बड़ी सी गठरी बांधकर इतिहास रस में एक डुबकी दे दी है। सबको इतिहासरस में रंग दिया है। फिर भी यह इतिहास रस का उपन्यास नहीं अतीत रस का उपन्यास है। इतिहास रस का तो इसमें केवल रंग है, स्वाद है अतीत रस का। वयंरक्षामः पूर्व निवेदन पृ. ४-५।

सचार नही हो पाया है। हाँ, ऐतिहासिक तथ्यो के जमघट के कारण उपन्यास मे ऐतिहासिकता निश्चित रूप से उभरी हुई है।

इस युग से सम्बन्धित हिंदी मे तथा भारत की विभिन्न भाषाओ मे अन्य कितने ही उपन्यास प्राप्त है। भगवत शरण उपाध्याय के सघर्ष, सपेरा, गर्जन, रागेय राघव का मुर्दो का टीला, वृन्दावन लाल वर्मा के "भुवन विक्रम" एव राहुल की 'वोल्गा से गगा" की कुछ आरम्भिक कहानियो मे प्रागैतिहासिक युग का ही चित्रण प्राप्त होता है, किन्तु इनमे से "भुवन विक्रम' को छोडकर अन्य उपन्यासो मे व्याख्यात्मकता से कथात्मकता ही अधिक है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि 'वय रक्षाम' मे कथा पर विद्वत्ता हावी हो गई है। मुशी का 'भगवान् परशुराम' भी इसी काल से सम्बन्धित उपन्यास है किन्तु उसमे भी कथाकार कथाकार ही रहा है, इतिहासकार बनने की उसने कही भी चेष्टा नही की है। हाँ, इस उपन्यास मे भी 'वय रक्षाम' के समान ही कुछ चरित्रो मे अलौकिकता अवश्य आ गई है। उदाहरण के लिए हम रुद्रनाथ अघोरी के चरित्र को ले सकते हैं। चाहे आचार्य जी हो, चाहे भगवतशरण उपाध्याय हो और चाहे गुजराती के कथा-शिल्पी मुशी और धूम्रकेतु हो, पौराणिक सस्कारो के कारण पौराणिकता को वे पूर्णरूप से नही त्याग पाये हैं।

गोली

प्रस्तुत उपन्यास आत्म-कथात्मक शैली मे लिखा गया है। कथा का व्यावहारिक आरम्भ प्रधान पात्री चम्पा के अपनी स्वय की कथा लिखने से होता है। वह कथा के प्रारम्भ मे ही कहती है "मैं जन्म-जात अभागिन हूँ। स्त्री जाति का कलक हूँ। स्त्रियो म अधम हूँ। परन्तु मैं निर्दोष हूँ, निष्पाप हूँ। मेरा दुर्भाग्य मेरा अपना नहीं है, मेरी जाति का है। जाति-परम्परा का है। हम पैदा ही इस लिए होती हैं कि कलकित जीवन व्यतीत करें।"[1] इस प्रारम्भ से ही पाठक की सहज उत्सुकता जाग्रत हो जाती है। प्रधान कथा चम्पा के जीवन के साथ ही चलने लगती है। वह अपने जीवन की प्राय सभी प्रधान घटनाओ की ओर सकेत प्रथम अध्याय 'जन्म-जात कलकिनी' मे ही कर देती है। अब यह सभी कथाए अपने परिपार्श्व मे एक रहस्य को समेटे, जिज्ञासा वृत्ति को जगाती शनै शनै गतिशील होने लगती हैं। कथा के कुछ ही चलने पर यह स्पष्ट होने लगता है कि यह एक ऐसी स्त्री की आत्मकथा है जो स्त्री होते हुए भी अन्य स्त्रियो से भिन्न है, जो एक राजा की पर्यंकदायिनी होने पर भी उसकी रानी नहीं है, उसकी

---

१ गोली पृ ९।

विवाहिता पत्नी नही है। उस राजा के औरस उसके पाँच सन्तानें हुई, पर वह उसका पिता न था, पिता था उसका पति, जिसका कर-स्पर्श उसने केवल एक बार, जब वह पन्द्रह वर्ष की थी, विवाह-मन्डप मे किया था। किंचित मात्र कथा के और विकसित होते ही पाठक को ज्ञात हो जाता है कि यह एक 'गोली' की आत्मकथा है, जिन्हे स्त्री होते हुए भी भेड बकरियो के रेवड की भाति बेचा जा सकता था। दहेज मे दान दिया जा सकता था दहेज मे आकर सब गोलियो को उस राजपूत कन्या के पति की उप-पत्नी या रखेल की भाँति रहना पड़ता था किन्तु उनका विवाह उनकी ही जाति के किसी गोले से कर दिया जाता था। पर वह विवाह केवल इसलिए होता था कि वह गोली की सतान का केवल वैधानिक पिता बन जाय। पति से पत्नी का, गोले से गोली का शरीर सम्बन्ध प्राय नही हो पाता था। वे उस राजपूत की पर्यंकशायिनी होती थीं किन्तु पत्नी होती थी गोले की। इस प्रकार न पति का पत्नी पर अधिकार था, न पत्नी का पति पर। उनका अपनी सन्तानो पर भी कोई अधिकार न था, और न वे कोई अपनी निजी सम्पत्ति ही रख सकती थी। राजस्थान, विलय के समय इस जाति के ६० हजार से भी अधिक गोले-गोलियाँ राजाओ और ठाकुरो के रावासो मे उनकी स्वेच्छाचारिता और विलास-वासना का शिकार बने हुए थे। इस 'विगत-इतिहास' का परिचय कराती हुई चम्पा की आत्मकथा शनै शनै अग्रसर होती है। अपने सम्पूर्ण जीवन पर एक विहगम दृष्टि डालकर उपन्यास की नायिका अब एक-एक कथा-सूत्र को खोलना प्रारम्भ कर देती है। कथा ठिठक कर पीछे लौट आती है। चम्पा के शैशव काल की कथाओ, उसके पारिवारिक विवरणो को समेटती हुई कथा अत्यन्त क्षिप्रगति से अग्रसर होती है। 'महाराजाधिराज' से परिचय होने के पश्चात् चम्पा का व्यक्तित्व शनै शनै उन्ही के व्यक्तित्व मे विलीन होने लगता है। यद्यपि चम्पा उनकी विवाहित पत्नी नही है, वह केवल दहेज में मिली एक गोली मात्र है। किन्तु तो भी वह महाराज की पटरानियो के ऊपर पहुँच जाती है। चम्पा, कुवरी के विवाह मे प्रदान की गई एक गोली है। महाराजाधिराज विवाह करके कुवरी को लाते हैं किन्तु प्रथम रात्रि मे ही वह अपनी नव विवाहिता पत्नी को छोडकर विवाह मे मिली गोली चम्पा के कक्ष मे जा पहुँचते है। कुवरी भी एक ठाकुर की बेटी थी, फिर भला उसे यह अपमान कैसे सहन होता? विवाहिता पत्नी को छोडकर नीच गोली का सम्मान? असह्य! वह अपने पिता के समीप अपने इस अपमान का सदेश भेज देती है। तथा स्वयं एकान्त में जा बैठती है। महाराजाधिराज से भी वह मिलना अस्वीकार कर देती है। महाराजाधिराज से अपनी बेटी के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए कुवरी

के पिता आते हैं किन्तु कुवरी उन्हे शान्त कर देती है। विवाह के पश्चात् कुवरी उन्नीस वर्ष जीवित रहती है, किन्तु उसका फिर महाराजाधिराज से सम्बन्ध न हो सका। उसने अपने जीवन के यह उन्नीस वर्ष त्याग और तपस्या मे ही व्यतीत कर दिये थे।

चम्पा का महाराजाधिराज से इक्कीस वर्ष तक सम्बध रहा। जब प्रथम बार महाराजाधिराज से उसके गर्भ रहा, उसी समय महाराजाधिराज ने उसका विवाह् किसुन नामक एक गोले से कर दिया था। वह केवल नाम मात्र का पति था। वस्तुत महाराज के औरस से उत्पन्न बच्चो का पिता कहलाने के लिए ही चम्पा का किसुन से विवाह् किया गया था। इसी समय लाल जी खवास के चरित्र को आधार बनाकर एक नवीन सहायक कथा का जन्म होता है। इसने चम्पा की कथा से उलझते ही कथा मे खिचाव उत्पन्न हो जाता है। चम्पा और लालजी खवास मे शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। वह चालाकी से महाराजाधिराज को चम्पा की ओर से विमुख करके चम्पा को राज्य से निष्कासित करने की योजना प्रारम्भ कर देता है। अन्त मे वह अपने षड्यन्त्र मे सफल होता है। महाराजाधिराज, चम्पा को त्याग देते हैं। केवल त्याग ही नही देते वरन् उसको समाप्त कर देने का भी षड्यन्त्र करते हैं। किन्तु भडा फूट जाता है और उसमे लालजी खवास रगे हाथो पकडा जाता है। महाराजाधिराज इस घटना से चम्पा से अप्रसन्न हो जाते हैं। उनकी आज्ञा से चम्पा को ड्योढियो के नारकीय जीवन मे डाल दिया जाता है। अब उसी के चारो ओर कथा चक्कर काटने लगती है। कथा ड्योढियों के नारकीय जीवन की छोटी छोटी घटनाओ का वर्णन करती, बडी से बडी विपदाओ का चित्रण करती, अवरोधो का अतिक्रमण करती हुई अन्त तक पहुचती है। कथा के अन्त तक पहुचते-पहुचते महाराजाधिराज और किसुन की मृत्यु हो जाती है। अन्त मे भारत स्वतत्र होने के पश्चात् प्रधान पात्री चम्पा सब बन्धनो का अतिक्रमण कर ड्योढियो के नारकीय वातावरण से मुक्ति पाकर अपने परिवार सहित स्वच्छन्द वातावरण मे श्वास लेती है।

प्रस्तुत कथानक मे विकास की लगभग सभी अवस्थाऐं प्राप्त हो जाती हैं। 'चारणो का प्रभाव' नामक अध्याय (अध्याय ५) तक कथा के आरम्भ की अवस्था है। इसके पश्चात् ही 'यौवन की देहरी पर' (अध्याय ६) से मुख्य घटना की तैयारी की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। 'नए जीवन की राह पर' (अध्याय १२) तक आते आते मुख्य घटना निष्पत्ति की अवस्था आ जाती है। इसके पश्चात् ही किंचित मात्र व्याख्या के पश्चात् कथानक में फल प्रतिधान

प्रारम्भ हो जाते हैं । कुवरी, चम्पा, महाराजाधिराज, किसुन आदि के चारो ओर कथानक घूमने लगता है । इसमे 'चरम-सीमा' और 'घात-प्रतिघात' की अवस्थाएँ दो बार प्रयुक्त हुई हैं । एक में सुख की चरम सीमा होती है तो दूसरे मे दु ख की । 'घात प्रतिघात' की अवस्था भी दोनो बार चरम-सीमा के पूर्व आई है । इसमे भी चरम-सीमा के पश्चात् 'उपसहार' का क्रम है ।

प्रस्तुत उपन्यास मे आधिकारिक कथा चम्पा की ही है । इस प्रधान कथा को गति प्रदान करने के लिए कितनी ही प्रासगिक-पताका एव प्रकरी-कथाए भी स्वय आ गई हैं । कुवरी, किसुन आदि की कथाए पताका एव बन्दर राजा, वासुदेव महाराज आदि की कथाए प्रकरी की भाँति प्रयुक्त हुई है । लालजी खवास एव गयाराम गोला की कथा प्रस्तुत कथानक मे पताका-स्थानक का कार्य करती हैं ।

कथा सगठन की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास का कथानक निर्दोष है। आचार्य जी के अन्य विशालकाय उपन्यासो-विशेषतया 'वैशाली की नगरवधू' 'वय रक्षाम', 'सोना और खून'—के कथानको मे बिखराव का एव अनावश्यक कलेवर-वृद्धि का जो दोष है, वह इसमे नही आ पाया है । इसमे उपन्यासकार मे निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नही दीख पडती । यही कारण है कि प्रस्तुत कथा आदि से अत तक अयलङ्कृत स्वत प्रवर्तित है ।

कथा कही भी सभावना के क्षेत्र का उल्लघन नही करने पाई है । कथा मे पूर्ण विश्वसनीयता लाने के लिए बडे ही रोचक ढग से उपन्यासकार ने कथा का इस प्रकार अन्त किया है "मुझ अभागिन की पाप कथा समाप्त हो गई । अभी मेरा जीवन शेष है । किसी दिन आइए, मेरे घर, मेरे गुलाब देखने । देखिए और दाद दीजिए । लाल गुलाब तो प्रधान मत्री नेहरू के लिए हैं । हर सोमवार को मैं और मेरी लडकी एक टोकरी लाल गुलाब लेकर प्रधान मत्री के घर खूब भोर ही मे पहुच जाते हैं । बहुत खुश होते हैं वे मेरे फूलो से । मेरी दु ख-गाथा सुनकर वे आँखें गीली कर चुके हैं । पर अब तो देखते ही हसते हैं । अब मेरी बेटी एक लाल कली अपने हाथ से उनकी शेरवानी मे लगा देती है तो वे उसकी ठोडी पकडकर उसका दुलार करते हैं । क्या कहू बिना चाय पिलाए आने देते ही नही ।

कदाचित् किसी दिन आप मेरे यहाँ आए, जब मन हो तभी आइए ४२० पृथ्वीराज रोड, नई दिल्ली कृपया ४२० को न भूलिए ।"[1]

---

१. गोली-पृष्ठ ३४६-४७ ।

कथा का प्रस्तुत अन्त उसमे यथार्थता का भ्रम उत्पन्न करने के लिए ही सजोया गया है, किन्तु कुशल कथाकार ने अन्तिम वाक्य "कृपया ४२० को न भूलिए।" कहकर सतर्क पाठको के हृदय मे गुदगुदी भी उत्पन्न कर दी है। कथा को स्वाभाविक बनाने के लिए ही उपन्यासकार ने स्थान-स्थान पर आचलिकता का पुट देने के लिए स्थानीय बोली के शब्दो का भी प्रयोग किया है।

उपन्यासकार ने पूर्ण तन्मयता एव लगन के साथ कथा कही है। कथा मे पूर्ण गतिमयता एव रोचकता है। पाठक बिना प्रयास के ही पात्रो के साथ तादात्म्य कर लेता है। पात्र मुखोद्‌गारित आत्म-कथा के रूप मे कही जाने के कारण उपन्यासकार पात्रो के अन्तस् के रहस्य को उद्‌घाटन करने मे पूर्ण सफल रहा है। इसमे रोचकता सम्पादन के लिए उपन्यासकार को बलात् अप्रत्याशित, आकस्मिक अथवा अति नाटकीय घटनाओ की सयोजना नही करनी पडी है।

प्रस्तुत कथानक के माध्यम से कथाकार ने तत्कालीन राजस्थान की आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो का भी सफल चित्रण प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह एक गोली की आत्मकथा है, किन्तु तो भी इन कथानक मे व्यक्तिगत भावनाओ के स्थान पर वर्गगत भावनाओ की प्रचुरता है। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत उपन्यास आत्मनिष्ठ कथाकार जैनेन्द्र एव इलाचन्द जोशी के उपन्यासो से, प्रेमचन्द के वर्गगत उपन्यासो के अधिक समीप है। वास्तव मे इसमे आत्मनिष्ठता की भावनाओ के परिपार्श्व मे एक समाज विशेष की व्यक्त एव अव्यक्त भावनाओ को पिरोया गया है।

प्रस्तुत कथानक की सर्वप्रधान विशेषता इसकी मौलिकता है। हिंदी मे यही प्रथम उपन्यास है जिसमे राजस्थान की इस प्रमुख समस्या पर प्रकाश डाला गया है। जैसा कहा जा चुका है राजस्थान विलय के समय ६० हजार से भी अधिक गोले-गोलियाँ राजाओ और ठाकुरो के रनवासों मे उनकी स्वेच्छाचारिता और विलास-वासना का शिकार बने हुए थे। अब भी, स्वतत्र भारत मे भी इन गोल्यियों का नितात अभाव नहीं हो गया है। आज भी यह प्रथा गुप्त रूप से अथवा किसी अन्य रूप मे चल रही है। इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रस्तुत उपन्यास एक क्रान्तिकारी रचना है। केवल विषय की नवीनता के कारण ही नही वरन् नवीन कल्पनाओं, उद्‌भावनाओ, कलात्मकता विवरणों एव कथा विन्यास की विशेषताओं के कारण भी प्रस्तुत कथानक मौलिक है। उपन्यासकार की यह हुत बडी सफलता है कि उसने समाज के जिस क्षेत्र से कथानक का चुनाव किया है, उसको सूक्ष्म दृष्टि से देखा, समझा है। वह उस क्षेत्र विशेष की, प्रत्येक

सम्भावनाओ, उसके प्रत्येक रहस्यो से पूर्ण रूप से अवगत है। यही कारण है कि वह अपनी बात को सशक्त एव प्रखर रूप से प्रस्तुत करने मे पूर्ण सफल रहा है।

उदयास्त

कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ एक रियासत के राजा साहब के परिवार से होता है। सुरेश उसी रियासत के राजकुमार है। उनके पिता राजा साहब मे राजाओ की सभी विशेषताएँ समाविष्ट हैं। प्रस्तुत कथा का विकास राजा साहब एव मगतू नाम के एक चमार के वाद विवाद से होता है। मगतू आधुनिक प्रगतिशील नवयुवको का प्रतिनिधित्व करता है और राजा साहब रूढिवादी सामन्तशाही का। सुरेश, राजा साहब और मगतू की मध्यस्थता करते हैं किंतु समझौता कराने मे असफल रहते हैं। दोनो मे सघर्ष बढने लगता है। काग्रेस-दल की सहायता से मगतू राजा साहब के समक्ष आ डटता है। कथानक मे घात-प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्याशा की अवस्था तक आते-आते प्रस्तुत कथा एकदम मद पड जाती है। उपन्यासकार प्रस्तुत कथा को यही छोड देता है। इसी के पश्चात् कुवर सुरेशसिंह अपनी पत्नी को साथ ले दिल्ली भ्रमण को जाते हैं। प्रधान कथा उनके साथ ही साथ दिल्ली पहुँच जाती है और इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक दशाओ को प्रदर्शित करने वाली कितनी ही प्रासगिक कथाएँ मूल कथानक के साथ सम्बद्ध हो गई हैं। प्रधान दिल्ली मे आई सभी प्रासगिक कथाओ को ज्यो का त्यो छोडकर पुन कुवर सुरेश सिंह के साथ अपने पूर्व स्थान पर आकर अपनी पूर्वगति से चलने लगती है। मगतू एव राजा साहब वाली कथा पुन प्रारम्भ हो जाती है। घात प्रतिघात पुन प्रारम्भ हो जाता है। काग्रेस-दल की सहायता पाकर मगतू ने राजा-साहब के विपक्ष मे मान हानि का दावा कर दिया था, साथ ही काग्रेस ने उसे निर्वाचन मे राजा-साहब के सामने खडा कर दिया था। अब कथानक को घात-प्रतिघात चरम सीमा की ओर खीच ले जाता है। कथानक चरम सीमा पर उस समय पहुँचता है जब राजा साहब मान-हानि के दावे मे मगतू से पराजित होते हैं और जिसका आघात न सहन कर पाने के कारण उनकी मृत्यु हो जाती है। उपसहार आदर्शवादी ढग से किया गया है। कुवर सुरेश की उदारता के समक्ष मगतू को नत होना पडता है और अत मे वह कुवर के साथ ही उनके फार्म पर कार्य करने लगता है।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास की आधिकारिक कथा राजा साहब, सुरेश एव मगतू की है। कैलाश एव पद्मा, सरला, रमेश एव रश्मि आदि की कथाएँ

मुख्य कथा मे प्रासगिक पताका का कार्य करती हैं। शुक्ल जी, हरबख्श-सिंह, नवाब साहब आदि की कथाएँ मुख्य कथा मे प्रकरी के समान प्रयुक्त हुई हैं। मुख्य कथा में करामत अली एव राजा भैया की कथा का प्रयोग पताका-स्थानक के रूप मे हुआ है। आनद स्वामी की कथा केवल विचारो और सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए ही बलात् लाई गई है। इससे कथानक को कलात्मकता को भारी आघात पहुँचा है।

कथानक की घटनाएँ सभावना के क्षेत्र का उल्लघन नही कर पाई हैं। अधिकाश घटनाएँ लेखक की नेत्रो देखी ज्ञात होती है तभी उनमे इतनी सजी-वता एव मार्मिकता आ पाई है। कुछ स्थानो के वर्णन ऐसे अवश्य हैं जिन्हे लेखक ने देखा नही है जैसे अशोक होटल का वर्णन। किंतु यह कोई ऐसी त्रुटि नही है, कारण होटल का काल्पनिक वर्णन भी किया जा सकता है।

उपन्यासकार कथानक की रोचकता का निर्वाह अत तक करने मे एक सीमा तक सफल रहा है। आनद स्वामी के प्रचारात्मक लम्बे भाषणो ने कथा को बोझिल अवश्य बना दिया है किंतु सिद्धान्तो का दृष्टिकोण मौलिक एव नवीन होने के कारण पाठक की उत्सुकता एव कथानक की रोचकता न्यून नही होने पाती। रोचकता वृद्धि के लिए ही उपन्यासकार ने कितनी ही प्रासगिक कथाओ की सृष्टि की है। नाटकीय ढग से मगतू के हृदय का परिवर्तन कुछ आदर्शवादी अवश्य हो गया है किंतु न उससे कथानक की रोचकता ही नष्ट हो पाई है और न ही वह अपनी कथन-शैली के कारण सभावना के क्षेत्र का ही उल्लघन करने पाई है।

प्रस्तुत कथानक मे युग, देश एव समाज का सफल चित्रण हुआ है। मगतू की कथा नव जागरण का सदेश देती है। कैलाश-पद्मा, पुरुषोत्तम सेठ एव रेणुका, सरला, रमेश एव रश्मि आदि की कथाएँ तत्कालीन देश की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को चित्रित करने के लिए प्रस्तुत कथानक मे अनुस्यूत की गई हैं।

प्रस्तुत उपन्यास मे मानव जीवन की पूर्ण झांकी तो नही है किंतु उसकी जिन विविध अवस्थाओ का समावेश इसमे किया गया है वे अपने चित्रण की यथार्थता एव सूक्ष्मता के कारण मार्मिक बन पडी हैं।

प्रस्तुत कथानक मे उपन्यासकार ने एक समस्या को भी उठाया है। समस्या है छुआछूत, ऊँच-नीच की भावना का अत किस प्रकार किया जा सकता है।

प्रस्तुत कथानक के माध्यम से उपन्यासकार ने दिखलाया है कि छुआछूत का उन्मूलन भय अथवा प्रताड़ना से कभी नहीं किया जा सकता। आज युग परिवर्तित हो चुका है। अब चमार को चमार कह कर दुत्कारने से उसके हृदय को वश में नहीं किया जा सकता, वरन् आज उसके हृदय को जीतने के लिए भी हार्दिक भावनाओं सहानुभूति एवं प्रेम आदि की आवश्यकता है। मगनू चमार है। उसमें एक प्रगतिशील उच्छृंखल नवयुवक का हृदय धड़क रहा है। राजा साहब द्वारा भयभीत एवं अपमानित किए जाने पर वह नत नहीं होता वरन् अपमान का प्रतिकार लेने के लिए राजा साहब के समक्ष आ खड़ा होता है किंतु जब कुंवर सुरेशसिंह स्वयं उसके घर जाकर अपमान के लिए उससे क्षमा याचना करते हैं, तब उसका साहस यह टूक-टूक हो जाता है और वह कुंवर के चरणों पर गिर पड़ता है। कुंवर भी उसे अपना ही समझ कर अपने यहाँ ही आश्रय दे देते हैं। इस प्रकार उपन्यास ने समस्या का एक आदर्शवादी हल प्रस्तुत किया है, जो कि आज के युग की भावनाओं के अति निकट है।

प्रस्तुत उपन्यास का अंत हमें प्रेमचंद के उपन्यासों—विशेषकर गबन एवं प्रेमाश्रम के उपसंहार का स्मरण दिला देता है। उनमें कथानक का आदर्शवादी अंत आश्रम की स्थापना से हुआ है और इसमें कुंवर सुरेशसिंह द्वारा फार्म की स्थापना से। अत इन सभी का आदर्शवादी है, और सभी में यह आदर्शवादी अंत बलात् लाया हुआ सा ज्ञात होता है।

आभा

प्रस्तुत कथानक का प्रारम्भ ही घात प्रतिघात से होता है। आभा डा० अनिल की पत्नी है। उससे उसके एक पुत्री भी हो चुकी है किंतु वह पति को भक्ति ही दे पाती है, प्रेम नहीं। वह अनिल के मित्र रमेश के प्रति आकर्षित होती है। रमेश भी उसकी ओर आकर्षित होता है। इन दोनों के पारस्परिक आकर्षण का किंचित मात्र आभास अनिल को प्राप्त हो जाता है। वह रमेश पर एक दिन अप्रत्याशित रूप से बिगड़ उठता है। इस घटना से ही प्रस्तुत कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ होता है। अनिल, रमेश और आभा पर बिगड़ तो उठता है किंतु शीघ्र ही उसे अपने कार्य पर पश्चाताप होने लगता है। वह रमेश और आभा से क्षमा मांगना चाहता है किंतु इसी समय आभा के द्वारा उसे ज्ञात होता है कि वह रमेश के साथ, उसको त्याग कर जाना चाहती है। अनिल प्रथम इस अप्रत्याशित आघात को सहन नहीं कर पाता, किंतु वह शीघ्र ही अपने को वश में कर आभा को जाने की आज्ञा दे देता है। थोड़ी देर तलाक आदि के

वाद विवाद के कारण कथा कुछ समय के लिए स्थिर होकर पुन एक झटके के साथ तीव्रगति से अग्रसर होती है। आभा रमेश के साथ चली जाती है। अब कथा पूर्वदीप्ति (Flush back), चेतना प्रवाह (Stream of consciousness) एव अतर्द्वन्द्व के आश्रय बनाकर रेंगती हुई आगे बढती है। बाह्य दृष्टि से प्रस्तुत कथा का विकास अत्यत मद गति से होना दीख पडता है किंतु वास्तव मे उसका अतप्रयाण हो चुका है। उसने बाह्य वस्तुनिष्ठ जगत के स्थान पर मनोजगत को अपना क्रीडा क्षेत्र बना लिया है। रमेश के साथ आभा चली तो गई किंतु अपने साथ पूर्व स्मृतियो एव अतर्द्वन्द्वो का आगार लेती गई और यही दोनो वस्तुएँ वह अनिल के समीप भी छोड गई। इन्ही के माध्यम से कभी कथा घात प्रतिघात की अवस्था से प्रारम्भिक अवस्था मे जा पहुँचती है, तो कभी प्रारम्भिक घटना की तैयारी एव कभी निष्कर्ष पर। तात्पर्य यह कि कथा की गति अब किंचित वक्र हो गई है, वह अब सीधी न चलकर सर्प गति से रेंगती हुई अत की ओर त्वरा, कुछ मद और कुछ ठिठकती हुई गति से पहुँच रही है। वास्तविक कथा बाह्य घटना से ही प्रभावित है अत उसका अन्त भी बाह्य घटना से ही होता है। *कथा मनोजगत से जब बाह्य ससार की ओर* झाककर देखना चाहती है, तभी नवीन घटना का जन्म होता है। आभा रमेश के साथ कितने ही स्थानो पर घूमती फिरी किंतु न उसे मानसिक शाति की उपलब्धि हो सकी न ही वह रमेश के समक्ष आत्म-समर्पण ही कर सकी और न ही वह अनिल को भूल सकी। वह इसी ऊहापोह के विवर्त मे चक्कर काट रही थी कि इसी समय उसे ज्ञात होता है कि वह गर्भवती है। इस विचार मात्र से ही वह भय से काप उठती है, किंतु भय से गर्भ समाप्त नही होता। यथासमय रमेश के यहाँ ही आभा के पुत्र उत्पन्न होता है। अनिल डाक्टर के रूप मे उस समय बुलाया जाता है कथा अब चरम सीमा पर पदार्पण कर चुकी है। कथा यही से शनै शनै अत की ओर जाती दीख पडती है। कुछ दिनो के पश्चात् आभा पुत्र को लेकर अप्रत्याशित रूप से अपने पति अनिल के यहाँ पुन पहुँच जाती है। सिद्धान्त चर्चा के पश्चात् कथा समाप्त हो जाती है। अनिल पुन आभा को अपनी पत्नी की भाँति स्वीकार कर लेता है।

जैसा कि हम प्रथम ही कह चुके हैं कि आभा एक शुद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं है, अत इसमे मनोवैज्ञानिक सिद्धातो के प्रचार को ढूँढ़ना व्यर्थ ही होगा।

आभा, अनिल एव रमेश की त्रिकोणात्मक आधिकारिक कथा के साथ-

साथ गगू की प्रासंगिक कथा भी चलती है। यह कथा-सूत्र प्रधान सूत्र को गति देने और उसके दूसरे पक्ष पर प्रकाश डालने का कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास शुद्ध चरित्र प्रधान उपन्यास है। अतएव इसमें कथानक एव घटना प्रसगो का आकर्षण कम है, किंतु आतरिक स्पर्शों से सिक्त होने के कारण कथानक मे अत तक प्रवाह एव आकर्षण रहा है। यही कारण है कि घटना चमत्कार से नितात रहित होने पर भी प्रस्तुत उपन्यास मे पर्याप्त रमणीयता एव सजीवता आती है।

प्रस्तुत उपन्यास जैनेंद्र के चरित्र प्रधान उपन्यासो सुनीता एव सुखदा एव रवि बाबू के उपन्यास 'घर-बाहर' का स्मरण दिला देता है। 'रविबाबू' ने अपने उपन्यास 'घर-बाहर' में 'घर' (पति पत्नी) में 'बाहर' का प्रवेश कराया है जिससे 'घर' विक्षुब्ध हो उठा है और यदि संदीप बाहर का प्रतीक पलायन न कर जाता तो घर के टूट जाने की आशका थी। किंतु प्रस्तुत उपन्यास में न तो 'घर' टूटा है और न 'बाहर' के प्रति उसे बद ही किया गया है। 'घर' (आभा और अनिल) और 'बाहर' (रमेश) दोनो परस्परापेक्षाशील हैं।" यही प्रस्तुत उपन्यास का उच्चादर्श है किंतु यह निष्कर्ष वास्तविक जीवन से कुछ हटा हुआ अवश्य है।

लाल पानी

प्रस्तुत उपन्यास भी एक ऐतिहासिक उपन्यास है। मुख्य कथानक अब से कोई पाच सौ वर्ष पूर्व घटित काठियावाड के कच्छ प्रात के दो स्वतत्र राजाओ के पारस्परिक सघर्ष पर आधारित है अन्य कथानको की भाति इसका कथा विकास भी सामान्य पद्धति से हुआ है। इसमें कथा विकास की पाचो अवस्थाएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। भायातो और ठाकुरो के राजाओ भीम जी एव जाम रावणसिंह के परिचय से कथा का व्यावहारिक प्रारभ होता है। भीम के पुत्र जाम हम्मीर से जाम रावण सिंह हार्दिक द्वेष मानता है। जाम हम्मीर रावणसिंह का धोखे से वध कर देता है। रावणसिंह हम्मीर का वध करने के पश्चात् उनके पुत्रो का भी सफाया करने का प्रयत्न करता है किंतु छन्छर बूटा नामक जाम हम्मीर का विश्वस्त नौकर उनके दोनो पुत्रो खगार जी और सायब जी को गुप्तरूप से लेकर कच्छ त्यागकर भाग खड़ा होता है। यहीं मुख्य कथा की निष्पत्ति हो जाती है। छन्छर बूटा कुमारो की रक्षा करता हुआ गुजरात की ओर गुप्तरूप से अग्रसर होता है। इसी समय रावणसिंह के सैनिक कुमारो का पता लगाते हुए बीच मे ही आ पहुँचते हैं। इन सैनिको से मियाना मिया

अपने पुत्रों की बलि देकर दोनो कुमारो की रक्षा करता है। इसी समय मार्ग ही मे ठाकुर जालिमसिंह को पुत्री से बडे कुमार एव वीरसिंह की कन्या से छोटे कुमार का विवाह हो जाता है। विवाह कार्यो से निवृत्त होकर दोनो कुमार छच्छर के साथ पुन गुप्तरूप से गुजरात के लिए चल पडते हैं। वे सभी अवरोधों का अतिक्रमण करते हुए सकुशल गुजरात पहुँच जाते हैं। यहाँ गुजरात के सुल्तान मुहम्मद बेगडा से इनका परिचय एक आकस्मिक घटना के द्वारा होता है। सुल्तान सिंह का शिकार करने जाते हैं किंतु उनके प्राण सकट मे पड जाते हैं। उस समय उनकी प्राण रक्षा दोनो कुमार ही करते हैं। प्रसन्न होकर वह कुमारो को सैनिक सहायता देते हैं सुल्तान से सैनिक सहायता लेकर कुमार जाम रावणसिंह पर आक्रमण करते है और उसे बन्दी कर लेते हैं। यही मुख्य कथा की चरम-सीमा होती है। उपसहार में राव खगार जी का राजा होना और रावणसिंह को क्षमा प्रदान करना आदि आ जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत कथानक मे जाम रावणसिंह, राव खगार एव छच्छर बूटा की कथा आधिकारिक है। इस कथा को सहायता देने के लिए कितनी ही प्रासगिक पताका प्रकरी कथाएँ भी प्रस्तुत कथानक मे आ गई हैं। मियाना मिया एव जालिमसिंह की कथाएँ प्रस्तुत कथानक में पताका का तथा शिव जी लुहाणा, बाई पार्वती बाई, धाङ्गधारा के सेठ आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं।

प्रस्तुत उपन्यास मे गुजरात के सुल्तान मुहम्मद बेगडा का चरित्र भी वृन्दावनलाल वर्मा की 'मृगनयनी' के महमूद बघर्रा के चरित्र का स्मरण दिला देता है। 'मृगनयनी' एव प्रस्तुत उपन्यास का कथानक एक ही काल से सबधित है, किंतु दोनो मे अन्तर यह है कि प्रस्तुत कथा कच्छ से गुजरात और गुजरात से कच्छ तक ही सीमित है। जबकि 'मृगनयनी' की कथा का केन्द्र ग्वालियर है। और उसी मे अन्य स्थानो के कथा सूत्र भी आकर मिलते और बिछुडते रहते हैं।

इस उपन्यास मे उपन्यासकार ने भूमिका मे स्वय ही कहा है 'यह उपन्यास सामन्ती युग के रक्त भरे दिनो की एक रोमाचकारी सत्य ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। उपन्यास म कच्छ के प्रसिद्ध खगार जी का चरित्र व्याख्यान है। इस समय तक भी कच्छ का कोई सागोपाग अच्छा इतिहास उपलब्ध नही है। बाम्बे गजेटियर की पाचवीं जिल्द म कच्छ के इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला गया है। तथा आर्कियोलॉजिकल सर्वे की रिपोर्ट म थोडा छुट

पुट वर्णन किया है इलियट ने 'हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स' और 'हिस्टोरियन्स नामक इतिहास ग्रंथ मे कच्छ राज्य का थोडा वर्णन किया गया है। मिसेज पास्टन्स के पत्र और 'रैन्डम स्केचेज' नामक ग्रंथ मे कच्छ का यत्किंचित विस्तृत वर्णन है। भारतीय लेखको मे आत्माराम केशव जी द्विवेदी ने एक छोटा सा 'कच्छ का इतिहास' ग्रंथ गुजराती मे लिखा है। इन्ही सब ग्रन्थो के आधार पर इस उपन्यास की आधार भूमि बनाई गई है। श्री केशव जी जोशी ने सगार जी के चरित्र पर आधारित एक उपन्यास भी लिखा था। उसमे कुछ दन्त कथाओ का भी आश्रय लिया था तथा कुछ कल्पना का भी उपयोग किया था। इसके बाद टक्कर नारायण किशन जी ने एक उपन्यास 'कच्छनो कार्तिकेय' नामक लिखा था। इन्ही सब कथा वस्तु पर आधारित यह उपन्यास लिखा गया है। विशेषकर अन्तिम ग्रंथ को आधार माना गया है।'[1] इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास का कथानक एक सीमा तक ऐतिहासिक है।

बगुला के पंख

प्रस्तुत उपन्यास के कथानक का व्यावहारिक प्रारम्भ जुगनू नाम के एक अवसरवादी भगी के प्रारंभिक जीवन के परिचय से होता है। इस परिचय के पश्चात् ही कथानक उस व्यक्ति के जीवन के चारो ओर चक्कर लगाता हुआ अग्रसर होता है। जुगनू की यह कथा अपनी स्वाभाविक गति से घटनाओ के वात्याचक्र को पार करती हुई आगे बढती है। किंतु शीघ्र ही जुगनू की आर्थिक दशा चिंतनीय हो जाने के कारण इस कथा का प्रवाह शिथिल पड जाता है। कारण इससे निकलने के पश्चात् जुगनू अपने जीवन मे आगे बढने का मार्ग टटोलने लगता है। इसी समय उसका परिचय अपने एक पुराने मित्र शोभाराम से होता है। जुगनू की दयनीय स्थिति को देखकर शोभाराम उसे आश्रय प्रदान करता है। शोभाराम दिल्ली की कांग्रेस पार्टी का एक प्रभावशाली सदस्य है। शिक्षित और दूरदर्शी, किंतु अस्वस्थ रहने के कारण शरीर से विवश। ऐसे अवसर पर जुगनू को उसका आश्रय प्राप्त हो जाता है। शोभाराम के प्रभाव का जुगनू पूर्ण लाभ उठाता है। शोभाराम भी स्वयं अस्वस्थ होने के कारण अपने स्थान पर जुगनू को ही आगे बढाता है। शनैः शनैः जुगनू अपने आश्रयदाता शोभाराम के व्यक्तित्व पर इस प्रकार हावी हो जाता है कि शोभाराम का व्यक्तित्व उसके व्यक्तित्व के नीचे दब जाता है। जुगनू अपने भ्रष्ट आचरण का परिचय यहाँ भी देता है। वह शोभाराम की पत्नी पद्मा की ओर आकर्षित होता है। और यह आकर्षण नित्यप्रति बढता हो

१. लाल पानी-दो शब्द।

जाता है। इसी समय एक ओर जुगनू शोभाराम की पूर्ण शक्ति प्राप्त कर मिनिस्टर बन बैठता है तो दूसरी ओर शोभाराम अधिक अस्वस्थ हो जाने के कारण पद्मा को साथ ले चिकित्सा कराने मसूरी चला आता है। मसूरी मे ही उसका स्वर्गवास हो जाता है। पदमा निराश्रय रह जाती है। अन्तत उसे जुगनू की कृपा का आकाक्षी होना पडता है। जुगनू की आश्रित होने के कारण पद्मा को विवश होकर उसके समक्ष आत्म-समर्पण करना पडता है। किंतु शीघ्र ही जुगनू पद्मा को मसूरी म ही छोडकर स्वय पुन दिल्ली लौट आता है। यहाँ भी वह अपने दूषित चरित्र का परिचय देता है। पद्मा ऐसी साध्वी रमणी के सतीत्व को भग कर वह उसे भी प्रवचित करता है।

मत्री हो जाने के पश्चात् दिल्ली मे जुगनू की मान प्रतिष्ठा नित्य बढती जाती है। शोभाराम की मृत्यु के पश्चात् उसका नैतिक चरित्र और भी पतित हो जाता है। पद्मा को भ्रष्ट कर उसकी काम बुभुक्षा और तीव्र हो जाती है। यही स्पष्ट करने के लिए गोमती की कथा उपन्यासकार ने सयोजित की है। गोमती की कथा का अन्त पद्मा से भी अधिक करुण होता है। वह जुगनू द्वारा भ्रष्ट हो जाने के कारण एव पति द्वारा अपमानित होने के कारण आत्म-हत्या कर लेती है। इस घटना के पश्चात् भी जुगनू के चरित्र मे किसी प्रकार का परिवतन नही होता। मत्री होने के कारण उसे नगर के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियो का सहयोग प्राप्त हो जाता है। वह उनके सहयोग से एक सभ्रात परिवार की सुशिक्षित कन्या शारदा से विवाह करना चाहता है। अपने इस प्रयास मे उसे सफलता भी प्राप्त होती है। किंतु यही से कथा बडी तीव्रगति से अग्रसर होती है। शारदा का जुगनू से विवाह होने के पूर्व ही नाटकीय ढँग से कथा की समाप्ति हो जाती है। अर्थात् जुगनू स विवाह होने जा रहा था, इसी समय नाटकीय ढग से उसके भगी होने का पता चल जाता है। यही से कथा एकदम मुड जाती है। जुगनू विवाह मडप से भाग खडा होता, है और शारदा के अध्यापक परशुराम के साथ उसका विवाह सम्पन्न हो जाता है। यही नाटकीयता की चरम सीमा है। वास्तव मे यह विवाह कराना ही इस नाटकीय घटना के समावेश का प्रधान उद्देश्य रहा है किंतु इससे उपन्यास के शिल्प-पक्ष को भारी आघात पहुँचा है। चरम सीमा के पश्चात् उपसहार का क्रम इसमे भी है।

कथा से स्पष्ट है कि आधिकारिक कथा जुगनू की है। उसी के चरित्र के गुण दोषो को निखारने के लिए जितनी ही अन्य प्रासगिक कथाओ का समावेश किया गया है। राधेमोहन एव गोमती, परशुराम एव शारदा आदि की कथायें

प्रस्तुत कथा मे पताका का कार्य करती हैं। शारदा की प्रासंगिक कथा तो आधिकारिक कथा को अपने मे पूर्ण रूप से जकड कर इतनी त्वरा के साथ उसे खीचती है कि वह अप्रत्याशित रूप से मुड जाती है और यही प्रासंगिक कथा अंत मे प्रधान होकर कथा का उपसंहार करती है। लाला फकीरचंद एवं नवाब की कथायें इसमे पताका स्थानक का कार्य करती हैं। यह दोनो ही कथाएँ आधिकारिक कथा के विकास मे पूर्ण सहायता देती हैं। फकीरचंद और नवाब की कथा ही जुगनू की कथा मे उलझन बढ़ाकर उसे नित्य नवीन मार्ग प्रदर्शित करती हैं।

जुगनू की आधिकारिक कथा के महत्व के साथ-साथ प्रत्येक पताका एवं प्रकरी कथा का भी अपना स्वतंत्र महत्व है। यदि फकीरचंद की कथा धनिक वर्ग के उन कुत्सित कार्यों को निरावरण करती है जिनके द्वारा वे अपने स्वार्थ साधन के लिए राजतंत्र मे उलटफेर किया करते हैं तो विद्यासागर नियोगी की कथा चुनाव के विभिन्न हथकंडो का परिचय देती है।

कथाकार प्रस्तुत कथा की रोचकता की रक्षा करने मे किसी सीमा तक सफल तो रहा है किंतु जिन स्थानो पर वह सिद्धांतो की आलोचना[1], प्रचार[2] अथवा विद्वता का प्रदर्शन[3] करने लगा है उन स्थलो पर कथानक का प्रवाह शिथिल हो गया है। और उसकी रोचकता को भी गहरा आघात पहुँचा है। नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओ के बाहुल्य के कारण यत्र-तत्र कथा संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन करने लगी है। नाटकीय ढंग से शोभाराम के माध्यम से जुगनू का सभ्य समाज मे प्रवेश तो समझ में आता है किंतु उस समाज में पूर्णरूप से घुलमिल जाने पर भी उसकी कलई का न खुलपाना कुछ बुद्धि सगत नही प्रतीत होता। कम से कम पद्मा जैसी विदुषी नारी जो उसकी प्रत्येक चेष्टा से परिचित है—का उसके समक्ष इतनी शीघ्रता से आत्म-समर्पण कर देना उचित नही ज्ञात होता। जब गोमती ऐसी अशिक्षित स्त्री भी जुगनू को प्रथम दृष्टि मे ही पहचान गई थी, तब क्या कारण था कि पद्मा जैसी सच्चरित्र एवं विदुषी उसे न पहचान सकी? जुगनू की कथा को सयोगो एवं अप्रत्याशित घटनाओ के माध्यम से एकदम चरम सीमा पर पहुँचा देना और वहाँ से पुन एक अप्रत्याशित नाटकीय घटना के माध्यम से उसे पुन: खड्ड मे फेंक देना, कथानक की कलात्मक महत्ता को न्यून कर देता है। मत्री एवं नगर का एक प्रभावशाली व्यक्ति बन

---

१. बगुला के पंख पृष्ठ २३६-३८। २ बगुला के पंख पृष्ठ २३६-३८।
३ बगुला के पंख पृष्ठ १९४-९७।

जाने के पश्चात् जुगनू को केवल इसी कारण से कि उसके भंगी होने के रहस्य का उद्‌घाटन हो गया है, मुख्य कथा से उसका पलायन करा देना व्यावहारिक नहीं ज्ञात होता। यदि जुगनू के पलायन की इस नाटकीय घटना के संघटन में किंचित मनोविज्ञान का कथाकार ने आश्रय लिया होता, तो कथा का यह अंश संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन कदापि न कर पाता। एक दो स्थानों पर पूर्व संकेतो (Dramatic Iroy)[१] के प्रयोग के कारण कथानक की कलात्मकता एवं रोचकता बढ़ी है।

जहाँ तक कथानक की मौलिकता का प्रश्न है, उसके प्रस्तुत करने में भले ही कोई मौलिकता न हो किंतु प्रतिपाद्य विषय सर्वथा मौलिक है। इस उपन्यास के पूर्व शायद ही किसी अन्य उपन्यास में एक भंगी को जीवन की इन अनेक परिस्थितियों में डाल कर चित्रित किया गया हो। स्वतन्त्रता के पूर्व भंगी के जीवन की कल्पना भी क्या की जा सकती थी। किंतु इसमें भी जुगनू भंगी बन कर नहीं वरन् मुंशी (कायस्थ) बनकर उन्नति करता है, अतः उसके जीवन के परिपार्श्व से भंगी जीवन का विशेष चित्रण नहीं हो पाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कथाकार प्रस्तुत कथानक के माध्यम से किन तथ्यों का उद्‌घाटन करना चाहता है। वास्तव में वह आज के शासन की बढ़ी हुई धाधली एवं जनतंत्र के नाम पर अवसरवादी व्यक्तियों का गुट बनाकर नग्न नृत्य करना चित्रित करना चाहता है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है डेमो क्रेसी का क्या ही बेहूदा और बेईमानी से भरा हुआ तरीका है यह चुनाव का सिस्टम। जिसके लिए दुनिया भर के अनीतिमूलक काम धूम धाम से किए जाते हैं। दुनिया भर की गुंडागर्दी करके चुनाव जीते जाते हैं, और तब अपने को जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि कहकर बेहयाई की सीमा लांघ दी जाती है। *गणतंत्रों का एक भारी दोष यह है कि उसमें योग्यतम व्यक्ति को अधिकार नहीं मिलता।* गुटों के प्रतिनिधि को अधिकार मिलता है। चाहे उसमें योग्यता हो या नहीं।"[२] इसी दोष को स्पष्ट करने के लिए ही कथाकार ने प्रस्तुत कथानक एवं चरित्र को सामने ला खड़ा किया है।

प्रस्तुत कथानक में वर्तमान राजनीतिक जीवन चुनाव चर्चा, गुटबाजियों आदि का बड़ी सूक्ष्मता एवं यथार्थता के साथ चित्रण किया गया है। यह सत्य है कि कथाकार ने जीवन की इन विविध अवस्थाओं को दूर से ही देखा है, तभी जहाँ उसमें एक ओर सूक्ष्मता एवं यथार्थता आ पाई है वहीं दूसरी ओर ऊहात्म-

---

१ बगुला के पंख पृष्ठ १८ एवं २२७। २ बगुला के पंख पृष्ठ २३५-३६।

त्मा एवं अतिनाटकीयता का भी प्रवेश हो गया है। किन्तु यह सत्य है कि कथाकार प्रस्तुत कथानक के माध्यम से एक सीमा तक वर्तमान युग, समाज एवं एक वर्ग विशेष का चित्रण करने में सफल रहा है। वास्तविकता तो यह है कि प्रस्तुत कथानक वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों एवं उनसे उद्भूत जीवन कुंठाओं के संदर्भ में व्यक्ति की नित्य परिवर्तित होती हुई वासनाओं एवं तज्जनित उसकी दुर्बलताओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ रहा है।

संग्राम

प्रस्तुत उपन्यास का व्यावहारिक प्रारम्भ एक रूसी तरुण वैज्ञानिक जोरोवस्की की चंद्रलोक की सफल यात्रा के विवरण से होता है। वह स्वयं अपनी प्रेमिका लिजा को चंद्रलोक से लौटने के पश्चात् वहाँ की सफल यात्रा की कथा सुनाता है। अब यही कथा शनैः शनैः विस्तार पाने लगती है। 'अगम्य खगोल' शीर्षक अध्याय तक[1] जोरोवस्की अपनी चंद्रलोक की यात्रा का ही विवरण सुनाता है। इस प्रधान कथा के साथ-साथ अमेरिकन वैज्ञानिक स्मिथ की कथा भी उलझती हुई चलती है। चंद्रलोक की यात्रा का विवरण समाप्त होते ही कुछ रुक कर जोरोवस्की कुछ अन्य वैज्ञानिकों के साथ दक्षिणी ध्रुव की यात्रा पर चल देता है।[2] इस यात्रा में उसकी प्रेमिका लिजा भी उसके साथ है। दक्षिणी ध्रुव प्रदेश की इस यात्रा में भी जोरोवस्की की प्रधान कथा के साथ-साथ स्मिथ की प्रासंगिक कथा भी पुनः उलझती हुई चलती है। 'जल गर्भ अभियान' में अवश्य स्मिथ की कथा को हम स्वतंत्र रूप से विकसित होते हुए देखते हैं। इन दोनों कथाओं के अतिरिक्त कितनी ही अन्य सहायक एवं स्वतंत्र कथाएँ भी इन दोनों कथाओं से उलझती हुई चलती हैं। कई स्थानों पर स्वतंत्र कथाओं के कारण प्रधान कथा अवरुद्ध भी हो गई है। उपन्यास के अन्तिम खंड में आकर जोरोवस्की एवं स्मिथ की प्रधान कथा शिथिल हो गई है। 'गूढ़ पुरुष' शीर्षक के अध्याय तक आते-आते यह प्रधान कथा समाप्त हो गयी है। और इसके स्थान पर भारतीय वैज्ञानिक की कथा प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रधान कथा के साथ-साथ तिवारी की सहायक कथा भी चलती है। उपन्यास का अन्त भी गूढ़ पुरुष एवं तिवारी की कथा से ही होता है। भारतीय वैज्ञानिक 'गूढ़ पुरुष' के शरीरांत के पश्चात् उसकी पुत्री प्रतिभा का तिवारी

---

१. संग्राम पृष्ठ ८९।

२. संग्राम पृष्ठ १००।

से विवाह हो जाता है। इस प्रकार यह अन्तिम दोनो कथाएँ अंत में परस्पर संयुक्त हो जाती हैं और यही कथा समाप्त हो जाती है।

प्रस्तुत उपन्यास के कथानक का सबसे बड़ा दोष है उसका विशृंखलित होना। *उपन्यास मे दो सर्वथा स्वतंत्र कथानक हैं,* जिनमे किसी प्रकार का पौर्वापर्य नही है। इसके अतिरिक्त इसमे कितनी ही अन्य कथाएँ भी आती और जाती दीख पड़ती हैं, जो सर्वथा स्वतंत्र हैं, जिनका प्रधान कथानक से कोई संबंध नही है[1], जिनमे किसी प्रकार का पौर्वापर्य नही है, कथानक के इस बिखराव के कारण प्रस्तुत उपन्यास विभिन्न घटनाओ का संग्रह सा ज्ञात होता है। यह घटनाएँ भी परस्पर संयुक्त न होकर, पृथक-पृथक हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक सर्वथा मौलिक है। इसमे संदेह नही कि उपन्यासकार को प्रस्तुत उपन्यास लिखने मे पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा होगा। ज्ञान को अधिक से अधिक कथानक मे ठूस देने के मोह ने अन्य प्रमुख उपन्यासो की भाँति इस उपन्यास के कथानक को भले ही बिखरा दिया हो किंतु उसकी मौलिकता मे किंचित मात्र भी संदेह नही किया जा सकता। जहाँ तक मुझे ज्ञात है हिंदी मे यह प्रथम वैज्ञानिक उपन्यास है, जिसमे चंद्रलोक एवं उत्तरी ध्रुव की यात्रा का वर्णन इतने विस्तार के साथ किया गया है। नवीन से नवीन वैज्ञानिक प्रगतियो का समावेश भी प्रस्तुत उपन्यास की अपनी मौलिक विशेषता है।

विज्ञान ऐसे नीरस विषय मे भी रस संचार करके लेखक उपन्यास की रोचकता की अन्त तक रक्षा करने मे पूर्ण सफल रहा है। वैज्ञानिक एवं राजनीतिक विवरणो के वात्याचक्र मे ज्यो ही कथानक भटकने लगता है, त्यों ही उपन्यासकार अपनी प्रबल कल्पनाशक्ति के माध्यम से उसे पुन. सरस बनाकर एक नूतन मार्ग पर ला खड़ा करता है। यद्यपि पुन पुन नवीन कल्पनाओ के प्रयोग से कथानक बिखर गया है, किन्तु इससे उपन्यास की रोचकता न्यून नही हुई है।

प्रस्तुत कथानक की सबसे बड़ी विशेषता उसके समन्वय मे है। इसमे *विज्ञान, राजनीति एवं साहित्य का स्पष्ट समन्वय किया गया है।* उपन्यासकार

---

१. पश्चिमी एशिया मे नवीन शक्ति का उदय पृष्ठ १०६,१०७। अलहुतदाह अल अरबी (पृ० १०८ से ११०) दो सितारे (पृ० ११०-११५) तक बगदाद संधि सम्मेलन (पृ० १२१-१२४) विश्व समस्याओं की उलझनें, इन्डोनेशिया, नाटो, आइसनहावर का पत्र, नए साल का बजट, (पृ० १४०-१५०) इत्यादि अन्यान्य की कथाएँ इसी प्रकार की हैं।

ने प्रस्तुत उपन्यास की रचना ही साहित्य एवं विज्ञान के समन्वय के लिए की थी।[१] उसने भूमिका में स्पष्ट कहा है 'जिस गति से विश्व वर्तमान में आगे बढ रहा है, उसे देखते हुए यही उचित है कि साहित्य में प्राविधिक और वैज्ञानिक पुट अधिक रक्खा जाय।'[२]

प्रस्तुत उपन्यास में वर्तमान मानव जीवन की कितनी ही प्रमुख समस्याओं को भी उठाया गया है। आज के युग का सबसे ज्वलन्त प्रश्न है कि विज्ञान को मानव मात्र के लिए मुक्तिदूत बनाया जाय या मृत्युदूत। इस प्रश्न का उपन्यासकार ने भारतीय वैज्ञानिक की पुत्री प्रतिभा के मुख से स्पष्ट उत्तर दिलवाया है। तिवारी के यह प्रश्न करने पर कि तुम्हारे पापा भारत सरकार की सहायता क्यों नही करते, प्रतिभा उत्तर देती है 'पापा तो विज्ञान को मनुष्य के लिये मृत्युदूत नही बनाना चाहते। वे तो विज्ञान को मानव मात्र के लिए मुक्तिदूत बनाना चाहते हैं।'[३] वह शांति की शक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति मानते हैं। आचार्य चतुरसेन जी ने भारतीय वैज्ञानिक को ही सर्वश्रेष्ठ दिखलाकर यही सिद्ध करना चाहा है कि वही देश ससार में सर्वश्रेष्ठ हो सकेगा, जो शांति के पथ का अनुसरण करेगा। इसी प्रकार की कई अन्य ज्वलन्त समस्याओं को भी उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास में उठाया है। जन सख्या वृद्धि[४], पापियों के सुधार[५], हिंसा और अहिंसा की समस्या आदि पर भी उपन्यासकार ने इसमें विचार किया है।

अब रहा सभावना अथवा सत्यता का प्रश्न। क्या प्रस्तुत उपन्यास की घटनाएँ सभावना के क्षेत्र का उल्लघन तो नही करती। यदि हम साधारण दृष्टि से देखें तो इसमें ऐसी कितनी ही घटनाएँ हैं जिन्हे हम असम्भव कह सकते हैं किंतु उपन्यासकार ने उन घटनाओं को विज्ञान के उस गहरे रग मे रग दिया है जो विलक्षण होने पर भी सलक्षण और असगत होने पर भी सुसगत ज्ञात होती हैं। उपन्यासकार ने अपनी उर्वर कल्पना शक्ति का आश्रय लेकर स्वानुभव से परे स्थानो एव वस्तुओं का बडी सफलता के साथ चित्रण किया है। यह एक वैज्ञानिक उपन्यास है। इस उपन्यास का एक और भी उद्देश्य है। इस कथा के व्याज से उपन्यासकार सरल और रुचिकर भाषा में जन साधारण को विज्ञान के

१. धर्मयुग आचार्य चतुरसेन व्यक्तित्व और विचार मुलाकात नाथ कपूर ९ अगस्त १९५९।

२. खग्रास भूमिका पृष्ठ २१।
३. खग्रास पृष्ठ २७३।
४. खग्रास पृष्ठ २७४।
५. खग्रास पृष्ठ २८८।

नवीन आविष्कारो से अवगत करा देना चाहता है। 'जिस प्रकार कविता मे कांता सम्मित शैली से नीति और धर्म का उपदेश किया जाता है उसी प्रकार *कथा-छल से नई खोजो का परिचय प्राप्त कराया जाता है। कथा तो बहाना* मात्र है, उससे कोरे वैज्ञानिक वर्णन का रूखापन दूर हो जाता है।'[1] इस उद्देश्य के साथ-साथ लेखक ने विज्ञान की वर्तमान और भावी प्रगति का भी आभास देना चाहा है। भावी प्रगति की जो उपन्यासकार ने कल्पना की है उसी की सत्यता एव सभावना पर विचार करना शेष रह जाता है। उपन्यासकार ने आज की वैज्ञानिक प्रगति को अपनी कल्पना का आधार बनाया है। रूस और अमेरिका दोनो ही ओर से चंद्रलोक की यात्रा के प्रयास चल रहे है। अतरिक्ष यात्रा के प्रयास तो दोनो के सफल भी हो चुके हैं। ऐसी दशा मे लेखक ने जो कल्पना की है, वह असम्भव नही कही जा सकती। अत निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कथानक कही से भी सभावना के क्षेत्र का अतिक्रमण नही करने पाया है। कथा के जो प्रसग असम्भव ज्ञात भी होते है, वे भी विज्ञान का *कवच धारण कर लेने के कारण सदिग्धता का आघात लगने से सुरक्षित हैं।*

सह्याद्रि की चट्टानें

प्रस्तुत उपन्यास का प्रारम्भ ही एक झटके के साथ होता है। तानाजी *नाम का एक युवक घायल अवस्था मे छत्रपति शिवाजी को मिलता है।* शिवाजी उसकी प्राण रक्षा करते हैं और उसे अपने साथ ले लेते हैं। यह कथा यही रुक जाती है। इसके आगे शिवाजी के प्रारम्भिक जीवन की कथा प्रारम्भ हो जाती है। किन कठिनाइयो मे शिवाजी की माता ने उनका लालन-पालन किया, किस प्रकार शिवाजी ने शिक्षा प्राप्त की, किस प्रकार गुरु रामदेव सन्यासी से उन्होंने शस्त्र सचालन मे निपुणता प्राप्त की आदि का वर्णन तानाजी मलूसी (अध्याय १०) तक प्राप्त होता है। अब तानाजी भी शिवाजी के साथ कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। शिवाजी की सैनिक शक्ति नित्य प्रति बढ़ती जाती है। भवानी के प्रताप से वे अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते जाते हैं। इसी समय मुगल सम्राट औरगजेब से शिवाजी का सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। सघर्ष बढ़ता जाता है। औरगजेब शिवाजी को समाप्त करने की कितनी ही योजनाएँ बनाता है किंतु असफल रहता है। उसे इस प्रयास मे अपने कई अनुभवी सरदारो से भी हाथ धोना पड़ता है। औरगजेब अब दूसरी कूटनीति की चाल चलता है। शिवाजी, मिर्जा राजा जयसिंह के कहने से औरगजेब से मिलने आगरा आते हैं किंतु आगरा

[1] *आलोचना-वैज्ञानिक कथा साहित्य डा० सम्पूर्णानंद पृष्ठ १८३।*

मे औरगजेब उनका अपमान करता है और उन्हे बदी बना लेता है। शिवाजी वहो से अपनी मुक्ति के लिए प्रयास प्रारम्भ कर देते हैं। औरगजेब कारागार मे ही उन्हे समाप्त करना चाहता है। दोनो ही अपनी कुटिल चालें चलते हैं। अत मे शिवाजी एक दिन मिठाई के खोचे मे बैठकर गुप्तरूप से बदीगृह से पलायन कर जाते है।

समस्त अवरोधो का अतिक्रमण करते हुए गुप्त रूप से शिवाजी अपने राज्य मे सकुशल पहुँच जाते हैं। महाराष्ट्र मे आकर वे औरगजेब के राज्य की जड़ें हिलाना प्रारम्भ कर देते हैं। प्रस्तुत उपन्यास का अत सिंहगढ की विजय से होता है। 'सिंहगढ' पर विजय प्राप्त करने के लिए शिवाजी ने बीडा रखा था। उस बीडे को तानाजी ने ही ग्रहण किया था। तानाजी गढ पर विजय तो प्राप्त कर लेते हैं किंतु उनकी मृत्यु विजय के पश्चात् किले मे ही हो जाती है। अपने इसी वीर सेनानी की मृत्यु देखकर शिवाजी के मुख से अनायास ही निकल आता है *'गढ आया, पर सिंह गया।'*[1]

इसमे अधिकारिक कथा शिवाजी एव औरगजेब की है। इस प्रधान कथा को अग्रसर करने के लिए अहमदशाह, अफजल खाँ, शाइस्ताखाँ, तानाजी, मिर्जा राजा जयसिंह, उदयभानु आदि की प्रासगिक कथाओ का भी प्रयोग हुआ है। शिवाजी की प्रधान कथा के साथ ताना जी की कथा पताका का एव अन्य कथाएँ प्रकरी का कार्य करती है। खान अब्दुस्समद की कथा यद्यपि प्रकरी की भाँति प्रयुक्त हुई है किंतु कथा मे सघर्ष को बढाने एव सम्पूर्ण कथा के मूल मे रहने के कारण प्रस्तुत कथा-पताका स्थानक का कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास शिवाजी के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओ से सम्बन्धित है। वास्तव मे प्रस्तुत उपन्यास को हम आचार्य जी के 'आलमगीर' नामक उपन्यास का पूरक कह सकते हैं। किंतु यह उससे एक बात मे भिन्न है। 'आलमगीर' मे ऐतिहासिकता का प्राधान्य है तो इसमे औपन्यासिकता का। वास्तव मे इसमे उपन्यासकार ने 'ऐतिहासिकता' और औपन्यासिकता का सुदर समन्वय प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत उपन्यास की शिवाजी एव औरगजेब के सघर्ष सबधी घटनाएँ पूर्ण ऐतिहासिक हैं।[2]

---

१. सह्याद्रि की चट्टानें पृष्ठ १५६।

२. औरगजेबनामा अनुवादक श्री देवी प्रसाद जी दूसरा भाग खन्ड ११ औरंगजेब दक्खिन मे पृष्ठ ११२ से ११५ तक।

मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार ह० न० आप्टे के 'गड आलापण सिंह वेला' उपन्यास जिसका हिंदी मे अनुवाद 'सिंहगढ' के नाम से हुआ है—के कथानक का प्रभाव इस पर स्पष्ट ज्ञात होता है।

बिना चिराग का शहर

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक तेरहवी शताब्दी के भारत से सम्बन्धित है। उस समय दिल्ली के सिंहासन पर अलाउद्दीन सुशोभित था। प्रस्तुत उपन्यास की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ २४ अप्रैल सन् १३११ ईस्वी की एक असाधारण घटना से होता है। सुल्तान ने अपने प्रिय गुलाम मलिक काफूर की दक्षिण विजय से प्रसन्न होकर उसका भव्य स्वागत करने के लिए दरबार किया था। इसी दरबार मे एक बिल्कुल अप्रत्याशित घटना हो जाती है। एक पक्षी को लेकर सुलतान के सामने ही मलिक काफूर का प्रतिद्वन्द्वी मगोल सरदार उलगू खाँ उससे आ भिडता है। सघर्ष मे उलगू खाँ का बाज मलिक काफूर का एक नेत्र निकाल लेता है। बादशाह के सामने ही यह घटना घटित हो जाती है। इस घटना के पश्चात् ही उलगू खाँ दरबार से गुप्त रूप से पलायन कर जाता है।

मुख्य घटना को स्पष्ट करने के लिए उपन्यासकार ने मलिक काफूर की दक्षिण विजय से पूर्व की कथा उपर्युक्त घटना के पश्चात् ला रखी है, किंतु यह कथा मे उलट फेर किसी कलात्मक पद्धति से नही किया गया है। जिससे कथानक की कलात्मक महत्ता क्षीण हो गई है। यदि इस कथा के उलट फेर को पूर्व दीप्ति (Flesh back) पद्धति से उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया होता, तो निश्चित ही प्रस्तुत कथानक का महत्व बढ गया होता। मलिक काफूर की दक्षिण विजय की कथा सामने आ जाती है। कुछ समय के लिए उलगू खाँ की कथा लुप्त प्राय हो जाती है।

मलिक काफूर के देवगिरि के आक्रमण के माध्यम से उपन्यासकार ने राजा कर्ण, राजकुमार शकर देव एव राजकुमारी देवल देवी आदि की कथा भी सामने ला रखी है।

कर्णदेव गुजरात का राजा था। वह कायर, आलसी, अफीम का व्यसनी और झक्की प्रकृति का था। उसकी पत्नी कमलावती अप्रतिम सुदरी थी। परास्त होने पर कर्णदेव अपनी पत्नी को छोड, केवल अपनी पुत्री देवल देवी के साथ भागकर देवगिरि के राजा रामचद्र की शरण चला गया था। कमलावती

बढ़ी हुई अंत मे वह अपने पति को त्याग कर सुल्तान अलाउद्दीन की बेगम बन जाती है। इतना ही नही वह अपनी निर्दोष बेटी देवल देवी को भी शाहजादा खिज्र खाँ के लिए बलात् पकड़ मगवाती है। शत्रुओ को परास्त करके सुल्तान की आज्ञा से गुलाम मलिक काफूर देवल को तो ले आता है किंतु वह स्वय देवल से प्रेम करने लगता है। इसी समय दिल्ली मे उलगू खाँ वाली उपर्युक्त घटना घटित हो जाती है। मलिक की प्रेमिका देवल का विवाह खिज्रखाँ से हो चुका था। अभी वह इस आघात को भूल भी न पाया था कि उलगू खाँ उसका अग भग कर गुप्त रूप से देवल का अपहरण कर देवगिरि के नए राजा हरपाल की शरण चला जाता है। सुल्तान की आज्ञा से मलिक देवगिरि पर आक्रमण करता है। युद्ध मे उलगू खाँ मारा जाता है और राजा जीवित पकड लिया जाता है। मलिक की आज्ञा से राजा की जिंदा खाल खीची जाती है। किंतु तो भी उसे देवल प्राप्त नही हो पाती। दिल्ली की ओर प्रत्यावर्तित होते समय मलिक को भी उसी के सैनिक समाप्त कर देते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक विशृखल है। एक साथ कई समानान्तर कथाएँ चली हैं। जिससे एक व्यवस्थित एव सुगठित प्रधान कथा, जो अपनी अन्विति से पाठक पर पूर्ण प्रभाव डाल सके का, अत तक अभाव रहा है।

प्रस्तुत उपन्यास मे केवल पृष्ठभूमि मात्र ही ऐतिहासिक है, कथानक काल्पनिक ही है। उपन्यासकार ने तो स्वय ही कह दिया है इस उपन्यास मे यद्यपि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है पर इसे शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नही कहा जा सकता। पाठक इसे ऐतिहासिक तथ्यो की जानकारी की दृष्टि से न पढें। इसमे केवल उस युग की जिसकी चर्चा इस उपन्यास मे है—राजनैतिक और सामाजिक ध्वस्त व्यस्त स्थिति तथा मुस्लिम सुल्तानो की नृशस उच्छृखलता का जिसकी साक्षी असख्य है दिया गया है।[1]

प्रस्तुत उपन्यास का सम्बध सुल्तान अलाउद्दीन के जीवन से है। सुल्तान अलाउद्दीन ई० सन् १२९६ मे तख्त पर बैठा और जनवरी सन् १३१६ मे मर गया। उसने केवल बीस वर्ष शासन किया। परतु उसका यह बीस वर्ष का शासन ऐसा अद्भुत रहा कि उसने समूचे भारत का नक्शा बदल दिया। सबसे पहले यही सुल्तान दक्षिण मे अपने सवार ले गया। तब सबसे पहिले इसी ने यत्किंचित् मुसलिम सुल्तानो म भारतीयता का पुट दिया। किंतु उसकी हिंसक प्रवृत्ति और नृशस अत्याचार अप्रतिम रहा। उपन्यास मे जैसा

१ बिना चिराग का शहर-दो शब्द पृष्ठ ३।

कि होना ही है कल्पना से काम लिया गया है। क्योकि इस काल का इतिहास भी पक्षपातपूर्ण और भ्रान्त है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिकता की अपेक्षा औपन्यासिकता के अधिक समीप है।[1]

पत्थर युग के दो बुत

आचार्य चतुरसेन जी का यह उपन्यास कथा शिल्प की दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासो से सर्वथा भिन्न है। इस उपन्यास का महत्व शिल्प की नवीनता एव प्रयोगात्मकता की दृष्टि से आचार्य जी के अन्य सामाजिक उपन्यासो से अधिक है।

कथावस्तु प्रारभ होने के पूर्व ही लेखक ने भूमिका मे स्पष्ट कहा है, पत्थर-युग के दो बुत मुझे मिले हैं—एक औरत और दूसरा मर्द। जमाने ने इन्हें सभ्यता के बड़े-बड़े लिबास पहनायें इन्हे सजाया सवारा, सिखाया पढाया। जमाना आगे बढता गया और वह सभ्यता के शिखर पर जा बैठा, पर ये दोनो बुत अपने लिबास के भीतर आज भी वैसे हो पत्थर युग के बुत हैं। इनमे एक बाल बराबर भी अतर नही पडा है–एक है औरत और दूसरा है मर्द।

इस भूमिका के पश्चात् ही कथा प्रारम्भ हो जाती है। भूमिका से ऐसा भास होता है कि कथा दो सूत्रात्मक होगी किन्तु वास्तव मे प्रस्तुत कथानक छ सूत्रात्मक है। पुरुष और नारी दोनो ही के तीन-तीन पात्रो के कथा सूत्र एक साथ अनस्यूत हुए हैं। वास्तव मे यह उपन्यास 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' नामक उपन्यास की भाँति खड रूपो मे लिखा गया है। कथा को छ खडो मे विभक्त किया गया है। कथा के यही छ खड कथा के छः विभिन्न सूत्र हैं। प्रस्तुत उपन्यास मे रेखा की कथा प्रधान है। कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ भी इसी प्रधान कथा से होता है।

रेखा एक विवाहित नारी है। उसका पति सुनील्दत्त सुरा का प्रेमी है। रेखा को सुरा से घृणा है। वह पति को सुरा सेवन से विरत करना चाहती है किन्तु इसी बात को लेकर दोनो मे विचार वैभिन्य हो जाता है। रेखा की प्रधान कथा को आगे बढाने लिए दत्त, राय, माया, वर्मा एव लीला आदि की पाच सहायक कथायें भी साथ-साथ चलती हैं। रेखा पति की उपेक्षा सहन नही कर पाती। उसके अतर मे पति से प्रतिशोध लेने की भावना उमड आती है, साथ ही वह अपने पति के अनन्य मित्र दिलीपकुमार राय की ओर शनैः शनैः आकर्षित होने लगती है। राय प्रथम से ही रेखा को अपनी भोग्य सामग्री

१. बिना चिराग का शहर-दो शब्द पृष्ठ ३-४।

समझता था। रेखा शीघ्र ही अपने पति सुनीलदत्त के साथ विश्वासघात करके राय को आत्म-समर्पण कर देती है। इन दोनो कथाओ के साथ-साथ रेखा के पति दत्त की कथा भी चलती है। वह सुरा का प्रेमी होते हुए भी एकनिष्ठ पति है, रेखा को हृदय से प्यार करता है। रेखा को दुखी देखकर वह सुरा त्याग देता है किन्तु तो भी रेखा को वह प्रसन्न नही कर पाता। अब यह तीनो ही कथाएँ परस्पर उलझती हुई अग्रसर होती हैं। इन कथाओ के साथ-साथ तीन अन्य कथायें भी चलती हैं। इन कथाओ का मुख्य सम्बन्ध राय की कथा से है। राय की पत्नी माया अपने पति के आचरण से असंतुष्ट है। यद्यपि राय से उसकी एक पुत्री-लीला हो चुकी है किंतु तो भी वह अपने पति की उपेक्षा सहन नही कर पाती। यही से कथा मे घात-प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। माया वर्मा नाम के एक अन्य अविवाहित नवयुवक की ओर आकर्षित हो जाती है। पति की ओर से पूर्ण स्वतत्रता पाकर वह अपने पति-और पुत्री को त्यागकर वर्मा से पुन विवाह कर लेती है। इधर राय भी सुनीलदत्त की पत्नी रेखा को अपने वश मे कर चुका है। रेखा एक दिन अकस्मात अपने पति से अपने और राय के सम्बन्ध मे कह देती है और साथ ही राय से विवाह करने की भी इच्छा प्रकट करती है। कथा अब चरम सीमा पर पहुँच जाती है। दत्त पूर्ण घटना सुनकर मौन हो जाता है। उसका अतर्द्वन्द्व बढ जाता है। वह अवसर पाकर गुप्तरूप से राय के समीप पहुँचकर रेखा के साथ विवाह करने की बात कहता है किंतु राय इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। राय का उत्तर था 'तब तो जो जो औरतें मेरे साथ सोती हैं मुझे उन सबसे शादी करनी पड़ेगी'।[१] दत्त को उसके इस उत्तर पर क्रोध आ जाता है और वह राय को गोली का निशाना बना देता है। यही कथा की चरम सीमा है। चरमसीमा के पश्चात् उपसंहार का भी क्रम है। अत मे दत्त को मृत्यु दण्ड की आज्ञा होती है। उपसंहार मे रेखा के पश्चात्ताप का संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है।

प्रस्तुत कथा मे यद्यपि रेखा की कथा प्रधान है किंतु तो भी उसे अन्य कथाओ से विलग आधिकारिक कथा की सज्ञा नही दी जा सकती, कारण उन सब कथाओ से विलग उसका अपना कोई स्वतत्र अस्तित्व नही रह जाता। कथा खण्ड रूपो मे प्रधान पात्र-पात्रियो को आधार बनाकर चलती हैं। सभी पात्र अपनी दृष्टि से ही अपने से सम्बधित कथा कहते हैं जिससे अन्य पात्रो की कथाओ को निकाल देने से किसी भी एक पात्र की कथा अपने मे स्वत पूर्ण

१. पत्थर युग के दो बुत पृ० १८१।

नही रह पाती । सब मिलाकर कथा सगठित है । अतराल शैली के माध्यम से सभी स्वतत्र कथा-खडो को लेखक ने बडे यत्न और कौशल से एक ही शृ खला मे अनस्यूत किया है।

कथानक के विभिन्न खडो मे विभक्त होने पर भी उसकी रोचकता अत तक बनी तो रही है किंतु वर्मा एव दत्त के अतराल के ये अश जिसमे उन लोगो ने शास्त्र के सिद्धातो का प्रतिपादन किया है[1], से कथा कई स्थानो पर अवरुद्ध हो गई है। कथा के माध्यम से इस प्रकार के सिद्धातो के प्रतिपादन ने कथा की कलात्मक महत्ता को न्यून कर लिया है।

'अज्ञेय' के उपन्यास 'नदी के द्वीप' की भाति यह उपन्यास भी सामाजिक विधि-निषेध से किंचित् तटस्थ, परम्परित जीवन व्यवस्था से कुछ विच्छिन्न, समाजकृत रूढियो, बधनो, व्यजनाओ से मुक्त यह कुछ व्यक्तियो का अपना जगत है जो अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार आचरण करते हैं और जीवन की एक नई दिशा की ओर सकेत करते हैं।'[2] किंतु इस उपन्यास मे अपनी निज की विशेषता है इसमे परम्परित जीवन व्यवस्था के प्रति विद्रोह के सकेत भले ही प्राप्त हो जावें किंतु उन सकेतो के परिपार्श्व मे उपन्यासकार ने स्पष्ट यह निर्देश किया है कि इस व्यवस्था के प्रति विद्रोही होकर उच्छृखल हो जाना निश्चित ही घातक है। उपन्यासकार ने कथा के प्रारभ मे जो भूमिका दी है उसमे भी उसका स्पष्ट सकेत है कि मनुष्य की काम विषयक भावनाओ मे आदिम युग से एक बाल बराबर भी अतर नही आया है। आज भी वह वैसा ही हिंसक है, जैसा तब था। जहाँ उसकी प्राचीन मान्यताओ को किंचित मात्र भी ठेस पहुँची वही वह विद्रोही हो जाता है। वास्तव मे प्रस्तुत उपन्यास पारिवारिक जीवन के माध्यम से उसमे के नित्य परिवर्तित होते हुए मूल्यो को देखने का बडा सुन्दर प्रयास है।

इस उपन्यास की प्रमुख समस्या काम विषयक है। निश्चित ही समस्या महत्वपूर्ण है। इसके पाँच प्रमुख पात्र हैं और उन सभी की समस्यायें लगभग एक सी हैं। रेखा विवाहित होते हुए भी अपने पति दत्त से असतुष्ट है उधर राय भी विवाहित है किंतु वह भी अपनी पत्नी माया के नीरस समर्ग से ऊब चुका है। दोनो ही अतृप्त हैं। माया भी अपने पति राय से उपेक्षित होने के कारण एक दूसरे अतृप्त नवयुवक का आचल थामती है। इस

१. पत्थरयुग के दो बुत-पृ० ५५-५७।
२. हिन्दी उपन्यास-पृष्ठ ३१५।

प्रकार इसके लगभग सभी प्रमुख पात्र चिर अतृप्त, कामासक्त हैं। सभी काम के दुर्दम्य आकर्षण से पराभूत होकर अपनी वास्तविक स्थिति को भूल चुके हैं। समाज के जर्जर बंधन इनकी काम बुभुक्षा के मार्ग मे अवरोध बनने मे असमर्थ हो चुके हैं। मनुष्य की वासनात्मक पशु प्रवृत्ति अपने नग्न रूप मे सामने आ चुकी है। किन्तु आज की सभ्यता के कृत्रिम आवरणो ने इस नग्नता को ढक दिया है, केवल मुनीलदत्त की नग्नता ही इस आवरण से परे है, कारण वह पुरानी लकीर का फकीर है वह अपनी पत्नी की उपेक्षा पर किसी दूसरी रमणी का आंचल नही थामता वरन् वह अपनी पत्नी को पथभ्रष्ट करने वाले नरपशु की हत्या कर डालता है। कथा का यह अंत दिखाकर लेखक ने उपर्युक्त सभी समस्याओ का निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिया है। उसका स्पष्ट रूप से कहना है 'वह आदमी जो घर की पवित्रता को भंग करता है, दूसरे की विवाहिता स्त्री को व्यभिचारिणी होने मे सहायता देता है, व्यभिचारिणी बनाता है, उसकी कम से कम सजा मौत है। वह समाज के लिए एक भयंकर खतरा है।' अंत मे उपन्यासकार ने सेक्स की मूल समस्या का समाधान आदर्शवादी ढंग से किया है। उसका कथन है 'हो सकता है कि स्त्री पुरुषो को गृहस्थ जीवन मे शारीरिक बाधायें हो, मानसिक बाधायें भी हो—इतनी बड़ी, इतनी शक्तिवान कि जिनके कारण जीवन का सारा आनंद ही खत्म हो जाय। इस समय स्त्री या पुरुष दोनो को अपने उच्च चरित्र का, त्याग और निष्ठा का सहारा लेना चाहिए, वासना का नही।'[१] इसके बिल्कुल विपरीत अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' मे प्रस्तुत सेक्स समस्या का निष्कर्ष प्रस्तुत किया हैं। आचार्य चतुरसेन भी उस यथार्थवादी निष्कर्ष को समाज के लिए घातक मानते हैं, इसी कारण से उन्होंने अपना आदर्शवादी निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। 'नदी के द्वीप' की भांति यह उपन्यास खंडो मे तो विभक्त है किन्तु इसमे उसकी भांति खंडो के मध्य 'अंतराल' नही है, जिससे इसकी कथा अन्त तक संगठित एवं शृंखलाबद्ध रही है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'काले फूलो का पौधा' शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास से कुछ-कुछ साम्य रखता हैं।

वास्तव मे आचार्य चतुरसेन जी के प्रस्तुत उपन्यास का कथानक 'हृदय की प्यास', 'अदल बदल' एवं 'आभा' के समान ही है। 'अदल बदल' के मास्टर हरप्रसाद एवं 'आभा' का अनिल एक प्रकार से निष्क्रिय दृष्टा मात्र हैं। वे प्रेम तथा सहानुभूति के द्वारा हृदय-परिवर्तन के गांधीवादी आदर्श के पक्ष मे हैं

१. पत्थर युग के दो बुत-पृ० १८८।

इन दोनो ही पात्रो का निज का कोई व्यक्तित्व नही। यह केवल पत्नी के हाथो की कठपुतली मात्र हैं। किंतु प्रस्तुत उपन्यास का सुनील पुरुष है—तेज, पुसत्व, प्रखरता आदि गुणो से पूर्ण। प्रथम तीनो उपन्यासो मे आचार्य चतुरसेन जी ने गाधीवादी सिद्धातो का ही आश्रय लिया है। उनमे वे आदर्श की ओर अधिक उन्मुख दीख पड़ते है, जबकि प्रस्तुत उपन्यास यथार्थ की भाव भूमि पर आधारित है।

आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत उपन्यास की रचना कैप्टेन मानावती–काड से प्रभावित होकर की थी।

सोना और खून

प्रस्तुत उपन्यास यदि पूर्ण हो गया होता तो केवल भारतीय भाषाओ में ही नही वरन् विश्व की समस्त भाषाओ मे सबसे विशालकाय उपन्यास होता, किन्तु दुख है कि इसे पूर्ण करने से पूर्व ही आचार्य चतुरसेन जी इस ससार को त्याग कर चल दिए। उनकी प्रस्तुत उपन्यास को कुल पचास खडो और दस भागो मे समाप्त करने की योजना थी, किन्तु वे केवल दो भाग एव लगभग बारह खड ही पूर्ण कर सके। दूसरे भाग का उत्तरार्द्ध उन्होंने निधन से कुछ दिन पूर्व ही पूर्ण किया था। आचार्य जी का प्रस्तुत उपन्यास हमे 'चार्ल्स डिकेन्स' के अधूरे उपन्यास 'दि मिस्टरी आफ एडविन ड्रूड' का स्मरण दिला देता है। कथा सघटन की दृष्टि से बगला उपन्यासकार का 'साहब बीबी गुलाम' उपन्यास प्रस्तुत उपन्यास का सक्षिप्त रूप कहा जा सकता है। उसमे ईस्ट इण्डिया कम्पनी से अब तक के कलकत्ता की कथा है और प्रस्तुत उपन्यास मे १६५७ से १९४७ तक के इतिहास की घटनाओ का चित्रण उपन्यासकार करना चाहता था। प्रस्तुत उपन्यास की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था कि "यह अँगरेजो के भारत आने से भारत छोड़ने तक के समस्त ऐतिहासिक काल की वृहद् गाथा होगी जिसमे एक विदेशी जाति के कौशल, देशभक्ति, धीरता, कूटनीति, स्वार्थपरता और क्रूरता के साथ, पश्चिम और पूर्व की विचारधाराओ का टकराव, नये और पुराने का सघर्ष, भारत का राष्ट्रीय पतन और उत्थान रूढिवाद पर विज्ञान की विजय, स्वतत्रता आदोलन, त्याग और बलिदान के सजीव दृश्य प्रस्तुत किये जायँगे।"[1] वे इन दो भागो में केवल सन् १८५७ तक की कथा को ही रोचक ढग से प्रस्तुत कर सके हैं। सन १८५७

१. धर्मयुग-दिसम्बर १, १९५७ "आचार्य चतुरसेन लेखक और मानव श्री हस-'रहबर'।

के विषय मे उनका दृष्टिकोण अन्य विद्वानो से भिन्न था। एक बार उन्होंने प्रस्तुत प्रबंध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर मे बतलाया था मैं, सत्तावन का विद्रोह देशभक्तो ने किया, यह नही मानता, कारण उस समय भारत एक राष्ट्र और एक देश नही था। अत राष्ट्रीयता और देशप्रेम का प्रश्न ही नही उठता। और साथ ही, मैं यह भी नही मानता, कि भारत के वर्तमान स्वतन्त्रता सग्राम मे सन् सत्तावन की कोई प्रतिक्रिया थी, कारण जब उस समय राष्ट्रीय परम्परा ही न थी, तो उसकी प्रतिक्रिया का प्रश्न ही कहाँ उठता है।''[1] इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास मे आचार्य जी ने कितने ही मौलिक प्रश्नो को उठाया है।

यहाँ हम दोनो भागो एव बारहो खडो की प्रधान कथाओ को एक साथ ले रहे है। एक दो हजार पृष्ठो के बृहत् उपन्यास मे लगभग १०९ प्रधान और प्रासगिक कथाएँ प्राप्त होती है। प्रथम भाग के छ खडो मे ही कई कथा सूत्र है किंतु इन दोनो मे चौधरी प्राणनाथ के परिवार की कथा प्रधान है। चौधरी प्राणनाथ की कथा प्रथम भाग के पूर्वार्द्ध मे समाप्त हो जाती है, उत्तरार्द्ध मे कथा चौधरी परिवार के एक तरुण-सांवलसिंह को लेकर विकसित हुई है। यह कथा प्रथम भाग के चौथे खड मे ही समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् प्रथम भाग के ही पाँचवें और छठे खड मे अन्य छोटी-छोटी स्वतत्र कथाएँ विकसित हुई हैं। प्रस्तुत उपन्यास के इस भाग का विकास कुछ-कुछ ड्यूमा के 'थ्री मस्केटियर्स' और 'ट्वेंटी इयर्स ऐण्ड आफ्टर' के ढग पर हुआ है। श्री देवकी नदन खत्री के 'चद्रकाता' तथा 'चद्रकाता सतति' नामक उपन्यासो मे भी एक ही परिवार की दो पीढियो की कथा कही गई है।

'प्रस्तुत उपन्यास के प्रथम भाग (पूर्वार्द्ध) के प्रथम खड की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ मिया खुरशेद मुहम्मद खाँ उर्फ बडे मिया के परिचय से होता है। मिया की कथा यही से शनै शनै विकसित होने लगती है। शीघ्र ही चौधरी प्राणनाथ की कथा भी इससे आ सयुक्त होती है। दोनो कथाएँ कुछ बढकर रुक जाती है। द्वितीय खड मे यही कथा पुन लौट पडती है। अब इसमे कथा का प्रारम्भ उपर्युक्त कथा के पैंतीस वर्ष पूर्व घटित घटना से होता है। इस कथा के केंद्र मे चौधरी और बडे मिया का ही चरित्र है। वास्तव मे उपर्युक्त दोनो कथाएँ ही पीछे लौटकर पुन चली हैं। इसको हम 'काल क्रम मे

---

१. धर्मयुग-अगस्त ९, १९५९ आचार्य चतुरसेन-व्यक्तित्व और विचार-शुभकार नाथ कपूर।

उलट-पलट (Time Shift) वाली टेकनीक कह सकते हैं, किंतु वास्तव मे यह पूर्णरूपेण वह टेकनीक नही है। इसकी आगे हम व्याख्या करेंगे। द्वितीय खड का प्रारम्भ चौधरी की कथा से ही होता है। इसके साथ-साथ कितनी ही सहायक कथाएँ एव स्वतत्र कथाएँ भी विकसित होती दीख पडती हैं। 'तृतीय खड' मे भी यही कथा दीख पडती है। कुछ दूर तक तो यह कथा सहायक कथाओ को अपने साथ लिए हुए चलती है किंतु मध्य मे आकर यह कथा सहायक कथाओ के पीछे दबकर लुप्तप्राय हो जाती है। छोटी छोटी कितनी ही सहायक कथाएँ आ-आ कर कथानक को खिसकाने लगती हैं, जिससे कथा ठिठकती हुई अग्रसर होने लगती है। गाजी नसीरुद्दीन हैदर की कथा अवश्य कुछ समय तक शृखलाबद्ध चलती है किंतु शीघ्र ही इस कथा का भी अतिक्रमण करती हुयी चौधरी की कथा पुन प्रकट हो जाती है। चौधरी की यह कथा 'प्रथम खड' मे आई हुई घटनाओं के पश्चात् की है। यही पुराने घरानो का खातमा हो जाता है। चौधरी प्राणनाथ की मृत्यु हो जाती हैं और बडे मियाँ गुप्त रूप से पलायन कर जाते हैं। यही दोनो प्रधान कथाएँ समाप्त हो जाती हैं। प्रथम भाग 'पूर्वार्द्ध' की समाप्ति भी यही हो जाती है।

प्रथम भाग के उत्तरार्द्ध की कथा का प्रारम्भ चौधरियो के नामी घराने के एक तरुण साँवलसिंह के चरित्र को आधार बनाकर होता है। चौधरी के परिवार मे केवल यही शेष रह गया था। यह चौधरी के सबसे छोटे बेटे सुखपाल का बेटा था। चौथे खण्ड मे कथा सूत्र इसी के चरित्र के चारों ओर घूमता रहता है।

प्रथम भाग मे 'उत्तरार्द्ध' के 'पाँचवें खण्ड' मे एकदम नवीन कथा का प्रारम्भ होता है। इस कथा का प्रारम्भ 'सत्रहवीं शताब्दी की दुनिया' से होता है। इस खण्ड की कथा भारत भूमि, इग्लैंड, फ्रास एव अन्य द्वीप समूहों को आधार बनाकर विकसित हुई है। छोटे-छोटे कितने ही कथा सूत्र आते जाते रहते हैं। कथा मे कोई शृखला नही रह पाई है। कहीं कथा यूरोप के नगरों की प्रस्तुत घटनाओं को आधार बनाकर चली है, तो कहीं भारत की। कथाकार का उद्देश्य केवल उन घटनाओ को प्रस्तुत करना है जिनमे सोने के लिए खून बहाया गया है। छठें खण्ड मे भी कथा का यही क्रम रहा है। कथा मे कोई क्रम भी नही रहा है। कहीं कथा प्रथम भाग के पूर्वार्द्ध की घटनाओ के भी पूर्व की आ गई है तो कहीं एकदम बाद की। उदाहरण के लिए हम छठे खण्ड के कुछ अध्यायों को ले सकते हैं। अध्याय चालीस 'सौदा ए खास'[1] मे सन्

---

१. सोना और खून-प्रथम भाग उत्तरार्द्ध-अध्याय ४० पृ० २६६।

१६०८ की एक घटना दी गई है, 'गज ए सवाई'[१] मे सन् १६९५ की एक घटना ली गई है, इसके पश्चात् ही मुगल सम्राट आलमगीर की कथा आ गई है,[२] कुछ ही अध्यायो के पश्चात् सन् १७१० की एक घटना आ गई है[३], इस प्रकार १७वी शताब्दी से लेकर १९वी शताब्दी की कथाएँ लौट-लौट कर आती गई हैं। कथा का क्रम भग है। लेखक ने विशेष क्रम मिलाने की चेष्टा भी नही की है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उपन्यासकार का उद्देश्य विश्व की उन समस्त घटनाओ को प्रस्तुत करने का रहा है जो 'सोना और खून' के लिए हुई हैं। लेखक ने बारह पृष्ठो की भूमिका में यह स्पष्ट रूप से कह भी दिया है।[४]

प्रस्तुत उपन्यास का द्वितीय भाग भी छै खडो मे विभक्त है। प्रस्तुत भाग के प्रथम खंड मे अट्ठारहवी शताब्दी की सामाजिक स्थिति को विभिन्न कथाओ के माध्यम से साकार करने का प्रयत्न किया गया है। कई स्थानो पर एक ही कथा सूत्र मे सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक परिस्थितियो को गूँथ दिया गया है, उदाहरण के लिए हम लाहौर की छाती पर[५], देसी राज्यो की लाश[६], तोपो का युद्ध[७], मूर्तो वाली मस्जिद[८], गिरजे की मुलाकात[९] आदि अध्यायो के कथा सूत्रों को ले सकते है सन् १८५७ के गदर की पृष्ठभूमि इसी खड से बननी प्रारम्भ हो जाती है। इसी भाग के उत्तरार्द्ध मे आकर कथा इसी पृष्ठभूमि पर शनैः शनैः विस्तार पाने लगती है। छोटे-छोटे कथा सूत्र इस कथा को शनैः शनैः अग्रसर करने लगते हैं। तीसरे खड मे भी यही कथाएँ चली हैं। इनके माध्यम से उपन्यासकार ने तत्कालीन वातावरण को सम्मुख ला खडा किया है। तीसरे खन्ड के अन्तिम अध्याय मे सत्तावन की आग भडक उठती है। इसके अन्य खडो मे इस भडकी हुई आग का विस्तृत वर्णन किया

---

१. सोना और खून-प्रथम भाग उत्तरार्द्ध-अध्याय ४३ पृ० २७७।
२. सोना और खून-प्रथम भाग उत्तरार्द्ध-अध्याय ४४ पृ० २९०।
३. सोना और खून-प्रथम भाग उत्तरार्द्ध-नया आदमी।
४. सोना और खून-प्रथम भाग पूर्वार्द्ध-पृ० ९ से २०।
५. सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय ३२।
६. सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय ३५।
७. सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय ३७।
८. सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय ३९।
९. सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय ४९।

गया है। कितने ही कथा सूत्र समानान्तर दौड़ते हैं। दूसरे खंड के उत्तरार्द्ध में भी सन् १८५७ के गदर का ही सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है।

जहाँ तक कथा के संगठन का प्रश्न है कथा विशृंखलित है। इतने विशालकाय उपन्यास में कथा को एक सूत्रात्मक रखना निश्चित रूप से कठिन है। किंतु इसमें उपन्यासकार का उद्देश्य ही भिन्न है, उसका उद्देश्य किसी एक कथा को कहने का नहीं रहा है वरन वह उन घटनाओं को साकार करना चाहता है जिनमें सोने के लिए खून बहाया गया हो। अतः प्रस्तुत उपन्यास के कथा सूत्र स्फुलिंग की भाँति बिखरे हुए हैं। एक शृंखला अनुस्यूत न होने पर भी उनकी शृंखला एक उद्देश्य के कारण बनी रहती है। प्रत्येक कथा सूत्र पृथक होने पर भी अपने अन्तिम लक्ष्य पर आकर उसी प्रकार एक हो गये हैं जैसे पर्वत से प्रसूत होनेवाली कितनी ही सरिताएँ विभिन्न विभिन्न स्थलों का पृथक्-पृथक् भ्रमण करती हुई अन्त में समुद्र में विलीन होकर एक हो जाती हैं। यदि इसे हम प्रयोग की दृष्टि से देखें, तो यह एक सर्वथा नवीन प्रयोग है।

प्रस्तुत उपन्यास में कथा तथा कालक्रम को उलट-पुलट देने वाली पद्धति की प्रारम्भिक टेक्नीक का प्रयोग हुआ है। यह टेक्नीक प्रथम भाग के पूर्वार्द्ध के कुछ खंडों में तो स्पष्ट है, किंतु आगे के खंडों में यह प्रच्छन्न रूप से व्याप्त है। 'इस टेक्नीक को कथा ग्रन्थोद्वेदक पद्धति भी कहते हैं। कारण कि इसमें कथा के विकास के स्वाभाविक क्रम अथवा पात्रों के चरित्र विकास की सीधी गति को उलट पुलट कर उपस्थित किया जाता है। पात्रों के कार्य को, उनके विचार को तथा उनकी भावनाओं को उस में प्रकट नहीं किया जाता है कि पता चले कि वे एक स्थान पर आकर अपने विकास क्रम की एक मंजिल पार कर चुके हैं। अब इतनी दूरी तय करनी रह गई है, शेष को वे पीछे छोड़ आये। उनके उपन्यास की अन्तिम पंक्ति तक पाठक यह निश्चय रूप से कहकर सन्तोष की साँस नहीं ले सकता कि कहानी अब इस बिन्दु तक पहुँच गई। जिस तरह सड़कों पर मील के पत्थरों से (Mile stones) से यात्रा की पार की गई दूरी का पता पाकर यात्री, आश्वस्त होता हुआ चलता है जैसा कि पहले के उपन्यासों में होता था। उस तरह की भावना इन उपन्यासों के पढ़ने पर नहीं होती इस पद्धति के प्रयोग का सर्वोत्तम और स्पष्ट उदाहरण कोनार्ड के दो उपन्यासों लार्ड जिम और चान्स में पाया जाता है।'[1] प्रस्तुत उपन्यास के प्रथम भाग के पूर्वार्द्ध की लार्ड जिम नामक

---

१ आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, डा० देवराज उपाध्याय पृ० ३२६-२७।

उपन्यास की इस टेकनीक से तुलना कर सकते हैं। जिस प्रकार उसमे चौधरी और बडे मिया की वृद्धावस्था से कथा का प्रारम्भ होता है, वैसे ही जैसे जिम के विद्रोही और अपराधी प्रमाणित हो जाने पर उसे कहाँ-कहाँ और किन किन अवस्थाओ मे काम करना पडता है, इस वर्णन से उपन्यास प्रारम्भ होता है। इसके पश्चात् दूसरे खड मे जैसे प्रस्तुत उपन्यास की कथा मुडकर पैंतीस वर्ष पूर्व चली जाती है और चौधरी आदि की युवावस्था के वर्णन सामने आ जाते है, ऐसे ही लार्ड जिम की कथा भी मुड जाती है और विद्रोह के पूर्व की जिम की जीवनी की कथा कहने लगती है।[१] तात्पर्य यह कि इसमे पद्धति तो अपनाई गई है, किंतु दोनो के प्रस्तुत करने का ढग भिन्न है। आचार्य जी ने नवीन मनोवैज्ञानिक पद्धतियो का आश्रय नही लिया है। न इसमे पूर्वदीप्ति (Flash back) का आश्रय लिया गया है। और न चेतना प्रवाह (Stream of Consciousness) का ही। कालक्रम की उलट-पलट (Time shift) की पद्धति भी अयत्नकृत प्रस्तुत उपन्यास मे आई हुई ज्ञात होती है। उपन्यासकार ने इसे सवार कर, माज कर, निखार कर रखने का प्रयत्न नही किया है। कुछ देर उसने पद्धति का निर्वाह बिना किसी विशेष सिद्धात पालन के किया है, किंतु शीघ्र ही वह उपर्युक्त पद्धति को त्याग कर कथा कहने लगा है, जिससे कथा मे किसी विशेष टेकनीक को ढूँढना व्यर्थ ही है।

कथा शिल्प की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास की सबसे बडी विशेषता है, सौ वर्ष के राजनैतिक, धार्मिक एव सामाजिक जीवन को छोटे-छोटे कथा सूत्रो द्वारा आकार की। कितने ही छुट-पुट प्रसग इसमे भरे हुए हैं, जिससे कथा मे गहराई एव प्रौढता नही आने पाई है। जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है कि लेखक का उद्देश्य जम कर कथा कहने का नही रहा है। वह केवल इन सौ वर्षों मे घटित उन प्रमुख सम्पूर्ण घटनाओ को चित्रित करना चाहता है जिनमे सोने के लिए खून बहाया गया है। इसीलिए वह एक चित्र के पश्चात् तुरत दूसरा चित्र, एक सूत्र के पश्चात् दूसरा कथा सूत्र लाता गया है। उसने इन चित्रो को ही दिखलाने के लिए कथानक की शृ खला का भी बलिदान कर दिया है। वह शीघ्र ही सभी चित्र दिखा देना चाहता है। उसका उद्देश्य उन्हें सवार कर सजा कर कलात्मक ढग से प्रस्तुत करने का नही रहा है, वरन् वह यो ही उन्हे खोलता गया है। उसके चित्र उभरे हुए हैं, घटनाएँ अपने मे पूर्ण

१. Twentieth Century Novel, G. N Beach P.361 आ० हि० क० स० और मनोविज्ञान, डा० उपाध्याय पृ ३२८-२९।

हैं, अब शृंखला उसमे रहे या न रहे, इसकी उपन्यासकार ने किंचित मात्र भी चिंता नही की है।

वास्तव मे आचार्य चतुरसेन जी का यह अन्तिम ऐतिहासिक उपन्यास है। यद्यपि इसके प्रथम भाग का पूर्वार्द्ध सन् १९५७ मे ही प्रकाशित हो गया था, किंतु इसके दूसरे भाग का उत्तरार्द्ध सबसे अंत मे (आचार्य जी की मृत्यु के पश्चात्) प्रकाशित हो सका है। तो भी प्रस्तुत उपन्यास अपूर्ण है। इन दो भागो मे सौ वर्ष की विश्व की ऐतिहासिक घटनाओ को लिया गया है। इसमे कुछ अप्रमुख पात्रो के माध्यम से आचार्य जी ने इन सौ वर्षों के युग के पुनर्निर्माण (reconstruction) करने का प्रयत्न किया है। इन अप्रमुख पात्रो के चारो ओर युग के प्रमुख पात्र भी चक्कर काटते हैं। वास्तव मे इसमे आचार्य जी ने इस युग की उन सभी प्रमुख घटनाओ को दिखलाने का प्रयत्न किया है, जिनका कि सम्बंध सोना और खून से था। इस उपन्यास मे कही पर ऐतिहासिकता की प्रधानता है तो कही औपन्यासिकता की। इसमे होल्कर[1], रणजीतसिंह[2], पेशवा[3], नसीरुद्दीन हैदर[4], पाचवे खण्ड की विदेशो से सम्बंधित घटनाएँ, झांसी की रानी एवं सन् सत्तावन से सम्बंधित कुछ घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। तथा चौधरी प्राण नाथ, बडे मियाँ, सावलसिंह, पुतली, मालती, शुभदा आदि की कितनी ही कथाएँ काल्पनिक हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव मे प्रस्तुत उपन्यास मे ऐतिहासिकता और औपन्यासिकता का अद्भुत समन्वय है।

मोती

प्रस्तुत उपन्यास आचार्य चतुरसेन जी का अन्तिम सामाजिक उपन्यास है। इसका व्यावहारिक प्रारम्भ खानबहादुर नवाब नियाजअहमद की कथा से होता है। यद्यपि उनके तीन विवाह हो चुके थे किंतु इस समय वे विधुर थे। उनके केवल एक पुत्री थी—नीलम। कलकत्ता भ्रमण के समय नवाब साहब का परिचय जोहरा नाम की एक वेश्या से हुआ। वे उसे एवं उसके भाई मोती को अपने साथ ही कलकत्ते से लेते आए थे। तब से यह दोनों प्राणी उन्ही के आश्रय मे रहते थे। मोती एक उच्छृंखल स्वभाव का तरुण था। वह सारा दिन इधर-उधर घूमता रहता। उसे धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, पुण्य-पाप, मान-अपमान, छूत-अछूत किसी मे कोई भेद नही दीखता था। दिन भर वह दिल्ली के

१. सोना और खून-पूर्वार्द्ध पृ ८६-९२। २. सोना और खून-पूर्वार्द्ध पृ ९५।
३. सोना और खून-पूर्वार्द्ध पृ. १७५। ४. सोना और खून-पूर्वार्द्ध पृ. २१९-२८०।

खडहरो मे घूमता रहता था।[१] मोती का एक हुसेनी नाम का मित्र भी था। इन्ही दोनो के चरित्र को लेकर प्रस्तुत उपन्यास की कथा अग्रसर हुई है। एक दिन अपने एक मित्र जवाहर के साथ मोती क्रान्तिकारियो के बीच पहुँच जाता है। किंतु अपने स्वतंत्र विचारो के कारण उस दल के कुछ प्रमुख सदस्यो से उसका विरोध हो जाता है। विरोध संघर्ष की सीमा तक पहुँच जाता है किंतु अंत मे जवाहर के प्रयास से संघर्ष रुक जाता है। इस घटना के पश्चात् अपरोक्ष रूप से मोती का संबंध क्रांतिकारी दल से हो जाता है। इसी समय हसराज नाम का एक क्रांतिकारी वायसराय की स्पेशल ट्रेन को बम से उड़ाने का प्रयत्न करता है किंतु असफल रहता है। वह अपनी रक्षा के लिए लुकता छिपता भागता हुआ नाटकीय ढंग से मोती के आश्रय मे पहुँच जाता है। मोती की बहन जोहरा का पूर्व प्रेमी यही नवयुवक है, यह ज्ञात होते ही मोती अपना कर्तव्य निश्चित कर लेता है। वह हसराज नाम से पुलिस के समक्ष आत्म समर्पण कर देता है। पुलिस उसके मित्र हुसेनी को भी बंदी बना लेती है। जेल मे ही पुलिस के अत्याचारो के फलस्वरूप हुसेनी की मृत्यु हो जाती है। हसराज अभी तक अपनी प्रेमिका जोहरा के आचल मे ही छिपा था। हुसेनी के उत्सर्ग ने उसके नेत्र खोल दिए। वह जोहरा का आश्रय त्याग कर पुन क्रांतिकारी दल मे जा पहुँचता है। मोती पर हसराज नाम से मुकदमा चलता है। किंतु उसी समय पुलिस को एक मुखबिर के द्वारा ज्ञात होता है कि यह एक निर्दोष व्यक्ति है, वास्तविक हसराज अभी भी मुक्त है। इस रहस्य के ज्ञात होते ही मोती मुक्त कर दिया जाता है। किंतु मुक्ति-आदेश सुनकर भी मोती अदालत के कमरे से बाहर नही निकलता। वह मजिस्ट्रेट से प्रश्न करता है पर मुझे जो इतने दिन हिरासत मे रखा गया, तकलीफ दी गई, मेरे घर वालो को परेशान किया गया, मेरे एक दिली दोस्त हुसेनी के प्राण लिए, पुलिस के इन सब कुकृत्यो और अपराधों का मुझे क्या मुआविजा यह अदालत दिलाती है ? मजिस्ट्रेट के नकारात्मक उत्तर पर वह अदालत के समक्ष ही घोषणा करता है तब तुम्हारा यह कानून अपूर्ण और असत्य है। इसकी जय नहीं हो सकती। तुम्हारा यह राज्य अधिक दिन नही टिक सकता।[२]

प्रस्तुत उपन्यास के अत मे नीलम के साथ मोती का निकाह् करा दिया जाता है।

---

१. मोती-पृ० १४।
२. मोती पृ० १०८।

प्रस्तुत उपन्यास मे अधिकारिक कथा मोती की ही है। इसी के चरित्र को निखारने के लिए उपन्यासकार ने हुसैनी, हसराज, जवाहर आदि की प्रासगिक कथाओ की सृष्टि की है। ये सारी प्रासगिक कथाएँ मुख्य कथा की पूरक एव पोषक हैं।

आचार्य जी का प्रस्तुत उपन्यास उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुआ। इसको व्यवस्थित करके अनुज श्री चद्रसेन जी ने प्रकाशित किया है। श्री चद्रसेन जी ने प्रस्तुत उपन्यास की भूमिका में लिखा है 'आचार्य जी ने यह उपन्यास सन् १९२९ ई० के आसपास लिखना आरम्भ किया था। फिर किन्ही कारणो से उन्होंने इसे उठाकर रख दिया और उनकी यह रचना पाडुलिपियो की अलमारी मे दबी पडी रही। उनकी मृत्यु के उपरात उनकी हस्तलिखित सामग्री खोजने पर इस उपन्यास का बडल प्राप्त हुआ। बडल खोलने पर ज्ञात हुआ कि इस उपन्यास के विभिन्न परिच्छेद लिखकर पिनो मे लगाकर रखे हुए है। उन पर पेज नम्बर नहीं हैं, तथा अधिकाश पेंसिल से लिखा हुआ है। इस उपन्यास की चर्चा वे कभी-कभी अपनी साहित्य-गोष्ठी मे मित्रो से किया करते थे और इस उपन्यास को फाइलो मे निकालकर पूर्ण करने की बात भी कहते थे। परतु नये-नये कार्य उनके सामने आते रहे और यह उपन्यास अलमारी मे बद ही पडा रहा।

पाडुलिपि को बहुत सावधानी से पढकर और कुछ परिच्छेदो का क्रम मिलाकर प्रकाशित किया जा रहा है, जिससे उन महान् लेखक का यह कथा साहित्य भी प्रकाश में आ जाए। निस्संदेह यदि वे जीवित रहते तो यह उपन्यास सशोधित रूप मे हमारे सम्मुख होता तथा अधिक बडा होता।'[1]

इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास को प्रकाश मे लाने का पूर्ण श्रेय आचार्य चतुरसेन जी के अनुज श्री चद्रसेन जी को है। प्रस्तुत उपन्यास का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य जी प्रस्तुत उपन्यास को और अधिक विस्तृत एव सुगठित रूप से प्रस्तुत करना चाहते थे, किंतु अपने जीवन काल मे वे इसे पूर्ण न कर सके। पृष्ठ ७६ तक तो प्रस्तुत उपन्यास की कथा स्वतत्र रूप मे विकसित हुई है, इसके पश्चात् की हुसैनी की कथा आचार्य चतुरसेन जी की 'मुखबिर' कहानी मे से उठाकर रख दी गई है। उनकी 'मुखबिर' कहानी म के लगभग बीस पृष्ठ ज्यो के त्यो प्रस्तुत उपन्यास

१. मोती-निवेदन-पृ० ३।

मे रख दिए गये हैं। केवल 'मुखबिर' के हुरसरनदारा का नाम इसमे हुसेनी कर दिया गया है। किंतु कथा प्रस्तुत कथानक मे बडी सटीक बैठी है।

आचार्य जी के कथानकों की कुछ मौलिक विशेषताएँ

आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यासो के कथानको का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने के उपरात हमारे समक्ष उनकी कुछ मौलिक विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

आचार्य जी मे सर्वप्रथम विशेषता है उनका कथा कहने का रोचक एव सरस ढग। वे कथा का प्रारम्भ करना और उसे निभाना खूब जानते हैं। कथा चाहे सामाजिक हो, ऐतिहासिक हो अथवा वैज्ञानिक वे उसे इस प्रकार से प्रारम्भ करते हैं कि कुछ पक्तियाँ पढने के पश्चात् ही पाठक उसमे तल्लीन हो जाता है। इस उदाहरण के लिए 'सोमनाथ', 'अपराजिता', 'धर्मपुत्र', 'गोली' आदि मे से किसी भी उपन्यास को ले सकते है। वे उपन्यास के प्रथम परिच्छेद से ही कथा मे रोचकता भरना आरम्भ कर देते हैं। वास्तव मे सत्य यह है कि उनके समीप कहने को एक कथा होती है चाहे वह ऐतिहासिक हो, सामाजिक हो, वैज्ञानिक हो या नितात कल्पित। वह कथा स्वय अपने मे मनोरजक एव सरस होती है। यदि उनके इन उपन्यासो मे से चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि निकाल दिये जायें तब भी स्वय कहानी ही इतनी आकर्षक, हृदयस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक होती है कि हम उसे शीघ्र ही विस्मृत नही कर पाते। इतना ही नही उनका कहानी कहने का ढग इतना रोचक एव कुतूहलवर्धक होता है कि वे आदि से अत तक कथा को सरस एवं आकर्षक बनाए रखते हैं। इसके लिए वे अपनी कथा के कुछ मार्मिक स्थलो को पकड लेते हैं और उन्हें वे उपयुक्त स्थान एव उपयुक्त वातावरण मे उपस्थित करते हैं, जिसके कारण उनकी कथा का सौंदर्य बढ जाता है। उदाहरण के लिए हम उनके 'सोमनाथ' उपन्यास के कथानक को ले सकते हैं। वह आदि से अत तक इसी कारण से रोचक रहा है कि वे उसके मार्मिक स्थलो को अधिक से अधिक स्पर्श कर सके हैं।

आचार्य जी के अधिकाश उपन्यासो के कथानक सगठित हैं। यद्यपि इन उपन्यासो मे दैवी घटना, सयोग तथा आकस्मिकता का भी यत्र-तत्र आश्रय लिया गया है किन्तु इन घटनाओं की योजना इस प्रकार की गई है कि सम्पूर्ण उपन्यास की कथा एक दृष्टि में देखने पर स्वाभाविक शृखलाबद्ध एव सगठित दीख पडती है। परतु यह निश्चित है कि इस प्रकार से आचार्य चतुरसेन जी ने जिन

उपन्यासो की कथा वस्तुओ का सगठन किया है, उनकी कलात्मकता अवश्य न्यून हो गई है।

आचार्य जी के कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिनके कथानक विशृखलित हैं। उदाहरण के लिए हम उनके 'वय रक्षाम' एव 'सोना और खून' उपन्यासो के कथानको को ले सकते है। इन उपन्यासो का प्रवाह सरल अविरल एव अबाध न होकर बीच-बीच मे विच्छिन्न विपर्यस्त सा लगता है। कथा प्रसगो के वर्णन मे प्राय अनुपात का अभाव लक्षित होता है। इनमे कही पर उन्होने किसी प्रसग का अनावश्यक विस्तार कर दिया है तो कही कोई महत्त्वपूर्ण एव मार्मिक प्रसग नितान्त उपेक्षित ही रह गया है। उनके कुछ उपन्यासो के कथानको को उनके सवादो ने भी अधिक विस्तार दे दिया है। इन उपन्यासो मे बात करते-करते अधिकतर पात्र भाषण देने लगते हैं। इस प्रकार के दीर्घकाय सवादो तथा स्वगत तर्क वितर्कों के कारण भी कथा मे अनावश्यक विस्तार आ गया है। जिससे कई स्थलो पर कथानक की गति शिथिल हो गई है। वय रक्षाम मे सस्कृत के सवादो के कारण भी कथानक को भारी आघात लगा है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि इस प्रकार के प्रयोग के द्वारा एक तो उसके कथा प्रवाह मे गतिरोध उत्पन्न हुआ है दूसरे सस्कृत से अनभिज्ञ पाठक उन्हे समझ न पाने के कारण न तो उनका आनन्द ही उठा सकते हैं और न ही उनके द्वारा अभिव्यजित पात्रो के भाव विचारो को ही आयत्त कर पाते हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' का कथानक भी ढीला-ढाला है। जैसा कि हम दिखला आए हैं कि उनके अधिकाश वृहतकाय उपन्यासो मे कितनी ही घटनाए ऐसी प्राप्त होती हैं जिनके बिना भी न तो उपन्यास की प्रभविष्णुता ही न्यून होती और न चरित्र अथवा वातावरण के अकन मे ही कोई त्रुटि आती। मेरा तो विश्वास है कि इस प्रकार की घटनाओ को निकाल देने से आचार्य जी के उपन्यास अधिक सुसगठित एव कलापूर्ण हो सकते थे। आचार्य जी के 'सोमनाथ' 'गोली' आदि सुगठित उपन्यासो मे यह निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नही दीख पडती। इन उपन्यासो मे उन्होंने उतना ही कहा है जितना कहना चाहिए और बडे ही नाटकीय एव कलात्मक ढग से उपयुक्त स्थल पर ही उन्होंने कहानी शेष भी कर दी है। यही कारण है उनके इस प्रकार के सुगठित उपन्यासो के कथानको का उत्थान विकास और उनकी समाप्ति सभी कुछ नमित एव कलात्मक हैं।

आचार्य जी के अधिकाश उपन्यासो के कथानक उलझे हुए हैं, इसका प्रमुख कारण है कि उन्होंने इनमे एक स्त्री के दो प्रेमी या एक पुरुष की दो

प्रेमिकाओं को एक साथ ला रखा है। इससे कथानक की उलझन बढ़ने के साथ-साथ उसमें रोचकता एवं कुतूहल का भी समावेश हो गया है। उदाहरण के लिए हम उनके 'हृदय की प्यास' 'अदल बदल', 'सोमनाथ', रक्त की प्यास', 'आभा', 'पत्थर युग के दो बुत' आदि उपन्यासों के कथानकों को ले सकते हैं।

आचार्य जी के अधिकांश कथानक प्रेम के धरातल से निर्मित हैं। उनके उपन्यासों में प्रणय कथाओं को प्रमुख स्थान मिला है। वास्तव में यह प्रणय कथाएँ ही उनके प्रायः सभी उपन्यासों की स्पन्दन हैं, उन्हें गति एवं सजीवता प्रदान करती हैं।

आचार्य जी के कथानकों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी मौलिकता। जैसा कि हम पीछे दिखा चुके हैं कि उनके अधिकांश उपन्यासों में कथानक की मौलिकता, विषय की नवीनता, नवीन घटनाओं की कल्पना एवं उनके प्रतिपादन की मौलिक पद्धति, प्राप्त होती है।

आचार्य जी के समस्त कथानकों को देखने में एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि उनके उपन्यासों के कथानकों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। हिंदी के सम्भवतः किसी भी उपन्यासकार ने अभी तक इतने व्यापक क्षेत्र से अपनी कथाओं का निर्वाचन नहीं किया है। उनके उपन्यासों के कथानक केवल एक काल से अथवा एक देश से ही सम्बन्धित नहीं हैं, वरन् उन्होंने अपने कथानकों के लिए रामायण काल से लेकर बीसवीं शताब्दी तक की कथाएं ली हैं। उनके उपन्यासों का घटना क्षेत्र भी अत्यन्त विशाल है। जैसा कि हम उनके कथानकों का विवेचन करते समय देख चुके हैं कि उनके उपन्यासों का घटना क्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित नहीं वरन् विश्व के प्रमुख देशों तक व्याप्त है। उदाहरण के लिए हम उनके 'सोना और खून' के कथानक को ले सकते हैं। उनके 'खग्रास' उपन्यास के कथानक को देखकर कहा जा सकता है कि चन्द्रलोक भी उनके उपन्यासों के घटना क्षेत्र से बाहर नहीं जा पाया है। अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों का घटना क्षेत्र पृथ्वी से आकाश तक परिव्याप्त है।

अध्याय—४

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों के पात्र और चरित्र-चित्रण

पात्र और चरित्र-चित्रण

जिस प्रकार से संसार का अस्तित्व-जिसमे कि हम विचरण करते हैं—प्राणि-मात्र पर निर्भर है, उसी प्रकार से किसी भी कथानक की आधार शिला भी उसके पात्र हैं। जिस प्रकार से हम बिना प्राणियों के संसार की कल्पना नही कर सकते, उसी प्रकार से पात्रो के अभाव मे किसी कथानक की भी कल्पना करना असम्भव है। इसी कारण से पात्र को उपन्यास-कला मे कथानक के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण तत्व माना गया है।

चरित्र—

"चरित्र से तात्पर्य है पात्र या मनुष्य के व्यक्तित्व का बाह्य और आन्तरिक स्वरूप। मनुष्य का बाह्य (उसका आकार-प्रकार, वेश-भूषा, आचार-विचार, रहन-सहन, चाल-ढाल, बातचीत का निजी ढग तथा कार्यकलाप) उसके अन्त-करण का बहुत कुछ प्रतीक होता है।"[1] उसका यह 'अन्त' क्या है ? मनोवैज्ञानिक मानव के चरित्र के अन्तर्गत उसके आन्तरिक गुणों पर ही विचार करते हैं। सुप्रसिद्ध शिक्षा मनोवैज्ञानिक रास का मत है कि चरित्र हमारी मूल-प्रवृत्तियो तथा स्थायी भावो से सुसगठित शासक स्थायी-भाव है। इस सगठन की पूर्णता या शैथिल्य पर ही चरित्र की सबलता और दुर्बलता निर्भर है।"[2] मूलप्रवृत्ति प्राणियों में पाई जानेवाली एक जन्मजात मानसिक गठन या वृत्ति है। यह वृत्ति दी हुई परिस्थितियो मे प्राणी की गति विधि विशेष को निश्चित करती है। मैग्डूगल ने चौदह मूल-प्रवृत्तियाँ—सन्तान-कामना, युयुत्सा, कुतूहल, योगमान्वेषण, विरक्ति, पलायन, सामूहिकता, आत्म-गौरव, दैन्य, काम-प्रवृत्ति, विधायक-वृत्ति, शरणागति तथा हासवृत्ति स्वीकार की है।"[3] इन्ही के आधार पर सम्बद्ध

---

१. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय पृ० १७८।

२. एजूकेशनल साइकालोजी रास पृ० १२९।

३. एजूकेशनल साइकालोजी रास पृ० ५९ से ६२ तक।

वात्सल्य-स्नेह, क्रोध, आश्चर्य, भूख-प्यास तथा घृणा आदि १४ सवेग उसने माने हैं।"[1]

"सुख, दु:ख, पीडा आदि आतरिक राग कहलाती हैं। किसी कारण से जब ये राग सबल रूप धारण कर व्यक्त हो उठते हैं, सवेग कहलाते हैं। जब अनेक सवेग किसी एक वस्तु व्यक्ति अथवा विचार से सम्बद्ध हो हमारे मन मे एक सस्कार उत्पन्न कर देते हैं उस समय मानसिक गठन मे सस्कारो का यह स्थायी सगठन स्थायी भाव की सज्ञा पाता है।"[2]

"अत मनुष्य के व्यक्तित्व का आतरिक पक्ष उसके हाड मास के बाह्य व्यक्तित्व के किसी कोने म, अत करण मे, सुप्त सा छिपा रहता है। चरित्र-चित्रण करते समय उपन्यासकार पात्र के आतरिक गुणो को गुह्य अधकार से जगत के प्रकाश मे लाने के उद्योग मे लगा रहता है। वह पात्र की मूल प्रवृत्तियो, सवेगो तथा स्थायी भावो को गिनता नही वरन् ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है कि जिनसे पात्र का सघर्ष होने पर उसके दबे-ढके गुण स्वत स्वाभाविक रूप से बाहर उभर आयें। इस प्रकार पात्रो के चरित्र को स्पष्ट और विकसित करने का कार्य परिस्थितियो, घटनायें या उपन्यास की कथा स्वत करती है। चरित्र का विकास शनै शनै होने पर ही उसकी स्वाभाविकता और आकर्षण की रक्षा सम्भव है।'[3]

पात्रों का वर्गीकरण

सभी पात्र समान नही होते। कुछ आदर्श होते हैं तो कुछ साधारण कुछ मे मानवीय गुणो की प्रचुरता होती है तो कुछ मे अमानवीय गुणो का बाहुल्य। कभी एक ही पात्र किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करता हुआ अग्रसर होता है, तो कभी कोई अपना निज का व्यक्तित्व प्रस्फुटित करता हुआ सामने आता है। इस दृष्टि से हम पात्रो को निम्न दो वर्गों मे रख सकते हैं—

१ वर्गगत, प्रतिनिधि या सामान्य पात्र—जब पात्र अपनी कुछ सामान्य विशेषताओं के कारण किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करने लगे।

२ व्यक्तित्व प्रधान-पात्र—अपनी निज की विशेषताओ के कारण यह उपन्यास के अन्य पात्रो से किंचित भिन्न एव विलक्षण होते हैं।

---

१. उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० शशिभूषण सिंहल पृ० १३८।

२. शिक्षा मनोविज्ञान की रूप रेखा विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी पृ० १२१ १२९।

३. उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिंहल पृ० १३८ से १३९ तक।

किंतु जहाँ तक वर्ग गत एव व्यक्तित्व प्रधान पात्रों का प्रश्न है, किसी भी उपन्यास के पात्रो का निर्माण इस कसौटी पर कस कर नही किया जाता। एक साधारण पात्र मे सामान्य एव व्यक्तित्व दोनो ही प्रकार की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। जब उसमे सामान्य गुणो का आधिक्य हो जाता है तो उसे हम वर्गगत पात्र और जब उसमें व्यक्तित्व प्रधान गुणो का बाहुल्य हो जाता है तो उसे व्यक्तित्व प्रधान पात्र कहते हैं। वर्गगत पात्रो मे भी केवल उस समाज विशेष मे प्राप्त होने वाले सामान्य गुण ही नहीं वरन् कुछ गुण उनके निज के व्यक्तित्व को प्रकट करने वाले भी रहते हैं। यह गुण पात्र विशेष स्वय अपने साथ लाता है उस वर्ग विशेष मे उन गुणो का होना अनिवार्य नहीं है।

वास्तव मे उसी पात्र का चरित्र चित्रण अधिक सफल कहा जाता है जिसमे सामान्य एव विशेष दोनो ही गुणो का सानुपातिक समन्वय हो। सामान्यता एव विलक्षणता दोनो के ही अतिरेक से पात्र निर्जीव एव अस्वाभाविक हो जाते हैं।

कुछ विद्वानो ने पात्रो का एक अन्य विभाजन भी किया है। उनके अनुसार पात्रो को दो भागो मे रखा जा सकता है—

१ स्थिर
२ गतिशील या परिवर्तनशील

'स्थिर चरित्रो मे बहुत कम परिवर्तन होता है। और गतिशील चरित्रो मे उत्थान और पतन अथवा पतन और उत्थान दोनो ही बातें होती हैं।'[१]

श्री ई० एम० फास्टर ने कुछ इसी से मिलता-जुलता पात्रो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उसने पात्रो के 'फ्लैट' तथा 'राउन्ड' दो भेद किये है। 'फ्लैट' वह उन चरित्रो को मानता है, जो मूलत एक ही विचार या विशेषता के चारो ओर उसी को केन्द्र मानकर घूमते रहते हैं। जैसे ही उनका यह केन्द्र गत विचार या विशेषता एक से अधिक हो जाती है, तब उन्हे 'राउड' कहा जाता है। इस प्रकार तो ये दोनो ही प्रकार के पात्र सहज ही पहचाने जाने योग्य होते है। उन्हें पाठक बहुत सरलतापूर्वक स्मरण रख सकता है। चूंकि परिस्थितियो के परिवर्तन का उन पर कोई प्रभाव नही पडता, इसलिए वे सदा समान विशेषताएँ रखते हैं।[२]

---

१. काव्य के रूप—डा० गुलाबराय पृ० १७९।

२. हिन्दी उपन्यास मे कथा-शिल्प का विकास डा० प्रतापनारायण टडन पृ. ८८।

चरित्र-चित्रण की शैलियां

उपन्यासकार चरित्र चित्रण के लिए प्राय निम्न दो प्रकार की शैलियों का अवलम्बन करता है —

१ विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष (एनोलिटिक)

२ नाटकीय या अभिनयात्मक अथवा परोक्ष (ड्रामेटिक)

१. विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष —

इसमे उपन्यासकार स्वय अपने पात्रो को निसग दृष्टि से देखता है और एक वैज्ञानिक या आलोचक की भांति उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म भावो, विचारो, मनोवृत्तियो आदि का तटस्थ भाव से विश्लेषण प्रस्तुत करता जाता है और कभी-कभी उस पात्र विशेष के सबध मे अपना स्वय का मत या निर्णय भी दे बैठता है। इससे पाठक को स्वय अपना निर्णय अथवा मत निश्चित करने का कष्ट नही उठाना पडता, जिससे वह पात्रो को अपना आत्मीय नही समझ पाता। जब भी वह पात्र को अपना आत्मीय समझना चाहता है, अथवा उसे निकट से देखना चाहता है, लेखक स्वय एक मध्यस्थ के रूप मे पात्र और पाठक के मध्य आ उपस्थित होता है। इससे पाठक, पात्र को स्वय अपना सा न समझकर एक दूर का व्यक्ति समझने लगता है, जिससे उसका पूर्ण साधारणीकरण नही हो पाता। लेखक की पग-पग पर उपस्थिति के कारण पाठक, पात्र को एक विदेशी के समान ही समझता रहता है, जिससे कि वह उसकी भाषा न ज्ञात होने के कारण एक 'दुभाषिए' के द्वारा वार्तालाप करता है। इस पद्धति का यदि कुछ अशो मे प्रयोग किया जाय तो पाठक को चरित्र को समझने मे सरलता रहती है किंतु इस पद्धति का अधिक प्रयोग उपन्यास को बोझिल बना देता है। पग-पग पर पाठको को सम्बोधित करते हुए चलना, स्थान-स्थान पर अपनी उपस्थिति का आभास देते रहना, पात्रो के विषय मे पाठक के स्वय के निर्णय की उपेक्षा कर अपना स्वय का आधिकारिक निर्णय दे बैठना, गौण पात्रो को अपने व्यक्तित्व के परिपार्श्व मे छिपा कर स्वय पाठकों के समक्ष आ उपस्थित होना, उपन्यासकार की अनुभवहीनता एव उपन्यासकला के प्रति उसकी अनभिज्ञता के द्योतक हैं। ऐसी दशा मे उपन्यासकार के पात्र स्वयं अपना व्यक्तित्व नहीं निखार पाते, वे प्रत्येक क्रियाकलाप को कार्यान्वित करते समय अपने निर्माता उपन्यासकार के मुखापेक्षी रहते हैं जिससे वे सजीव पात्र न रह कर कठपुतली के पात्रो के समान आचरण करने लगते है। अतएव यह नितान आवश्यक है कि उपन्यासकार इस पद्धति का प्रयोग सतर्कता एव सयमपूर्वक करे।

किंतु इससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नही है कि इस पद्धति की सर्वथा उपेक्षा की जाय। इसका सर्वथा बहिष्कार करने पर हम औपन्यासिक क्षेत्र मे मिले अभिव्यक्ति के एक नवीन साधन से अनायास हाथ धो बैठेंगे। नाटक रचना मे विश्लेषणात्मक पद्धति का कोई स्थान नही है किंतु उपन्यासकार इसका प्रयोग करने के लिए स्वतत्र है। अत उपन्यासकार को इस स्वाभाविक देन से वचित करने का अर्थ होगा उसकी स्वतत्रता का हनन तथा उस पर नाटककार को बलपूर्वक थोपना।[1]

२. नाटकीय या अभिनयात्मक —

इसमे उपन्यासकार पात्रो की सृष्टि करके उन्हें कार्य क्षेत्र मे विधाता की भाँति छोड़कर स्वय दूर जा खड़ा होता है। पात्र कार्य क्षेत्र मे प्रवृत्त होकर स्वय अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित करते हैं। उनके कार्यकलाप, पारस्परिक कथोपकथन, स्वगत कथन एव अतर्द्वद्व द्वारा ही उनका चरित्र स्वय स्पष्ट होता चलता है। पात्र विभिन्न परिस्थितियो मे पड़कर घात-प्रतिघात सहता हुआ उत्कर्ष-अपकर्ष को पार करता हुआ अपने निकटस्थ पात्रो का स्वय विश्लेषण करता हुआ रगस्थली पर अभिनय करता जाता है। उपन्यासकार की यह सृष्टि भी विधाता की सृष्टि की भाँति अपरोक्ष से सचालित होती है। एक बार पात्र की सृष्टि करने के पश्चात् उपन्यासकार उसे अपने पैरो पर चलने देता है, अपने स्वय के गुणो अवगुणो पर अपने भविष्य का निर्माण करने की स्वतत्रता देता है। उपन्यासकार स्वय विधाता की भाँति सृष्टा होते हुए भी पाठक की भाँति दृष्टामात्र रह जाता है। वह भी अन्य पाठको की भाँति तटस्थ भाव से अपने निर्मित पात्र के एक एक गुण अवगुण को अनावृत होते देखता है। पाठक के समान ही वह उसमे रस लेता है। पाठक भी पात्र के प्रति उतनी ही आत्मीयता का अनुभव करता है, जितना स्वय लेखक। इस पद्धति के द्वारा लेखक पात्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियो का उद्घाटन अपरोक्ष मे रहते हुए भी करने मे पूर्ण सफल रहता है। पात्रो के कथोपकथन लम्बे विश्लेषणात्मक वर्णनों से कही अधिक रोचक एव प्रभावशाली होते हैं।

किंतु इसका यह अर्थ नही है कि उपर्युक्त दोनो शैलियाँ परस्पर विरोधिनी हैं। डा० भगीरथ जी मिश्र ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है 'इसमे (नाटकीय शैली मे) भी पृष्ठभूमि मे उपन्यास-लेखक विश्लेषण-पूर्ण विवरण

१. दि स्टडी आफ लिट्रेचर पृ- १९४, पृ. १४० उद्धत उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिंहल।

प्रस्तुत करता है। यह सोचना कि एक शैली सर्वथा दूसरी से निरपेक्ष रूप मे आती है, भ्रमात्मक है। एक को अधिक आधुनिक समझना भी उचित नही, क्योंकि मनोवैज्ञानिक गुत्थियो के स्पष्ट करने के लिए विश्लेषण की आवश्यकता पडती है। अत उद्देश्य और चरित्र के अनुसार इन दो मे से जो शैली अधिक उपयुक्त हो उसका प्रयोग करना चाहिए। वास्तव मे आजकल के सफल उपन्यासो मे समन्वित शैली का उपयोग होना है। जिसमे नाटकीय और विश्लेषणात्मक दोनो विधियाँ यथावश्यक रूप मे प्रयुक्त होती हैं।'[1]

आचार्य जी ने अपने प्रौढ उपन्यासो मे समन्वित शैली का ही प्रयोग किया है। अपने प्रारम्भिक उपन्यासो यथा 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'बहते आँसू', 'आत्मदाह', 'पूर्णाहुति' आदि मे उन्होने विश्लेषणात्मक पद्धति का खुलकर प्रयोग किया है। इन उपन्यासो मे स्थान-स्थान पर वे पाठको को सम्बोधित करते चले हैं।[2] परन्तु अपने आगे के उपन्यासो यथा—'नगरवधू', 'सोमनाथ' आदि मे उन्होने इन दोनो ही पद्धतियो का परिष्कृत एव सतुलित प्रयोग किया है। इन उपन्यासो मे दोनो प्रणालियो का समन्वय अवश्य है किन्तु फिर भी इनमे विवरण का प्रयोग अपेक्षाकृत न्यून ही है। अपने पात्रो के विषय मे उसने स्वय एकाध वाक्य ही कहा है। उसके यह वाक्य आप्त वाक्य के रूप मे अन्त तक सहायता देते हैं। इन वाक्यो मे उसके उस पात्र के चरित्र का बीज रहता है। जो परिस्थिति, कार्य व्यापार, कथोपकथन, स्वगत कथन आदि उपकरणो के द्वारा पल्लवित होता चलता है। उदाहरण के लिए हम उसके 'सोमनाथ' उपन्यास मे चित्रित भीमदेव, महमूद एव गग सर्वज्ञ के चरित्रों को ले सकते हैं। इन तीनों ही पात्रो के विषय मे उसने उपन्यास के प्रारम्भ मे (निर्मलिया नामक अध्याय मे) जो शब्द कहे हैं[3], उनसे जिन विशेषताओ को उसने ध्वनित करना चाहा है—वही विशेषताएँ उपन्यास मे आदि से अत तक भिन्न-भिन्न अवसरों और परिस्थितियो मे किसी न किसी रूप मे व्यक्त होती रही हैं।

पात्र और कथानक

उपन्यास के सभी तत्वों मे कथानक और पात्र का महत्व सबसे अधिक है। दोनो मे किसका महत्व अधिक है इस पर भी विद्वानो के विभिन्न मत हैं। कुछ

---

१. काव्यशास्त्र-डा० भगीरथ मिश्र-पृ० ८६।
२. बहते आँसू-पृ० ९६।
३. सोमनाथ-पृ० ८, ९।

विद्वान उपन्यास के सभी तत्वो मे कथानक को सर्वप्रमुख स्थान देते हैं 'उपन्यास के सभी तत्वो मे कथानक सर्वप्रमुख है'[१] दूसरी ओर कुछ विद्वान् पात्रो को उपन्यास मे कथानक से अधिक महत्वपूर्ण बतलाते हैं। उनका मत है 'पात्रो का क्रियाकलाप कथा को जन्म देता है और कथा की नूतन परिस्थितियाँ पात्रो को उनका व्यक्तित्व विकसित करने का अवसर प्रदान करती हैं। यदि दोनो मे से किसी एक के अपेक्षाकृत अधिक महत्व का प्रश्न उठाया जाय तो उपन्यास मे पात्र निश्चित रूप से अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार करने होंगे। उपन्यास का ध्येय है मानव चरित्र का चित्रण। इस चरित्र के चित्रण के हेतु घटनाओ का सयोजन आवश्यक है। अत उपन्यास मे साध्य है मानव-चरित्र का चित्रण और साधन है घटनाए। यही घटनाए कथानक हैं। यदि इन घटनाओ को शृ खलाबद्ध कर एक लक्ष्य की दिशा मे सयोजित कर दिया जाय तो कथा की रोचकता की दृष्टि से आकर्षण तथा लक्ष्य विशेष की दृष्टि से महत्व कहीं अधिक हो जाए।'[२] किंतु मेरा विचार है कि इन दोनो ही तत्वो का उपन्यास मे समान महत्व है। बिना कथानक के पात्र स्वच्छन्द हो जावेंगे, उनके विकास का कोई लक्ष्य न होगा और बिना पात्रों के कथानक यन्त्रचालित सा एव अस्वाभाविक हो जावेगा। अतः यह दोनो ही तत्व मूल मे एक दूसरे से सम्बधित हैं। अत इन दोनो के बीच सतुलन का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों के पात्रों का वर्गीकरण

आचार्य जी के कुछ प्रमुख एव गौण पात्रो की सख्या एक सहस्त्र के लगभग है। इनमे वे पात्र भी सम्मिलित हैं जो कुछ समय के लिए पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके लुप्त हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त राह चलते पात्रो की सख्या तो असख्य है। इन समस्त पात्रो को हम चार वर्गों मे रख सकते हैं—

१ कथा को गति प्रदान करने वाले प्रमुख पात्र ;
२ कथा को गति प्रदान करने वाले सहायक पात्र ;
३ काल विशेष के परिचायक व्यक्तित्व-प्रधान पात्र;
४. कथा प्रवाह मे गौण, क्षणिक स्थान ग्रहण करने वाले पात्र।

आचार्य जी के उपन्यासो मे पात्रो की सख्या बढाने का दायित्व अन्तिम वर्ग के पात्रो पर ही है। ऐतिहासिक उपन्यासो मे तृतीय वर्ग के पात्रो की सख्या

१- हिन्दी उपन्यास के कथा शिल्प का विकास-डा०प्रतापनारायण टंडन-पृ. १०-११
२. उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिहल-पृ०-१४१।

भी अधिक है । परतु वास्तव मे उपन्यास की कथा को गतिशील बनाने मे प्रथम और द्वितीय वर्ग के पात्रो का ही महत्व है। इस प्रकार के पात्रो की सख्या आचार्य जी के समस्त उपन्यासो मे केवल २५५ है। इन पात्रो के चरित्र की रेखाए पर्याप्त उभरी हुई एव पुष्ट हैं। इन प्रमुख पात्रो मे केवल १०६ पात्र उनके उपन्यासो के नायक[१] प्रतिनायक, खलनायक एव नायिकाए हैं। जिनको हम प्रथम वर्ग मे और शेष को द्वितीय वर्ग मे रख सकते हैं।

आचार्य जी के इन समस्त पात्रो को हम प्रथम दो वर्गों—पुरुष एव नारी पात्र—मे विभक्त कर लेते हैं। ये पात्र वर्गगत भी हैं और व्यक्तिनिष्ठ भी। स्थिर भी हैं गतिशील भी। 'फ्लैट भी हैं और राउन्ड' भी। किंतु हम आचार्य चतुरसेन जी के समस्त पात्रो को उपन्यास के कथानक की दृष्टि से निम्न तीन वर्गों मे रख सकते हैं —

१ पौराणिक पात्र—पुरुष—रावण, राम, मेघनाद, लक्ष्मण आदि
नारी—शूर्पणखा, सीता, मन्दोदरी, माया आदि

२ ऐतिहासिक पात्र—पुरुष—सोमप्रभ, बिम्बसार, भीमदेव, महमूद आदि
नारी—अम्बपाली, चौला, सयोगिता आदि

३ सामाजिक पात्र—पुरुष—दिलीप, सुधीन्द्र, किसुन आदि
-- नारी—माया, सुधा, हुस्नबानू, चम्पा आदि

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार भी हम आचार्य जी के पात्रो को निम्न तीन वर्गों मे रख सकते हैं —

१. वर्गगत या प्रतिनिधि पात्र;
२ व्यक्तित्व प्रधान पात्र,
३ अलौकिक या असाधारण पात्र।

---

१ प्राचीन आदर्शों और वर्तमान आदर्शों में इस बात का अन्तर हो गया है कि पहले नायक प्रख्यात और उच्चकुलोद्‌भव होता था, अब होरी किसान भी उपन्यास का नायक बन जाता है। पहले प्रख्यात नायक इसीलिए रहता था कि जिससे सहृदय पाठकों का सहज में तादात्म्य हो जाय, अब लोगों की मनोवृत्तिया कुछ बदल गई हैं। आभिजात्य का अब उतना मान नहीं रहा है, इसीलिए होरी के सम्बन्ध में पाठकों का सहज ही तादात्म्य हो जाता है। पात्र के कल्पित होने में भी उसके साधारणीकरण में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि वह प्रायः अपनी जाति का प्रतिनिधि होता है।
सिद्धान्त और अध्ययन पृ. २८० साथ ही देखिए हिन्दी उपन्यास पृ १६-१७ तथा समीक्षा के सिद्धान्त पृ १३९-१४०।

वर्गगत पात्र

राजवर्ग एव सामन्त वर्ग—

आचार्य जी के पौराणिक एव ऐतिहासिक उपन्यासो के अधिकाश पात्र राजवर्ग एव सामन्त वर्ग के ही हैं। इन दो प्रकार के पात्रो की इच्छा पूर्ति के लिए कितने ही साधारण श्रेणी के पात्र निर्धन एव शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। इनका स्वय का कोई अस्तित्व नही, कोई स्वतत्र व्यक्तित्व नही। किसी न किसी प्रकार से उनका सम्बन्ध राजवर्ग या सामन्त वर्ग के पात्रो से स्थापित मिलता है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासो के कथानको को गति एव प्रवाह प्रदान करने का श्रेय उनके राज एव सामतवर्गीय पात्रो पर ही है। उनके 'गोली' एव 'उदयास्त' नामक सामाजिक उपन्यासो मे भी कथा इन्ही दो वर्गों के पात्रो के चारो ओर घूमती हुई देख पड़ती है। इस वर्ग के पात्र और इनसे सबधित पात्रो को हम शासक और शासित (शोषित) वर्गों मे रखकर देख सकते हैं। दोनो ही वर्गों म भले और बुरे, सज्जन और दुर्जन दोनो ही प्रकार के पात्र मिलते हैं।

शासक और शासित दोनो ही वर्गों के पात्रो के भी तीन प्रकार हैं। शासक वर्ग की प्रथम श्रेणी मे हम उन पात्रो को रख सकते हैं, जो आदर्श शासक हैं जनता की रक्षा जिनका आदर्श है। वे ईमानदार, वीर, साहसी और अपने लक्ष्य के लिए दृढ सकल्प हैं। दूसरे वे जो किसी सद्उद्देश्य के लिए ही अपनी शक्ति का व्यय करते हैं। जैसे घोघाबापा, धर्मगजदेव, दद्दा चौलुक्य, भीमदेव, दामो मेहता, सामन्तसिंह, सज्जनसिंह, दुर्लभराय आदि (सोमनाथ) सोमप्रभ (नगरवधू) राम, लक्ष्मण, मेघनाद (वय रक्षाम) शिवाजी (सह्याद्रि की चट्टानें) सगार जी (लाल पानी) राजा हरपाल (बिना चिराग का शहर) आदि। दूसरी श्रेणी मे हम उन वीर किंतु विलासी राजाओ, नव्वाबो, बादशाहो, सामन्तो आदि को रख सकते हैं जो केवल मात्र सुदर स्त्री को प्राप्त करने के लिए तलवारें खटकाने को सदैव तत्पर रहते हैं। वे वीर हैं किंतु बुद्धिमान नहीं। वे सुन्दरी और भूमि को वीर भोग्या मानने के अभ्यासी हैं। इस प्रकार के पात्रो मे हम महमूद, मसऊद (सोमनाथ) बिम्बसार, दधिवाहन, विड्डम (नगरवधू) रावण (वय रक्षाम) पृथ्वीराज, गोरी (पूर्णाहुति) कुमारपाल, अजयपाल, भीमदेव (रक्त की प्यास) औरगजेब (आलमगीर) मलिक काफ़र उगलू खाँ (बिना चिराग का शहर) आदि को रख सकते हैं।

शासक वर्ग की तीसरी श्रेणी मे हम उन पात्रो को रख सकते हैं जो केवल नाममात्र के शासक हैं। जिनके जीवन का प्रधान लक्ष्य केवल भोग करना मात्र है। तल्वार केवल उनका आभूषण मात्र है। वे कायर, डरपोक,, शिथिल, प्रमादी, लोलुप, कामुक विलासी एवं स्वेच्छाचारी हैं। आचार्य जी के उपन्यासो मे इस प्रकार के पात्रो का बाहुल्य है। प्रसेनजित, सूर्यदेव, हर्षदेव, (नगरवधू) अजयपाल, चामुंडराय (सोमनाथ) शाहजहाँ, दारा, शुजा (आलमगीर) महाराजाधिराज (गोली) नवाब जहाँगीर, वजीरअली (धर्मपुत्र) राजा रुद्रप्रताप (उदयास्त) आदि पात्रो को हम इसी श्रेणी मे रख सकते हैं।

राज एवं सामंत वर्ग के नारी पात्र भी तीन प्रकार के हैं। प्रथम वे जिनमे राजपूती गौरव कूट-कूट कर भरा हुआ है, जो अपनी मर्यादा रक्षा के लिए प्राणो तक का उत्सर्ग करने को तत्पर रहती हैं। अपने स्वार्थ के लिए नही वरन् परमार्थ के लिए त्याग करती है। इनके जीवन का उद्देश्य महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार की नारी पात्रियाँ उत्सर्ग की भावना से पूर्ण होती हैं। जैसे कलिंगसेना, चन्द्रप्रभा, रोहिणी (नगरवधू) सीता, मदोदरी, सुलोचना (वयरक्षाम) हुस्नबानू (धर्मपुत्र) कुँवरी (गोली) चौला, शोभना, रमा (सोमनाथ) बेगम शाइस्ताखाँ (आलमगीर) लक्ष्मीबाई (सोना और खून) मजुघोषा देवागना आदि। दूसरी श्रेणी मे हम उन नारी पात्रो को रख सकते हैं, जो वीर तो हैं किंतु उनका उद्देश्य दूषित है। उनके सामने अपना, अपने प्रेमी का ही स्वार्थ रहता है, देश और जाति के गौरव की उन्हें चिंता नही होती। अम्बपाली (नगरवधू) सूर्पनखा, मायावती (वयरक्षाम) इच्छनी कुमारी (रक्त की प्यास) आदि।

इस वर्ग की तीसरे प्रकार की नारी पात्र वे हैं जिनके जीवन का उद्देश्य केवल मात्र भोग है। जिनके समीप मर्यादा नाम की कोई चीज नही। जो केवल मात्र पुरुष मात्र की भोग सामग्री बनकर जीवनयापन करती हैं। जैसे जहाँआरा, रोशनआरा, हीराबाई (आलमगीर) देवलदेवी (बिना चिराग का शहर) चन्द्रमहल (गोली) आदि।

शोषित वर्ग के पात्रों को भी हम इसी प्रकार तीन श्रेणियो में रख सकते हैं। इसकी प्रथम श्रेणी मे हम उन पात्रो को रख सकते हैं, जिनके जीवन का प्रधान लक्ष्य अपने स्वामी के लिए ही उत्सर्ग करना मात्र होता है। उनका जीवन लड़ने-भिड़ने और अन्नदाता की सेवा मे जूझ मरने मे ही जाता है। ये स्वामिभक्त, सच्चे, ईमानदार, वीर, साहसी एवं त्यागी होते हैं। इनके लिए दाता की आज्ञा ही सब कुछ होती है। इस श्रेणी के पात्रों में हम विभिन्न

उपन्यासों में प्राप्त सच्चे एवं स्वामिभक्त सैनिक पात्रों को ले सकते हैं। जैसे—हनुमान, (वय रक्षाम) तानाजी (सह्याद्रि की चट्टानें) कान्ह, चन्द (पूर्णाहुति) छच्छर बूटा (लाल पानी) आदि। हनुमान के लिए प० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन सत्य ही है 'सेवक में जो-जो गुण चाहिए, सब हनुमान में लाकर इकट्ठे कर दिये गए हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है निरलसता और तत्परता स्वामी के कार्यों के लिये, सब कुछ करने के लिये, उनमें हम हर समय पाते हैं। सेवक को अमानी होना चाहिए। प्रभु के कार्य साधन में उसे अपने मान अपमान का ध्यान न रखना चाहिए।'[१] लगभग सभी गुण 'वय रक्षाम' के हनुमान में भी प्राप्त हैं।

दूसरी श्रेणी में हम उन पात्रों को ले सकते हैं, जो वीर, साहसी एवं बुद्धिमान हैं किंतु वे अपनी शक्ति का उपयोग तभी करते हैं जब उनकी बुद्धि एवं आत्मा प्रेरित करती है। वे स्वामी के दास तो होते हैं किन्तु अन्धदास नहीं, कहीं-कहीं तो वे स्वामी के भी अभिभावक बन जाते हैं। इसी श्रेणी में हम उन पात्रों को भी रख सकते हैं जो अक्खड़, उद्दण्ड एवं सनकी होने के कारण अपनी मनमानी शासक के नाम पर करते हैं। जैसे लालजी खवास, वासुदेव महाराज, गंगाराम गोल्ह (गोली) आदि।

शासित पात्रों की तीसरी श्रेणी में हम उन पात्रों को ले सकते हैं जो सामन्तशाही शोषण के प्रतीक हैं। जो अपने शासकों का अत्याचार सहन करके भी मूक हैं। वे अत्याचारों के विरुद्ध जिह्वा खोलना चाहते हैं, किंतु उससे पूर्व ही जिह्वा विहीन कर दिए जाते हैं। उनके शासन, उनकी शक्ति को, उनकी बुद्धि को, उनकी मर्यादा को धन और शक्ति पर क्रय कर लेते हैं। धर्म और समाज के कृत्रिम बंधनों के द्वारा भी ऐसे निरीह पात्रों को जकड़ दिया जाता है। आचार्य जी के उपन्यासों में सबसे करुण इसी श्रेणी के पात्र हैं। जैसे किसुन (गोली)।

शासित वर्ग की नारी पात्रियां भी इसी प्रकार तीन श्रेणियों में रखी जा सकती हैं। प्रथम श्रेणी में हम उन पात्रियों को रख सकते हैं जिनके जीवन का उद्देश्य केवल मात्र स्वामिनी की सेवा करना मात्र है। वे अपनी स्वामिनी के लिए ही अपने जीवन को उत्सर्ग कर देती हैं। इस श्रेणी में हम एक सीमा तक शोभना (सोमनाथ) के चरित्र को रख सकते हैं। दूसरी श्रेणी में हम उन पात्रियों को ले सकते हैं जिनमें उत्सर्ग की भावना होते हुए भी स्वयं का विवेक

१. तुलसी ग्रन्थावली तीसरा खंड प० रामचन्द्र शुक्ल प्रस्तावना पृ. १९४।

होता है। ऐसी पात्रियां अपने गुणो का सदुपयोग कर धूर्त शासक को अपनी उंगलियो पर नचाया करती है। शोभना (सोमनाथ) के चरित्र मे इस वर्ग के भी कुछ गुण प्राप्त होते हैं। तीसरी श्रेणी मे हम उन पात्रियो को ले सकते हैं जिनको अपने रूप के कारण ही सामन्तशाही के अत्याचारो को सहन करना पडता है। इनमे से कुछ इन अत्याचारो को सहन करते हुए ही जीवन त्याग देती हैं। और अन्त तक अपने सतीत्व की रक्षा करती हैं, और कुछ ऐसी है जो मूल्य लेकर अपने को बेच देती हैं अथवा विवश होकर उन्हें ऐसा करना पडता है। जैसे चम्पा केसर (गोली)

इसके अतिरिक्त इसी वर्ग मे हम उन पात्रो को भी रख सकते हैं जो शासक वर्ग के आश्रित होने हुए भी उनके द्वारा शासित नही है। इस श्रेणी मे हम विद्वत् समाज एव कलाकार वर्ग को रख सकते हैं। इस वर्ग के पात्र अपने दुर्लभ गुणो के कारण पूज्य हैं। शासक उनको अपना आश्रय देकर अपने को ही गौरवान्वित अनुभव करता है। जैसे गग सर्वज्ञ (सोमनाथ), वशिष्ठ, विश्वामित्र (वय रक्षाम) गौतमबुद्ध, महावीर, बादरायण, व्यास, श्रोत्रिय भारद्वाज, कात्यायन शौनक, बोधायन, शाम्बव्य (नगरवधू) आदि।

कुछ अन्य वर्गगत पात्र—

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासो मे राजवर्ग एव सामन्त वर्ग से सम्बधित पात्रो के अतिरिक्त भी कितने ही अन्य वर्गों के पात्र आते हैं। उनके उपन्यासो मे समाज द्वारा शोषित वर्गों के पात्र भी हैं। इस प्रकार के पात्रों मे हम हिन्दू समाज की विधवाओ एव पग-पग पर प्रताडित अन्य विभिन्न नारी पात्रो को रख सकते है। जैसे सुशीला, भगवती नारायणी, कुमुद, मालती (बहते आंसू) राज (अपराजिता) विमलादेवी (अदल-बदल) पद्मा, गोमती (बगुला के पख) आदि।

आधुनिक युग मे उत्पन्न कितने ही नवीन वर्ग के पात्रो का चित्रण आचार्य जी के उपन्यासो मे प्राप्त होता है। उन्होंने कांग्रेस, समाजवादी, साम्यवादी एव जनसघ सभी पार्टियो के पात्रो का अपने उपन्यासो मे समावेश किया है। 'बगुला के पख' नामक उपन्यास के दोनो प्रधान पात्र जुगनू एव शोभाराम कांग्रेसी हैं। जुगनू कांग्रेस के नाम पर ऐश करने वाले आदमियो का प्रतिनिधित्व करता है और शोभाराम त्यागी और तपस्वी देशभक्त कांग्रेसियों का। 'धर्मपुत्र' उपन्यास का नायक दिलीप जनसघी है तथा उसके अन्य भाई क्रान्तिकारी एव कांग्रेसी।

इसके अतिरिक्त उनके 'सोना और खून' एवं 'खग्रास' उपन्यासों में कितने ही विदेशी पात्र भी आते हैं। यह अपने कुछ गुणों के कारण अपने देशों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

व्यक्तित्व प्रधान पात्र

आचार्य चतुरसेन जी के कई उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। इन उपन्यासों का सम्पूर्ण आकर्षण उनके विभिन्न प्रकार के पात्रों पर ही केन्द्रित रहता है। इनमें व्यक्ति विशेष का शील-वैलक्षण्य क्रमशः इस प्रकार उद्घाटित किया जाता है कि उनकी सब कड़ियां स्पष्ट झलक उठें जीवन की विविध परिस्थितियों के भीतर पड़ा हुआ व्यक्ति इस प्रकार से अपने कर्म, आचरण और विचार व्यक्त करता है कि उसका चारित्रिक गठन और मनोबल प्रभावशाली रूप धारण कर लेता है। इन उपन्यासों के चरित्र कथावस्तु का ही एक भाग नहीं होते, उनकी पृथक सत्ता होती है और घटनाएँ उनके अधीन होती हैं। वे परिस्थितियों या घटनाओं के दास नहीं वरन् परिस्थितियां या घटनाऐं स्वयं उनके इशारे पर नाचती हैं। ये चरित्र प्रायः आदि से अन्त तक एक रस रहते हैं। आरम्भ से ही इनमें एक पूर्णता तथा अपरिवर्तनशीलता रहती है। उदाहरण के लिए हम आचार्य जी के उपन्यास 'हृदय की परख' की सरला और 'हृदय की प्यास' की मुखदा को ले सकते हैं। इनमें आरम्भिक पृष्ठों से ही हमें इनके प्रधान पात्रों का जो परिचय मिलता है उसमें अन्त तक हमें उलट फेर करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यही उन पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है। वे एक सुपरिचित भूदृश्य के समान होते हैं, जो कभी-कभी छाया प्रकाश के विशेष प्रभाव द्वारा परिवर्तित सा होकर अथवा किसी दूसरे कोण से देखने पर हमें आश्चर्यान्वित कर देता है। पात्रों के गुण दोष आदि उनमें आरम्भ से ही रहते हैं, वे नहीं बदलते। केवल बदलता है तद्विषयक हमारा ज्ञान"[1] आचार्य जी के इस प्रकार के उपन्यासों के पात्र अधिकाधिक व्यक्तिमूलो हैं। इन्हें हम आत्मलीन पात्र कह सकते हैं जिनकी समस्यायें, जिनके हृदय का संघर्ष उनकी आत्यधिक संवेदनात्मकता के परिणाम हैं। ऐसा लगता है मानो लेखक ने अपने कल्पना लोक में कतिपय पात्रों की सृष्टि कर रखी है जो उसे अत्यधिक प्रिय है। इन्हें स्वरूप देने के लिए विभिन्न स्थितियों का निर्माण करके और उनमें उन्हें रखकर उनमें चरित्र के उन विशेष पक्षों को प्रकाशित करने का प्रयास किया

---

१. हिंदी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. ४६२-४६३।

गया है ।'[1] इस प्रकार के पात्रो मे हम सरला (हृदय की परख) सुन्दा (हृदय की प्यास) माया देवी (अदल बदल) आभा (आभा) रेखा (पत्थर युग के दो बुत) तथा पुरुष पात्रो म सत्य (हृदय की परख) प्रवीण (हृदय की प्यास) सुधीन्द्र (आत्मदाह) हरप्रसाद (अदल बदल) अनिल (आभा) दिलीपराय सुनीलदत्त (पत्थर युग के दो बुत) आदि को ले सकते हैं। इन पात्रो की सबसे बडी विशेषता है इन पात्रो का अपना निज का व्यक्तित्व । और अपने इस व्यक्तित्व के कारण ही य आदि से अन्त तक आकर्षण के केंद्र बने रहते हैं ।

अलौकिक या असाधारण पात्र

अलौकिकता के अर्थ हैं अपौरुषेय, दानवीय, असम्भव, विचित्र कल्पनाओ का सयोजन (तिलिस्म तथा जादू के चमत्कार, दैवी कारनामे) ऐसी घटनाओ अथवा वणनो के समावेश से एक अवास्तविक और मिथ्या वातावरण पैदा हो जाता हैं । इससे मानवीय भावनाओ की प्रवीणता कम हो जाती है, यही साधारणीकरण मे बाधा डालती है ।'[2] अलौकिकता एव असाधारणता मे भी अन्तर है ।' जब पात्र मे असाधारण शारीरिक या आत्मिक बल दिखाई दे तो वह महामानव बन जाता है । अतिहीन मानव में जब अलौकिकता का समावेश हो जाता है तब वह पौराणिक राक्षस, पिशाच या दानव कहलाने लगता है ।[3] आचार्य जी के उपन्यासो मे इन दोनो ही प्रकार के पात्र प्राप्त होते हैं । कुण्डनी, छाया पुरुष, उदयन, शम्बर असुर आदि (नगरवधू) रुद्र, इन्द्र, मेघनाद, मारीच आदि (वय रक्षाम) म अलौकिक पात्र हैं । सोमप्रभ, हरिकेशीबल अम्बपाली (नगरवधू) रावण, राम, आदित्य, हनुमान आदि (वय रक्षाम) गगसर्वज्ञ, रुद्रभद्र आदि (सोमनाथ) असाधारण पात्र हैं ।

आचार्य जी के उपन्यासों के कतिपय प्रमुख पुरुष एवं नारी पात्र

पीछे हमने आचार्य चतुरसेन जी के समस्त पात्रो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है । यहाँ हम उनकी चरित्र-चित्रण शक्ति पर विशेष प्रकाश डालने वाले कतिपय प्रमुख पात्रो का विवेचन प्रस्तुत करते हैं । जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि आचार्य जी के प्रमुख पात्रों की सख्या भी लगभग १०६ के है। इनम चरित्र चित्रण शक्ति पर विशेष प्रकाश डालने वाले पात्रो की सख्या भी माट में

---

१ हिन्दी उपन्यास, पृ २२१ ।

२. उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिहल-पृ- १३७ ।

३ ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार डा० गोपीनाथ तिवारी—पृ २८-२९

कम न होगी। इन सभी के चरित्र का विश्लेषण करना यहां निश्चित रूप से कठिन है। अत यहां हम केवल उदाहरण के लिए पाँच प्रमुख पात्रो के चरित्रो का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। आगे इसी विश्लेषण के आधार पर हम आचार्य जी की पात्र-निर्माणकता एव चरित्र-चित्रण विषयक प्रमुख विशेषताएँ देने का प्रयत्न करेंगे।

रावण जगदीश्वर

चरित्र से सम्बन्धित घटना चक्र—

'वय रक्षाम' उपन्यास का नायक प्रस्तुत उपन्यास मे उपन्यासकार ने राम को परमेश्वर एव रावण को जगदीश्वर माना है। आदि से अंत तक रावण का चरित्र ही प्रस्तुत उपन्यास में छाया हुआ है। इसी चरित्र के कारण प्रस्तुत उपन्यास का सम्पूर्ण घटनाचक्र गति पाता है। उपन्यास का प्रारम्भ 'तिल तदुल' नामक अध्याय से होता है। यही से उन्मुक्त विचरण करता हुआ रावण उपन्यास मे प्रवेश करता है। उपन्यास के पूर्वार्ध मे इस चरित्र के साहसिक कार्यों, सगठन कुशलता, वीरता एव विजयो का ही वर्णन प्राप्त होता है। उपन्यास के पूर्वार्ध के अन्त मे राम की पत्नी सीता के हरण के पश्चात् इसका चरित्र पतित होना प्रारम्भ होता है और इस पतन का अंत होता है इसके कुल सहित विनाश द्वारा। इसी के पश्चात् प्रस्तुत उपन्यास समाप्त हो जाता है।

शारीरिक रूप रग और व्यक्तित्व—

रावण का प्रारंभिक परिचय इस प्रकार प्राप्त होता है 'इतने मे एक तरुण भीड मे आगे आया। उसका किशोर वय था, उज्ज्वल श्यामवर्ण, काकपक्ष ग्रीवा पर लहरा रहे थे, कमर मे कृष्णाजिन, कन्धे पर धनुष तूणीर, हाथ मे शूल, विशाल वक्ष, बडी-बडी आँखें, प्रशस्त ललाट, भीगती मसें, कुंचित भृकुटि, केहरि सी कटि, कठोर पिंडलियाँ, अभय मुद्रा, सुहासयुक्त अभिनन्दित मुखश्री।'[१] रावण का यह प्रारम्भिक परिचय एक उन्मुक्त, स्वच्छन्द और एव रसिक व्यक्ति के रूप मे प्राप्त होता है और उसके यही गुण आगे उपन्यास मे विकसित होते हुए दीख पडते हैं।

प्रकृति, शील स्वभाव, योग्यता और क्षमता—

रावण स्वभाव से ही वीर, साहसी, भोगी, निर्भीक एव दुर्धर्ष योद्धा था। वह रणशास्त्र का महापण्डित होने के साथ-साथ नीति शास्त्र का भी मर्मज्ञ था।

---

१ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन—पृ. २-३।

'उसके शरीर मे शुद्ध आर्य और दैत्यवश का रक्त था। उसका पिता पौलस्त्य विश्रवा आर्य ऋषि था, और माता दैत्य राजपुत्री थी। उसका पालन-पोषण आर्य विश्रवा के आश्रम मे उन्ही के तत्वावधान मे हुआ।'[1] वास्तव मे 'रावण के मन मे तीन तत्व काम कर रहे थे। उसका पिता शुद्ध आर्य और विद्वान वैदिक ऋषि था, उसकी माता शुद्ध दैत्य वश की थी, उसके बन्धुबान्धव बहिष्कृत आर्यवंशी थे। उन्हे क्रियाकर्म तथा यज्ञ से च्युत कर दिया गया था।'[2] इसी कारण से उसने भारत और भारतीय आर्यो को दलित करने, उन पर आधिपत्य स्थापित करने, और सब आर्य अनार्य जातियो के समूचे नृवश को एक ही 'रक्ष संस्कृति' के आधीन समान भाव से दीक्षित करने का विचार किया था। तत्कालीन परम्पराओ के अनुसार उसने अपने इस नृवश के सब धार्मिक और राजनीतिक नेतृत्व अपने हाथ मे लेने का सकल्प दृढ किया।'[3] उसने अपने इस दृढ सकल्प को शीघ्र ही पूर्ण करना प्रारम्भ कर दिया था। उसने शीघ्र ही देवो और आर्यो के दृढ सगठन को अपने पुरुषार्थ से हिला दिया। उसने सास्कृतिक और राजनैतिक दोनो ही प्रकार के विप्लवो का सूत्रपात किया था। इस कार्य के लिए मेधावी मस्तिष्क और साहसिक शरीर ही यथेष्ट था, जिस पर उसके साथ सहयोगी, सुमाली, मयप्रवण, प्रहस्त, महोदर अकम्पन आदि महारथी सुभट और विचक्षण मन्त्री थे। कुम्भकर्ण-सा भाई और मेघनाद-सा पुत्र था। इसी कारण उसकी शक्ति अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई थी। उसने अपनी इस शक्ति और योग्यता के द्वारा शीघ्र ही यम, कुबेर, वरुण और इद्र के चारो देवलोको के लोकपालो और आर्यावर्त के प्रमुख राजाओ को जय कर लिया था। आर्यावर्त के बडे-बडे सम्राटो को उसने एकाकी ही जय किया था। इस जय यात्रा मे उसे केवल तीन स्थानो पर पराजित होना पडा था। प्रथम मायावती नगरी मे अपने साढू असुरराज सम्बर से दूसरे[4] माहिष्मती में चक्रवर्ती अर्जुन से[5] और तीसरे वानरराज बाली से। अंतिम दो से पराजित होकर भी उसने मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया था।[6]

१ वयं रक्षाम. आचार्य चतुरसेन—पृ. १६१।
२. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन—पृ. १६१।
३. वयं रक्षाम' आचार्य चतुरसेन—पृ १६१-१६२।
४ वयं रक्षाम. आचार्य चतुरसेन—पृ १८६।
५. वयं रक्षाम' आचार्य चतुरसेन-पृ. ३४६-३४७।
६. वाल्मीकि रामायण उत्तरकांड सर्ग १८-१९ में भी यह प्राप्त है।

किसी संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार किस प्रकार करना चाहिए इसका उसे भलीभांति ज्ञान था, तभी उसने अपने द्वारा स्थापित 'रक्ष संस्कृति' के प्रचार के लिए सर्वप्रथम वेद का सम्पादन किया। उस समय वह ही एक मात्र आर्य साहित्य था—वह भी मौलिक। अपने पिता से उसने वेद पढा था। उस पर विचार किया। इसी वेद का उसने सम्पादन किया। ऋचाओ पर उसने टिप्पणियां तैयार कीं। मूल मन्त्रो की व्याख्या की। व्यवहार अध्याय को बीच-बीच मे वृद्धि-गत किया। इस प्रकार मूल वेद और रावण कृत टिप्पणियां और व्याख्याएं सब मिलाकर वेद का एक ऐसा संस्करण तैयार हो गया, जो जम्बूद्वीप के सब आर्यो तथा आर्येतरो के लिए मान्य हो गया, कुछ तो वेद के नाम से और कुछ रावण के प्रभाव से। आगे चलकर यही रावण भाष्य टिप्पणी सहित 'कृष्णयजुर्वेद' के नाम से विख्यात हुआ। इसमे पशुवध, मद्यपान, स्त्री समर्पण, शिश्नपूजन, गोवध, नरवध, ब्राह्मणवध, कुमारीवध आदि का विधान सम्मिलित कर दिया गया जो वास्तव मे बहिष्कृत आर्यों एवं असुरो की परिपाटी थी।'[1] इसके अतिरिक्त उसने इसमे मासभक्षण और प्राणिवध के साथ-साथ मद्यपान एव पर स्त्री-गमन भी विहित कर दिया था।[2] यह था उसका सैद्धान्तिक सांस्कृतिक प्रभास,' इन सिद्धान्तो को ही आगे चलकर उसने व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया। वह शिश्न पूजक था। जहाँ कहीं वह जाता—एक स्वर्ण निर्मित लिंग साथ ले जाता उसे बालू की वेदी पर स्थापित करके वह लिंग पूजन करता था।[3] इतना ही नहीं, इसने बलपूर्वक वैदिक यज्ञानुष्ठानो को आसुरी ढग पर करने के अनेक उपाय किये—इसने सहस्त्रो राक्षसो को यह आदेश दिया कि जहाँ कहीं आर्य ऋषि रावण विरोधी विधि से यज्ञ कर रहे हो, वहाँ बलपूर्वक बलि मांस और मद्य की आहुति दो।'[4] अपनी 'रक्ष संस्कृति' को स्थापित करने मे उसने धर्म को त्याग दिया, नियमो का उल्लघन कर दिया। केवल इतना ही नहीं अपनी संस्कृति के प्रसार के लिए वह अधिक से अधिक अत्याचार और पाप करने तक को प्रस्तुत हो गया था। उसने अपनी संस्कृति के प्रसार के लिए राक्षसो द्वारा यज्ञ कर्ता ऋषियो ही को मार कर बलि देना प्रारम्भ कर दिया। नर भक्षण उसका और उसके अनुयायियो का एक व्यापार हो गया था।'[5] वह अधर्मी होते हुए भी वीर, साहसी और निर्भीक था। इसी रावण की योग्यता और क्षमता पर उसके प्रतिद्वन्द्वी राम भी विमोहित

---

१. वयं रक्षामः भाष्य पृ. १६२। २. वयं रक्षामः भाष्य पृ १६३-१६४
३. वयं रक्षाम भाष्य पृ. १६५ साथ ही देखिए वाल्मीकि रामायण उत्तरकांड।
४. वयं रक्षामः पृ. १६९। ५. वयं रक्षामः भाष्य पृ. १६९।

हो उठे थे। उनके मुख से अनायास ही निकल गया था 'राक्षसराज रावण का तेज तो अपरिसीम है। इसकी अग सुषमा देवताओ से भी अधिक शोभायमान है, और इसके पार्षद भी बडे तेजस्वी प्रतीत होते हैं। कौन कहता है कि लका वीरो से शून्य हो गई है।'[1] इतने पराक्रमी वीर को भी सपरिवार क्यो नष्ट होना पडा। इसका कारण भी उसी के अनुज विभीषण के शब्दो मे सुनिए—'राघव जिस प्रकार महातेज रावण इन भयानक आकृति वाले भूतो से घिरा है, उसी प्रकार इसकी अन्तरात्मा भी कलुषपूर्ण है। यही कारण उसके प्रबल पराक्रम के भग होने का है।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस महावीर के पतन का कारण उसकी अन्तरात्मा का कलुष ही था। वास्तव मे सत्य तो यह है कि तुलसी के रावण के समान ही वय रक्षाम. के रावण के चरित्र मे भी आचार्य चतुरसेन जी ने 'एक प्रवृत्ति प्रमुख चरित्र' (टाइप) उपस्थित किया है, और यह 'प्रवृत्ति प्रमुख चरित्र' आदर्शवादी नही वरन् वस्तुवादी, कल्पनावादी नही वरन् प्रत्यक्षवादी, निराशावादी नही वरन् आशावादी, अदृष्टवादी नही वरन् सकल्पवादी, सशयवादी नही वरन् निश्चयवादी और धार्मिक नही वरन् अधार्मिक का है।'[3]

इतिहास से साम्य और भिन्नता—

यद्यपि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इस उपन्यास मे रावण को जगदीश्वर के रूप मे चित्रित करना चाहा है किंतु अपने इस प्रयास मे वे सफल नही हो सके हैं। उनका रावण भी जगत के पालक के रूप में नही वरन् एक दुराचारी के रूप मे ही चित्रित हुआ है। वह तुलसी के रावण से किंचित् मात्र भी भिन्न नही है। तुलसी के रावण के लिए जो शब्द प० रामचन्द्र शुक्ल ने कहे हैं लगभग वही शब्द वय रक्षाम के रावण के लिए भी कहे जा सकते हैं। उनका कथन है जिस प्रकार राम-राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था। वह भगवान् को उन ललकारने वालो मे से था जिनकी ललकार पर उन्हें आना पडा था। बालकाड मे गोस्वामी जी ने पहले उसके उन अत्याचारों का वर्णन करके जिनसे पीडित होकर दुनिया पनाह मागती थी, तब राम का अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसो का सरदार था जो गाँव जलाते थे, खेती उजाडते थे, चौपाए नष्ट करते थे, ऋषियो को यज्ञ आदि नही करने देते थे, किसी की कोई अच्छी चीज देखते थे तो छीन ले जाते और जिनके गाए हुए

---

१. वय रक्षाम' आचार्य चतुरसेन, पृ. ७३४।
२. वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ. ७३४।
३. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ २८६।

लोगो की हड्डियो से दक्खिन का जगल भरा पडा था। चगेज खा और नादिर-शाह तो मानो लोगो को उसका कुछ अनुमान कराने के लिए आए थे। राम और रावण को चाहे वहुरमज्द और अहरमान समझिए चाहे खुदा और शैतान। फर्क इतना ही समझिए कि शैतान और खुदा की लडाई का मैदान इस दुनिया से जरा दूर पडता था और राम-रावण की लडाई का मैदान यह दुनिया ही थी।[1] आचार्य चतुरसेन जी ने अपने रावण को श्रेष्ठ विद्वान एव वेदपाठी माना है। तुलसी का रावण भी वेदपाठी एव तपस्वी था। तुलसी के रावण मे भी कष्ट सहिष्णुता थी। वह बडा भारी तपस्वी था। उसकी धीरता मे भी कोई संदेह नही है। भाई, पुत्र कितने कुटुम्बी थे, सबके मारे जाने पर भी वह उसी उत्साह के साथ लडता रहा। अब रहे धर्म के सत्य आदि और अग जो किसी वर्ग की रक्षा के लिए आवश्यक होते है। उनका पालन राक्षसो के बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षस कुल रह कैसे सकता था? पर धर्म का पूर्ण भाव लोक-व्यापकत्व में है। यो तो चोर और डाकू भी अपने दल के भीतर परस्पर के व्यवहार मे धर्म बनाए रहते हैं। साराश यह कि रावण मे केवल अपने लिये और अपने दल के लिये शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था, समाज मे उस शक्ति का सदुपयोग करने वाला धर्म नही था। रावण पडित था, राजनीति कुशल था, धीर था, वीर था, पर सब गुणो का उसने दुरुपयोग किया। उसके मरने पर उसका तेज राम के मुख मे समा गया।[2] आचार्य जी के रावण का तेज भले ही राम के मुख मे न समाया हो किंतु अन्य गुणो मे वह वाल्मीकि एव तुल्सी के रावण से किंचित मात्र भी भिन्न नही है। हाँ, अपने कुछ गुणो मे आचार्य चतुरसेन जी का रावण स्वर्गीय माइकेल मधु-सूदनदत्त के रावण से भी प्रभावित है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास एव तुलसी रावण के कोमल भावो को स्पर्श नही कर सके है, किंतु आचार्य चतुरसेन जी ने मधुसूदन दत्त के समान ही अपने इस उपन्यास मे रावण के कोमल भावो को भी अनावृत्त करके रख दिया है। इन्द्रजीत से पुत्र के निधन पर पिता रावण के हृदय की करुण दशा दर्शनीय है। परलोकगत वीर पुत्र को सम्बोधित करके रावण का यह मर्मभेदी विलाप सुनकर पाषाणहृदय मनुष्य भी दहल जायगा। *यहाँ पर आचार्य जी का रावण जगदीश्वर जी भाग्यवादी हो गया*

---

१. तुलसी-ग्रथावली तृतीय खड-सम्पादक प० रामचन्द्र शुक्ल-प्रस्तावना पृ. १९४-१९५।

२. तुलसी-ग्रंथावली तृतीय खंड-सम्पादक पं रामचन्द्र शुक्ल-प्रस्तावना पृ १९६।

है।[1] वह ईश्वर को दोष देता हुआ कहता है कि हे विधाता क्या अभागे रावण को यही सुनाने के लिए जीवित रक्खा था ? वास्तव मे रावण के इस दारुण दुःख के सामने रामचन्द्र के शोणित वाणो की तीक्ष्णता क्या चीज है ? वह मेघनाद-सदृश पुत्र एव प्रमीला-सदृश पुत्र वधू को चिताग्नि मे आहुति देने के लिए आया है। उसके हृदय के इन भावो का वर्णन क्या सम्भव है ? वाणी से हृदय के भाव प्रकट करने की शक्ति उसमे न थी अथवा आत्मसयम की क्षमता भी वह न रख सका। धीरे-धीरे पुत्र की चिता के समक्ष जाकर वह बोला अरे मेघनाद, मैंने आशा की थी कि तुझे राज्यभार देकर महायात्रा करूगा। परतु अदृष्ट ने कुछ और ही रचना कर डाली। स्वर्ण सिंहासन की जगह तुझे आज पुत्र-वधू सहित इस अग्निरथ पर बैठा मैं देख रहा हूँ। हाय, इसीलिए मैंने तेरा देव सानिध्य कराया था ? इसीलिए मैंने रुद्राराधना की थी ? हा पुत्र! हा वीर श्रेष्ठ!!

जगज्जयी रावण जगदीश्वर सिर धुनता हुआ भूमि पर गिर पडा।[2] वास्तव मे पुत्रशोक से कातर रावण को देखकर पाठक उसके समस्त अत्याचारो को भूल जाता है और उसकी दुरवस्था पर सहानुभूति प्रकट करने की उसकी इच्छा होती है। निश्चित रूप से आचार्य चतुरसेन जी अपने रावण जगदीश्वर के हृदय के इस करुण भाव को दिखला कर उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न कराने म एक सीमा तक सफल रहे हैं। अत हम कह सकते हैं आचार्य जी का रावण भी उतना ही अत्याचारी, पापी, अधर्मी एव दुराचारी है जितना वाल्मीकि एव तुलसी का रावण किंतु वह अत्याचारी होते हुए भी सहृदय है, अधर्मी होते हुए भी धर्म और भाग्य के समक्ष नत होने वाला है। शोक-जर्जरित रावण के व्यवहार मे आचार्य जी ने मानव हृदय के इस गूढ तत्व का उद्घाटन करके उसे पौराणिक रावण के चरित्र से कही अधिक सजीव, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक एव पूर्ण बना दिया है।

असाधारण-चरित्र-नायक सोमप्रभ

'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास का नायक। प्रस्तुत कथा मे उसके चरित्र का चित्रण कुछ इस प्रकार से हुआ है कि उसके चरित्र की रेखाएं एक-एक कर कथा के अन्त तक उभरती रही हैं। कथा की समाप्ति के साथ-साथ उसका चरित्र भी पूर्ण रूप से सामने आ पाता है। अथ से इत तक यह चरित्र अपने

---

१. वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन पृ. ७४५।

२. वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ. ७५०।

मे एक रहस्य छिपाये हुए रहता है। इसका प्रारम्भिक परिचय ही एक रहस्यमय युवक के रूप मे दिया जाता है।[१] वह पाठको के समक्ष एक 'अज्ञात कुलशील युवक' के रूप मे आता है।[२] उसका प्रारम्भिक परिचय स्मृति-संचारी द्वारा ही पाठको को प्राप्त होता है 'उसे अपने बालकाल की विस्मृत स्मृतियाँ याद आने लगी। आठ वर्ष की अवस्था मे उसने यहीं से तक्षशिला को एक सार्थवाह के साथ प्रस्थान किया था। तब से अब तक १८ वर्ष निरन्तर उसने तक्षशिला के विश्वविश्रुत विद्यालय मे विविध शास्त्र-शास्त्रो का अध्ययन किया था। इन १८ वर्षो मे उसने केवल शस्त्राभ्यास और अध्ययन ही नहीं किया, पार्शपुर, यवनदेश तथा उत्तर—कुरु तक यात्रा भी की। देवासुर संग्राम मे सक्रिय भाग लिया। पार्शपुर के शासनुशास से सिंधुनद पर लोहा लिया। इसके बाद लगभग सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की यात्रा कर डाली।'[३] इतने परिचय के पश्चात् यह तरुण स्वयं ही पाठको के मानस मे अपना स्थान बना लेता है।

प्रकृति, शील स्वभाव, योग्यता एवं क्षमता—

सोम स्वभाव से ही कर्तव्य परायण, वीर एवं निर्भीक है। निर्बलो पर होते हुए अत्याचार को वह सहन नहीं कर पाता। सभी कुण्डनी पर होते हुए अत्याचार को देखकर वह अपने गुरु का भी विरोध करने को तत्पर हो जाता है। किंतु उसके इस विरोध मे भी अशिष्टता नहीं वरन् नम्रता एवं निर्भीकता है। उसने गुरु के अत्याचार का विरोध अवश्य किया किंतु उनकी आज्ञा की अवहेलना उससे न हो सकी। खड्ग रखने की, गुरु की आज्ञा होते ही, एक अतर्कित अनुशासन के वशीभूत होकर उसने तुरन्त खड्ग त्याग दिया' यद्यपि इससे उसे अपने प्राणनाश की ही सम्भावना अधिक थी।[४]

उसकी यह निर्भीकता, उचित के लिए अड़ने की प्रवृत्ति एवं उसका यह अटूट आत्म विश्वास आदि सभ्य गुणो के कारण ही उसका चरित्र आदि से अन्त तक निखरता ही गया है। अपनी निर्भीकता, वीरता, पुरुषार्थ, स्वावलम्बन एवं आत्मविश्वास के सबल को लेकर ही वह विड्डम को छुडाने के लिए दुर्भेद्य कारागृह मे एकाकी प्रवेश करके, विरोधियो को पराजित करके राजकुमार

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ- ७४।
२ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ९४।
३. वैशाली की नगरवधू, पृ ७६। ४. वैशाली की नगरवधू, पृ ८०।

को निर्विघ्न निकाल लाता है। इतना ही नही कोशल की भरी सभा मे वह सभी विरोधियो की उपेक्षा करके राजकुमार विड्डम के सम्राट् होने की घोषणा करता है।

सोम मे एक ओर जहाँ पर वीरता और निर्भीकता दीख पड़ती है, वही उसकी व्यवहार-कुशलता एवं प्रत्युत्पन्नमतित्व भी कम सराहनीय नही है। वह प्रत्येक स्थिति के अनुकूल ही अपने को ढालने का प्रयत्न करता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसके चरित्र मे इतनी अधिक उभरी हुई है कि कई स्थानो पर अस्वाभाविक भी ज्ञात होने लगी है। महामात्य वर्षकार के सामने वह एक योद्धा है[1] अपनी जननी आर्यामातगी के समक्ष वह एक निपट बालक है[2], असुरो के नगर मे वह एक आज्ञापालक के रूप मे[3] और चम्पा नगरी मे पार्श्वपुरी के रत्न विक्रेता के रूप मे हमारे सामने आता है।[4] अम्बपाली की रक्षा करने के लिए वह एक चित्रकार बन कर पहुँच जाता है और वीणा वादन करके वह उसे पूर्णरूपेण अपनी ओर आकर्षित कर लेता है[5], दस्यु बलभद्र बनकर वह वैशाली के दीन हीनो की सहायता करता है[6], मगध का सेनापति बनकर वह वैशाली की सैन्य को पराजित करता है और मगध सम्राट् के क्षुद्र स्वार्थ को जानकर वह अपने सम्राट् से भी युद्ध करके उन्हे प्रत्यक्ष युद्ध मे पराजित करता है।[7] इस प्रकार सोम के चरित्र मे अनेकरूपता आने के स्थान पर अस्वाभाविकता आ गई है। कही-कही वह जासूसी एवं अय्यारी उपन्यास के नायक की भाँति अभिनय करता हुआ ज्ञात होने लगता है। इसी कारण हमने इसके चरित्र को असाधारण कहा है।

मगध महामात्य वर्षकार से उसका परिचय, साम्राज्य एवं महामात्य के प्रति एकनिष्ठ रहने की प्रतिज्ञा और कुन्डनी के साथ उसका चम्पा अभियान आदि घटनाएँ उसके चरित्र के एकाएक गुणो को क्रमश स्पष्ट करती चलती हैं। आर्या मातगी से उसे जीवन मे प्रथम बार ज्ञात होता है कि वही उसकी जननी है। जननी के दर्शन के पश्चात् भी उसे अपने जनक का परिचय नही प्राप्त हो

---

१. वैशाली की नगरवधू, पृ ८० । २. वैशाली की नगरवधू, पृ. १०६ ।
३. वैशाली की नगरवधू, पृ. १८० से २०० तक ।
४. वैशाली की नगरवधू, पृ २१२ से २१६ तक ।
५. वैशाली की नगरवधू, पृ ४८९ से ५१७ ।
६. वैशाली की नगरवधू, पृ. ५२७ से ५२९ ।
७. वैशाली की नगरवधू, पृ. ७२७ से ७२९ ।

पाता । केवल उसे इतना ही ज्ञात हो पाता है कि 'वे विश्वविश्रुत विभूति के अधिकारी ह और जीवित हैं।'[1] इससे उसका स्वाभाविक आत्म सम्मान जाग्रत हो उठता है। वह आर्या मातगी से कहता है 'तो अभी यही यथेष्ट है, माँ, शेष सब मैं अपने कौशल से जान लूंगा।' किंतु उसकी माँ का आदेश है 'इधर उद्योग मत करना, इससे तुम्हारा अनिष्ट होगा।' अपनी माँ के इस आदेश को वह सहर्ष स्वीकार कर लेता है। भले ही उसे अज्ञात कुलशील की असहनीय सामाजिक यन्त्रणा क्यो न सहन करनी पडे। यह कर्तव्यपरायण भी ऐसा है कि उसे माँ की ममता और उसका वात्सल्य कर्तव्य पथ से विमुख नही कर पाता।

सोमप्रभ के चरित्र की सबसे बडी विशेषता है–उसका साम्राज्य प्रेम। साम्राज्य की रक्षा के लिए वह सम्राट की आज्ञा की भी अवहेलना करने की प्रतिज्ञा कर लेता है। वह सम्राट की आज्ञाओ का अधानुकरण करने के पक्ष मे न होकर साम्राज्य के हित साधन मे ही अधिक तत्पर रहता है। उसके देश प्रेम की भावना के मूल में केवल साम्राज्य की मगल कामना ही निहित है, अपना स्वय का कोई स्वार्थ नही। वह मगध साम्राज्य का विस्तार चाहता है किंतु मगध सम्राट की व्यक्तिगत इच्छाओ के लिए व्यर्थ के रक्तपात के पक्ष मे वह नहीं है। उसने मगध साम्राज्य के विस्तार के लिए चम्पा पर अभियान किया और अपनी कूटनीतिक चालों से उसे विजित किया[2] साम्राज्य के हित साधन के लिए ही उसने वैशाली को दस्यु बलभद्र बनकर आतंकित किया[3] एव वैशाली से प्रत्यक्ष युद्ध के समय उसने सेना सचालन का सम्पूर्ण भार अपने कधो पर ले लिया किन्तु ज्यो ही उसे ज्ञात हुआ कि इस युद्ध का उद्देश्य दूषित है, यह युद्ध 'एक स्त्रैण, कामीपुरुष, कर्तव्यच्युत सम्राट की इच्छापूर्ति के लिए किया जा रहा है, वैसे ही उसने युद्ध रोक देने की आज्ञा दे दी थी।[4] सम्राट बिम्बसार के प्रश्न करने पर उसका उत्तर था कि मैंने तक्षशिला के विश्वविश्रुत विद्या केन्द्र मे राजनीति और रणनीति की शिक्षा पाई है। मेरा यह निश्चित मत है कि साम्राज्य की रक्षा के लिए साम्राज्य की सेना का उपयोग होना चाहिए।

---

१ वैशाली की नगरवधू, पृ. १०६।
२. वैशाली की नगरवधू, पृ. २१२-२१६।
३ वैशाली की नगरवधू, पृ. ५२७-५२९ तक।
४. वैशाली की नगरवधू, पृ. ७३१।

सम्राट की अभिलाषा और भोगलिप्सा की पूर्ति के लिए नही ।[1] सम्राट के विरोध करने पर वह सम्राट से युद्ध करने को तत्पर हो जाता है । वह सम्राट की युद्ध घोषणा को ठुकराता हुआ कहता है । 'इस कार्य के लिए रक्त की एक बूंद भी नही गिरायी जाएगी और देवी अम्बपाली मगध के राजमहालय मे पट्टराजमहिषी के पद पर अभिषिक्त होकर नही जा सकती ।' 'यदि गयी' 'तो या सम्राट नही या मैं नही ।'[2] इस घोषणा के पश्चात वह साम्राज्य की मान रक्षा के लिए सम्राट से भिड जाता है। द्वद्व युद्ध मे वह सम्राट से विजयी होता है किन्तु अम्बपाली की भिक्षा पर वह सम्राट को प्राणदान देता है ।'[3] इस युद्ध के पश्चात् ही उसे अपनी जननी आर्या मातगी से ज्ञात होता है कि वह सम्राट बिम्बसार का ही अवैध पुत्र है और अम्बपाली आर्यवर्षकार से उत्पन्न उसकी भगिनी है ।[4]

सोमप्रभ कर्तव्यपरायण, वीर एव निर्भीक होने के साथ-साथ उदार एव त्यागी भी है । वह दूसरे के हित के लिए अपने महान् से महान् स्वार्थ के त्याग करने को प्रस्तुत रहता है । राजकुमार विदूडम के साथ उसने जो अलौकिक दया उदारता का व्यवहार किया, वह वास्तव मे भव्य है । प्रसेनजित की दुखद मृत्यु और राजकुमार विदूडम के बदी होने के पश्चात् कोशल राज्य निराश्रित हो रहा था, इस अवसर पर सोम निर्विघ्न कोशल का सम्राट बन सकता था, किंतु उसने ऐसा नही किया । एक बार उसके मस्तिष्क मे विचार आया अवश्य (यदि यह विचार उसके मस्तिष्क मे न आता तो वह मानव न रहकर महामानव हो जाता) किन्तु शीघ्र ही उसने अपने मस्तिष्क से बलात् ऐसे विचारो को निकाल फेंका । उसने अपने पुरुषार्थ के बलपर केवल राजकुमार विदूडम को कोशल की गद्दी पर ही नही बैठाया वरन् अपनी प्रेमिका राजकुमारी चन्द्रप्रभा को भी उसने विदूडम के लिए त्याग दिया । उसने अपने स्वार्थ के कारण चम्पा राजनन्दिनी का अहित करना उचित नही समझा उसे इतना ही सतोष है कि आज तक उसने अपनी प्रेमिका का अहित ही किया है । उसके पिता का हनन किया, उसे निराश्रित किया—किंतु आज इस अज्ञात कुलशील नगण्य वचक की पत्नी बनने के स्थान पर वह उसे थोडे त्याग के द्वारा राजमहिषी

१ वैशाली की नगरवधू, पृ ७३१,७३२ ।
२. वैशाली की नगरवधू, पृ. ७३२-७३३ ।
३. वैशाली की नगरवधू, पृ. ७३३-७३४ ।
४. वैशाली की नगरवधू, पृ. ७५२-७५५ ।

बना सकता है। यही विचार उसे अपनी प्रेमिका के त्याग के लिए प्रेरित करते है। प्रेम के ऊपर कर्तव्य हावी हो जाता है। राजकुमारी के इस कथन पर कि मैं तुम्हे प्यार करती हूँ सोम, केवल तुम्हे। वह उत्तर देता है' और मैं भी तुम्हे, प्राणाधिकशील। किन्तु पृथ्वी पर प्यार ही सब कुछ नही है। सोचो तो, यदि प्यार ही की बात होती तो मैं विदुडम का क्यो उद्धार करता। क्यो अपने हाथो उसके सिर पर कोशल का राजमुकुट रखकर कोशलेश्वर कहकर अभिवादन करता। प्रिये, चारुशीले, निष्ठा और कर्तव्य मानव-जीवन का चरम उत्कर्ष है। मैंने उसी को निबाहा। अब तुम मुझे सहारा दो।[1] इस वाणी मे सच्चे त्याग, उदारता एवं आत्म विश्वास से पूर्ण अगाध प्रेम छलकता हुआ ज्ञात होता है। उसके इस महान उत्कर्ष से प्रभावित होकर ही राजकुमारी चन्द्रप्रभा कहती है मैं जानती थी, तुम यही करोगे। सोम, प्रियदर्शन, किन्तु मेरे प्रत्येक रोम मे तुम्हारा वास है और आजीवन रहेगा। जीवन के बाद भी अनि चिरन्तन काल तक।[2] अपने क्षुद्र स्वार्थ त्याग के द्वारा उसने कितनी सरलता से राजकुमारी के हृदय को विजयी कर लिया।

राजकुमार विदुडम भी सोम के इस महान उत्कर्ष एवं उसकी वीरता से प्रभावित है। वे इसे हृदय से स्वीकार करते हैं कि कोशल राज्य उन्हे सोम के कारण ही प्राप्त हो सका। उन्होंने अन्तिम विदा के अवसर पर सोम से कहा भी था 'मित्र सोम, अधिक कहने के योग्य नही हूं। परन्तु मित्र, कोशल का यह राज्य तुम्हारा ही है।' किन्तु सोम विदुडम की विवशता समझता है। वह यह जानता है कि उसका राजकुमार के निकट रहना कोशल के हित मे नहीं। विदुडम के इस कथन पर कि 'मित्र, राजनीति ही तुमसे मेरा विछोह कराती है।' वह राजकुमार से कहता है 'और भी बहुत कुछ महाराज। परन्तु राजनीति मानव—जनपद की चरम व्यवस्था है। उसके लिए हमे त्याग करना ही होगा।[3] और वास्तव मे वह सभी कुछ यहाँ तक कि अपनी प्रेमिका भी विदुडम को देकर छूछे हाथ कोशल त्याग कर चल देता है। उसकी विदा के समय राजकुमार विदुडम का केवल यह वाक्य ही कोशल को सब कुछ देकर मित्र।[4] (तुम जा रहे हो) सोम की महानता को, उसके भव्य त्याग को एवं

१. वैशाली की नगरवधू, पृ. ४७० ।
२. वैशाली की नगरवधू, पृ ४७१ ।
३. वैशाली की नगरवधू पृ. ४६६-४६७ तक ।
४. वैशाली की नगरवधू, पृ. ४६७ ।

इस के कृतज्ञ स्वभाव को व्यक्त कर देता है। वास्तव मे सत्य तो यह है कि सोमप्रभ के शौर्य, कौशल और सत्साहस के समान ही उसका प्रेम भी उद्ग्रीव है। वह दुस्साहस कर चम्पा विजय करता है, चम्पा की राजकुमारी को उसके श्रय के लिए विसर्जित करता है और अम्बपाली को उसके सम्मान के लिए। उसमे त्याग और विसर्जन के ऊँचे तत्व हैं। ऐसे ऊँचे कि कदाचित ही मनुष्य वहाँ तक पहुँच सके।[1] अत सोमप्रभ को एक असाधारण चरित्र नायक कहा जा सकता है।

उपन्यास में प्रस्तुत चरित्र का महत्व और अन्य चरित्रो पर उसका प्रभाव—

जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है कि 'नगरवधू उपन्यास का यह नायक है। उपन्यास का सम्पूर्ण घटना चक्र इस पर और इसकी भगिनी अम्बपाली के चरित्र पर ही आधारित है। यदि प्रस्तुत उपन्यास से इसके चरित्र को निकाल दिया जाय तो निश्चित रूप से उपन्यास का कथा सौंदर्य समाप्त हो जायगा। अब रहा प्रभाव का प्रश्न ? प्रस्तुत उपन्यास के लगभग सभी प्रमुख पात्र इसके व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए दीख पडते हैं। वैशाली की नगरवधू अम्बपाली, मगधसम्राट बिम्बसार, राजकुमार विदूडम, राजकुमारी चन्द्रप्रभा एव कुन्डनी आदि प्रस्तुत उपन्यास के सभी मुख्य पुरुष एव नारी पात्रो पर इसके व्यक्तित्व का प्रभाव छाया हुआ स्पष्ट दीख पडता है। प्रस्तुत उपन्यास मे चार प्रमुख राज्यो—वैशाली, मगध, कोशल एव चम्पा की कथाएँ पृथक पृथक चली हैं, इन चारो राज्यो की कथाओ मे एक शृखला इसी पात्र के कारण सम्भव हो सकी है। वह जन्म से मागध है, किंतु इसका कार्यक्षेत्र वैशाली, कोशल एव चम्पा तक व्याप्त है। इस प्रकार हम देखते हैं प्रस्तुत उपन्यास की कथा से इस पात्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके क्रियाकलाप घटनाओ को जन्म देते हैं, और घटनाएँ कथा को अग्रसर करती चली हैं। इससे कथा अन्त तक अपनी स्वाभाविक गति से बढती चली गई है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सोमप्रभ ही वैशाली की नगरवधू उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुरुष पात्र है।

धर्मान्ध, दुर्दान्त विजेता महमूद

चरित्र से संबधित घटना चक्र—

'सोमनाथ' उपन्यास का प्रतिनायक। उपन्यास का सम्पूर्ण घटनाचक्र इसी चरित्र के कारण गति पाता है। कथा का प्रारम्भ और अन्त दोनो ही

१. वातायन—आचार्य चतुरसेन, पृ. २६-२७।

मुने जहा चाहते हैं ले जाते हैं। इसमे तथ्य इतना ही है कि पात्रो को लेखक ने स्वतत्र सकल्प शक्ति से सम्पन्न कर दिया है। स्वतत्र मनोवेगो से प्रेरित होकर कभी-कभी वे ऐसे काय कर जाते हैं कि जिनका लेखक को अनुमान भी नही होता यह कल्पना शक्ति की चरम सीमा है। ऐसे ही पात्र हमारे जीवन मे प्रेरक बन जाते है। परन्तु जो पात्र लेखक के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं उनके व्यक्तित्व की गरिमा नही रह जाती। मानवता की सामान्य भूमि पर *लेखक कल्पना की कूँची से जो रग भरता है वह अव्याप्ति व अतिरजना से बचकार* सजीव पात्रो को जन्म देता है। सजीव पात्र हमारे वास्तविक जगत की प्रतिकृति होते हैं जिनके चरित्र के विकास को उपन्यासकार कल्पना के द्वारा साक्षात्कार कर लेता है और उसे औपन्यासिक योजना के द्वारा प्रस्तुत कर देता है।'[१] अत सफल चरित्र चित्रण के लिए सजीवता प्रधान गुण है। और यह सजीवता तभी आ सकती है जब उपन्यासकार मानवता की सामान्य पीठिका पर अपनी कल्पना की कूँची से रूप उरेहे, रग भरे, जिसमे न तो अतिरजना ही हो और न *अव्याप्ति ही।'*[२]

पीछे हमने चरित्रो के दो प्रमुख प्रकार दिये हैं। इनमे वर्गगत चरित्र-चित्रण मे सजीवता लाना तो सरल है किन्तु व्यक्तित्व प्रधान पात्रो को सजीवता प्रदान करना निश्चित रूप से कठिन है। आचार्य चतुरसेन जी के दोनो ही प्रकार के पात्र सजीव हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के अधिकाश उपन्यास ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक पात्रो मे सजीवता भरना और भी आवश्यक है, कारण इतिहास हमें शुष्क नरककालो एव घटनाओ की ओर इगित मात्र कर देता है उसमे मास और रक्त का सचार करके प्राण फूँककर सजीवता भर देना ही ऐतिहासिक कथाकार की वास्तविक कला है। और इस कला मे आचार्य जी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इतिहास से हमे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि 'सन् १०२६ मे महमूद गजनी ने सोमनाथ महालय को भग किया था। हिंदू राजा पारस्परिक *ईर्ष्या द्वेष के कारण उससे पराजित हुए थे। इससे आगे अधिक और* विवरण देना इतिहासकार अपना कर्तव्य नही समझता। महमूद भी साधारण मनुष्यो की भाँति एक प्रेमी था, उसके भी एक मासल हृदय धडक रहा था, चौला ने उसके इस प्रेम को उत्तेजित किया और शोभना ने उसे शात किया। उसने

---

१. समीक्षा के सिद्धात—डा० सत्येंद्र, पृ. १३६-१३७।

२ हिन्दी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. ४४८।

महालय भग अवश्य किया, किंतु रमाबाई की फटकार के समक्ष उसे लज्जित होना पडा। राजा भीमदेव का पवित्र प्रेम, चौला का अपार्थिव नृत्य, महमूद का अभियान ग्ग सर्वज्ञ की सर्वज्ञता, रुद्रभद्र की दुष्टता एव दामो मेहता की चातुरी के द्वारा तत्कालीन भारत की सम्पूर्ण परिस्थितियो को उपन्यासकार ने अपने उपन्यास मे सजीव कर दिया है। यह सजीवता इतिहास मे नही वरन् उपन्यास मे ही प्राप्त हो सकती है। इस दृष्टि से आचार्य जी के ऐतिहासिक पात्र पूर्ण सजीव हैं।

स्वाभाविकता —

सजीव पात्र स्वाभाविक भी हो यह आवश्यक नही, विशेषकर पौराणिक पात्रो मे स्वाभाविकता का सर्वत्र निर्वाह और भी कठिन होता है। पौराणिक कथाएँ अलौकिक चमत्कारो से इतनी अधिक बोझिल हो चुकी हैं, कि उनका वर्णन करते समय कथा को उनसे सर्वथा अछूता रखना असम्भव तो नही किंतु कठिन अवश्य है। आचार्य जी ने इन पौराणिक कथाओ को बहुत कुछ सम्भावना एव स्वाभाविकता की सीमा मे बाँधने का प्रयत्न किया है किंतु 'वय रक्षाम' एव 'वैशाली की नगरवधू' मे तो कुछ अलौकिकता का भी समावेश हो गया है। जहाँ भी मानव को छोडकर अतिमानव, महामानव, अपौरुषेय आदि का चित्रण अतिरंजित कल्पनाओ के सयोजन द्वारा किया जावेगा वहाँ निश्चित रूप से अस्वाभाविकता एव अवास्तविकता आ जावेगी। इससे चरित्र-चित्रण मे कृत्रिमता तथा अस्वाभाविकता आ जाने से मानवीय भावनाओ की प्रेषणीयता न्यून पड जाती है जिससे पात्रो के व्यक्तित्व निर्जीव से ज्ञात होने लगते हैं और यह निर्जीवता एव अस्वाभाविकता उनका साधारणीकरण होने मे व्यवधान डालती है। किन्तु आचार्य जी के समस्त उपन्यासो मे ऐसे स्थल कम ही हैं जहाँ उनका चरित्र-चित्रण अलौकिक एव चमत्कारिक हो जाने के कारण अस्वाभाविक हो गया है। उन्होंने राम, रावण मेघनाद आदि के पौराणिक चरित्रो को भी यथासम्भव अलौकिकता से बचाया है। उनके लगभग सभी पात्रो के चरित्र कारण कार्य की शृखला मे बधे है। कुछ पात्र असाधारण अवश्य हैं किंतु युग विशेष का प्रतिबिम्ब दिखलाने के लिए उपन्यासकार ने कुछ पात्रो पर बलात् अलौकिकता का आरोपण किया है। उन्होने 'वय रक्षाम' मे कितनी ही पौराणिक असाधारण एव अलौकिक घटनाओ की बुद्धिगम्य तर्किक व्याख्या की है किंतु तो भी कुछ पौराणिकता रह गई है।

उन्होंने हनुमान को उडने एव मच्छर बनकर लका मे जाने से तो बचा

लिया किन्तु मारीच को स्वर्णमृग बनने से न रोक सके।[१] आचार्य चतुरसेन जी के रावण और राम के चरित्रो मे अलौकिकता नही असाधारणता है किन्तु उनके मेघनाद के चरित्र मे अलौकिकता का भी समावेश है। उसने बास काट कर जल मे डाला और वह दिव्य धनुष बन गया। इसके अतिरिक्त भी कई स्थानो पर अलौकिकता रह गई है। उदाहरणत सर्प के पेट मे यक्ष, किन्नर, देव, नर, पशु, पक्षी सभी समा गए, सुपर्ण वैनतेय के स्पर्श करते ही राम-लक्ष्मण के घाव भर गए[२], इन्द्रजीत रथ से कूद कर अतर्धान हो गया और वह अदृश्य रहकर राघव पर बाण वर्षा करने लगा[३], आदि स्थल सर्वथा अलौकिक ही हैं। इसी प्रकार 'वैशाली की नगरवधू' मे भी कुछ अलौकिक एव अस्वाभाविक घटनाओ का समावेश बलात् किया गया है। यद्यपि आचार्य चतुरसेन जी को छाया पुरुष के अदृष्ट होने पर विश्वास नही है, तो भी उन्होने उसका चित्रण किया है।[४] इस छाया पुरुष के पैर पृथ्वी पर नही पडते थे और वह द्रव सत्व की भाति समूचा ही श्रेष्ठी पुत्र के मुह मे प्रविष्ट हो गया।[५] इसी प्रकार उदयन अदृष्ट होकर अम्बपाली के निकट पहुँच गए और नृत्य देखकर देखते ही देखते अन्तर्धान भी हो गए।[६] कलिंग सेना दिव्य औषध खाकर अक्षय यौवना बन गई।[७] इसी प्रकार कुन्डनी का चरित्र एव शम्बर असुर का चरित्र भी कुछ अस्वाभाविक एव अलौकिक हो गया है। इस प्रकार अलौकिकता के प्रवेश के कारण कई चरित्र अस्वाभाविक हो गए हैं। किन्तु इन कुछ पात्रो के चरित्रो को छोडकर आचार्य जी ने शेष पात्रो के चरित्र का चित्रण स्वाभाविक धरातल पर ही हुआ है।

मनोविज्ञान—

आचार्य चतुरसेन जी इस तथ्य से भली भांति परिचित थे कि पात्र सजीव और स्वाभाविक तभी हो सकेगा, जब उसके चरित्र चित्रण मे मनोविज्ञान की सहायता ली जाय। अपने प्रारम्भिक उपन्यासो मे उन्होंने चरित्र-चित्रण करते समय पात्र के व्यक्तित्व एव उसके वाह्य गुणो तथा वाह्य परिस्थितियो पर ही अधिक ध्यान दिया है। किंतु अपने प्रौढ उपन्यासो मे मनोविज्ञान का आश्रय लेने के कारण ही उनके पात्रो के अन्तस्तल का उद्घाटन सम्भव हो सका

१. वय रक्षाम. पृष्ठ ४५७। २ वय रक्षाम-पृष्ठ ६३१।
३ वय रक्षामः पृष्ठ ६३५। ४. वैशाली की नगरवधू भूमि-पृष्ठ ८८१।
५. वैशाली की नगरवधू, पृष्ठ ५९०।
६ वैशाली की नगरवधू, पृष्ठ ११३ एव १२०।
७. वैशाली की नगरवधू, पृष्ठ ११८-११९।

है। मनोविज्ञान का आश्रय लेने के कारण ही उनके पात्रों के बौद्धिक एवं चारित्रिक दोनों ही प्रकार के गुण स्वयं ही प्रस्फुटित हुए हैं। वे उपन्यासकार के करों में कठपुतली न रहकर पूर्ण विकसित एवं पूर्ण मानव होकर सामने आए हैं। उनके हृदय और मस्तिष्क में द्वन्द्व, सामने जीवन की समस्यायें और संघर्ष और इन सबके परिपार्श्व में मानव सुलभ भावनाओं से परिपूर्ण हृदय। अर्थात् उनके पात्र सत् असत् से संघर्ष करते हुए अथ से इति तक विकासमान रहते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने पात्रों के व्यक्तित्व के विकास में मनोविज्ञान का आश्रय तो लिया है। किंतु उन्होंने मानव मनोविज्ञान का सहज आश्रय ही लिया है, किसी मनोविज्ञानाचार्य (फ्रायड, युग आदि) के सिद्धांतों का बलात् आरोपण नहीं किया है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक पात्रों में भी यत्र-तत्र मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व दिखाते हुए भी उनके चरित्र को आधुनिक पात्रों की भाँति अधिक उलझने नहीं दिया है। उन्होंने पौराणिक पात्रों के व्यक्तित्व निर्माण में भी मनोविज्ञान को कहीं भी नहीं त्यागा है, जहाँ कहीं उन्होंने मनोविज्ञान का अंचल त्यागकर पौराणिकता या अलौकिकता को बलात् लादना चाहा है, वहीं उनका चरित्र चित्रण अस्वाभाविक हो गया है। आचार्य जी अपने अधिकांश ऐतिहासिक और सामाजिक पात्रों की जटिलताओं से भली भाँति परिचित हैं इसीलिए वे उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में पूर्ण समर्थ रहे हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने पात्रों के मानसिक संघर्षों और हृदय की गुम्फित अंतवृ तियों को बड़े ही कौशल से सुलझाया है। 'वैशाली की नगरवधू' की अम्बपाली और सोमप्रभ 'सोमनाथ' की शोभना, चौला, भीमदेव, महमूद, गंग सर्वज्ञ सभी के व्यक्तित्व का निर्माण मनोवैज्ञानिक धरातल पर ही हुआ है।

अनुकूलता—

आचार्य जी के पात्रों की एक विशेषता और है कि वे कथानक के अनुकूल हैं। यदि ऐतिहासिक उपन्यासों में आधुनिक युग की वेषभूषा एवं विचारधारा वाले पात्र भर दिए जावेंगे तो निश्चित ही वे कथानक के प्रतिकूल ज्ञात होने लगेंगे, जिससे विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न होने का भय रहेगा। कथानक के अनुकूल पात्र न होने से वातावरण सृष्टि में भी व्यवधान पड़ जावेगा। इसी कारण से आचार्य जी ने कथानक के अनुकूल ही पात्रों का सृजन किया है। 'काल विशेष के परिचायक व्यक्तित्व प्रधान पात्र' कथानक के अनुकूल वातावरण की सृष्टि के लिए ही उपन्यास में लाए गए हैं। जैसे सुमाली, प्रहस्त, कुबेर,

अकम्पन, कुम्भकरण, मकराक्ष, मय, वार्तघ्न, देवेन्द्र नहुष, इन्द्र, सूर्पनखा, यमजिह्वा, मयरा, बालि, सुग्रीव आदि (वय रक्षाम) महाराज उदयन, वर्षकार, योधरायण, शम्बव्य काश्यप, ज्ञातिपुत्र सिंह, आचार्य बहुलाश्व, कलिंगसेना, आर्यामातंगी, जीवक कौमारभृत्य, हर्षदेव, बादरायण, व्यास शालिभद्र, सर्वजित् महावीर, गौतमबुद्ध, अजित केसकम्बली, राजनन्दनी चन्द्रप्रभा, जयराज, चन्ड भद्रिक (वैशाली की नगरवधू) रुद्रभद्र, दामो मेहता, कृष्णा स्वामी, रमाबाई, अलविन उस्मान थलहजवीसी, नन्दिदत्त, बालुकाराय, चामुन्डराय, विमलदेव शाह, मस्मोकदेव, दुर्गमदेव, अल्बरूनी, दद्दा चौलुक्य, फतह मुहम्मद, शोभना, फवनलता, देवचन्द (सोमनाथ) आदि पात्र इसी प्रकार के हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासो के चरित्रो मे एक विशेषता और उल्लेखनीय है। उनके इन उपन्यासो मे हमे चार प्रकार के चरित्र देख पड़ते हैं। प्रथम तो जो पूर्णत ऐतिहासिक हैं जैसे पृथ्वीराज, गोरी (पूर्णाहुति) भीमदेव, महमूद (सोमनाथ) शाहजहाँ, औरंगजेब, दारा आदि (आलमगीर) दूसरे जिनके नाम तो ऐतिहासिक हैं किंतु उनके कार्य अधिकांशत कल्पना प्रसूत हैं जैसे बिम्बसार, प्रसेनजित, उदयन, दधिवाहन, वर्षकार (नगरवधू) तीसरे जो ऐतिहासिक नही हैं किंतु उनका निर्माण किसी जनश्रुति अथवा किंवदन्ती के आधार पर हुआ है। कभी-कभी किसी पुस्तक को आप्त मान लेने के कारण भी आचार्य जी ने ऐसे पात्रो का निर्माण किया है। जैसे 'सोमनाथ' उपन्यास मे मुंशी के 'जय सोमनाथ' को आप्त मानने के कारण ही उन्होंने उसके ही कुछ कल्पित पात्रो के नामो को अपने उपन्यास मे स्थान दिया है जैसे गग सर्वज्ञ, गगनराशि आदि। अम्बपाली (नगरवधू) का चरित्र एक किंवदन्ती पर आधारित है। चौथे प्रकार के वे चरित्र हैं जो पूर्णत काल्पनिक हैं और उपन्यासकार ने उन्हे ऐतिहासिक चरित्रो के मध्य ही स्वतन्त्र विकसित होने को छोड दिया है। जिससे वे ऐतिहासिक पात्रो मे ही पूर्ण रूप से घुल मिल गए हैं। वास्तव मे आचार्य जी ने इस वर्ग के पात्रो के निर्माण मे सबसे अधिक परिश्रम किया है। इस प्रकार के पात्रो मे हम सोमप्रभ एव कुन्डनी (नगरवधू) देवस्वामी (फतहमुहम्मद) एव शोभना (सोमनाथ) आदि को रख सकते हैं। आचार्य जी के यह चारो ही प्रकार चरित्र पूर्ण सजीव, स्वाभाविक एव मनोवैज्ञानिक हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने पात्रो को अधिक से अधिक स्वाभाविक एव सजीव बनाने के लिए ही यथार्थवादी शैली का उपयोग किया है। उन्होंने

टेढ़ी-आडी रेखाओ के द्वारा ही नहीं वरन् कार्य-कलापो, कथोपकथनो एव उनके बाह्य एव अन्तर्द्वन्द्वो को चित्रित करके उनके सजीव व्यक्तित्व को मूर्तता एव वास्तविकता प्रदान की है। यही कारण है उनके पात्र अत्यधिक जीवन्त एव विश्वसनीय हैं। उनमे क्रियाशीलता एव गति आदि से अत तक बनी रहती है।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि आचार्य जी के पात्रो म जितनी विविधता है उतनी सम्भवत हिंदी के किसी भी उपन्यासकार के पात्रो मे नही है। उन्होने जहाँ एक ओर पीडित पग-पग पर प्रताडित, शोषित और दलित वर्ग की मूकता को मुखर किया है वही दूसरी ओर स्वार्थी, अभिमानी, सौजन्यविहीन, आरामतलब, विलासी राजाओ एव नवाबो के चरित्रो को भी उरेहा है। उन्होने कुछ आदर्शवादी पात्रो को भी सृष्टि की है। यह पात्र भी क्रियाशील एव गतिवान् है। इनमे अपने आदर्शों के लिए प्राण दे देने की क्षमता है। वे वीर, साहसी और निर्भीक हैं, अपने जातीय गौरव पर उन्हे अभिमान भी कम नही है और अपने इन्ही गुणो के कारण ये पात्र अपने युग की प्रवृत्तियो को चरितार्थ करते हैं। वास्तव मे ये पात्र सामन्तीय युग की सारी प्रवृत्तियो, उसकी दुर्बलताओ और सबलताओ के प्रतिबिम्ब हैं। जैसा कि हम 'वर्गगत पात्रों' का विवेचन करते समय दिखलाते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने अधिकाश उपन्यासो मे व्यक्तियो का चित्रण न करके वर्गों का चित्रण किया है जिससे हमारा आशय केवल मात्र इतना ही है कि उनके यह पात्र वर्ग विशेष की मनोवृत्ति के परिचायक हैं। उन्होने राजा, नवाब, सामत, जमीदार, गोली, विधवा, अछूत आदि विभिन्न वर्गों मे से जहाँ तक व्यक्ति का चित्रण किया है वहाँ उस वर्ग की सभी विशेषताएँ उसमे एकत्र कर दी गई हैं और उस एक व्यक्ति के रूप में आचार्य चतुरसेन जी को काफी सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए 'गोली' उपन्यास के किसुन और चम्पा को हम ले सकते हैं।

चरित्र चित्रण के लिए आचार्य जी ने वर्णन एव कथोपकथन दोनो का ही बडी कुशलता से उपयोग किया है। इन दोनो के समन्वय से उनके पात्रो का चित्रण बडा ही स्वाभाविक एव सजीव हुआ है। जिस प्रकार कुशल चित्रकार कतिपय रेखाओं से चित्र मे सजीवता तथा व्यजकता ला देता है उसी प्रकार आचार्य जी कुछ चुने हुए व्यजक शब्दो के द्वारा पात्र-विशेष को हमारे सामने खडा कर देते हैं। 'बगुला के पख' के जुगनू और 'धर्मपुत्र' मे नवाब

जहांगीर अली खा, 'उदयास्त' के राजा साहब, 'मोती' की जोहरा और नवाब साहब, 'अपराजिता' का माधव, आदि के चरित्रों के निर्माण मे यदि आचार्य जी ने हास्य व्यग्यगर्भित शब्द चित्रो का आश्रय लिया है, तो दूसरी ओर 'धर्मपुत्र' की हुस्नबानू, 'अपराजिता' की राज 'बगुला के पख' की पद्मा, 'सोमनाथ', की चौला और शोभना, 'वैशाली की नगरवधू' की अम्बपाली आदि के चरित्रो का निर्माण उन्होंने कोमलता, करुणता एव यथार्थता व्यजक शब्दो के द्वारा किया है। जैसा कि हम पीछे चरित्रो का विश्लेषण करते समय दिखला चुके हैं। प्रथम आचार्य जी अपने पात्रो की आकृति एव रूप रग का परिचय वर्णन द्वारा विश्लेषणात्मक शैली मे देते हैं, तत्पश्चात् अभिनयात्मक शैली के द्वारा उनके क्रियाकलापों एव वार्तालापो के द्वारा उस पात्र की स्थूल रेखाओ मे रूप, रग और प्राण की प्रतिष्ठा करके उसकी चरित्रगत विशेषताओ को शनै शनै स्पष्ट करते चलते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी की पात्र निर्माण-कला के मूल प्रेरणा-स्रोत—

आचार्य चतुरसेन जी की पात्र-निर्माण कला की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने अपने अधिकाश पात्रो के व्यक्तित्व का निर्माण केवल कल्पना के धरातल पर ही नही वरन् अपने अनुभव के आधार पर ही किया है। जैसा कि हम प्रथम अध्याय मे कह चुके हैं कि प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से उन्होंने एक बार स्वय कहा था कि 'आत्मदाह' के सुधीन्द्र का चरित्र बहुत कुछ उनके स्वय के चरित्र से प्रभावित है। सुधीन्द्र के माता-पिता के रूप मे उन्होंने अपने ही माता-पिता का चित्रण किया है। उन्होंने 'गोली' की नायिका चम्पा की चर्चा चलाते हुए स्वय कहा था कि वह मेरे अनुभव की ही देन है। एक वैद्य के नाते उससे मेरा वर्षों सम्बन्ध रह चुका है। वैद्यक व्यवसाय मे रहने के कारण आचार्य जी के अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। एक वैद्य के रूप मे राजस्थान से उनका निकट का सम्बन्ध था। 'सोमनाथ' 'गोली', 'उदयास्त' आदि उपन्यासो के कितने ही पात्रो के व्यक्तित्व का निर्माण उन्होंने यही के कुछ व्यक्तियो से प्रभावित होकर किया है। कई स्थानो पर उन्होंने स्वय अपने कुछ पात्रो के मूल प्रेरणा स्रोतो की ओर सकेत भी किया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि 'वैशाली की नगरवधू' की अम्बपाली का निर्माण बम्बई प्रवास मे देखी मिसेज [illegible]ता के आधार पर हुआ है।[1] 'अपराजिता' की नायिका राज के दर्शन उन्हें बनारस मे हुए थे।[2]

१ यादायन-आचार्य चतुरसेन पृ ९१।
२ अपराजिता-तप्त जल कण।

आचार्य जी की एक और विशेषता भी उल्लेखनीय है। वे अपने पात्रों के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेते थे। उन्होंने अपने पैंसठवें जन्म दिवस के अवसर पर इस विषय पर प्रकाश डालते हुए स्वयं कहा था कल्पना कीजिए 'वैशाली की नगरवधू' में उस सान्निध्य की, जब उसकी पान्डुलिपि चुरा ली गई थी, और दो साल तक मैं जीवित ही अपनी आग में जलता रहा था, तब सुश्री अम्बपाली ने जैसे मेरे कन्धों के पीछे से फुसफुसा कर मेरे कान में कहा था—लिखो-लिखो, और उसका वह देव दानव दुर्लभ अपार्थिव नृत्य तो मैंने अपनी इन्हीं आँखों से देखा था। मगध के सम्राट् बिम्बसार के रूप में मैं ही तो अलस भाव से उसके शयनागार में रूप और वैभव की मदिरा पीता और बखेरता रहा हूँ। मैंने ही तो अम्बपाली के समक्ष उस दिन एक ही साथ तीन ग्रामों की वीणा बजाकर नील गगन में टिमटिमाते नक्षत्रों की साक्षी में कला को मूर्तिमयी किया था, और हम-अम्बपाली और मैं—जैसे पृथ्वी का प्रलय हो जाने पर, समुद्रों के शेष लीन हो जाने पर, वायु की लहरों पर तैरते हुए, ऊपर आकाश में उठते ही चले गये थे—जहाँ भू नहीं, भुव नहीं, स्व नहीं, पृथ्वी नहीं, आकाश नहीं, सृष्टि नहीं, सृष्टि का बन्धन नहीं, जन्म नहीं,—मरण नहीं, एक नहीं, अनेक नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं।

और इसके बाद मैं जब सोमनाथ की भूमिका में उतरा-सो अप्रतिरथ, महारथी महमूद एक निरीह बालक की भाँति मेरे अनुग्रह का शरणापन्न हुआ, और मैंने इस दुर्दांत योद्धा को किस प्रकार एक विधवा स्त्री के आंचल की छाँह में गजनी भेज दिया है यह तो आप देख ही चुके हैं। अपराजिता की राज और 'धर्मपुत्र' की महामहिमामयी हुस्नबानू जिसने आठ साल मुर्दे के साथ और २४ साल चिता की ठण्डी राख में बैठकर बिताये, मेरी अनुगता रही। उनके हास्य और आसुओं का लेखा-जोखा तो मैंने ही रखा है।'[१] और 'वयं रक्षाम' का रावण जगदीश्वर वह मर गया तो क्या। उसका यौवन तेज-दर्प-साहस-भोग, ऐश्वर्य, जो मैं निरंतर इन ग्यारह मासों में रात दिन देख रहा हूँ, उसके प्रभाव से कुछ-कुछ शीतल होने हुए मेरे रक्त बिन्दु अभी भी नृत्य उठते हैं। गर्म राख की भाँति उसमें गर्मी है आग न सही गर्म राख तो है।'[२] इससे स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी अपने पात्रों का चित्रण करते समय इतने तन्मय हो जाते थे कि बहुधा वे यह भी भूल बैठते थे कि उन पात्रों का वे

१. वातायन—पैंसठवाँ जन्म नक्षत्र, पृ १७६-१७७।
२. वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ. १।

कल्पना मे साक्षात्कार कर रहे हैं या प्रत्यक्ष । यही कारण है कि उनके पात्र भी पूर्ण सजीव, स्वाभाविक एवं आकर्षक हैं और वे पाठक की अनुभूतियो का एक अंग बनकर रह जाते हैं। आचार्य जी की पात्र (विशेषकर ऐतिहासिक पात्र) निर्माणकला बहुत कुछ डा० वृन्दावनलाल वर्मा एवं वाल्टर स्काट की भाँति ही है। इन तीनो के ही अधिकाश पात्रो का स्वरूप प्रथम से ही निश्चित रहने के कारण उपन्यास मे पदार्पण करते ही वे पात्र तुरन्त अपनी स्थूल रूप रेखा प्रस्तुत कर देते हैं। इस रूप रेखा के आधार पर उनका सम्पूर्ण चरित्र विकसित होता है।[1] यह तीनो ही पात्र को जीवन प्रदान करने के उपरात उसे मौलिक गुणो के आधार पर विकसित होने के लिए छोड देते हैं। वे पात्र अन्त तक प्राय बदलते नही हैं, अपने स्वभाव के विरुद्ध नही जाते ।'[2] आचार्य जी के कई पात्र परिवर्तनशील भी हैं जैसे देवस्वामी, शोभना आदि। उनके कुछ ऐतिहासिक पात्रो पर ड्यूमा की पात्र निर्माण कला का प्रभाव भी दीख पडता है। उनका सोमप्रभ (नगरवधू) ड्यूमा के 'थ्री मस्केटियर्स' नामक उपन्यास के आर्तगान का स्मरण दिला देता है।

---

१. उपन्यासकार डा० वृन्दावनलाल वर्मा, पृ. २०० ।

२. ए हिस्ट्री आफ इंगलिश लिट्रेचर एमिली लिवे एण्ड लुई कॅजामियाँ पृ. १०२५ ।

अध्याय—५

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों के कथोपकथन

कथोपकथन

कथोपकथन की परिभाषा—

पात्रो के पारस्परिक वार्तालाप को कथोपकथन अथवा सवाद कहते हैं। कभी-कभी पात्र आत्म तल्लीनता मे अथवा किसी अन्य मानसिक अवस्था मे अपने आपसे ही वार्तालाप करने लगता है, इसे स्वगत कथन कहते हैं। एक अग्रज विद्वान ने कथोपकथन की परिभाषा करते हुए लिखा है—

Composition which produces the impact of human talk as nearly as possible the impact of con versation over heard[1]

कथोपकथन का महत्व एव उद्देश्य—

कथोपकथन का उपयोग कथानक मे क्यो होता है ? एव इसका क्या महत्व है ? वास्तव मे एक ओर यह कथा को गति प्रदान करता है तो दूसरी ओर पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करता है। यदि कथा मे से कथोपकथन के तत्व को निकाल दिया जाय तो कथा मे जो सबसे बडा दोष आ जायेगा, वह होगा कथा पात्रो का अव्यक्त हो जाना। इससे निश्चित रूप से कथा की कलात्मकता उसकी प्रभविष्णुता एव सवेदनशीलता समाप्त प्राय हो जावेगी।

अत हम कह सकते हैं कि कथा साहित्य मे अन्य तत्वो की अपेक्षाकृत इस तत्व का महत्व कही अधिक प्रत्यक्ष रहता है। कथानक के विन्यास मे कहा—क्या सौन्दर्य होता है इसका उद्घाटन तर्क वितर्क और प्रतिपादन से किया जाता है अथवा चरित्राकन मे किसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मे किस प्रकार की वृति का आभास सिद्ध होता है, इसको हमे कल्पनाजन्य अनुभूति से समझने की

---

१ आर्लेबिटस "टावस आन राइटिंग आफ इगलिश" सीरीज २ पृ २३०।

चेष्टा करनी पड़ती है परन्तु सवाद अपने प्रकृतत्व औचित्य और व्यावहारिक रचना से ही अपने सौंदर्य और आकर्षण को समझा देते है, इसमे तर्क वितर्क चिंतन-मनन की उतनी अपेक्षा नही होती। यदि देश काल और सस्कृति विशेष का कोई प्राणी किसी से भी किसी प्रकार की बातचीत करता है तो बातचीत की प्राजलता और विदग्धता, शब्द और वाक्य के प्रयोग, भाषा और पदावली से हमे प्रत्यक्ष मालूम होता है कि व्यक्ति किस कोटि, वर्ग, देश और काल का है। सवाद से अन्य सभी तत्वो का सीधा सम्बन्ध होता है।'[१] इससे कथानक मे तत्व का महत्व स्पष्ट हो जाता है। अब प्रश्न हो सकता है कि कथानक मे कथोपकथन का समावेश किन उद्देश्यो के लिए होता है। वास्तव म कथोपकथन का प्रयोग कथानक मे निम्न उद्देश्यों से किया जाता है–

१ कथानक को गति प्रदान करना,
२ पात्रो के चरित्र का विश्लेषण करना,
३ कथाकार के उद्देश्य को स्पष्ट करना,
४ कथोपथन के व्याज से पूर्ण सकेत देना,
५ कथोपकथन के माध्यम से वातावरण सृष्टि करना आदि।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासो मे उपर्युक्त सभी उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कथोपकथनो का प्रयोग किया है। अगले पृष्ठो मे हम यही देखने का प्रयत्न करेंगे कि उपन्यासो मे उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कथोपकथनो का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है, उनका क्या महत्व और उपयोगिता है तथा आचार्य जी अपने उपन्यासो मे उसकी उपयोगिता एव महत्व की रक्षा कहाँ तक कर सके हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यास में कथानक को गति प्रदान करनेवाले कथोपकथन—

कथोपकथन कथा के प्रचार का प्रधान साधन है। इसके समावेश से जहा एक ओर कथा-सूत्र को गति मिलती है, वही दूसरी ओर नवीन कथासूत्रो की सृष्टि भी होती है। नवीन कथा सूत्र का जन्म कथा मे तभी होता है जब दो विरोधी विचारो मे सघर्ष होता है। इस सघर्ष एव नवीन कथा,सूत्र के उद्गम का स्पष्टीकरण कथोपकथन द्वारा ही सम्भव हो सकता है। कथा गतिशील रहे, केवल यही आवश्यक नही है। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि कथा क्षिप्रगति

१. , कहानी की रचना-विधान, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा पृ- १२१।

से भागने के साथ-साथ सजीवता, चित्रमयता एवं कलात्मकता की भी सृष्टि करने मे पूर्ण समर्थ हो। यह कार्य भी कथोपकथन द्वारा हो सम्भव ही सकता है। किंतु यह स्मरण रहना चाहिये कि एक ओर जहाँ इस तत्व का क्षिप्र, द्रुत एवं सुगठित प्रयोग कथा मार्ग को उत्कर्षोन्मुख करेगा, वही दूसरी ओर स्वच्छंद, अनियंत्रित, अनावश्यक, अनपेक्षित रूप मे विस्तृत एवं कथा को अवरुद्ध कर देने वाले अरोचक कथोपकथनो का उपयोग कथा को बोझिल एवं अकलात्मक बना देगा। अत यह आवश्यक है कि कथोपकथन या कथासूत्र से प्रत्यक्ष सबंध हो, अन्यथा कथानक की शृखला नष्ट हो जायगी। एवं कथा बिखर जावेगी। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने कथोपकथनो मे इस बात का सदैव ध्यान रखा है। उनके कथोपकथन एक ओर जहाँ कथानक को गति प्रदान करते हैं, वही दूसरी ओर अनियन्त्रित एवं अनावश्यक भी नही होने पाये हैं। आचार्य जी के उपन्यासो मे यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। उन्होंने कई स्थानो पर कथोपकथन के द्वारा ही कथा को दूसरी दिशा मे मोड दिया है कथा के यह मोड स्वाभाविक कथोपकथन के कारण अस्वाभाविक भी नही होने पाये हैं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए हम 'वैशाली की नगरवधू' का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

महाराज प्रसेनजित एवं उनके पुत्र राजकुमार विदूडभ का वार्तालाप देखिए। महाराज अपने पुत्र के कार्यो पर बुरी तरह से क्षुब्ध हैं। वे राजकुमार को अपने सामने उपस्थित होने की आज्ञा देते हैं। राजकुमार महाराज के सम्मान की उपेक्षा करते हुए उन्हे उनके मुख पर ही खरी-खोटी सुनाने लगता है। उसकी वाचालता, अक्खड़पन, निर्भीकता, महाराज की उपेक्षा की प्रवृत्ति तथा महाराज के बब्बूपन एवं रुक-रुककर गीदड धमकी देने की प्रवृत्ति के कारण तनाव बढता जाता है और साथ ही कथा भी एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर होती जाती है—

"विदूडभ ने बिना ही प्रणाम किए, आते ही पूछा"—महाराज ने मुझे स्मरण किया था ?

"किया था।"

"किसलिए।"

"परामर्श के लिए।"

"इसके लिये महाराज के सचिव ओर आचार्य और मान्डव्य क्या यथेष्ट नही हैं।"

"किन्तु मैं तुम्हें कुछ परामर्श दिया चाहता हूँ विदूडभ।"

"किन्तु महाराज के परामर्श की मुझे आवश्यकता ही नहीं है।" राजपुत्र ने घृणा व्यक्त करते हुए कहा।

महाराज प्रसेनजित गम्भीर बने रहे। उन्होंने कहा—"किन्तु रोगी की इच्छा से औषधि नहीं दी जाती राजपुत्र।'

"तो मैं रोगी और आप वैद्य हैं महाराज ?"

'ऐसा ही है। यौवन, अधिकार और अविवेक ने तुम्हें भ्रष्ट कर दिया है विद्डभ।"

"परन्तु महाराज को उचित है, कि वे धृष्टता का अवसर न दें।'

"तुम कोशलपति से बात कर रहे हो विद्डभ।"

'आप कोशल के भावी अधिपति से बात कर रहे हैं महाराज ! क्षण भर स्तब्ध रहकर महाराज ने मृदु कण्ठ से कहा—पुत्र विचार करके देखो, तुम्हें क्या ऐसा अविवेकी होना चाहिये ? मैं कहता हूँ—तुमने मेरी आज्ञा बिना शाक्यों पर सैन्य क्यों भेजी है।"

"मैं कपिलवस्तु को नि:शाक्य करूँगा, यह मेरा प्रण है।"

"किसलिए ? सुनूँ तो।"

"आपके पाप के लिए महाराज।"

'मेरा पाप, धृष्ट लड़के ! तू सावधानी से बोल।"

"मुझे सावधान करने की कोई आवश्यकता नहीं है महाराज, मैं आपके पाप के कलंक को शाक्यों के गर्म रक्त से धोऊँगा।"

'मेरा पाप कह तो।"

"कहता हूँ सुनिए, परन्तु आपके पापों का अन्त नहीं है, एक ही कहता हूँ, कि आपने मुझे दासी से क्यों उत्पन्न किया ? क्या मुझे जीवन नहीं प्राप्त हुआ, क्या मैं समाज में पद प्रतिष्ठा के योग्य नहीं !

"किसने तेरा मान भंग किया ?

"आपने शाक्यों के यहाँ मुझे किसलिए भेजा था।"

"शाक्य अपने करद हैं। तू मेरा प्रिय पुत्र है और शाक्यों का दौहित्र।"

विद्डभ ने अवज्ञा की हँसी हँसकर कहा—"शाक्यों का दौहित्र या दासी का पुत्र ? आप जानते हैं वहाँ क्या हुआ ?"

"क्या हुआ ?"

"सुनेंगे आप ? घमण्डी और नीच शाक्यों ने सथागार में विमन होकर

मेरा स्वागत किया, अथवा उन्हें स्वागत करना पड़ा। पर पीछे सथागार को और आसनों को उन्होंने दूध से धोया।"

प्रसेनजित का मुँह क्रोध से लाल हो गया। उन्होंने चिल्लाकर कहा—क्षुद्र शाक्यों ने यह किया।[1]

प्रस्तुत कथोपकथन के प्रारम्भ से ऐसा आभास होने लगता है कि अब पिता, पुत्र में संघर्ष निकट है। पुत्र असंयत है, पिता क्रोधित। एक कोशल का सम्राट है तो दूसरा राजकुमार। दोनों, दोनों की उपेक्षा कर रहे हैं। पुत्र, पिता के पापों का स्मरण दिलाता है, पिता उसकी धृष्टता पर अंतिम बार चेतावनी देता है। संघर्ष चरम-सीमा पर पहुँचकर अकस्मात् मुड़ जाता है। शाक्यों द्वारा पुत्र के अपमान की बात सुनकर पिता का क्रोध पुत्र से हटकर शाक्यों पर पहुँच जाता है। उसके मुख से अनायास ही निकल जाता है 'क्षुद्र शाक्यों ने यह किया।' इसके पश्चात् ही कथा दूसरी दिशा की ओर मुड़ जाती है। अब महाराज स्वयं शाक्यों के वश नाश करने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। वे पुत्र के मुख से खरी खोटी बातें सुनकर भी मुँह नीचा कर लेते हैं। किंतु पुत्र द्वारा छलबल से गद्दी पर अधिकार करने की बात सुनकर वे पुनः क्रोधित हो उठते हैं। संघर्ष बढ़ जाता है वाद-विवाद के साथ-साथ कथा भी अग्रसर होती जाती है और अंत में राजकुमार विदुडभ अपने पिता पर तलवार खींच लेता है। इसी समय बन्धुमल्ल का कथा में आकस्मिक प्रवेश होता है। इस कथोपकथन में कथा ने एक साथ तीन मोड़ लिए हैं। इसी कथोपकथन के द्वारा कथा चरम-सीमा पर पहुँच रही है।

इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं। 'नगरवधू' 'सोमनाथ, 'गोली' आदि प्रमुख उपन्यासों में कथा को प्रवाहपूर्ण बनाये रखने के लिए उपन्यासकार ने कथोपकथनों का ही आश्रय लिया है। जहाँ कहीं भी कथा अवरुद्ध होने लगी है अथवा उसका प्रवाह मंद होने लगा है, आचार्य चतुरसेन जी ने सरस कथोपकथनों की सृष्टि कर कथा को पुनः गतिशील एवं रोचक बना दिया है।

कथा को गति प्रदान करने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने 'कथोद्घातक' कथोपकथनों का भी प्रयोग किया है। "पहले जो प्रसंग चल रहे हैं उसी के कुछ शब्दों को दुहराते हुए जब कोई पात्र सहसा सम्मुख आ जाता है तब कथोद्घातक होता है।' इस प्रकार के कथोपकथन विशेष चमत्कारयुक्त होने के साथ-साथ कथा प्रवाह में त्वरा उत्पन्न करने वाले होते हैं। ऐसे कितने ही प्रयोग आचार्य

१. वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन—पृ. १५०-१५२।

जी के उपन्यासो मे हुए हैं। 'सोमनाथ' का एक उदाहरण देखिए छद्म वेश मे महमूद सोमनाथ महालय मे प्रवेश करता है। इसी समय 'निर्माल्य' के लिए लाई गई चौला उसकी दृष्टि मे चढ जाती है। वह प्रथम दृष्टि मे ही उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। चौला को लाने वाले अस्वारोही से वह चौला के लिए ही भिड जाता है, इसी समय युवराज भीमदेव का यह कहते हुए प्रवेश होता है 'मूर्खो देवस्थान मे लडते हो।' इस पर युवक ने इस आगन्तुक को देखकर तलवार नीची कर ली। परन्तु साधु ने (महमूद ने) लाल लाल आँखें करके निर्भय स्वर से कहा—'दो आदमियो के झगडे मे बिना बुलाए बीच मे पडकर मूर्ख कहने वाला ही मूर्ख है।'

आगन्तुक योद्धा ने जलद गम्भीर स्वर से पूछा—'तुम कौन हो ?'

'यही मैं तुमसे पूछता हूँ' साधु ने उद्दडता से कहा।

'इस झगडे का कारण ?'

'तुम्हारे पचायत मे पडने का कारण ?'

'तब देख कारण।' आगन्तुक योद्धा ने तलवार का भरपूर हाथ साधु पर फेंका। साधु भी असावधान न था। क्षण भर मे ही दोनो योद्धा असाधारण दक्षता से युद्ध करने लगे।

लोगो ने एक ध्वनि सुनी 'शान्त पाप' शात पाप। पहिले क्षीण फिर स्पष्ट।

प्रस्तुत उदाहरण मे कितने नाटकीय ढग से कथोद्घातक द्वारा कथा को गतिशील बनाया गया है। आचार्य चतुरसेन जी ने कथा को गतिशील एव प्रभावशाली बनाने के लिए अपने उपन्यासो मे इस प्रकार के कथोपकथनो का खुलकर प्रयोग किया है।

कथोपकथन द्वारा पात्रो के चरित्र का विश्लेषण—

कथानक को गति प्रदान करने के साथ-साथ कथोपकथन का दूसरा कार्य है पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालना, उसे स्पष्ट करना। कोई भी कथानक पात्रो के व्यक्तित्व एव चरित्र पर ही आधारित होता है। अत कथोपकथन का सीधा सम्बध पात्रो से ही है। कथोपकथन के अभाव मे न पात्रो के व्यक्तित्व की रेखा उभर सकेगी और न ही उनके चरित्र का ही विश्लेषण सम्भव हो सकेगा। कथाकार किसी भी चरित्र के विषय में भले ही सब कुछ कह डाले किंतु पाठक तब तक उस चरित्र के प्रति नैकट्य का अनुभव नहीं कर सकेगा, जब तक पात्र स्वय मुँह नहीं खोलता। पाठक की सहज जिज्ञासा यह ज्ञात करने की संदेव

उत्सुक रहती है कि अमुक पात्र के विषय में उपन्यास के अन्य पात्रों के क्या विचार हैं, उसके शत्रु एवं मित्र उसके विषय में क्या विचारते हैं, अथवा उस पात्र के अपने विषय में स्वयं के क्या विचार हैं अथवा किसी समस्या पर किंवा घटना पर किस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व विभिन्न पात्रों के हृदय में होता है।[1] इन सभी की जानकारी उपन्यासकार पाठकों को कथोपकथन के माध्यम से ही दे सकता है। आचार्य चतुरसेन जी ने भी अपने उपन्यासों में पात्रों के चरित्र को उभारने एवं निखारने के लिए कथोपकथनों का आश्रय लिया है। उनके कथोपकथन एवं स्वगत कथन पात्रों के हृदय के प्रत्येक पट को पूर्णरूपेण खोलकर सामने ला रखते हैं, जिससे पात्रों के चरित्र का विश्लेषण होने के साथ-साथ कथा भी अग्रसर होती है।

'सोमनाथ' उपन्यास का एक उदाहरण देखिए। देवा, शोभना से प्रेम करता है। शोभना भी देवा को चाहती है। किंतु दोनों एक-दूसरे के हो नहीं पाते धर्म की दीवाल दोनों के मध्य में है। इस धर्म की दीवाल को ढहाने और शोभना को हस्तगत करने के लिए ही देवा यवन धर्म स्वीकार कर महमूद का सिपहसालार बन जाता है। सोमनाथ महालय को नष्ट करने में वह सहायता देता है, धर्म की दीवाल को वह अपने साहसिक प्रयत्नों द्वारा चूर-चूर कर डालता है, किंतु शोभना तो भी उससे प्रेम करती रहती है। देवा के धर्म विरोधी क्रिया कलापों का क्या शोभना पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा? क्या वह अमीर के दास हो जाने पर देवा से प्यार करती रही? आदि प्रश्न स्वभावतः उठते हैं। उपन्यासकार को कथा को अग्रसर तो करना ही है, साथ ही पाठकों के मस्तिष्क में उठी हुई शंकाओं का समाधान भी। अतः वह शोभना के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए कथोपकथन का आश्रय लेता है। देखिए—

'देवा, यह तुम अमीर के दास के समान बोल रहे हो।'

दास क्यों? मैं अमीर का सबसे बड़ा सिपहसालार हूँ। आज की यह कठिन मुहिम मैंने सर की है। सोमनाथ मैंने सर किया, और अमीर जिसे सबसे बड़ी दौलत समझता है वह क्या है जानती हो?'

'क्या है?'

'चौला! वह दौलत उसकी गोद में डालकर मैं आज आधी दुनियां की बादशाहत अमीर से लूँगा। शोभना, अब तुम अपने को महारानी से कम न समझना।'

---

१ 'चरित्र चित्रण' वाले अध्याय में इस विषय में विस्तार से लिखा जा चुका है।

'देवा, तुम तो बड़े-बड़े सौदे करने लगे।'

'यह इस तलवार की बदौलत शोभना, और तेरी इन आँखों के जादू की बदौलत। जिसमे मुझे मारने और जिन्दा करने की ताकत है।'

'लेकिन देवा, देखती हूँ, तुमने सबसे बड़ा सौदा भी कर लिया।'

कैसा?

'तुम अपने को भी बेच चुके।'

'तो इससे क्या, उसकी कीमत कितनी मिली जानती हो? शोभना, मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी चीज, और एक बादशाहत।'

'परन्तु देवा, एक दिन न शोभना रहेगी, न यह भीख मे मिली बादशाहत। केवल तुम्हारे यह काले कारनामे रह जायेंगे।'

'क्या कहा—भीख मे।'

'नही, गद्दारी, विश्वासघात, देश और धर्म के द्रोह के सिलसिले मे मिली बादशाहत।'

'शोभना, यह तुम क्या कह रही हो, जानती हो—यह सब तुम्हारे ही लिए।

'इसी से तो, मैं शर्म से मरी जाती हूँ।'

'तुम्हारी स्त्री-बुद्धि है न।'

'स्त्री हूँ, तो मर्द की बुद्धि कहाँ से लाऊँ।'

'खैर, अब देर हो रही है, बाहर मेरे सिपाही खड़े हैं, मेरी चीज मेरे हवाले करो।'

'कौन चीज?'

'वही चौला देवी।'

'किसलिए?'

'उसे मैं अमीर नामदार की भेंट करूँगा।'

'अमीर कहाँ है?'

'पास ही है, इसी किले मे।'

'मेरी बात मानो देवा, तुम इतने बड़े बहादुर हो मेरी खुशी का एक काम करो।'

'शोभना की खुशी के लिए तो मैं अपना दाहिना हाथ भी काटकर दे सकता हूँ। कहो क्या चाहती हो।'

'उस दैत्य अमीर का सिर काटकर मुझे ला दो।'

'फतह, मुहम्मद चमक कर दो कदम पीछे हट गया। उसने कहा—'है यह कैसी बात !'

'क्या नहीं कर सकते ? जिसका पेशा लूट-हत्या धर्मद्रोह, अत्याचार और अन्याय है, जो लाखों मनुष्यों की तबाही का कारण है, जो मृत्युदूत की भांति सत्रह बार भारत को तलवार और आग की भेंट कर चुका, वह इस क्षण तुम्हारे हाथ में है, बगुल में है, जाओ, अभी उसका सिर काट लाओ शोभना देवी की यही तुमसे आरजू है।'

"नहीं, नहीं शोभना, यह नहीं हो सकता, मैं दास, अनाथ, अपमानित, बहिष्कृत देवा, उसकी कृपा से आज इस रुतबे पर पहुँचा हूँ, भला मैं उसके साथ धोखा कर सकता हूँ।"

"क्या शोभना के लिए भी नहीं।"

"भगवान के लिए भी नहीं, किसी तरह नहीं।"[1]

शोभना के हृदय में महमूद के प्रति घृणा है, अपने प्रेमी के प्रति नहीं। वह उसे अब भी सच्चे हृदय से चाहती है। इसी कारण वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति देवा को सुधारने, सँभालने और एक नवीन मार्ग पर मोड़ने में लगा देती है। किन्तु वह असफल होती है। देवा के नकारात्मक उत्तर के पश्चात् वह प्रेमिका से रणचंडी हो जाती है। परिस्थितियों और आंतरिक भावों के परिवर्तन के साथ-साथ उसकी वाणी एवं आचरणों में भी परिवर्तन आ जाता है। वह देवा को छल से एक शून्य अलिन्द में बन्द कर देती है। दोनों ओर के प्रेम के भावों का लोप हो जाता है। दोनों एक दूसरे से प्रतिशोध लेना चाहते हैं। एक असहाय है, विवश है अत प्रेम की दुहाई दे रहा है और दूसरा सबल है अत उसे दुत्कार रहा है। देखिए—

"अब कोप और अधैर्य से पागल होकर उसने ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर कहा—"दगा-दगा, तुमने मुझसे दगा की शोभना।" एक छोटा-सा मोखा खुला। उसमें से थोड़ा प्रकाश उस कक्ष में आया। शोभना ने मोखे से झांककर कहा "निस्नेह देवा, मैंने तुमसे दगा की। क्योंकि मैं औरत हूँ। मेरे पास और उपाय नहीं था।"

"लेकिन शोभना, मैंने तुझे प्यार किया था।"

'प्यार तो मैंने भी तुझे किया था। देवा।"

"पर तेरा प्यार मेरे जैसा नहीं था।'

१. सोमनाथ, पृ. ४३२-४३४।

"शायद, प्यार कभी किसी ने तराजू पर तो तौला नही। तेरा कैसा प्यार था यह तू जान, मैं तो अपने प्यार को जानती हूँ।"

"उसी प्यार का यह नतीजा ? विश्वासघात।"

"निस्संदेह, प्यार तून भी किया—और मैंने भी। पर प्यार होता है अन्धा। वह यह न देख सका—कि तू क्रीता दासी का दास बेटा है, और मैं ब्राह्मण की बेटी हूँ।"

"इससे क्या शोभना, हम दोनो एक दूसरे को प्यार करते थे।"

"पर दास और ब्राह्मण के रक्त मे तो अन्तर है न दास के रक्त ने प्यार को दासता के दाँव पर लगाया। धर्म, ईमान, मनुष्यता सब पर लात मारकर उसने स्वार्थ लिप्सा ही को देखा। पर ब्राह्मण के रक्त ने मनुष्यता पर प्यार को न्योछावर कर दिया। आज मेरी आँखें खुल गई। मैंने तुम्हारा असली रूप देख लिया।"

"क्या देखा ?"

"कि तुम मनुष्य नहीं, कुत्ते हो। तुम्हारे प्यार का मूल्य एक जूठी रोटी का टुकड़ा है।"

"शोभना !" वह मुहम्मद क्रोध में उन्मत्त होकर चिल्लाया। उसने कहा शोभना, जैसा मेरा प्यार अन्धा है वैसा ही गुस्सा भी है।"

"बहुत कुत्तों का गुस्से मे गुर्राना देखा है मैंने।"[१]

इस वार्तालाप के पश्चात् ही शोभना अपने भदाध प्रेमी का तलवार से शिरोच्छेद कर देती है।

उद्धरण कुछ लम्बा अवश्य हो गया है किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी के कथोपकथन पात्रो के चरित्र का विश्लेषण करने, उभारने और निखारने म पूर्ण समर्थ हैं। उपर्युक्त उदाहरण में एक बात और भी द्रष्टव्य है। भिन्न भिन्न परिस्थितियो एव आन्तरिक भावो के अनुरूप एक ही पात्र की वाणी एव उसके क्रिया कलाप मे परिवर्तन आता गया है। प्रथम सवाद में शोभना का हृदय पक्ष उभरा हुआ है—वह अपने प्रेमी को पुचकार कर, दुलारकर, रिझाकर, रटकर, लजाकर अपना बनाना चाहती है। किन्तु दूसरे सवाद में उसका मस्तिष्क पक्ष उभरा हुआ है। इस सबके फलस्वरूप भी देवा के नकारात्मक उत्तर को सुनकर उसका रणचंडी रूप उभर आता है। प्रथम सवाद मे उसकी आन्तरिक वेदना व्यंजित है तो दूसरे मे उसका मानसिक उद्वेग एवं

१. सोमनाथ, पृ. ४३६-४३७।

उत्तेजना । इस प्रकार प्रस्तुत कथोपकथन शोभना के चरित्र के दोनों ही पक्षों को उभारने में पूर्ण सफल रहा है। साथ ही शोभना दो विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के संवादों एवं क्रियाकलापों को करते हुए भी अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखती है और साथ ही अपनी आंतरिक और मानसिक दशा के प्रत्यक्ष उतार चढ़ाव का पूर्ण परिचय देती जाती है। चरित्र प्रकाशक कथोपकथन की यही सबसे बड़ी सफलता है।

आर्यमातंगी सोमप्रभ संवाद[1] नन्दिनी कलिंग सेना संवाद[2], राजकुमारी चन्द्रप्रभा-सोमप्रभ संवाद[3] (नगरवधू), भीमदेव महमूद एवं गंग सर्वज्ञ संवाद[4] अली बिन उस्मान-महमूद संवाद[5], घोघाबापा नन्दिदत्त संवाद[6], घोघाबापा गजनी संवाद[7], दामो महता मत्स्याकदेव संवाद[8], धर्मराजदेव-अजयपाल संवाद[9], महमूद-उपसेनापति संवाद[10], कृष्णा स्वामी रमा संवाद[11], महमूद-दामो महता संवाद[12], दामो महता फतह मुहम्मद संवाद[13], फतह मुहम्मद शोभना संवाद[14] महमूद-शोभना संवाद[15], (सोमनाथ) ठाकुर महाराजा संवाद[16], चम्पा-कुंवरी

१. वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन, पृ १०४-१०८ तक।
२ वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन, पृ २८८-२९४ तक।
३ वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन, पृ ४६८-४७१ तक।
४. सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ ९ से ११ तक।
५ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ ७२ से ७५ तक।
६ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ. १०९ से ११२ तक।
७ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ ११८ से १२० तक।
८ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ १५५ से १५७ तक।
९. सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ १७९ से १८२ तक।
१० सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ २०५ से २०८ तक।
११. सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ २८४ से २८६ तक।
१२ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ ३०४ से ३०९ तक।
१३ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ ३२६ से ३२९ तक।
१४ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन, पृ ४३२ से ४३५ तक।
१५ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ ४४५ से ४४८ तक।
१६ गोली-आचार्य चतुरसेन, पृ १०१ से १०२ तक।

सवाद[1], चम्पा वासुदेव महाराज सवाद[2], रानी चन्द्रमहल-चम्पा सवाद[3], (गोली) दैत्यबाला सपरण सवाद[4], मायावती रावण सवाद[5], शम्बर-रावण सवाद[6] सूर्पनखा-रावण सवाद[7], (वय रक्षाम) आदि सवाद इसी प्रकार के चरित्र प्रकाशक सवाद हैं। वास्तव मे इसी प्रकार के कथोपकथनों के माध्यम से आचार्य चतुरसेन जी ने पात्रों के चरित्र को उभारा है।

कथोपकथन के व्याज मे अपने उद्देश्य को स्पष्ट करना —

कई स्थलो पर कथाकार कथोपकथन द्वारा अपने उद्देश्य को भी स्पष्ट एव प्रकट करता है। अपने विचार वह स्वतन्त्ररूप से कथा मे ठूस नहीं सकता अत उसे पात्रों के कथोपकथन का ही सबल ग्रहण करना पड़ता है। किसी भी पात्र पर अपन व्यक्तित्व को आरोपित करके उसके माध्यम से वह अपने विचारो की अभिव्यक्ति करता है। यद्यपि कुछ विद्वानो ने उपन्यास मे कथोपकथन द्वारा अपने निश्चयो, सिद्धान्तो, कल्पनाओ, ज्ञान भण्डार आदि के दिग्दर्शन करने को अधिकार का दुरुपयोग बतलाया है, किन्तु यदि एक सीमा तक कथा और चरित्र के साथ अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए इस अधिकार का सदुपयोग किया जाय तो मैं समझता हू कि यह अधिकार का दुरुपयोग नहीं है। आचार्य चतुरसेन जी ने तो अपने उपन्यासों मे अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए कथोपकथन का खुलकर प्रयोग किया है। कहीं-कहीं पर तो उन्होंने कथोपकथनो को अपने विचारो के प्रचार का साधन ही बना लिया है। उनकी यह प्रवृत्ति "बहते आँसू"[8] 'अमर अभिलाषा', 'अदल बदल'[9], "नगरवधू,"[10] 'उदयास्त'[11], 'वयरक्षाम'[12],

---

१. गोली-आचार्य चतुरसेन, पृ १०६ से १११ तक।
२. गोली-आचार्य चतुरसेन, पृ २३९ से २४१ तक।
३. गोली-आचार्य चतुरसेन, पृ. ३१८ से ३२१ एवं ३३९ से ३४५ तक।
४ वयं रक्षाम' आचार्य चतुरसेन—पृ. ६ से ८ तक।
५. वयं रक्षाम' आचार्य चतुरसेन—पृ. १८२ से १८५।
६. वयं रक्षाम' आचार्य चतुरसेन—पृ १८७ से १८९ तक।
७ वयं रक्षाम. आचार्य चतुरसेन—पृ २७३ से २८३ तक।
८. बहते आँसू पृ ४९ से ५६ तक।
९ अदल-बदल पृ १५ से २७ तक, ४५ से ५८ तक आदि।
१०. नगरवधू पृ. ३२, ५०, ५१, १५८, १६१, १६५, ४८१।
११. उदयास्त पृ. ५२—५७ तक ६१ से ६३ तक ७८ से ८२ तक ८८ से ९६ तक १०० से १०४ तक आदि।
१२. वयं रक्षाम पृ. ३३६ से ३३८ तक आदि।

'बगुला के पंख'[१], 'खग्रास'[२] एवं 'पत्थरयुग के दो बुत'[३] 'सोना और खून'[४], आदि उपन्यासों में विशेष रूप से उभ री हुई है, इसका कारण उनकी अपनी स्वयं की यह धारणा थी कि "मैं उपन्यासों को कथानक पर आधारित नहीं रखता, विचारों पर आधारित करता हू।"[५] कथानक के अन्य उद्देश्यों की दृष्टि से आचार्य चतुरसेन जी के ऐसे कथोपकथन अधिकांशतः लम्बे एवं विचार प्रधान होने के कारण दुरूह हो गये हैं किन्तु जहाँ पर उन्होंने विद्वता प्रदर्शन के मोह मे अधिक न पड़कर स्वाभाविक कथोपकथनों के ब्याज से अपने उद्देश्य को स्पष्ट करना चाहा है, वहाँ वे अधिक सफल रहे हैं। इस दृष्टि से "अपराजिता" "सोमनाथ" "गोली" आदि उपन्यासों के कथोपकथन अधिक स्वाभाविक हैं। "सोमनाथ" का एक उदाहरण देखिए —

महमूद सोमनाथ महालय को नष्ट कर चुका है, देवमूर्ति के साथ मूर्ति-पूजक कितने ही निरीह प्राणियों को वह मृत्यु के घाट उतार चुका है। इसी समय महालय के अधिकारी कृष्णस्वामी की पत्नी रमाबाई से उसका सामना होता है। रमाबाई उसके अमानवता पूर्ण कार्यों पर उसे फटकारती है।

'महमूद बड़ी देर तक उस औरत की ओर ताकता रहा, एक हल्की मुस्कान और करुणा की झलक उसके नेत्रों में आई। उसने अलद गम्भीर स्वर में कहा "औरत, तलवार के विजेता महमूद के सामने तूने जो सच कहा, वह बादशाहों के लिए इज्जत की चीज है। दुनिया में दो चीजें लोगों की जिन्दगी बख्शती हैं। एक सूरज की किरणें और दूसरा माँ का दूध। तूने जिन्दगी से प्यार करने की ओर मेरा ध्यान दिलाया है। ठीक कहा तूने औरत। और तू माँ है, माँ के बिना महमूद पैदा ही न हो सकता था। फिरदौसी, अलबरूनी, अरस्तू, शेखसादी ये सब माँ के बच्चे हैं। ऐ माँ, आगे बढ़ और इस बच्चे के सिर पर हाथ रख कर इसे दुआ बख्श, जिसने तीस वर्ष तक धरती को अपने पैरों से कुचलकर उसे लोहू से लाल किया है।"

दो कदम आगे बढ़कर महमूद सिर झुका कर एक बालक की भाँति रमा बाई के आगे आ खड़ा हुआ।"

---

१. बगुला के पंख पृ. १२८–२०५।
२. खग्रास, पृ. ८६ से ९५ तक, २७१–२७७ तक, २८३ से २९०, २९२–२९८।
३ पत्थर युग के दो बुत ९४–९६, १०० से १०२ आदि।
४. सोना और खून पूर्वार्द्ध १०२ से १०३ तक।
५. आजकल जनवरी १९५९ पृ. ५९।

रमाबाई का रुद्र भाव एकबारगी ही जाता रहा। उसने हाथ की लकडी फेंक आगे बढकर महमूद के मस्तक पर हाथ रखकर और आंखो मे आसू भर कर कहा— 'कैसे तू जिंदा आदमी को मार सकता है, उनका घर बार लूट सकता है, अरे महमूद, उनकी भी तेरी सी जान है, उन्हे कितना दुख होता होगा, बोल तो।" रमाबाई की आंखो से झर झर आंसू बह चले।

महमूद ने सिर ऊँचा किया। उसने कहा "बहुत लोग मुझसे अपने राज्य और दौलत के लिए लडे। लेकिन इसान के लिए आज तक मुझसे कोई नही लडा। मैं खुदा का बन्दा महमूद वही कहूगा जो मुझे कहना चाहिए। यह औरत, जो मेरे सामने खडी है उसने मुझे एक नई बात बताई है, जिसे मैं नही जानता था। इसके हाथ मे तल्वार नही है, तलवार का डर भी इसे नही है। यह रोती और गिडगिडाती नही। बादशाहो के बादशाह महमूद को फटकारती है, इसान के प्यार ने इसे इस कदर मजबूत बनाया है।"[१]

महमूद रमाबाई से कुछ माँगने को कहता है, रमा उससे भविष्य मे विनाश न करने का वरदान माँगती है। महमूद उसकी बात स्वीकार करके उसी क्षण देव पट्टन से सेना को वापस लौटने का आदेश दे देता है।

प्रस्तुत उदाहरण मे उपन्यासकार ने अपरोक्षरूप से अपने अहिंसा के सदेश एव मानव पूजा की भावना को रमाबाई के मुख से महमूद के समक्ष कहला दिया है। किंतु यह कथोपकथन लम्बा होने पर भी कही से भी अस्वाभाविक नही होने पाया है। इसका कारण है कि इसमे उपन्यासकार ने कथोपकथन के तीनो उद्देश्यो को—कथानक को गति प्रदान करना, चरित्र को उभारना एव उद्देश्य को स्पष्ट करना—एक साथ अनस्यूत किया है। रमा की स्नेह सिक्त फटकार मे अहिंसावाद का सदेश है, तो महमूद के पट्टन प्रस्थान करने एव भविष्य मे विनाश न करने की प्रतिज्ञा से कथानक को गति मिलती है। रमाबाई की निर्भीकता, साहस, अक्खडपन, प्रगल्भता एव सबसे ऊपर पतिभक्ति आदि उसके चारित्रिक गुण उपर्युक्त कथोपकथन से स्वय स्पष्ट हो जाते हैं। मेरे विचार से कथाकार के उद्देश्य को स्पष्ट करने वाले ऐसे ही कथोपकथन उपन्यास मे प्रयुक्त होने चाहिए।

कथोपकथन के व्याज से पूर्व संकेत —

कभी-कभी कथाकार कथोपकथन के माध्यम से पूर्व संकेतों की भी योजना करता है जिससे कथानक की कलात्मक महत्ता बढ जाती है। आचार्य चतुरसेन

१. सोमनाथ-पृ. ३८६-८७।

जी के उपन्यासों में इस प्रकार के कथोपकथन भी प्राप्त हैं। 'वैशाली की नगर वधू' का एक उदाहरण देखिए —

भगवान वादरायण व्यास के आश्रम पर अकस्मात् मगध सम्राट् और अम्बपाली की भेंट हो जाती है। वहीं दोनों में परस्पर 'सौदा' हो जाता है। इस 'सौदे' पर भविष्यवाणी करते हुए भगवान् कहते हैं।

भगवान् ने हँसकर कहा 'अब कहो शुभे अम्बपाली, मैं तुम्हारा क्या प्रिय कर सकता हूँ ?

अम्बपाली मौन रही। सकेत पाकर मागव चले गए। उनके जाने पर अम्बपाली ने कहा 'भगवन्, इस समय क्या किसी गुरुतर कार्य में सलग्न है ?'

'नहीं, नहीं, मैं तुम्हारी ही गणना कर रहा था।'

'इस भाग्यहीन के भाग्य में अब और क्या है ?'

'बहुत कुछ कल्याणी। तुम्हारा सौदा सफल है, तुम मगध के सम्राट की माता होगी। किंतु ।'

अम्बपाली ने विस्मित होकर कहा—

'भगवान् सर्वदर्शी हैं, पर 'किंतु' क्या ?'

'किंतु साम्राज्ञी नहीं।

अम्बपाली के होठ काँपे, पर वह बोली नहीं। भगवान् ने फिर कहा 'और एक बात है शुभे।'

'वह क्या भगवन् ?'

'तुम वैशाली गणतन्त्र की जन हो, वैशाली का अनिष्ट न करना।'[१]

यहाँ पर आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत कथोपकथन के माध्यम से भविष्य में घटित होनेवाली जिन घटनाओं की ओर संकेत किया है, वस्तुत उपन्यास के अंत में वही घटनाएँ घटित होती हुई दीख पड़ती है।

वातावरण सृष्टि—

कथोपकथन का एक उद्देश्य वातावरण सृष्टि एवं देश काल का बोध कराना भी है। किसी भी संस्कृति अथवा समाज को प्रत्यक्ष करने के लिए कथाकार के समीप कथोपकथन एक सुन्दर माध्यम है। दो पात्रों के कथोपकथन द्वारा वह तत्कालीन समाज अथवा संस्कृति को साकार कर सकता है।

---

१. वैशाली की नगर वधू, पृ. २६२।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण निर्माण के लिए इसी प्रकार के कथोपकथनों की सृष्टि की है। इससे एक ओर जहाँ कथोपकथनों में स्वाभाविकता आ गई है वहीं दूसरी ओर वर्णित युग भी साकार हो उठा है। यहाँ हम बौद्ध काल से सम्बन्धित आचार्य जी के उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

कोशल नरेश महासेन का विवाह कलिंग सेना से होने जा रहा है। इस उपलक्ष्य में उन्हें कितनी ही दासियाँ भेंट की जाने वाली हैं। उन दासियों में चम्पा की राजनन्दनी चन्द्रप्रभा भी एक है। यह समाचार प्रसेनजित के पुत्र विदूडम को महावीर स्वामी के द्वारा ज्ञात होता है। महावीर स्वामी की आज्ञा से ही वह राजकुमारी की रक्षा करना चाहता है। इसी उद्देश्य से वह अपनी नवीन होने वाली माता कलिंगसेना के समीप अपनी माता के साथ प्रार्थना लेकर जाता है। देखिए —

'विदूडम ने अभिवादन किया। कलिंगसेना ने हँसकर दोनों से कहा 'स्वागत बहिन, स्वागत जात, इस अनवकाश में अवकाश कैसे मिला ?'

'निमित्त से अम्मे विदूडम ने बात न बढ़ाकर कहा।'

'तो निमित्त कहो जात ? गांधारी रानी ने आशंकित होकर कहा।

'एक दुष्कर्म रोकना होगा, अम्मे।'

'दुष्कर्म ?'

'हाँ, अम्मे।'

'कह, जात ?'

'राजमहिषी ने विवाहोपलक्ष में महाराज को भेंट देने के लिए एक दासी मोल ली है।'

गांधारी कलिंगसेना ने मुस्कराकर कहा 'तो पुत्र, इसमें नवीन क्या है, असाधारण क्या है, दुष्कर्म क्या है।'

'अम्मे, वह दासी चम्पा की राजनन्दिनी—सुश्री चन्द्रभद्रा शील चन्दना है।'

'अब्भु मे, अब्भु मे। यह तो अति भयानक बात है पुत्र।'

'इसका निराकरण करना होगा, अम्मे।'

'तुमसे किसने कहा ?'

'श्रमण भगवान् महावीर ने।'

'कुमारी कहाँ है भद्र ?'

'दक्षिण हर्म्य के अन्त प्रकोष्ठ मे।'

'तब चलो हला, राजकुमारी को आश्वासन दें।'

'किंतु करणीय क्या है बहिन ?'

'कुमारी से कोशल के राजकुमार को क्षमा माँगनी होगी।'

'परन्तु उसकी रक्षा ?'

'क्या महिषी देवी मल्लिका सब जान-सुनकर भी राजनन्दिनी को दासी भाव से मुक्त न करेंगी ?'

'हो सकता है, पर पिता जी से आशा नही है। इसलिए अभी उन्हे तुरत श्रावस्ती से बाहर गोपनीय रीति से भेजना होगा। पीछे और बातो पर विचार होगा।'

'तो जात, तू व्यवस्था कर। तब तक हम राजनन्दिनी को आश्वासन देंगी।'[1]

प्रस्तुत उदाहरण मे पाली एवं प्राकृत के कुछ शब्दो का प्रयोग केवल वातावरण निर्माण के लिए ही किया गया। 'अम्मे, जात, अम्मु, पुत्र, हला आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। इसके प्रयोग मात्र से तत्कालीन वातावरण पूर्णरूप से उभर आया है। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासो मे वातावरण-निर्माण के लिए इसी प्रकार के कितने ही संवादो की सृष्टि की है।

आचार्य चतुरसेन जी के कथोपकथनो की प्रमुख विशेषताएँ.—

ऊपर हमने दिखलाया कि उपन्यास के कथोपकथन की रचना आचार्य चतुरसेन जी ने किन उद्देश्यो को लेकर की है। केवल कथोपकथन का उद्देश्यपूर्ण होना ही आवश्यक नहीं है, वरन् कथोपकथन की सफलता के लिए कुछ अन्य गुणो का होना भी आवश्यक है। उद्देश्यपूर्ण कथोपकथन की सफलता भी उसकी सार्थकता, अनुकूलता, सरलता, रोचकता, सम्बद्धता, स्वाभाविकता, वैदग्ध्यपूर्णता एवं संक्षिप्तता आदि गुणो के कारण ही सम्भव है। इन गुणो के अभाव मे एक उद्देश्यपूर्ण कथोपकथन भी शिथिल, अस्वाभाविक एवं नीरस हो जाता है। आचार्य चतुरसेन जी के कथोपकथन उद्देश्यपूर्ण होने के साथ-साथ उपर्युक्त गुणो से भी पूर्ण हैं। यहाँ हम आचार्य जी के कथोपकथनो मे प्राप्त उपर्युक्त गुणो का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सार्थकता एवं अनुकूलता —

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो के अधिकांश कथोपकथन सार्थक एवं

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ३१८-३१९।

कथानक के अनुकूल है। यदि कथानक म निरर्थक कथोपकथन को स्थान दिया गया, तो यह निश्चित है कि अन्य समस्त गुणो से युक्त होने हुए भी वह कथोपकथन कथानक को भाराक्रान्त कर देगा। कथोपकथन वही सार्थक होगा जो घटना, अवसर एव वातावरण के उपयुक्त होगा। आचार्य चतुरसेनजी ने अपने कथोपकथनो मे इस बात का सदैव ध्यान रखा है। उनके कथोपकथन सार्थक होने के साथ-साथ विषयानुकूल भी होते है। जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं कि उनके कथोपकथनो मे कथानक का गनि प्रदान करने के साथ-साथ चारित्रिक-विश्लेषण का गुण भी समाविष्ट रहता है।

शृखलता—

आचार्य चतुरसेन जी के अधिकाश कथोपकथन आदि से अन्त तक कथानक मे ही अनस्यूत रह हैं। उन्होने ऐसे ही कथोपकथनो का उपयोग किया है जो कथा म जिज्ञासा एव कौतूहल उत्पन्न करने मे समर्थ हो सके हैं। उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि कथोपकथन का तारतम्य ऐसा हो जैसे नदी मे लहरो की गति और उस पर वायु का सहज सयोग, जिसके सहारे पाठक के हृदय मे उत्तरोत्तर कथा पढने की आकाक्षा और जिज्ञासा दोनो बनी रहें।"[१] यदि किसी कारण से कथोपकथनो की शृखला टूट जाती है, तो निश्चित रूप से कथन भी विशृखल हो जायेगा। अत यह आवश्यक है कि कथोपकथन कथानक अथवा पात्रो से किसी न किसी प्रकार से प्रत्यक्ष रूप से सम्बधित हो। स्वतत्ररूप से विकसित हुए कथोपकथन कितने भी सुन्दर एव कलात्मक क्यो न हो किन्तु कथा पर वह भारवत् ही रहेंगे। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने अधिकाश कथोपकथनो मे इस बात का ध्यान अवश्य रखा है किन्तु कभी-कभी उन्होने कथोपकथनो के व्याज से अपने सिद्धान्तो, निश्चयो एव आचार्यत्व का प्रदर्शन भी किया है। इस प्रकार के मोह ने उनके कथानक की कलात्मक सुषमा को तो गहरा आघात पहुँचाया ही है साथ ही ऐसे कथोपकथनो ने कथानक की शृखलता को भी भग किया है। पीछे 'कथोपकथन के उद्देश्य' मे हम इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। 'वैशाली की नगरवधू' एव 'वय रक्षाम' मे उनका आचार्यत्व, 'उदयास्त', 'अदल बदल' एव 'सग्रास' मे उनके सामाजिक एव राजनीतिक सिद्धान्त कथोपकथन के व्याज से कथानक पर बलात् लादे गये हैं, जि [illegible] कथानक की शृखला स्थान-स्थान पर टूटी हुई स्पष्ट ज्ञात होती है। कुछ स्थलो पर भाषण के समान के लम्बे कथोपकथन भी आचार्य चतुरसेन जी

१. हिन्दी कहानियो की शिल्पविधि का विकास, डा० लाल, पृ ३३५।

के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं। 'वैशाली की नगरवधू' के अम्बपाली-हर्षदेव संवाद[1], विदूडभ प्रसेनजित संवाद[2], विदूडभ-जीवक संवाद[3] आदि। 'उदयास्त' के आनंदस्वामी एवं सुरेश आदि के संवाद[4], 'खग्रास' के जोरोवस्की लिजा एवं गुरु-पुरुष, प्रतिमा एवं तिवारी[5] आदि के संवाद इसी प्रकार के लम्बे संवाद हैं। 'अदल बदल' में डाक्टर सेठ एवं विमला के संवाद, मास्टर विमला संवाद आदि[6] के माध्यम से उपन्यासकार ने अपने नारी-स्वतंत्रता सम्बन्धी सिद्धांतों का, 'आभा' में आभा-अनिल संवाद द्वारा नारी मनोविज्ञान का उसमें उद्घाटन करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार के कथोपकथनों के कितने ही उदाहरण आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में भरे पड़े हैं। ऐसे लम्बे एवं प्रचारात्मक कथोपकथनों से जहाँ एक ओर कथा अवरुद्ध एवं कथानक विशृंखल हुआ है, वहीं दूसरी ओर ऐसे कथोपकथन भी अस्वाभाविक एवं नीरस हो गए हैं। 'उदयास्त' एवं 'खग्रास' के कुछ संवाद तो संवाद न रहकर 'इन्टरव्यू' से ज्ञात होने लगे हैं। 'बहते आँसू' (अमर अभिलाषा) के रामचन्द्र-जयनारायण संवाद में आर्य समाज के सिद्धांतों के प्रचार की गंध स्पष्ट ज्ञात होने लगी है। किंतु यहाँ इन सब दोषों से दूर रहते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने कथोपकथनों का प्रयोग किया है, वह वे उपन्यास की गति में बाधक न होकर साधक ही रहे हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के संवादों में नाटकीयता—

आचार्य चतुरसेन जी के कथोपकथन प्रायः रोचक, प्रवाहपूर्ण होने के साथ-साथ नाटकीय[7] तत्व से पूर्ण होते हैं। यदि कथोपकथन के द्वारा पात्र की आंशिक

---

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ४२-४३।
२. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. १५२-५३।
३. वैशाली की नगरवधू, पृ. १६२-६५।
४. उदयास्त, पृ. ५३ से ५७ तक, ६१ से ६३ तक, ८९ से ९६ तक।
५. खग्रास, पृ. ८५ से ९५, २८३ से २९०, २९२ से २९८।
६ अदल-बदल, पृ. १५ से २७, ४८ से ५८ तक आदि।
७. उपन्यास के कथोपकथनों की नाटकीयता नाटक से भिन्न होगी, कारण 'नाटक में कथोपकथन के साथ उसके अभिनयात्मक तत्व उसमें छिपे रहते हैं जो अभिनेता की भाव भंगिमा और उसके व्यापारों में अपनी अभिव्यक्ति पा लेते रहते हैं, किन्तु उपन्यास एवं कहानी तो विशुद्ध रूप से पठन-पाठन की वस्तु

चेष्टाओ एव मुद्राओ की भी सफल अभिव्यक्ति करने मे कथाकार समर्थ रहा है, तो निश्चित ही वह कथोपकथन नाटकीय कहा जा सकता है। इस नाटकीयता की अभिव्यक्ति के लिए कथाकार ने अपने उपन्यासों मे कितनी ही शैलियो एव विधाओ का अवलम्बन किया है।

आचार्य चतुरसेन जी के सवादो को पढने मात्र से ही अमूर्त घटना मूर्तिमान होकर हमारे मानस नेत्रो के समक्ष घटित होती हुई स्पष्ट ज्ञात होने लगती है। यही उनके नाटकीय सवादो की सबस बडी सफलता है। इस दृष्टि से रमाबाई की अपने पति कृष्णस्वामी से हुई वार्ता (सोमनाथ मे) उल्लेखनीय है। महासेनापति की आज्ञा स कृष्णस्वामी अपनी पत्नी रमाबाई से महालय छोडकर अन्यत्र जाने को कहते हैं। 'महालय में सैनिक व्यवस्था के कारण स्त्रियो की सम्भात मे रहने एव रक्षा की व्यवस्था की जा चुकी है, इस तथ्य को कृष्णस्वामी अपनी पत्नी को बार बार समझाना चाहते हैं किंतु वह उनके इस कथन का दूसरा ही अर्थ लेती है। वह अपने जीते जी पति चरणो को नही त्यागना चाहती। अपनी इसी बात को वह अपनी विभिन्न भाव-भगिमाओ का प्रदर्शन करके पति को बतला रही है। देखिए—वह गुस्से से मुह फुलाकर अपनी गोल-गोल आँखें घुमाती हुई बेलन लेकर कृष्ण स्वामी के सामने तनकर खडी हो गई और सर्पिणी की भाँति फुफकार मारकर बोली—'देखती हूँ तुम मुझ जीती जागती को कैसे घर से निकालने हो—चार फेरे डाल अग्नि की साक्षी करके लाये हो—भागकर बाप के घर से नही निकली हूँ। अब इस घर की देहुली से बाहर मेरी लाश ही निकलेगी—समझे।" किंतु कृष्ण स्वामी ने नर्म होकर समझाते हुए कहा—"यह बात नही है शोभना की माँ, वह गजनी का राक्षस आ रहा है। उसी के भय से सब लोग घर बार छोडकर भाग रहे हैं। तुम्हें घर से निकालता कौन है। घर बार तो सब तुम्हारा ही है। तुम्ही न घर की मालकिन हो। 'इस पर जिद करके रमा ने कहा"—तो जिसे डर हो वह भागे। आए वह गजनी का राक्षस, इसी बेलन से उसका सिर न फोडूँ तो मेरा नाम रमा नही।' वह गेंद की तरह लुढकती हुई सारे घर मे घूम गई। तब फफक-फफककर रोने लगी। रोते-रोते बडबडाने लगी—'तुमने जन्म भर जलाया है, और अब डर के मारे औरत को घर से बाहर भेज रहे हो, बडे वीर बहादुर

है। इसके कथोपकथन में अतएव पात्रों की मुद्राओं स्थितियों की व्यजना और इसके साथ ही साथ कार्य-व्यापारों की विवेचना करते रहना आधुनिक कथा साहित्य की परम विशेषता है।

हो। नामर्द, औरत की रक्षा नहीं कर सकते थे, तो उसका हाथ चार पचों ने क्यों पकड़ा था। फिर डर है तो तुम भी चलो, तुम यहाँ कहाँ से तीर-तमंचे चलाओगे। देखी है तुम्हारी जवामर्दी, बस अधिक न कहलाओ।"

कृष्णस्वामी ने फिर साहस किया। समझाते हुए बोले 'शोभना की माँ, महाराज महासेनापति की आज्ञा है। वह तो माननी ही पड़ेगी।

रमा ने खीझकर कहा 'क्यों माननी पड़ेगी, मैंने महासेनापति से ब्याह नहीं किया, न उनकी दबैल हूँ। महासेनापति मेरे सामने तो आएँ। कौन से शास्त्र वचन से वह पत्नी को पति चरणों से दूर करते हैं, घरनी को घर से निकालते हैं, सुनूँ तो। बड़े आये तीसमारखाँ।"

कृष्ण स्वामी ने खीजकर कहा "तो तुम नहीं जाओगी।'

नहीं, नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी नहीं जाऊँगी, जहाँ तुम वहाँ मैं।' वह रोती-रोती कृष्णस्वामी के पैरों से लिपट गई। रोती रोती बोली—'इस बुढ़ापे में अधर्म में मत घसीटो, इन चरणों से दूर न करो, दया करो, दया करो।'[१]

उक्त संवाद की सबसे प्रमुख विशेषता है इसकी चित्रोपमता एवं नाटकीयता। 'रमाबाई का बेलन लेकर गोल-गोल आँखें घुमाना' उसका रुद्र रूप देखते ही पति का सकपका जाना, पति के पुन कहने पर उनका अपशब्दों से स्वागत करना, उनकी जवामर्दी को ललकारना और अन्त में पति चरणों को पकड़कर बिलख बिलख कर रो उठना आदि चित्र उसके अन्तर के अनेक मनोभावों को एक साथ उभारने में पूर्ण सफल हुए हैं। आचार्य चतुरसेन जी के इस प्रकार के कथोपकथनों में अभिनय की त्वरा तथा शक्ति के साथ ही साथ स्वाभाविकता एवं सजीवता भी प्रत्यक्ष आ विराजी है।

इसी प्रकार का 'वैशाली की नगरवधू' का भी एक उदाहरण देखिए—सोमप्रभ, कुन्डनी के साथ चम्पा के लिए प्रस्थान करता है। किंतु मार्ग में शम्बर असुर की नगरी में फँस जाता है। कुडनी अपने कौशल से असुर के पाश से मुक्त होना चाहती है। सोम को आसुरी भाषा का कुछ ज्ञान है। वह असुर की बात कुंडनी तक और कुंडनी की बात असुर तक पहुँचा रहा है। देखिये—

' अवसर पाकर उसने सोम से कहा—क्या कह रहा है यह असुर? प्रणय निवेदन कर रहा है कुन्डनी, तुझे असुर राजमहिषी बनाया चाहता है।"

१. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. २८६-२८७।

कुन्डनी ने हँसकर कहा "कुछ-कुछ समझ रही हूँ सोम। यह असुरराज मेरे सुपुर्द रहा। उन सब असुरो को तुम आकन्ठ पिला दो। एक भी सावधान रहने न पावे। भाडो मे एक भी बूद मय न रहे।"

"उन असुरो से निश्चिन्त रह कुन्डनी, वे तेरे हास्य ही से अधमरे हो गए हैं।"

"मरें वे सब।" कुन्डनी ने हँसकर कहा।

शम्बर ने कुन्डनी की कमर म हाथ डालकर कहा—"मानुषी मेरे और निकट आ।"

कुन्डनी ने कहा—'अभागे असुर, तू मृत्यु को आलिंगन करने जा रहा है।'

शम्बर ने सोम से कहा—"वह क्या कहती है रे मानुष।'

सोम ने कहा 'वह कहती है, आज आनन्दोत्सव मे सब योद्धाओ को महा शक्तिशाली शम्बर के नाम पर छक कर मय पीने की आज्ञा होनी चाहिए।'

'पिए वे सब।' शम्बर ने हँसते-हँसते कहा। और कुन्डनी ने एक घडा शम्बर के मुह से लगा दिया। उसे पीने पर शम्बर के पाँव डगमगाने लगे।

कुछ असुरो ने आकर कहा—'भोज, भोज, अब भोज होगा।' शम्बर ने यथासयत होकर हिचकियाँ लेते हुए कहा—'मेरी इस मानुषी-हिक्-सुदरी के सम्मान मे सब कुछ खूब खाओ, पियो, हिक्-अनुमति देता हू-हिक् खूब खाओ पियो। मुझे सहारा दे, मानुषी, हिक्-और मागध मानव, तू भी स्वच्छन्द-खा पी-हिक्।' वह कुन्डनी पर झुक गया।'[1]

प्रस्तुत कथोपकथन द्वारा उपन्यासकार ने कुन्डनी की सतर्कता, सोम की चातुरी एव शम्बर की कामुकता का चित्र एक साथ चित्रित कर दिया। मदिरा से मस्त असुर की वाणी, चाल एव क्रिया कलाप सभी मे पूर्ण अभिनयात्मकता है।

इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी के अधिकाश सवादो मे नाटकीयता के गुण प्राप्त होते हैं। जहाँ उन्होने दो से अधिक व्यक्तियो के पारस्परिक सवाद दिए हैं, वहा भी उनके सवाद पूर्ण नाटकीय एव स्वाभाविक हैं। इस दृष्टि से 'उदयास्त' की ए, बी, सी, डी पार्टी के सवाद उल्लेखनीय हैं।[2] इसमे वार्तालाप के द्वारा ही विभिन्न वक्ताओ की चारित्रिक विशेषताएँ उभारी गई हैं। प्रत्येक पात्र की शब्द उच्चारण पद्धति, विचारो को प्रस्तुत करने की प्रणाली, मुख

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १९६-१९७।
२. उदयास्त, पृ- १८०-१९०।

पर आनेवाली विभिन्न भाव भगिमाओ, नेत्रो की सचालन क्रिया आदि को ही पढ़कर पाठक वक्ता का एक काल्पनिक चित्र बनाने मे सफल हो जाता है। रामन्त घोघावापा सवाद[1] (सोमनाथ) सुरेश-आनद स्वामी सवाद[2] राज भैया-कलवार सवाद[3] (उदयास्त) ठाकुर राज सवाद[4] (अपराजिता) आदि सवाद इसी प्रकार के हैं। इनमे उपन्यासकार ने अपनी ओर से पात्रो की विभिन्न भाव भगिमाओ और मुद्राओ का सकेत देकर सवादो को और भी नाटकीय बना दिया है।

नाटकीय सवादो के अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी ने अपने प्रारभिक उपन्यासो मे नाटक की भाँति के सवादो का भी प्रयोग किया है। नाटक की भाति के सवादो से हमारा तात्पर्य उन सवादो से है, जिनमे पात्र की भावभगिमा एव मुख मुद्रा को उसके कथन के पूर्व ही ब्रैकेट मे रख दिया जाता है। जैसे 'खूब याद रक्खी भाई, वह स्वाग की बात तो। (हाथ पकड़कर) अब चलो '[5]

'मुझसे तो न रहा जायगा। (आसू पोछकर) जरा-सी लड़की मेरे सुहाग को कोसेगी '[6]

'जी हाँ, महाराज ने कहा है कि—(कान मे झुककर) महाराज तो आचार्य की कृपा पर निर्भर हैं।[7]

आ द प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रयोग उपन्यासकार की भावाभिव्यक्ति की शक्ति की अक्षमता प्रकट करते हैं। अत त्याज्य है। आचार्य जी के प्रौढ उपन्यासो मे ऐसे दोषपूर्ण प्रयोगो का सर्वथा अभाव है। हाँ 'वय रक्षाम' मे उन्होंने एक-दो स्थलो पर ऐसे प्रयोग पुन किए हैं।

स्वाभाविकता, सरसता एवं रमणीयता—

आचार्य चतुरसेन जी के सवादो की सबसे बडी विशेषता है कि वे स्वाभाविक, सरस एव रमणीय होते हैं। इससे तात्पर्य है कि उनके कथोपकथन बोलने

१. सोमनाथ, पृ. ११४।
२ उदयास्त पृ. ५२ से ५४।
३. उदयास्त पृ. ८५-८६।
४. अपराजिता पृ ११२-११३।
५ बहते आँसू पृ ४४।
६ बहते आसू पृ ४५।
७. देवांगना पृ ४७।

वाले पात्र के उपयुक्त एव परिस्थिति विशेष मे सहज तथा सगत प्रतीत होते हैं। कथोपकथन तभी स्वाभाविक हो सकता है जब वह रचना पर बलात् सजोया हुआ न हो। यदि उसमे कृत्रिमता आ गई तो यह निश्चय है कि वह रचना पर भारवत् हो जावेगा, जिससे वह प्रभाव शून्य होने के साथ-साथ नीरस भी ज्ञात होने लगेगा। कथोपकथन स्वाभाविक तभी हो सकते हैं जब वे पात्रानुकूल एव भावानुकूल हो। वे पात्रो के विविध भावो प्रवृत्तियो, मनोवेगो की पूर्ण अभिव्यक्ति करने के साथ साथ पात्रो की वैयक्तिकता की रक्षा मे भी पूर्ण सफल हो।

इस दृष्टि से आचार्य चतुरसेन जी के सवाद पूर्ण स्वाभाविक हैं और पात्रानुकूल भी। अध्ययन की सुविधा के लिए हम आचार्य जी के स्वाभाविक सवादो को निम्न दो वर्गो मे रख सकते हैं —

१ पात्रानुकूल सवाद,
२ भावानुकूल सवाद,

सरसता, रमणीयता एव रसात्मकता इन दोनो ही प्रकार के कथोपकथनो की प्राण है। स्वाभाविकता के अर्थ दैनिक जीवन के वार्तालापो को ज्यो का त्यो अकित कर देना नही है। ऐसे वार्तालाप स्वाभाविक होते हुए भी नीरस एव प्रभाव शून्य होगे। अत स्वाभाविकता के साथ-साथ सवाद का रसात्मक एव रमणीय होना आवश्यक है।

पात्रानुकूल सवाद—

आचार्य चतुरसेन जी के पात्रानुकूल सवादो की सर्वप्रधान विशेषता है कि—वे पात्रो की वैयक्तिकता की रक्षा मे पूर्ण सफल हुए हैं अर्थात् उनका प्रत्येक पात्र अपनी चरित्रगत विशेषताओ के कारण अन्य पात्रो से पृथक ज्ञात होता है। पात्र विशेष की भाषा शब्दो एव वाक्यावली के चयन, उसकी वाणी एव कथोपकथन भगिमा मे भी उसके स्वय के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट ज्ञात होती है। किस अवसर पर कौन से पात्र को किस प्रकार की भाषा और वाक्यावली का प्रयोग करना चाहिए, यह आचार्य चतुरसेन जी को पूर्णरूप से ज्ञात था। इसी कारण से विदेशी अथवा वर्ग-विशेष के (विशिष्ट भाषा भाषी) पात्रो के कथोपकथनो को खडी बोली में लिखते समय उपन्यासकार ने उसमे स्वाभाविकता का पुट देने के लिए उन पात्रो की वास्तविक भाषा के कुछ शब्दो, प्रचलित वाक्यो एव मुहावरों को भी ला रखा है। इससे उनके सवादों में स्वाभाविकता तो आ ही गई है साथ ही वातावरण मे स्थानीय स्पर्श देने में भी कथाकार को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

आचार्य चतुरसेन जी के पात्रों का संसार विस्तृत है। विभिन्न प्रांतों, देशों एवं संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र उनके उपन्यासों में आए हैं। एक सीमा तक उनके सभी पात्र अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने में पूर्ण सफल रहे हैं। उनके *राजस्थान* के पात्रों के मुख से राजस्थानी के शब्द निकले हैं, तो ब्रजभाषा भाषी प्रदेश के पात्रों के मुख से ब्रजभाषा के शब्द। उसका मुसलमान पात्र अपने संवादों में अरबी फारसी के शब्दों से पूर्ण भाषा का प्रयोग करता है तो अंग्रेज पात्र अंग्रेजी शब्दों से मिश्रित टूटी-फूटी हिंदी भाषा का। उनके पौराणिक तथा हिंदू एवं बौद्ध युग के ऐतिहासिक पात्र संस्कृत के तत्सम शब्दों से पूर्ण भाषा का प्रयोग अपने कथोपकथनों में करते हैं। 'वय रक्षाम' में तो उनके कुछ अनार्य पात्र संस्कृत में भी परस्पर वार्तालाप करते हुए देखे जा सकते हैं। यहां हम उनके संवादों के कुछ उदाहरण देकर यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आचार्य चतुरसेन जी अपने पात्रानुकूल संवादों में कहां तक सफल हो सके हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने पात्रानुकूल कथोपकथनों में पात्रों के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक स्तर का सदैव ध्यान रखा है। तभी उनके अशिक्षित एवं अल्पशिक्षित पात्रों के संवादों में तद्भव एवं देशज शब्दों का बाहुल्य रहा है। 'बहते आंसू' (अमर अभिलाषा) नामक उपन्यास का एक लोक भाषा का संवाद देखिए। रूढ़िवादी जयनारायण आर्य समाजी रामचन्द्र के अथक प्रयत्न के फलस्वरूप अपनी द्वितीय पुत्री नारायणी (विधवा) का द्वितीय विवाह करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। इस विवाह का आयोजन उन्होंने अत्यंत सरल ढंग से किया था। अशिक्षित ब्राह्मण-समाज उनके इस सद् प्रयास का विरोध करता है, किंतु भोज एवं दक्षिणा मिलने पर वह उसे मान्य-पत्र देने को प्रस्तुत है। भोज की प्रतीक्षा में ही ब्राह्मण समाज एकत्र है, किंतु जयनारायण के यहां से उनके समीप कोई निमंत्रण नहीं आया। सभी क्षुधा से व्याकुल हैं। उस समय का उनका वार्तालाप दृष्टव्य है।" उनमें कुछ पढ़े-पत्थर थे। वे अटक-अटककर कुछ अक्षर उखाड़ लिया करते थे। सत्य सपूचा याद था, और वक्त बे वक्त वे सत्यनारायण की कथा भी बह लिया करते थे। सबने उन्हीं को घेरा। सब बोले 'अब और कौन बोले, पंडित जी हैं ही, जो वे करें सो होय।' पंडित जी एकदम *गम्भीरता की कीचड़ में लथपथ हो गये—मानो कोई घर का मर गया हो।* इस तरह धीरे-धीरे बोले 'शास्तर की जो है सो, आज्ञा ऐसी है, इस पापी के घर भोजन नहीं करना चाहिए जो है सो।'

सब चुपचाप सुनते रहे। प डित जी फिर बोले 'इसमे हम जो हैं सो अपना स्वार्थ नही देखते, मर्यादा की बात है।'

कुछ देर पीछे एक महाराज बोले 'इनके दो दांत आगे के निकल गये थे, उनमे से हवा निकल जाती थी। आप कहने लगे—'पर मुस्कल ना ये है, जो कोई उधर से बुलाने आया पन्ज्जी, हम जो हैं सो, नही जायेंगे।

महाराज ने कहा 'हाँ, इस बात पर सब सोच लो। ऐसा न हो, सब चले जाय, और हम रह जाय।'

सबने कहा हम तो साहब, सबके साथ हैं। सब जावेंगे तो हम भी जावेंगे, नही तो नही।

इतने मे एक बोले 'क्यो गुरु। इसका पराछत कुछ नहीं ?'पडित जी बोले पराछत तो है। जो हैं सो, सासतर मे है क्या नही। गगा स्नान—और सौ ब्राह्मण—भोजन, और दक्षिणा।'

'चाँदी की दच्छना मे तो क्या सन्देह है—विट्ठलदास जी क्या ऐसे-वैसे आदमी हैं। और गगा स्नान में भी कुछ बाधा नही। रही सौ ब्राह्मणों की, सो इतने तो हम हैं ही, बाकी क्या नही मिल सकते।'

'मिल क्यो नही सकते, पर वे लोग चाहे, तभी तो हो सकता है।' इस पर महाराज बोले 'तो एक काम न करें, उधर खबर भेज दें, कि तुम यह सब पराछत करो, तो हम भेज सकते हैं।'

भोंदू शर्मा फौरन् उठ खडे हुए। बोले—'इसमे क्या देर लगती है ? हम अभी कहे आते हैं। देखते भी आवेंगे कि भोजन मे क्या देर है ?'

पडित जी कहने लगे 'नही नही, ऐसा जो है सो, नहीं, वे हमे खुद बुलावें, तो जाना चाहिए।'

'जैसी पचों की राय।' कहकर देवता बैठ गये।'[1]

कथाकार का उपर्युक्त कथोपकथन पात्रानुकूल एव स्वाभाविक है। प्रत्येक पात्र के कथन को स्पष्ट करने के लिए उसकी शब्द उच्चारण-पद्धति, वाक्यों के उतार-चढाव मे स्थान-स्थान पर पडने वाले स्वराघातो को उसने बडी कुशलता के साथ उभारा है। पात्र अर्ध-शिक्षित एव अशिक्षित है अत उनके द्वारा उच्चारित शब्द भी अपना वास्तविक रूप त्याग चुके हैं। सासतर (शास्त्र), स्वार्थ (स्वार्थ) पराछत (प्रायश्चित), दच्छना (दक्षिणा) ऐसा (ऐसा) आदि शब्द ऐसे

१. बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ. २५५-५६।

हो हैं। प्रस्तुत कथोपकथन का शब्द चयन एव उखड़े हुए विचार पात्रो के मानसिक धरातल को भी व्यक्त करने मे पूर्ण सफल है।

इसी प्रकार लोक भाषा के संवाद का एक और उदाहरण देखिए। दो यवन परिशिक्षित स्त्रियाँ अपनी नई बेगम के विषय मे चर्चा कर रही हैं।

'और नई बेगम जो कासिम अली शाह की मुरीद हैं ?

'कौन कासिम अली शाह।

'कोई शाह साहब हैं, पहुँचे हुए।'

'शाह साहब है या कोई जालिए हैं।'

'कासिम अली शाह को नही जानती, सातो विलायत मे उनकी धूम है। बड़े करामाती हैं।

'अल्ला रे अल्ला, ये कौन औलिया नखलऊ मे पैदा हुए, कही छवन का लौंडा कासिम तो नही। जो मिर्जा के यहाँ चार आना माहवार और खाने पर नौकर था।'

हाँ हाँ, वही है। अब तो गैबी ताक़तें और जिन्नात उसके बस मे है। चाहे तो फूक से पहाड को उडा दे।'

'मुह झौंस दूँ उस मुए चोट्टे का। जिसे उसकी असलियत मालूम हो उसे कहो। मैं तो उसकी सात पुश्तो को जानती हू।'

'लेकिन लखनऊ मे उसके बहुत मौतकिद है। सबकी मुरादें वह पूरी करता है।'

'खाक-पत्थर करता है। कोई उनसे यह नही कहता कि यह मुआ उठाईगीर है।'[१]

एक धर्म भीरु युवती है तो दूसरी घाट घाट की पानी पिए हुए धर्म के नाम पर होने वाले ढकोसलो से विज्ञ प्रौढा। 'कासिम अली शाह' का नाम सुनते ही वह श्रद्धालु हो उठती है। उसके मुख से अनायास ही निकल जाता है 'शाह साहब हैं या कोई जालिए'। 'सातो विलायत' शब्द युवती की सरलता, भोलेपन एव धर्मभीरुता को प्रकट करता है। 'करामाती' शब्द की प्रतिक्रिया प्रौढ़ा पर स्वाभाविक ही है। 'अल्ला रे अल्ला', 'नखलऊ' 'छवन का लौंडा', मुह झोस दूँ उस मुए चोट्टे का', 'मुआ उठाईगीर' आदि के प्रयोगो के कारण ही उपर्युक्त कथोपकथन पूर्णरूप से स्वाभाविक एव पात्रानुकूल ज्ञात होता है। एक के

१. सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध, पृ. २४०-२४१।

कथनो मे यदि कूपमण्डूकता, सरलता एव अध विश्वास के दर्शन होते हैं तो दूसरी के कथनो मे मुहफटपन एव ढीठता है।

मुसलमानो के सवादो के स्वाभाविक एव पात्रानुकूल बनाने के लिए उसने उनके द्वारा ठेठ अरबी फारसी शब्दो का व्यवहार कराया है। हिंदू पात्रो को भी जब मुसलमान पात्रो से वार्तालाप करना होता है तो वे भी संस्कृत के लोकप्रिय शब्दो के स्थान पर बहुधा अरबी फारसी के शब्दो का प्रयोग ऐसे अवसरो पर करते हैं। शाहजादी रोशनआरा एव नजावतखाँ आलमगीर का कथोपकथन प्रथम उदाहरण की पुष्टि के लिए हम ले सकते है। दोनो मुसलमान पात्र हैं, अत इनके सवाद को स्वाभाविक बनाने के लिये कथाकार ने अरबी फारसी के शब्दो का खुलकर प्रयोग किया है। देखिए—

'फिर भी एक मनसबदार से हिंदुस्तान के बादशाह की लड़की की शादी गैर मुमकिन है।'

'तो फिर गुनाह से फायदा।'

'क्या तमाम हिंदुस्तान के बादशाह की शाहजादी भी गुनाह कर सकती है।'

'शाहजादी, हिंदुस्तान के बादशाह के ऊपर एक दीनोदुनिया का बादशाह है।'

'वह आप लोगो के लिए है क्या यह कभी मुमकिन है कि मुगल शाहजादी एक अदना मनसबदार की ताउम्र लौंडी बनकर रहे।'

'लेकिन शाहजादी ।'

'बस खामोश, हम ऐसी बातें सुनने की आदी नही। बस, हम अपनी खुशी से जिस कदर इनायत तुम पर करें उतने ही मे आसूदा रहो।'

'मगर मेरी भी तो कुछ ख्वाहिशात हैं।'

'होगी, हम फिलहाल इस अम्र पर गौर नही कर सकती। तुम्हारी इल्तजा से हमने आज यहाँ बारहदरी मे मुकाम किया और तुमसे मुलाकात की। हम चाहती हैं कि आइन्दा अपने इरादो को काबू मे रखो।'[1]

अरबी फारसी के तत्सम शब्दो को रखकर उपन्यासकार ने उपर्युक्त सवाद को पूर्णरूप से स्वाभाविक बना दिया है। इस प्रकार के सवादो को तो आचार्य जी

---

१. आलमगीर, पृ- ८८-८९।

के साहित्य मे भरमार है। 'सोमनाथ' मे इस प्रकार के सवादो की सख्या ५० के ऊपर, आलमगीर' मे ८० के लगभग 'सोना और खून' मे सौ से ऊपर 'बगुला के पख' मे बीस के लगभग एव 'उदयास्त' 'रक्त की प्यास' 'बिना चिराग का शहर' आदि उपन्यासो मे साठ के ऊपर हैं। इन सवादो मे कुछ सवाद ऐसे भी हैं जो मुसलमान और हिंदू पात्रो के मध्य हुए हैं। ऐसे सवादो मे मुसलमान पात्र तो अरबी फारसी शब्दो से मिश्रित भाषा का प्रयोग अपने कथनो मे करते ही है साथ ही हिंदू पात्र भी अपनी स्वाभाविक भाषा को त्याग कर अरबी फारसी श. । से लदी हुई भाषा का प्रयोग उनसे वार्तालाप करते समय करते हैं।

इसी प्रकार अँग्रेज पात्रो के सवादो को भी पात्रानुकूल एव स्वाभाविक बनाने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने अग्रेजी भाषा के तद्भव शब्दो का उत्तम प्रयोग कराया है। साथ ही जहाँ उनका अँग्रेज पात्र हिंदी के शब्दो का भी उच्चारण करता है, तो वह अपने ढग से शब्दो को तोड मोडकर। लोलुप कामी एव शराबी अँग्रेज डिप्टी कमिश्नर एव चलते-पुर्जे का सिद्धहस्त, धूर्त एव चतुर तहसीलदार सोना और खून का पारस्परिक वार्तालाप देखिए। यदि डिप्टी कमिश्नर के वाक्यो मे लडखडाहट, कुछ अजनबीपन एव शब्दो से अधिकार की गध स्पष्ट मिल रही है तो दूसरी ओर तहसीलदार का एक-एक शब्द सधा हुआ, उसकी धूर्तता एव चालाकी की बातो से पूर्ण दयनीयता प्रदर्शित करने वाले सक्षिप्त किंतु चुभते हुए वाक्य दृष्टव्य हैं देखिए—

'वेल टेसीलडार, लाओ-लाओ।'

'हुजूर, हाजिर करता हूँ।'

'फ्रेश, एकडम फ्रेश। ओल्ड स्टाक मेई।'

'हुजूर अर्ज करता हूँ।'

'टुम क्या बोलना मॉंगटा ? टसीलडार। अम टुम कू डिसमिस करना मॉंगटा।'

'सरकार, माई-बाप, एकदम फ्रेश, बहुत बढिया।'

'लाओ, लाओ, टेसीलडार, अम टुम कू डिप्टी कलक्टर बनाएगा।'

'हुजूर का बोलबाला। हुजूर माई-बाप।'

'जल्डी, टेसीलडार, लाओ, लाओ।'

'हुजूर को जरा चलना होगा।'

'यू ल्डी टेसीलडार, अम नई जायगा।'

'हुजूर दूर नहीं है, एकदम फँसा, न्यू माल सर।'

'का ?'

'उस बाग में सर पुनली—एकदम फँसा, हजारों में एक। व्हाइट सरयग। बहुत बढ़िया माल।'

'लाओ, लाओ—टेसीलडार—टुम हरामजादा, अबी लाओ।'

'सरकार सावलसिंह के कब्जे में है।'

'व्हाट सावलसिंह ? अम उसकूं शूट करेगा।'[1]

प्रस्तुत संवाद पात्रानुकूल संवाद का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व उसकी वाणी से ही स्पष्ट हो जाता है। शब्दों की उच्चारण पद्धति, 'फँसा माल' के लिए डिप्टी कमिश्नर की व्याकुलता, मदमस्त होने के कारण उसकी लड़खड़ाती हुई जिह्वा आदि उसके अन्तर्जगत् का प्रत्यक्ष चित्र खींचने के साथ-साथ उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना की अभिव्यक्ति के द्वारा उसके सजीव व्यक्तित्व को मूर्तिमान करने में पूर्ण सफल रही है। आचार्य जी के उपन्यासों से इस प्रकार के संवादों के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। किंतु इन संवादों में एक बात ध्यान देने योग्य है, चतुरसेन जी ने इस प्रकार के वाक्य अँग्रेज पात्रों के मुख से तभी कहलवाये हैं, जब वे किसी भारतीय पात्र से वार्तालाप करते हैं। दो अंग्रेजों के मध्य में हुए कथोपकथनों में किसी प्रकार की कृत्रिम भाषा का आचार्य जी ने प्रयोग नहीं किया है। ऐसे कथोपकथनों में अधिक से अधिक वातावरण-निर्माण के लिए उन्होंने अंग्रेजी के कुछ पारिभाषिक शब्दों एवं भावाभिव्यक्ति की रीति के कुछ स्पर्श देने के लिए डियर, डार्लिङ्ग आदि शब्दों का प्रयोग उन पात्रों के मुख से करा दिया है। 'सोना और खून' 'वयास' आदि उपन्यासों के अधिकतर अंग्रेज पात्रों के पारस्परिक संवाद इसी प्रकार के हैं। यह उचित भी है। अंग्रेज पात्रों के संवादों को अंग्रेजी में, रूसी पात्रों के संवादों को रूसी भाषा में और इसी प्रकार अन्य विदेशी भाषा-भाषी पात्रों के संवादों को उनकी भाषा में लिखना न सम्भव ही है और न व्यावहारिक ही। ऐसा करने पर उपन्यास, उपन्यास न रहकर विभिन्न भाषाओं के उदाहरणों की प्रदर्शनी मात्र रह जावेगा। अतः पात्रानुकूल भाषा-परिवर्तन सदैव एक निश्चित सीमा के अन्दर ही ग्राह्य है। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने अधिकांश उपन्यासों में इस बात का सदैव ध्यान रखा है, किंतु अपने कुछ उपन्यासों जैसे 'आलमगीर' 'वय रक्षाम' में उन्होंने भाषा की

१. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध, पृ. २१।

निश्चित सीमा का अतिक्रमण भी कर दिया है। 'आलमगीर' के संवाद तो अरबी, फारसी के तत्सम शब्दों से पूर्ण हिंदी भाषा में ही हैं किंतु 'वयं रक्षामः' के लगभग सात संवाद पूर्णरूप से संस्कृत भाषा में ही दिए गए हैं। इस प्रकार के संवाद न कथानक को गति प्रदान करते हैं, न तो चरित्र चित्रण को ही उभारते हैं। और न ही स्वाभाविक एवं व्यावहारिक ही हैं। वास्तव में उपन्यास में इस प्रकार के संवादों की सृष्टि करना कथाकार के वास्तविक अधिकार का दुरुपयोग करना ही है। उदाहरण के लिए हम रुद्र रावण संवाद (वयं रक्षामः) को ले सकते हैं -

'रुद्रोवाच— किमिद जले विमलेह्यात्मनि पश्यसि ?'

'यथैवेह मगनः साध्वलकृत स्सुवसन परिष्कृतश्च एवमेव ।'

'एष आत्मेत्येतदमृतम् ।'

'एष आत्मेत्येतदमृतम् ।'

'एष आत्मेत्येतदमृतम् ।'

'आत्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेहमहयात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोमि ।'

'उभौलोकाववाप्नोमि त्वामुन्वेमि ।'

'तस्मादप्यदेहाददानमश्रद्दधानमयजमानं शरीरे वसनेनालकारेणेति सस्कुर्वा-मह्यमुल्लोक जेष्यास इति ।'

'असत्यमप्रतिष्ठमनीश्वरमिदं जगत् ।'

'ईश्वरोऽहम् ।'

'एतद्गुह्य गुह्यतमम् ।'

'कावापरापरावेति भगव ।'

आचार्य चतुरसेन जी के 'वयं रक्षामः' उपन्यास में ही केवल इस प्रकार के संवाद प्राप्त हैं।

पात्रानुकूल संवादों को लिखते समय यद्यपि आचार्य चतुरसेनजी पूर्ण सतर्क रहे हैं, तो भी कहीं-कहीं असावधानी के कारण कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। गजनी के महमूद (सोमनाथ) के मुख से उन्होंने आवश्यकता[२], स्वीकार[३], प्रत्येक[४]

१. वयं रक्षामः, पृ २२७।

२. सोमनाथ पृ. २८१।

३. सोमनाथ पृ. ४४५।

४. सोमनाथ पृ ४४९।

आदि हिंदी शब्दो को कहा गया है तो कट्टर जनसघी दिलीप (धर्मपुत्र) के मुख से 'कुर्बानी'[1], दरख्वास्त[2], आदि अरबी फारसी के शब्दो को यद्यपि इतने विशाल साहित्य मे ऐसी भूलें इनी गिनी ही है किंतु यदि किंचित मात्र उपन्यास-कार और सतर्कता एव सावधानी स काम लेता तो इनका सुधार असम्भव न था। वह सरलता के साथ शब्दो का प्रयोग सतुलित एव कथन को स्वाभाविक बनाने के लिए क्रमश 'जरूरत', 'मजूर', 'हर', 'बलिदान', प्रार्थना' आदि शब्दो को रख सकता था।

इसी प्रकार उनके आत्मदाह' नामक उपन्यास मे किसानो के वार्तालाप भी पात्रानुकूल नही हो पाए है[3]।

भावानुकूल सवाद—

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने सवादो को अधिक से अधिक स्वाभाविक एव सरस बनाए रखने के लिए उन्हे पात्रानुकूल रखने के साथ-साथ भावानुकूल भी रखा है। एक ही पात्र विभिन्न परिस्थितियों मे पडकर यदि एक ही प्रकार का आचरण करता रहे एक ही प्रकार के भावो को व्यक्त करता रहे तो निश्चित ही सवाद पात्रानुकूल होने पर भी अस्वाभाविक हो जावेगे। प्रत्येक पात्र के सवाद स्वभावत परिस्थिति एव आन्तरिक भावो के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं। आचार्य चतुरसेन जी ने इस बात का भी अपने सवादो मे विशेष ध्यान रखा है। पात्र के भावो के अनुसार ही उसकी वाणी मे उतार चढाव, कथनो मे रूक्षता अथवा कोमलता, सरसता अथवा तीव्रता लाने का प्रयास किया गया है। विभिन्न भावो के सवाद विभिन्न प्रकार के हैं। उनके समस्त भावानुकूल सवादो को हम अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न वर्गों मे रख सकते हैं—

१ प्रेमावेश
२ स्नेहावेश
३ क्रोधावेश एव ओजपूर्ण
४ दु खावेश

प्रेमावेश—

आचार्य चतुरसेन जी ने अधिकाश उपन्यासो मे शृंगार की ही प्रधानता

१. धर्मपुत्र पृ. २०५।
२. धर्मपुत्र पृ. २०५।
३. आत्मदाह पृ. १४०-४१।

है, अतः प्रणय प्रसगो की उनके उपन्यासो म न्यूनता नही है। यहाँ पर आचार्य चतुरसेन जी ने प्रेमी और प्रेमिका के प्रेमपूर्ण उद्गारो को सवादो के माध्यम से प्रकट किया है, यहाँ के सवाद सरस, कोमल, प्रवाहपूर्ण, मार्मिक एव हृदय-स्पर्शी होते हैं। 'हृदय की परख' 'हृदय की प्यास' 'आत्मदाह' 'बहते आँसू' (अमर अभिलाषा) आदि प्रारम्भिक उपन्यासो के प्रेमावेश के सवाद सीधे सरल, निष्कपट किंतु कही-कही वासनाजन्य भावनाओ से पूर्ण हैं, किंतु उनके प्रौढ उपन्यासो जैसे 'वैशाली की नगरवधू' 'धर्मपुत्र' 'सोमनाथ' 'गोली' 'आभा' आदि मे प्रणय प्रसगो के सवाद चुटीले, गठे हुए, प्रवाहपूर्ण एव मर्मस्पर्शी हैं।

'नगरवधू' म कई प्रेम प्रसगो की सृष्टि की गई है। अम्बपाली एव हर्ष देव के सवादों मे प्रेम का प्रस्फुटन एव प्रेमिका की दमित इच्छाओ का गर्जन है। अम्बपाली एव बिम्बसार के प्रेम के सवादो मे वासना का पुट है किंतु सोमप्रभ एव अम्बपाली के प्रणय सवादो मे वासना का पुट नही आने पाया है।

'नगरवधू' का सबसे अधिक मार्मिक सोमप्रभ एव राजकुमारी चन्द्रप्रभा का प्रणय प्रसग है। दोनो का प्रेम निष्कपट एव वासना विहीन है। सोम, चन्द्रप्रभा से प्रेम करता है किंतु उसके प्रेम मे स्वार्थ नही है। उसे ज्ञात है कि राजकुमारी की उसी के कारण पतित दशा हुई है। उसके हृदय मे इसी बात की ग्लानि है। वह अपने कार्मों पर प्रायश्चित्त करना चाहता है। किंतु कैसे करे ? उसे एक सुअवसर प्राप्त होता है। राजकुमार विदूडभ ऐसा सुयोग्य पात्र उसे मिलता है। वह अपने प्रेम का त्याग कर, बलिदान कर राजकुमारी को पुन पटरानी बना देता है। विदा के अवसर पर दो प्रेमियों का वार्तालाप देखिए —

'राजकुमारी ने बडी-बडी भारी पलकें उठाकर सोम को देखा और असयत भाव से कहा' सोम, प्रिय दर्शन, तुम आहत हो, बैठ जाओ, बैठ जाओ।'

'तो तुमने मुझे क्षमा कर दिया शीघ्र ? यह मैं जानता था। मैं जानता था, तुम मुझे अवश्य क्षमा कर दोगी। परन्तु शील प्रिये, अपने को मैं कभी नही क्षमा करूँगा, कभी नहीं।'

'वह सब तुम्हें करना पडा, सोमभद्र।'

'किन्तु प्रिये, मैंने जिस दिन प्रथम तुम्हें देखा था, अपना हृदय तुम्हें दे दिया था। मैंने प्राणो से भी अधिक तुम्हें प्यार किया। तुम मेरे क्षुद्राशय को नहीं जानतीं। मेरा निश्चय था कि विदूडभ राजकुमार को बन्दीगृह मे मरने दिया

जाय, कोशल राजवंश का अन्त हो और अज्ञात कुलशील सोम कोशलपति बन कर तुम्हे कोशलपट्ट राजमहिषी पद पर अभिषिक्त करे, सब कुछ अनुकूल था, एक भी बाधा नही थी।'

'मैं जानती हूँ प्रियदर्शन। पर तुमने वही किया, जो तुम्हे करना योग्य था। किंतु अब ?'

'अब मुझे जाना होगा प्रिये ?'

'तो मैं भी तुम्हारे साथ हूँ, प्रिय।'

'नही शील, ऐसा नही हो सकता। मुझे जाना होगा और तुम्हे रहना होगा। मैं कोशल का अधिपति न बन सका, किंतु तुम कोशल की पट्टराजमहिषी रहोगी, यह ध्रुव है।

'मैं, सोम, प्रियदर्शन, तुम्हारी चिर किंकरी पत्नी होने मे गर्व अनुभव करूँगी।'

'ओह, नही, एक अज्ञात-कुल शील नगण्य वंचक की पत्नी महामहिमामयी चम्पा-राजनन्दिनी नहीं हो सकती।

'किंतु सोमभद्र, मैं तुम्हारी चिरदासी शील हूँ। मैं तुम्हे आप्यायित करूँगी अपनी सेवा से, सान्निध्य से, निष्ठा से। और तुम अपना प्रेम प्रसाद देकर मुझे आपूर्यमाण करना।'

'मेरे प्रत्येक रोम-कूप का सम्पूर्ण प्रेम, मेरे शरीर का प्रत्येक रक्त-बिन्दु, मेरे जीवन का प्रत्येक श्वास आसमाप्ति तुम्हारा ही है शील पर यह नही हो सकता, तुम्हे कोशल की पट्टराजमहिषी बनना होगा।'

'किंतु मैं तुम्हे प्यार करती हू सोम, केवल तुम्हे।'

'और मैं भी तुम्हें, प्राणाधिक शील। किंतु पृथ्वी पर प्यार ही सब कुछ नही है। सोचो तो, यदि प्यार ही की बात होती तो मैं विद्रुम का क्यो उद्धार करता ? प्रिये, चारु शीले, निष्ठा और कर्त्तव्य मानव-जीवन का चरम उत्कर्ष है। मैंने उसी को निबाहा। अब तुम मुझे सहारा दो।'

सोम ने कुमारी के चरण-तल मे बैठकर उसके दोनो हाथ अपने नेत्रो से लगा लिए। [१]

प्रस्तुत संवाद मे क्षिप्रता है। दोनों प्रेमियों का प्रत्येक शब्द उनके हार्दिक भावो को व्यक्त करने की पूर्ण शक्ति रखता है। सोम की निष्कपटता, उसकी

१. वैशाली की नगरवधू-पृष्ठ ४६९-४७०।

प्रणयीसुलभ व्याकुलता और साथ ही त्याग एवं कर्तव्य की महती भावना उपर्युक्त वार्तालाप में स्पष्ट उभरी हुई है। सोम के प्रेम में विस्तार है और राजकुमारी के प्रेम में संकोच। संवाद सारयु और करुण होने के कारण विदा के अवसर का प्रत्यक्ष चित्र खींचने में पूर्ण सफल रहा है।

धूर्त औरंगजेब (आलमगीर) के पाषाण हृदय में भी आचार्य चतुरसेन जी ने प्रेम के पुष्पों को पल्लवित किया है। वह कपट का पुतला होकर भी अपनी प्रेयसी के समक्ष अत्यन्त दीन हीन है लाचार है। एकान्त में अपनी प्रेयसी से प्रेम-चर्चा करते समय वह भावुक हो उठता है। उसके संक्षिप्त किंतु पैने कथनों में कसक है, उसके प्रत्येक भाव में प्रणयीसुलभ आकुलता है वह अपनी 'दिलवर' को अपने हृदय में समेट लेना चाहता है दूसरी ओर हीरा के प्रेम में छिछलापन एवं कृत्रिमता है। वह कपटी प्रेमी के साथ कपट का ही व्यवहार करती है। धूर्त को उत्तेजित करने के लिए वह धूर्तता की चाल चलती है। उसका कुछ कहने के व्याज से चुम्बन लेना, प्रेमी के उत्तेजित होने पर हट जाना, उसे इंगित देकर पुनः मुकर जाने आदि की उसकी आंगिक चेष्टाओं में क्या कुछ नहीं है। उदाहरण दृष्टव्य है'

'क्या कर रही थी दिलवर।'

'मैं कुछ सोच रही थी।'

'क्या सोच रही थी।'

'एक बात।'

'कौन बात।'

'हुजूर के सुनने की नहीं है।"

'सुनूँ तो।'

'न कहूँगी।'

'कहो प्यारी।'

'अच्छा कान में।'

सुन्दरी चुपचाप औरंगजेब के कान के पास मुख ले गई और चट से उसका मुँह चूम लिया।

'आह, बात कहो जानेमन।'

'यही तो बात थी हुजूर।'

'इसी बात को सोच रही थी तुम।'

'जी हाँ।'

'दिल्बर, तुम मुझे इतना प्यार करती हो ?'

'जाइए, मैं क्यों प्यार करती ?

"हीरा, औरंगजेब का स्वर कांपा-वह कूटनीति और कपट का पुतला इस चंचल बालिका के सम्मुख प्रेम में विभोर होकर अपने को भूल गया। उसने कसकर उसे छाती से लगा लिया।'[1]

राज और ठाकुर (अपराजिता) के प्रेमावेश संवाद भी अपनी कुछ विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय हैं। राज और ठाकुर दोनों ही विवाहित पति-पत्नी होने पर भी दोनों एक दूसरे से बहुत दूर हैं। दोनों के मध्य में अहं की दीवार है, दोनों आत्मसम्मान के इच्छुक हैं। अपने अहं का बलिदान कोई नहीं करना चाहता, भले ही घुट-घुट कर क्यों न जीना पड़े। निश्चित भविष्य में भी अनिश्चितता है। अन्त में पति की दयनीय दशा का समाचार सुनकर पत्नी का सम्पूर्ण अहं गल जाता है। वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को बिसार कर अपने रूठे पति को मनाने पहुँच जाती है। उस स्थल के दोनों के प्रेमावेश के संवादों में एक हिचकिचाहट मिश्रित आश्चर्य, आन्तरिक भावों की कसक और भावों की तीव्रता है। उदाहरण दर्शनीय है—

'ठाकुर ने दोनों हाथों में राज का हाथ थामकर कहा 'तो तुम राज हो।'
'हां।'
'मेरी राज ?'
'तुम्हारी ही।' राज की आंखें डबडबा आई।
'मेरी राज ?' ठाकुर अत्यन्त असंयत हो गए।
'हां, हां' उसने अत्यंत स्निग्ध स्वर में कहा।
'वह ठकुरानी तो नहीं, तेज और दर्प की मूर्ति, कर्तव्य की कठोर प्रतिमा।
'मैं तुम्हारी राज हूँ।'
'और मैं ?'
'तुम मेरे राजा हो।'
'क्या कहा—जोर से कहो, कान भी तो बूढ़े हो गए।'
'मेरे राजा।'
'फिर कहो।'
'मेरे राजा।'
'फिर कहो।'

---

१. आलमगीर, पृ. १३१।

राज ठाकुर के वक्ष पर गिर कर सिसकने लगी। युग-युग के पाप-ताप अमर्ष संघर्ष घुल गए। प्रेम की मन्दाकिनी कल-कल बहने लगी।'[१]

ठाकुर का अचकचा कर राज का हाथ थाम लेना, आश्चर्य से उनके कंठ का अवरुद्ध हो जाना, केवल 'तुम राज हो' का उनके अवरुद्ध कंठ से निस्सृत हो पाना और फिर तेज और दर्प की मूर्ति ठकुरानी का स्मरण आते ही पुराने अहं का सजग हो जाना, किन्तु टूटे हुए हृदय के भावों के मध्य उसका न टिक पाना और अंत में प्रेम की मन्दाकिनी में दोनों का घुल-मिल जाना आदि कितने ही भाव उपर्युक्त संवाद में एक साथ अनुस्यूत हैं। संक्षिप्त वाक्यों के गागर में भावों का सागर भरा गया है। दोनों के अवरुद्ध कंठों से शब्द कम ही निःसृत होते हैं किन्तु आँखों का डबडबाना, स्वर का असंयत होना, अधरों का काँपना और उसमें से केवल अहा शब्द निकल पाना आदि में कितनी आत्मीयता, कितनी तड़पन कितनी पीड़ा, कितना समर्पण का भाव है यह स्वयं उपर्युक्त भावों से ध्वनित हो जाता है।

इसी प्रकार प्रेमावेश के संवादों को और अधिक सरल एवं रमणीय बनाने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने कभी-कभी उनमें हास्य का पुट दिया है। प्रमिला एवं सुरेश (उदयास्त) के संवादों में हमें यह गुण स्वतः उभरा हुआ मिलता है। दोनों विवाहित पति-पत्नी हैं। उनके प्रेम में किसी प्रकार का व्यवधान भी नहीं है। दोनों एक दूसरे को हृदय से प्रेम करते हैं। किन्तु इसमें भी एक रस है। सुरेश एकान्त में पत्नी के समीप पहुँच जाते हैं। पत्नी का प्रश्न है—

'चोर की तरह यों चुपचाप आ खड़े होने की तुम्हें क्या जरूरत थी।'

'चोर से तुम यह आशा करती हो कि वह ढोल पीट कर आवे।'

'बड़े वो हो तुम। मैं जाती हूँ' वह मुँह फेर कर जाने लगी। उसका रास्ता रोककर सुरेश ने कहा 'चोर जिस काम से आया था, वह तो सुनती जाओ।'

'कुछ जरूरत नहीं है, चोर जो चाहे चुरा ले जाय। मैं शोर मचाकर उसे गिरफ्तार नहीं कराना चाहती।'

'लेकिन उसका इरादा तुम्हें गिरफ्तार कर ले जाने का है।'

'कहाँ ?'

'दिल्ली।'

---

१. अपराजिता, पृ० १३३ १३४।

'किसलिए ।'[1]

पति का चोर की भाँति पत्नी के कक्ष मे आ जाना, इस पर हृदय से पत्नी का प्रसन्न होना किन्तु ऊपर से अनख जाना आदि। 'बडे वो हो तुम' कहकर उसका मुह फेर कर खडे हो जाना, सौहो मे मुस्काना आदि भाव उसके प्रेम को उभारते हैं तो चोर जो चाहे चुरा ले जाय ।' आदि वाक्य उसकी प्रणयी सुलभ चचलता को स्पष्ट करते है। आदि से अन्त तक सवाद में प्रेमावेश के साथ-साथ हास्य का पुट है। सवाद मे प्रत्युत्पन्नमति एव सगति का गुण सराहनीय है।

इसी प्रकार के प्रेमावेश के कितने ही सवाद आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे भरे पडे हैं। ऐसे सवाद जहा सक्षिप्त है वहाँ पात्र बोलते कम हैं किंतु अपने इगितो द्वारा भाव ध्वनित अधिक करते हैं। दिवोदास और मजुघोषा (देवागना) के प्रणय सवादो मे सरलता, निष्कपटता एव मार्मिकता है।[2] सरला और सत्य (हृदय की परख)के सवादो में निस्पृहता, सरलता एव निष्कपटता है।[3] सत्य के हृदय मे सरला के प्रति अपार श्रद्धा है, वह उससे प्रेम करता है किंतु हृदय के अन्दर ही, अधरों पर वह अपने भावो को नही मानता। वह सरला को पूजा की सामग्री समझता है, फिर भावो को व्यक्त करे भी तो कैसे। वह अधरो से सरला को अपनी प्रेमिका नही, गुरू ही कह पाता है। किंतु विद्याधर द्वारा प्रवचित होने के पश्चात् सरला टूट जाती है। वह अन्त में सत्य के प्रेम की महत्ता ज्ञात कर पाती है। सत्य और सरला का अन्तिम वार्तालाप निस्सदेह, अत्यन्त मार्मिक एव हृदय स्पर्शी है।[4] उसी प्रकार दिलीप एव माया (धर्मपुत्र) के प्रणय सवादो म भी तीव्रता है। उसमे प्रेम का प्रारभ दो दूर धडकते हुए हृदयो मे है जो एक बार मिलकर सर्वदा के लिए विलग हो चुके हैं। दोनो का भविष्य अनिश्चित है किंतु अत मे दोनो मिलकर एकाकार हो जाते हैं। दीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात् दो प्रेमियो का सामना होना और दोनो का नयनो द्वारा ही परस्पर भरे भवन मे एक दूसरे के भावो को समझ लेना आदि कम मार्मिक नही है।[5] किसुन और चम्पा (गोली) का प्रेम तो एकदम पाक साफ, एव

१ उदयास्त, पृ- ६४-६५।
२. देवागना (मदिर की नर्तकी पृ ७४-७५।
३ हृदय की परख, पृ ३० ३५।
४. हृदय की परख, पृ १४४-४५।
५. धर्मपुत्र पृ. १९०-९१।

वासना से अछूता है। दोनो पति पत्नी होते हुए भी पति-पत्नी नही हैं। उनके प्रेमावेश के सवादो मे सांकेतिकता ही अधिक है किंतु जहां उनमे परस्पर वार्तालाप हुआ है वहा वे वासना से सर्वथा अछूते हैं।[1] आभा और अनिल आभा जोरोवस्की एव लिजा (खग्रास) के प्रेमावेश के सवादो मे बौद्धिकता की प्रधानता है। रावण मन्दोदरी सवादो[2], (वय रक्षाम) मे प्रणयी सुल' कातरता एव व्याकुलता है।

स्नेहावेश के सवादो मे हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे प्राप्त वात्सल्य रस से पूर्ण सवादो को ले सकते हैं। ऐसे सवादो मे दोनो पक्षो मे स्नेह का अतिरेक है। सोमप्रभ एव आर्यामातगी (नगरवधू) के स्नेहसिक्त सवादो मे एक ओर मा की ममता उभरी हुई है तो दूसरी ओर पुत्र का असमजस एव प्यार। देखिए—

सोमप्रभ हतप्रभ होकर विमूढ हो गये। एक चिन्तनीय आनन्द ने उनके नेत्रो को भी प्लावित कर दिया। उन्होंने प्रकृतिस्थ होकर कहा—

'आर्यां मातगी, अकिंचन सोम आपका अभिवादन करता है।'

'नही, नही, आर्या मातगी नही, माँ कहो वत्स।'

'सोमप्रभ ने अटकते हुए कहा 'किन्तु आर्ये '

'माँ कहो वत्स, माँ कहो।'

आर्ये, हतभाग्य सोम अज्ञात कुलशील, अज्ञात कुलगोत्र है। कल्याणी उसे इतना गौरव क्यो दे रही हैं!'

'माँ कहो, प्रिय, माँ कहो, जीवन के इस छोर से उस छोर तक मैं यह शब्द सुनने को तरस रही हूँ।' मातगी के स्वर, भावमयी और करुण वाणी से विवश हो अनायास ही बरबस सोम के मुह से निकल गया माँ

,आप्यायित हो गई हूँ, मर कर जी गई मैं, वत्स सोम, अभी और कुछ देर हृदय से लगे रहो। '[3]

प्रस्तुत वार्तालाप मे कथाकार माँ मातगी के प्रत्येक भाव को उभारने में पूर्ण सफल रहा है। पुत्र को सामने देखकर स्नेहावेश के कारण आर्या मातगी अपने ब्रह्मचारिणी के वेष, पद और प्रतिष्ठा को भूलकर अनायास ही कह उठती है। 'माँ, कहो वत्स।' और 'वत्स' के सबोधन से अभिभूत होकर अज्ञात

---

१ गोली, पृ. २८५-२९०।

२ वय रक्षाम', पृ ९९-१००।

३. वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन, पृ. १०१।

कुलशील सोम के मुख से भी माँ' शब्द अनायास ही निकल आता है। माँ पुत्र के उपयुक्त कथनो मे केवल स्नेह का पुट ही नही है वरन् आन्तरिक भावो की घुमडन भी है। मानसी के अन्तिम वाक्य मे कितनी तडपन, कितनी विवशता, कितना हर्ष एव कितना आह्लाद एव साथ भरा हुआ है।

स्नेहावेश के सवादो मे हम सखियो के स्नेहसिक्त सवादो को भी रख सकते हैं। जहा पर दो समान सखियाँ परस्पर छेडछाड करती हुई एक दूसरे पर छीटाकसी करती हुई सामने आती है वहाँ उनके कथनो मे अल्हडता चुलबुलाहट एव सरसता रहती है। कही वे सखी के किसी प्रेम सम्बन्ध पर मीठा कटाक्ष करती हैं तो कही उसकी रूप माधुरी पर व्यग्य। कही किसी की विवाह चर्चा पर छेड-छाड प्रारभ हो जाती है तो कही अपनी बाल-सुलभ स्मृतियो पर ही ठिठोली चलने लगती है। राधा-रुक्मिणी-सवाद[१] (अपराजिता) प्रेम की छडछाड से प्रारभ होता है और अन्त मे विवाह सम्बन्ध तक पहुँच जाता है। छेड ही छेड मे राधा रुक्मिणी का विवाह माधव से निश्चित कर देती है। भगवती चम्पा-सवाद[२] (बहते आँसू) मे यौवन की अल्हडता एव चचलता है। एक बाल विधवा है तो दूसरी अभी कुमारी। दोनो की नटखटता एव वाक्पटुता के कारण सवाद बडा सजीव बन पडता है। शारदा मालती सवाद[३] (बगुला के पख) मे एक सखी दूसरी की रूप माधुरी पर चुहल करती हुई सामने आती है तो अरुणा और बानू[४] (धर्मपुत्र) के वार्तालापो मे उनकी गत स्मृतियाँ ही उधेडी गई हैं।

इस प्रकार से स्नेहावेश के सवादो के द्वारा उपन्यासकार अल्हड, चचल एव नटखट युवतियो के निष्कपट, सरल एव अटूट स्नेह को व्यक्त करने मे सफल रहा है।

क्रोधावेश एव ओजपूर्ण सवाद—

क्रोधावेश मे दिए गये कथोपकथन आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे अपेक्षाकृत कम हैं। किंतु जहाँ भी उन्होने ऐसे सवादो की सृष्टि की है वहाँ उनके सवादो मे क्षिप्रता, तीव्रता के साथ-साथ ओज एव उत्तेजना भी आ गई है

---

१. अपराजिता, पृ ११०-११।
२ बहते आँसू, पृ २५-२६।
३. बगुला के पंख, १७२ ७३।
४. धर्मपुत्र, पृ १६१-६२।

जिससे संवाद तदनुरूप भावों को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुआ है। क्रोधावेश के संवाद आचार्य जी के साहित्य में दो प्रकार के प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम-एक पक्ष क्रोधावेश में और दूसरा शान्त स्वर में वार्तालाप करता है। दूसरे प्रकार में दोनों पक्ष ही क्रोधावेश में वार्तालाप करते हैं। आचार्य जी के उपन्यासों में प्रथम प्रकार के संवादों का आधिक्य है। सरला विद्याधर संवाद (हृदय की परख)[1], प्रवीण भगवती संवाद (हृदय की प्यास)[2], भगवती सुखदा संवाद (हृदय की प्यास)[3], जयनारायण का अपनी पत्नी से वार्तालाप[4], हरनारायण भगवती संवाद[5] (बहते आँसू), भीमदेव इच्छनी-कुमारी-संवाद[6] (रक्त की प्यास), सूरसिंह-महाराजाधिराज संवाद[7] महाराजा जसवन्त-नाहर[8] गोपी-ठाकुर एवं राज के संवाद[9], अपराजिता-शम्बर-रावण-संवाद[10], विद्युज्जिह्व विद्युन्माला-संवाद[11] (वय रक्षामः), घोघाबापा मसऊद संवाद[12], महाराज चामुण्डराय विमलदेव शाह संवाद[13], भीमदेव चालुक्य संवाद[14] (सोमनाथ) आदि कितने ही संवाद इसी प्रकार के हैं। इन संवादों की प्रमुख विशेषताएँ यही हैं कि एक प क्रोधावेश में आकर उन्मत्त सा हो जाता है तो दूसरा शान्त रहकर प्रथम पक्ष के समक्ष मस्तक नत कर देता है, अथवा यदि कुछ उत्तर भी देता है तो उससे शालीनता ही प्रकट होती है। इसमें कुछ संवाद ऐसे भी हैं जिनमें प्रथम पक्ष के असह्य क्रोध को देखकर दूसरे पक्ष की वाणी में भी कठोरता आने लगी है।

---

१. हृदय की परख, पृ. १२७-२९।
२. हृदय की प्यास, पृ. ११२।
३ हृदय की प्यास, पृ. ११६-१७।
४. बहते आँसू, पृ. ६०।
५. बहते आँसू, पृ. ११६-१७।
६. रक्त की की प्यास, पृ. ११४-१५।
७. गोली, पृ. १०२-३।
८. गोली, पृ. १५२।
९. अपराजिता, पृ. ९५-९६।
१०. वय रक्षामः, पृ १८६-८७।
११ वय रक्षामः, पृ ३०३-३०४।
१२ सोमनाथ, पृ १११
१३ सोमनाथ, पृ १६४-६५।
१४ सोमनाथ, पृ ३५०-५१।

आचार्य चतुरसेन जी के क्रोधावेश के सवाद वड़ी अधिक सजीव हैं जिनमें उभयपक्ष के कथनो में उग्रता एव तीव्रता है।

जहाँ आचार्य जी ने क्रोधावेश के सवादो में ओज का पुट दिया है, वे और भी सजीव हो उठे हैं। उदाहरण के लिए हम महमूद रमाबाई (सोमनाथ) के सवाद को ले सकते हैं। इसमें रमाबाई के कथनो को और अधिक तीव्र एव प्रवाह युक्त बनाने के लिए आचार्य जी ने ओज का पुट दिया है। इस सवाद की सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि इसमें सबल पक्ष मौन है और निर्बल पक्ष असयमित एव असतुलित होकर सब कुछ कह डालने को प्रस्तुत है देखिए—

"सिपाहियो ने रमाबाई को छोड दिया। छूटते ही उसने कृष्ण स्वामी के बधन खोल दिये। और फिर वह अपने हाथ की लकडी मजबूती से पकडकर अमीर की ओर फिरी। उसने अपनी गोल-गोल आँखें घुमाते हुए कहा—'तू ही वह अमीर है?'

'हाँ औरत, मैं ही अमीर महमूद हूँ?'

'तूने सर्वज्ञ को मारा, देवलिग भग किया?'

'हा, मैं विजयी मूर्तिभजक महमूद हूं? लेकिन औरत, तू क्या चाहती है?'

'मैं तुझसे यह पूछती हूँ? कि क्या तुझसे किसी ने यह नहीं कहा कि तू मृत्यु का दूत, जीवन का शत्रु और मनुष्यो मे कलक रूप है।'

'अब औरत, मैं तेरी सब बात सुनूंगा, कहती जा।'

'तूने विजय प्राप्त की, पर किसी की भलाई नही की।'

'मैं खुदा का बन्दा, खुदा के हुक्म से कुफ तोडता हूँ।'

'तू भगवान के पुत्रो को मारता है, जिन्होंने तेरा कुछ नही बिगाडा। उन्हें लूटता और उनके घर-बार जलाता है। तू ककड पत्थरो का लालची है और आदमी का दुश्मन, तेरा खुदा यदि तेरी इन काली करतूतो से खुश है तो वह खुदा नही शैतान है।'

महमूद की भवो मे बल पड गए। ।[1]

इसी प्रकार अम्बपाली हर्षदेव नगरवधू के सवाद में ओज को ही अधिक प्रधानता हैं। इसमें उभयपक्ष उत्तेजित एव क्षुब्ध है।

'अम्बपाली ने पूछा' रात भर सोए नहीं हर्षदेव?

'तुम भी तो कदाचित् जगती ही रही, देवी अम्बपाली।'

'मेरी बात छोडो परतु तुम क्या रात भर भटकते रहे हो?'

---

१ सोमनाथ, पृ ३८५।

कहीं चैन नहीं मिला, यह हृदय जल रहा है। यह ज्वाला सही नहीं जाती अब।'

'एक तुम्हारा ही हृदय जल रहा है हर्षदेव। परन्तु यदि यह सत्य है तो इसी ज्वाला में वैशाली के जनपद को फूंक दो। यह भस्म हो जाय। तुम बेचारे यदि अकेले जलकर नष्ट हो जाओगे तो उससे क्या लाभ होगा।'

'परन्तु अम्बपाली, तुम क्या एकबारगी ही ऐसी निष्ठुर हो जाओगी? क्या इस आवास में तुम मुझे आने की अनुमति नहीं दोगी। मैं तुम्हारे बिना रहूंगा कैसे? जीऊंगा कैसे?

'आओगे तुम इस आवास में? यदि तुममें इतना साहस हो तो आओ, और देखो कि तुम्हारी वाग्दत्ता पत्नी से वैशाली के तरुण सेट्ठिपुत्र और सामन्त-पुत्र किस प्रकार प्रेम प्रदर्शन करते हैं। और वह किस कौशल से हृदय के एक एक खण्ड का क्रय-विक्रय करती है। देखोगे तुम? देख सकोगे? तुम्हें मनाही किस बात की है। यह तो सार्वजनिक आवास है। यहां सभी आवेंगे, तुम भी आना। परन्तु इस प्रकार दीन-हीन पागल की भांति नहीं। दीन-हीन पुरुष का इस आवास में प्रवेश निषिद्ध है, तुम्हें यह न भूल जाना चाहिए कि यह वैशाली की नगरवधू देवी अम्बपाली का आवास है। जैसे और सब आते हैं, उसी भांति आओ तुम, सजधज कर हीरे-मोती स्वर्ण बखेरते हुए। होठों पर हास्य और पलकों पर विलास का नृत्य करते हुए। सबको देवी अम्बपाली से प्रेमाभिनय करते देखो। तुम भी वैसा ही प्रेमाभिनय करो, हंसो, बोलो, शुल्क दो, और फिर छूछे हाथ, शून्य हृदय अपने घर चले जाओ। फिर आओ और फिर जाओ। जब तक पद-मर्यादा शेष रहे, जब तक हाथ में स्वर्णरत्न भरपूर हो, आते रहो, जाते रहो, लुटाते जाओ, लुटते जाओ, यह नगरवधू का घर है, यह नगरवधू का जीवन है, यह मत भूलो।'

अम्बपाली कहती ही चली गई। उसका चेहरा हिम के समान श्वेत हो रहा था। हर्षदेव पागल की भांति मुंह फाड़कर देखते रह गए। उनसे कुछ भी कहते न बन पड़ा। कुछ क्षण स्तब्ध रहकर अम्बपाली ने कहा 'क्यों कर सकोगे ऐसा?'

'नहीं, नहीं, मैं नहीं कर सकूंगा।'

तब जाओ तुम। इधर भूलकर भी पैर न देना। इस नगरवधू के आवास में कभी आने का साहस न करना। तुम्हारी वाग्दत्ता स्त्री अम्बपाली मर गई। यह देवी अम्बपाली का सार्वजनिक आवास है। और यह वैशाली की नगरवधू

है। यदि तुममें कुछ मनुष्यत्व है तो तुम जिस ज्वाला से मर रहे हो उसी से जनपद को जला दो। भस्म कर दो।'

हर्षदेव पागल की भाँति चीत्कार कर उठा। उसने कहा 'ऐसा ही होगा। देवी अम्बपाली मैं इसे भस्म करूँगा। वैशाली के इस जनपद की राख तुम देखोगी सप्तभूमि प्रासाद की इन वैभवपूर्ण अट्टालिकाओं में अष्टकुल के वज्जी संघ की चिता धधकेगी। और वह गणनन्त्र का धिक्कृत कानून, उसमें इस आवास के वैभव के साथ ही भस्म होगा।

'तब जाओ तुम अभी चल जाओ। मैं तुम्हारी जलाई हुई उस ज्वाला को उन्मुख नेत्रों से देखने की प्रतीक्षा करूँगी।'

हर्षदेव फिर ठहरे नहीं। उसी भाँति, उन्मत्त की भाँति वे आवास से चले गए।'[1]

प्रस्तुत संवाद में क्रोध के साथ ओज का ही पुट दिया गया है। प्रेमिका के चुटील व्यंग्य हर्षदेव के सम्पूर्ण शरीर में आग लगा देते हैं। आहत प्रेमी चोट खाकर सम्पूर्ण वैशाली को भस्म कर देने की प्रतिज्ञा कर लेता है।

पति पत्नी के संवाद यदि प्रेमावेश के हैं तो क्रोधावेश के भी आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त हो जाते हैं। इन संवादों की विशेषता है कि इनका प्रारम्भ एक पक्ष से ही होता है और दूसरा पक्ष स्नेहमिश्रित उत्तर ही देता जाता है, किन्तु शीघ्र ही व्यंग्य बाणों से आहत होकर उभयपक्ष के कथनों में तीक्ष्णता, आवेग एवं उत्तेजना आ जाती है। अन्त में पत्नी अपने अन्तिम ब्रह्मास्त्र अश्रुओं का प्रयोग करती है और पति को विवश होकर मैदान त्यागना पड़ता है। हरनारायण-हरदेई संवाद[2] (बहते आँसू) रामजस भगवती संवाद[3] (आत्मदाह) आदि ठीक इसी प्रकार के हैं। इनमें उग्रता के अन्तर में स्नेह, तीव्रता के साथ-साथ अपनत्व, कटुता के साथ-साथ आत्मीयता एक साथ उभरी हुई दीख पड़ती है। रामजस-भगवती संवाद में अधिक तीव्रता है, इसमें कटु वचनों के पश्चात् आत्मीयता के स्थान पर हाथापाई तक की नौबत आ गई है।

जहाँ पर दो स्त्रियाँ क्रोधावेश में परस्पर वार्तालाप करती हैं, वहाँ उनके वचनों में स्वाभाविकता का पुट देने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने उग्रता के

---

१. वैशाली की नगरवधू, पृ. ४२-४३
२. बहते आँसू, पृ ४४-४७
३. आत्मदाह, पृ. ९१-९२

साथ साथ कुछ घरेलू गालियों को भी स्थान दिया है।[1] किन्तु ऐसे सवाद उनके उपन्यासो मे कम ही हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के साहित्य मे करुणवेश या दुखावेश के सवादो की भी न्यूनता नही है। ऐसे सवाद अत्यन्त प्रभावशाली एव पाठक को तुरन्त विचलित करने की शक्ति से परिपूर्ण है। उन्होंने करुण, हृदय स्पर्शी एव दुखपूर्ण स्थलो को स्पष्ट करने के लिए ऐसे सवादों का आश्रय लिया है। ऐसे सवादो को और अधिक सजीव करने के लिए उन्होंने उनके परिपार्श्व मे रुदन, विलाप, भाग्य या देव को कोसना वैकर्ण्य आदि आगिक क्रियाओ को नाटकीय ढग से सजोया है। जिससे ऐसे सवाद और भी सजीव एव भावपूर्ण हो गए है। माया की मृत्यु के पश्चात् सुधीन्द्र की माता का अपने पुत्र (आत्मदाह) से वार्तालाप[2] इसी प्रकार का है। इसमे उपन्यासकार ने करुण रस के विभिन्न सचारी भावो चिन्ता, ग्लानि, विषाद, स्मृति, निर्वेद आदि का आश्रय लेकर सवाद को और भी सजीवता प्रदान की है। मधुसूदन की मृत्यु पर हुए मुक्ता सुधीन्द्र सवाद[3], राय साहब सुधीन्द्र सवाद (आत्मदाह) आदि कितने ही इसी प्रकार के सवाद आचार्य चतुरसेन जी के साहित्य मे प्राप्त होते हैं।

भावानुकूल सवादो को और अधिक स्वाभाविक एव सजीव बनाने के लिए आचार्य जी ने स्वगत कथनो की भी योजना की है।[4]

सवाद पात्रानुकूल एव भावानुकूल होते हुए भी तब तक सरस, रसात्मक एव रमणीय न होगा, जब तक उसमे रोचकता न हो। सवादो मे रोचकता लाने के लिए तीन तत्वो प्रत्युत्पन्नमति हाजिरजवाबी, सौजन्य etiquette और सगति का उसमे होना अनिवार्य माना गया है।[5] आचार्य जी के सवादो मे विशेषताएँ सर्वत्र देखी जा सकती हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के अधिकाश पात्र प्रत्युत्पन्न है। आचार्य जी ने अपने सवादो मे शब्दो द्वारा, वाक्यो द्वारा यह चमत्कार उत्पन्न किया है। जहाँ उन्होंने शब्दो या वाक्यो द्वारा यह चमत्कार उत्पन्न किया है वहाँ उन्होंने उत्तर-

१. बहते आँसू, पृ- ९४-९५, ११७-११८, १२८-१२९
२. आत्मदाह, पृ. १६
३. आत्मदाह, पृ. ३००-३०२।
४. सोमनाथ पृ. ४५०-५१।
५. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ. १३६।

प्रत्युत्तर करने वाले किसी एक पात्र को अपनी प्रतिभा प्रदान कर दी है। प्रत्युत्तर देते समय वह पात्र अपने विपक्षी को निरुत्तर करने के लिए उसी के द्वारा प्रयुक्त शब्द या वाक्य को कुछ ऐसा नवीन मोड़ दे देता है, कि श्रोता को विवश होकर मूक रह जाना पड़ता है। सुधीन्द्र और राजदुलारी[1] (आत्मदाह) भस्माकदेव और दामोमिहता[2], दामो महता और महमूद[3], शोभना और देवा[4] (सोमनाथ), गुलाबजान और नवाब जबर्दस्त खा (सोना और खून) आदि के वार्तालापो मे प्रत्युत्पन्नमति का गुण सर्वत्र देखा जा सकता है। अन्तिम वार्तालाप को हम उदाहरण के लिए यहाँ प्रस्तुत करते हैं एक घुटे घुटाए जमाना देखे घाघ नवाब हैं तो दूसरी घाट-घाट का पानी पिए मुँहफट एवं हाजिर जवाब वेश्या। गुलाब जान, नवाब को अपने हाथ का लगा पान पेश करती है। देखिए —

'नवाब ने कहा' दाँत कहाँ से लाऊँ जो पान खाऊँ ?

'हुजूर खाइए तो, आप ही के लायक मैंने बनाया है।'

नवाब जबर्दस्त खाँ ने मुस्करा कर कहा 'वल्लाह, बनाने मे तो तुम एक ही हो।'

गुलाबजान ने तड़ाक से जवाब दिया 'लेकिन हुजूर बनाती ही हूँ, बिगाड़ती किसी को नहीं।'

बूढे नवाब ने धुएँ के बादल बनाते हुए एक ठंडी सास भरी और कहा— 'शुक्र है खुदा का।'[5]

ऐसा ही एक प्रसंग और देखिए नवाब, गुलाबजान की नौची से मनोरंजन कर रहे हैं।

'क्या नाम है तुम्हारा बीबी जान ?'

'हुजूर, मुझे धनिया कहते हैं।'

'वाह, क्या मुफीद नाम है।' दीवान साहब की तरफ मुखातिब होकर दीवान साहब धनिये की क्या तासीर है।'

---

१. आत्मदाह, पृ. १५८।
२ सोमनाथ पृ. १५५-५६।
३. सोमनाथ-पृष्ठ ३०९।
४. सोमनाथ-पृष्ठ ४३३।
५. सोना और खून-उत्तरार्द्ध प्रथम भाग-पृष्ठ ३८-३९।

दीवान साहब, पूरे घाघ। झट से हाथ बांधे बोले 'सरकार दिल को ठडक पहुचाना है।'[1]

मजे हुए घाघ दीवान की हाजिर जवाबी देखकर पाठक प्रसन्न हो उठता है।

प्रत्युत्पत्ति के साथ-साथ सवाद का सगत होना भी अनिवार्य है। यदि प्रत्युत्तर को सुनकर विपक्षी पात्र निरुत्तर होने पर भी असन्तुष्ट रहता है, तो वह सवाद सफल नही कहा जा सकता। 'आश्वासन के लिए युक्ति और सगति की आवश्यकता होती है। जिनके बिना दूसरा व्यक्ति निरुत्तर होने पर भी सतुष्ट नही होता।'[2] आचार्य जी के उपर्युक्त सवादो मे यह विशेषता भी प्राप्त होती है। पीछे हम पात्रानुकूल एव भावानुकूल सवादो का विश्लेषण करते समय सगति के गुण को देख चुके हैं।

उपर्युक्त दोनो गुणो के साथ साथ आचार्य जी ने अपने सवादो मे शिष्टाचार एवं सौजन्य का भी ध्यान रखा है। वातावरण निर्माण के लिए उन्होंने जिन सवादो की रचना की है, उनमे इन गुणो की विशेष प्रचुरता है।

संक्षिप्तता एवं पैनापन—

सक्षिप्त, पैने एव प्रवाहपूर्ण कथोपकथनो से रचना का सौंदर्य निखर आता है। वास्तव मे एक ओर जहाँ लघु प्रगारी, वैदग्ध्यपूर्ण, तीखे, तीव्र एव संक्षिप्त कथोपकथनो से कथा की कलात्मक महत्ता बढती है, वही दूसरी ओर दीर्घ विश्लेषणात्मक एव विवेचनात्मक कथोपकथनो से कथा अवरुद्ध हो जाती है, जिससे वह अस्वाभाविक एव अरुचिकर प्रतीत होने लगते है। आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों मे सक्षिप्त और दीर्घ विश्लेषणात्मक दोनो ही प्रकार के सवाद प्राप्त होते हैं उनके दीर्घ सवाद तो कही-कही नीरस भी हो उठे है, किंतु उनके सक्षिप्त सवाद पैनापन लिए हुए रसात्मक हैं। नाटकीय, भावानुकूल एवं पात्रानुकूल सभी प्रकार के कथोपकथन जहाँ पर सक्षिप्त हैं, वहाँ वे अधिक सजीव एव हृदय-स्पर्शी हैं। उन छोटे-छोटे सवादों मे कहीं-कहीं उन्होंने गागर मे सागर भी भर दिया है। ऐसे सवादो मे वे पात्र बोलते कम हैं किंतु ध्वनित अधिक करते हैं। इन सवादो मे आचार्य जी ने प्रत्युत्पन्नमति एव सगति का विशेष ध्यान रखा है। उदाहरण के लिए हम माया और दिलीप (धर्मपुत्र) के वार्तालाप को ले सकते हैं। भाई के मुख से 'लाट साहब' शब्द सुनकर वहन हसी मे भाई के समीप उसकी प्रेमिका

१. सोना और खून उत्तरार्द्ध प्रथम भाग-पृष्ठ ३८-३९।

२. साकेत एक अध्ययन-डा० नगेन्द्र-पृष्ठ १३८।

को चाय लेकर भेज देती है। उस समय एकान्त मे हो रहा उनका रसमय वार्तालाप सुनिए—

' उसने कहा—'करुणा चाय बना रही थी, उसे भगा क्यो दिया।'

'मैंने, कहा भगाया।'

'मुझे क्यो बुलाया।,

'किसने कहा।'

'करुणा ने।'

'क्या।

कहा तुम्हे बुलाते हैं।'

दिलीप के होठो पर मुस्कान फैल गई। उसने कहा—'समझा, लाट साहेब आपही का नाम है।

'लाट साहेब।'

'यह यह गई थी लाट साहेब को भेजती हूँ।'[१]

प्रस्तुत सवाद मे वाक्य छोटे-छोटे एव सक्षिप्त हैं किन्तु पैने एव अधिक अर्थध्वनित करने वाले हैं। 'लाट साहब' शब्द के प्रयोग ने ही सवाद को अधिक रसात्मक बना दिया है। सवाद चुस्त, गठा हुआ, शब्द सधे हुए एव चुटीले, छेडछाड एव मान मनौवल से पूर्ण है। उत्तर प्रत्युत्तरो मे हाजिर जवाबी है, जिससे सम्पूर्ण सवाद मे स्फूर्ति एव त्वरा आ गई है। ऐसे सवादो की भी आचार्य जी के उपन्यासो मे न्यूनता नही है। अलोविन उस्तान अलहजदोशी महमूद सवाद[२], महमूद सवाद[३], शोभना महमूद सवाद[४], (सोमनाथ) दैत्यबाला रावण सवाद[५] (वय रक्षाम) आदि सवाद इसी प्रकार के हैं।

निष्कर्ष —

इस सम्पूर्ण विवरण के पश्चात् अन्त मे आचार्य जी की कथोपकथन लेखन कला सम्बन्धी निम्न निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं।

आचार्य जी के सवादो की सबसे बडी विशेषता है कि वे सरस, स्वाभाविक एव रोचक होते हैं। अधिकाशत उन्होंने अपने उपन्यासो मे ऐसे ही

---

१. धर्मपुत्र पृठ १९३।

२. सोमनाथ पृ. ७४-७५।

३. सोमनाथ पृ. २९० से २९१ तक।

४. सोमनाथ पृ. ४३२ से ४३३ तक।

५. वय रक्षाम पृ.-२ से ३ तक।

संवादों को स्थान दिया है जो कथानक के अनुरूप एवं सार्थक हों। ऐसे संवाद प्राय कथानक के अविभाज्य अंग बनकर आए हैं, जिससे कथा में आदि से अंत तक प्रवाह रहा है। किंतु ये कथोपकथन जिनके व्याज से उपन्यासकार ने अपने सिद्धांतों, निश्चयों एवं आलोचना का प्रदर्शन करना चाहा है, कथा पर भारवत् हो गए हैं। ऐसे कथोपकथनों के प्रयोग से कथा बिखर गई है। जैसा कि हम पीछे दिखला चुके हैं कि ऐसे कथोपकथन न कथानक को गति ही प्रदान करते हैं, न चरित्र को ही उभारते हैं। इनसे केवल लेखक का उद्देश्य अवश्य स्पष्ट होता है। किंतु इस प्रकार के अनियंत्रित कथोपकथनों का प्रयोग उपन्यास में सर्वथा वर्जित समझा जाता है।

आचार्य जी के संवादों की दूसरी प्रमुख विशेषता है पात्रों के अनुभवों की सूक्ष्म पकड़। उनके संवादों के पठन मात्र से ही अमूर्त घटना पाठक के कल्पना चक्षुओं के समक्ष प्रत्यक्ष घटित हुई स्पष्ट ज्ञात होने लगती है। संवादों को और अधिक स्वाभाविक एवं नाटकीय बनाने के लिए उपन्यासकार ने अपनी ओर से पात्रों की विभिन्न भावभंगिमाओं और मुद्राओं का भी संकेत किया है। ऐसे स्थलों पर पात्र बोलते कम हैं किंतु अपने हाव भावों के द्वारा व्यंजित अधिक करते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने संवादों को अधिक से अधिक स्वाभाविक, सरल एवं रसणीय बनाने के लिए पात्रानुकूल एवं भावानुकूल संवादों की रचना की है। आचार्य जी अपने संवादों में पात्रों की वैयक्तिकता की रक्षा में भी पूर्ण सफल रहे हैं। उनका प्रत्येक पात्र अपनी चरित्रगत विशेषताओं के कारण अन्य पात्रों से पृथक ज्ञात होता है। उन्होंने संवादों की रचना करते समय इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि किस अवसर पर, कौन सा पात्र किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करेगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने पात्र के व्यक्तित्व को अधिक से अधिक उभारने के लिए भावों के उतार-चढ़ाव पर, उनके विभिन्न अंशों पर पड़नेवाले स्वराघातों पर, उनकी स्वयं की उच्चारण पद्धति पर कला की पूर्ण छाप लगा दी है। इतना ही नहीं उनके पात्र की वाणी का उतार-चढ़ाव परिस्थिति एवं आंतरिक भावों के अनुरूप ही परिवर्तित होता रहा है। इस प्रकार के परिवर्तनों के परिवर्तनशीलता के रहते हुए भी आचार्य जी ने अपने संवादों में इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि कहीं पात्र का अपना स्वयं का व्यक्तित्व लुप्त न हो जावे। उन्होंने संवादों में इस प्रकार के प्रयोग वस्तुतः किसी पात्र विशेष के व्यक्तित्व को अधिक से अधिक प्रखर बनाने के लिए ही किए हैं।

आचार्य जी के यदि प्रथम सवादो मे सरसता, मार्मिकता एव सजीवता है, तो स्नेहावेश के सवादो मे भी इन गुणो की न्यूनता नही है। स्नेहावेश के सवादो मे जहाँ एक ओर वात्सल्य रस हिलोरें ले रहा है तो दूसरी ओर अल्हड युवतियो की ठिठोली मे छेडछाड चुलबुलाहट एव मान मनौवल सब एक साथ आ विराजे हैं। क्रोधावेश के सवाद बडे ही सजीव एव स्वाभाविक हैं। क्रोधावेश मे नि सृत वाक्यो मे जहाँ एक ओर तीव्रता, क्षिप्रता एव वेग है वहीं दूसरी ओर वे उत्तेजना एव आतक से पूर्ण हैं। क्रोध के साथ-साथ ओज का पुट ऐसे सवादो की प्रधान विशेषता है। आचार्य जी ने कथा को अधिक मर्मस्पर्शी बनाने के लिए करुणावेश अथवा दु खावेश के सवादो की भी सृष्टि की है। ऐसे सवाद प्रभावशाली होने के साथ-साथ हृदय को तुरन्त स्पर्श करने वाले हैं। ऐसे सवाद अधिकाशत साथ है।

आचार्य जी के सवादो मे प्रत्युत्पन्नमति, सौजन्य एव सगति तीनो ही गुणो का योग प्राप्त होता है। जिसमे सवाद पैने, प्रवाहपूर्ण एव तुरन्त चोट करने वाले होते हैं। उत्तर प्रत्युत्तरो मे एक गति है, प्रवाह है। आदि से अन्त तक उनका एक-एक शब्द गठा हुआ एव चुस्त है। उनके सक्षिप्त सवाद सधे हुए, त्वरा से पूर्ण एव रसात्मक हैं। ऐसे सवादो मे पात्र कम बोलते हुए भी हाव-भावो द्वारा इगित अधिक कर जाते हैं।

अध्याय ६

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों में देशकाल अथवा वातावरण सृष्टि

देश-काल (वातावरण सृष्टि)

'उपन्यास के 'देश और काल' से हमारा तात्पर्य उसमे वर्णित आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन और परिस्थिति आदि से है।'[1] कथानक मे विश्वसनीयता लाने के लिए कथाकार इस तत्व का उपयोग करता है।' कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भाँति देश-काल के बन्धन मे रहते हैं। .... जिस प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शोभा नही देता उसी प्रकार बिना देशकाल के पात्रो का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नही होता है और घटना-क्रम के समझने के लिए भी उसकी आवश्यकता होती है।'[2] वास्तव मे वातावरण ही पात्रो का अपना ससार होता है, उससे विहीन उनका, उनके क्रिया कलापो का कोई अपना निज का अस्तित्व नही रह जाता। अतः 'जितनी ही वास्तविक पृष्ठभूमि मे चरित्रो को प्रकट किया जायेगा, उतनी ही गहरी विश्वसनीयता का भाव जगाया जा सकता है। इस पृष्ठभूमि के बिना हमारी कल्पना को ठहरने को कोई भूमि नही मिलती और न हमारी भावना ही रमती और विश्वास करती है।'[3] स्पष्ट है कि उपन्यास मे इस तत्व का अपना विशिष्ट स्थान है।

वातावरण सृष्टि को हम सुविधा की दृष्टि से निम्न रूपो मे रख सकते हैं—

१. पौराणिक।
२ ऐतिहासिक।
३. सामाजिक।
४. प्राकृतिक (उपर्युक्त तीनो प्रकार के उपन्यासो मे प्राप्त)।

१ पौराणिक उपन्यासों में वातावरण सृष्टि—

इनमे कथाकार इतिहास की अपेक्षाकृत पुराण एवं अन्य प्राचीन साधनों

---

१. साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दर दास, पृ- २१०।
२. काव्य [redacted] रूप, डा० गुलाबराय, पृ. १८२।
३. काव्य शास्त्र, डा० भगीरथ मिश्र, पृ. ८७।

का आश्रय अधिक लेना है। इसमें लेखक के लिए कल्पना की विशेष अपेक्षा रहती है जिससे वह पौराणिक काल की समस्त विशेषताओं को अपने वर्णन में उतार सके। नगर, नदी, पर्वत आदि के नाम, व्यक्तियों के नाम, वस्त्र, वेशभूषा, रहन-सहन, विश्वास, रीतिरिवाज आदि के द्वारा पौराणिक वातावरण की सृष्टि की जाती है।

२. ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण सृष्टि :—

ऐतिहासिक उपन्यास में वातावरण का सबसे अधिक महत्व रहता है। 'उनमें लेखक को उस युग विशेष की पृष्ठभूमि का चित्रण करना पड़ता है जिसके चरित्रों का वह वर्णन करना चाहता है। अतः उसके वर्णनों में उस युग के विशिष्ट रीति रिवाज, चाल-ढाल, वातावरण के प्रमाणिक चित्रण द्वारा यह आभास देना पड़ता है कि यह वही युग है। उस युग के विपरीत कोई बात उसमें न आनी चाहिए। इसके साथ ही उपन्यास में सगठित एवं सयोजित घटनायें भी उस युग के इतिहास में घटित घटनाओं के मेल में होनी चाहिए, उनके विरुद्ध नहीं। इसके लिए ऐतिहासिक उपन्यासकार को उस युग के इतिहास का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। लेखक जिन घटनाओं, पात्रों एवं परिस्थितियों की कल्पना करे, वे भी वैसी हों जैसी वास्तविक घटनायें हुई हों।'[1] डा० श्यामसुन्दर दास का तो कथन है 'ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले का काम ही यह है कि पुरातत्व और इतिहास के जानकारों ने जिन रूखी-सूखी बातों का सग्रह किया हो, उनको वह सरस और सजीव रूप देकर अपने पाठकों के सामने उपस्थित करे और उसे इधर-उधर बिखरी हुई जो सामग्री भिन्न भिन्न साधनों से मिले, उसकी सहायता से वह अपने कौशल के द्वारा एक सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत करे। ऐतिहासिक उपन्यासों के पाठक तो उसी लेखक का सबसे अधिक आदर करते हैं जो किसी विशिष्ट अतीत काल का बिल्कुल सच्चा, जीता-जागता और साथ ही मनोरंजक वर्णन कर सके। इससे उसके पांडित्य और पुरातत्व ज्ञान का भी आदर होता है, पर उतना अधिक नहीं जितना उसकी वर्णन शक्ति का।'[2]

वास्तव में सत्य यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में घटनाओं और नामों की अपेक्षा वातावरण का महत्व कहीं अधिक है, क्योंकि इतिहास की आत्मा नामों और घटनाओं में न रहकर वातावरण में ही निहित रहती है। अतः हम यह कहते हैं इन उपन्यासों में कल्पना, वातावरण वर्णन शक्ति एवं ऐतिहासिक सत्य

---

१. काव्य दर्पण-डा० [illegible]-पृष्ठ ८८।
२. साहित्यालोचन-डा० श्यामसुन्दरदास-पृ० २१२।

का सानुपातिक समन्वय होता है, वही उपन्यास वास्तव मे सफल ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।

सामाजिक उपन्यासो में वातावरण-सृष्टि—

सामाजिक उपन्यासो मे भी इस तत्व का महत्व रहता है। इस तत्व के अभाव मे रचना की कलात्मक महत्ता क्षीण हो जाती है। डा० भगीरथ मिश्र ने इसी कारण से सामाजिक उपन्यासो मे वातावरण सृष्टि की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है "सामाजिक उपन्यासो मे तो लेखक प्राय अपने युग की देखी-सुनी और अनुभूत पृष्ठभूमि देता है और पाठक के समसामयिक होने के कारण उसको जाचने और विश्वास करने का अवसर रहता है। आगामी युगो के लिए तो सामाजिक उपन्यासकार सामाजिक और सास्कृतिक इतिहास की सामग्री प्रदान करता है। अत मेरा तो विश्वास यह है कि यदि उपन्यासकार, अपने समाज का अत्यत यथार्थ—यहाँ तक कि ऐतिहासिक यथार्थता को ध्यान मे रखकर वास्तविक जीवन का चित्रण करता है, तो वह न केवल साहित्य की सृष्टि करता है, वरन् सास्कृतिक और सामाजिक इतिहास के लिए भी सामग्री तैयार करता है या पृष्ठ भूमि बनाता है।"[१]

वास्तव मे सामाजिक उपन्यासो मे वातावरण चित्रण एक साथ दो कार्य सिद्ध करता है। प्रथम उपन्यास को विश्वसनीय बनाता है और दूसरे आज का उपन्यास कल के लिए एक सजीव इतिहास का कार्य भी कर सकता है।

अन्त मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि पौराणिक ऐतिहासिक और सामाजिक तीनो ही प्रकार के उपन्यासो मे देशकाल एव वातावरण के चित्रण की उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता।

देशकाल और स्थानीय रग—

स्थानीय रग से हमारा तात्पर्य 'लोकल कलर' से है। इस प्रकार इसमे उपन्यासकार किसी विशेष स्थान के देशकाल, वातावरण एव व्यावहारिक जीवन का एक सच्चा खाका उपस्थित करता है। उदाहरण के लिए हम लखनऊ नगर को ले सकते हैं। यदि हम इस नगर का चित्रण करते समय यमुना काशी विश्वनाथ का मन्दिर, लाल किला आदि का वर्णन करेंगे तो निश्चित ही वह लखनऊ नगर का वास्तविक चित्रण न होगा और यदि इनके स्थान पर गोमती, इमामबाडा, छतरमजिल आदि का वर्णन करेंगे तो पाठक स्वय ही

१ काव्यशास्त्र-डा० भगीरथ मिश्र-पृष्ठ ८८।

लखनऊ की सड़कों पर अपने को भ्रमण करते हुए देखने लगेगा । इस प्रकार स्थानीय रंग के उपयोग से एक ओर कथानक की विश्वसनीयता बढ़ती है तो दूसरी ओर उसकी बहुलता से कथानक के बोझिल होने की भी सम्भावना रहती है । अतः इसका प्रयोग आनुपातिक दृष्टि से ही करना श्रेयस्कर होता है । वास्तव में स्थानीय रंग का महत्व दो कारणों से बढ़ जाता है । एक तो यह कि इसके होने से उपन्यास में प्रभावात्मकता आ जाती है तथा दूसरे यह कि उसकी कृत्रिमता नष्ट हो जाती है और स्वाभाविकता बढ़ जाती है । ये ही कुछ कारण हैं जिनके लिए उपन्यासों में स्थानीय रंग देना आवश्यक समझा जाता है । स्थानीय रंग ऐतिहासिक राजनैतिक तथा सामाजिक उपन्यासों में समान रूप से महत्व रखता है ।[1]

देशकाल और विविध वर्णनों की सीमाएँ—

जैसा कि हमने स्थानीय रंग के विषय में कहा है कि उसके वर्णन में सदैव अनुपात का ध्यान रखना चाहिए अन्यथा रचना बोझिल हो जाती है । उसी प्रकार देश काल के वर्णन के सम्बन्ध में भी अनुपात और सतुलन का ध्यान रखना अनिवार्य है । उपन्यासकार को ऐसे वर्णन देते समय भी यह न भूल जाना चाहिए कि वह एक कथाकार है । उसका प्रधान कर्तव्य रचना को रोचक एवं सप्राण बनाना है अतः उसे देशकाल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे स्वयं साध्य न बन जाय । जहाँ देश काल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वहाँ उससे जी ऊबने लगता है लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलटकर कथा सूत्र को ढूँढने लग जाते हैं । देश काल का वर्णन कथानक को स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए ।[2] इसके लिए उपन्यासकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे वर्णनों को जो कथा प्रवाह के विस्तार अथवा चरित्र विकास में साधक न होकर बाधक हों उनको सदैव अपनी रचना से दूर ही रखना चाहिए । इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्णनों की योजना की ही न जाय, प्रत्युत उचित स्थान पर उचित रीति से वर्णनों की भी अपेक्षा होती है । किसी स्थिति विशेष का सफल अंकन न हो सकने के कारण कभी-कभी भावों की पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती और कोई अभाव-सा

१ हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास डा० प्रताप नारायण टंडन पृ ९९ ।

२ काव्य के रूप डा० गुलाब राय पृ० १८३ । द्वितीय संस्करण

सटकता रहता है। सूक्ष्म निरीक्षण के छोटे-छोटे चमत्कार द्वारा ही इतना शीघ्रता और पूर्णता के साथ वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न कराया जा सकता है। वातावरण के सफल तथा मनोरम चित्रण का कहानी के लिए बहुत मूल्य होता है।'[१]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सतुलित, मर्यादित, सीमित एव उपयोगी देशकाल के चित्रण से एक ओर जहाँ उपन्यास की विश्वसनीयता बढती है वहीं दूसरी ओर उपन्यास का कलात्मक सौन्दर्य भी बढ जाता है।

देशकाल (वातावरण सृष्टि) को हम निम्न दो भागो में रखकर प्रस्तुत अध्याय मे उसका विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

१ वस्तु वर्णन एव प्रकृति वर्णन
२ समाज वर्णन

वस्तु वर्णन-एव प्रकृति-वर्णन—वस्तु वर्णन के अन्तर्गत हम भौतिक वर्णन-गढ-किले, वाटिका, बाजार, नदी, पर्वत, तीर्थ, प्रासाद, महालय, नगर, ग्राम, आस पास के भू-भाग आदि के वर्णनो को लेंगे। प्रकृति वर्णन पर हम वस्तु वर्णन से पृथक विचार भी करेंगे।

समाज वर्णन—समाज वर्णन मे हम तत्कालीन समाज की सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियो को लेंगे।

आचार्य जी के पौराणिक उपन्यासो मे देश काल का चित्रण—

पौराणिक उपन्यासो मे हम केवल आचार्य चतुरसेन जी के वय रक्षाम नामक उपन्यास को ही रख सकते हैं। उसमे वर्णित देश काल के चित्रण को हम यहाँ सक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करते हैं।

वस्तु वर्णन—

भौगोलिक—'वय रक्षाम' के भौगोलिक चित्रण बडे सजीव हैं। कहीं-कहीं तो विस्तृत भौगोलिक वर्णन होने के कारण कथा अवरुद्ध भी हो गई है। तत्कालीन भौगोलिक स्थिति के सदर्भ मे उपन्यासकार ने स्वय लिखा है 'उन दिनो भारत की भौगोलिक सीमाए भी भी आज के जैसी न थी। आन्ध्रालय से लेकर शख द्वीप तक—बोली यवद्वीप, स्वर्ण द्वीप, लका, सुमात्रा आदि द्वीप-समूह स्थल-सयुक्त थे और इन द्वीपो मे देव, नाग, दैत्य, दानव, असुर, सागर, आर्य, व्रात्य सभी नृवश के जन एक साथ ही रहते थे। कुशद्वीप भी तब तक

१ हिन्दी उपन्यास श्री शिवनारायण श्रीवास्तव पृ ४५४। नवीन सस्करण

भारतवर्ष से भूमि-संश्लिष्ट था। उस समय तक विन्ध्य के उस पार भारतवर्ष के उत्तरापथ मे आर्यावर्त था जिसमे सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल नाम से दो आर्य राज्यसमूह थे। सूर्यमण्डल मे मानव कुल और चन्द्रमण्डल नाम मे एल कुल राज्य करता था।[1] इसके अतिरिक्त भी उसने प्रस्तुत उपन्यास मे स्थान-स्थान पर भौगोलिक विभाजन पाषाण युग[2], धातु युग[3], प्रलय[4], नदी[5], पर्वत[6] आदि के विवरण भरे पड़े हैं। लगभग अड़तीस पृष्ठो[7] के इन विवरणो के कारण उपन्यास का मुख्य कथानक अवरुद्ध हो गया है। किन्तु इस विवरण के द्वारा उपन्यासकार ने तत्कालीन देशकाल का सफल चित्रण किया है।

राहुल जी ने अपनी पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' के प्रारम्भिक पृष्ठो मे इसी युग का चित्रण किया है। किन्तु उसमें लेखक ने भौगोलिक वर्णन पर कही भी प्रकाश नही डाला है। डा० रागेय राघव ने अवश्य अपने उपन्यास 'मुर्दों का टीला' में इस ओर किंचित मात्र संकेत किया है।

निर्माण स्थिति—आचार्य चतुरसेन सेन जी ने वातावरण सृष्टि के लिए किले आदि के जो वर्णन दिए हैं, वे भी बिल्कुल सजीव हैं। उदाहरण के लिए 'वय रक्षाम' में प्राप्त लंका नगर का वर्णन देखिए।

'प्रहस्त ने लंका म प्रवेश किया। जब वह विशाल नगरद्वार पर पहुँचा तो उसने देखा—द्वार पर दृढ़ लौह कपाट लगे हैं। कपाटो मे मोटी-मोटी जगलाएँ लगी हैं। जगलाओ पर विराट उपल यन्त्र जड़े हुए है। ऊपर की बुर्जियो पर अग्नि भुशुण्डिकाएँ रखी हैं। नगर के परकोटे के भीतरी भाग मे स्वर्णखचित दिव्य कारीगरी चित्रित है। बीच बीच मे मणि-मूँगा जड़े है। परकोटे के बाहर विशाल खाई जल से परिपूर्ण है। खाई पर द्वार तक विशाल फलक मार्ग हैं—जिनम दुर्भेद्य सुदृढ़ संक्रम यन्त्र लगे हैं। संक्रम स्वर्ण के खम्भो और स्वर्ण-वेदियो पर

---

१ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ १३ साथ ही देखिए हिन्दू सभ्यता, डा० राधाकुमुद मुकुर्जी—अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ १५६ १५७।
२ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ २२।
३ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ २२।
४ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ३० से ३२।
५ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ३३ से ३४।
६ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ १११।
७ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ १३-४९।

आधारित हैं। प्राचीरों पर दुर्जेय सुभट चौकसी कर रहे हैं।[१] प्रस्तुत उद्धरण द्वारा लंका नगर एवं उसके परकोटे की एक झांकी मिल जाती है। वर्णन तत्कालीन युग के ही अनुरूप है। इसके अतिरिक्त 'वयं रक्षाम' में तत्कालीन नगर, गढ़, किले[२] आदि की निर्माण-स्थिति के कितने ही वर्णन प्राप्त होते हैं। तत्कालीन युद्धों के भी जितने वर्णन आए हैं, वे भी यथार्थ ज्ञात होते हैं। कूट युद्ध, चक्र व्यूह, द्वन्द्व युद्ध आदि के वर्णन भी इसमें सविस्तार प्राप्त हैं। सेना के साथ जो आवश्यक सामग्री रहती थी उसका भी इसमें संकेत मिलता है।

'वयं रक्षामः' में समाज चित्रण—

'वयं रक्षाम' में उपन्यासकार ने तत्कालीन देश की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सफल अंकन किया है। इसका कथा क्षेत्र भारत भूमि, मध्य एशिया, अरब, अफ्रीका और पूर्वी द्वीपसमूह तक फैला हुआ है। इन सभी का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत ग्रंथ में उपन्यासकार ने किया है, यद्यपि इनके विवरण के आधिक्य से कथा तत्त्व बाधित ही हुआ है। यहाँ हम तत्कालीन युग की विभिन्न परिस्थितियों पर भिन्न-भिन्न विचार करेंगे—

सामाजिक स्थिति—उस युग में आर्यों और देवों को छोड़कर इतर जातियों की सामाजिक-स्थिति सुगठित न थी। सुरा और सुन्दरी का इनमें आवश्यक से अधिक प्रचलन था।[३] मुक्त सहवास[४], विवसन विचरण[५], हरण[६] और पलायन[७] आदि उनमें प्रचलित था। नर मांस की खुले बाजार बिक्री

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ५४ वाल्मीकि रामायण उत्तरकांड सर्ग ३, ४ [redacted] भी इसी प्रकार का लंका के सुदृढ़ दुर्ग और खाई का वर्णन प्राप्त है।
२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. २८५।
३. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ८-९।
४. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ९।
५. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ८।
६ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. २६१।
७. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. २७५।

होती थी।[1] विवाह बन्धन केवल आर्यों मे था।[2] रावण ने विवाह बन्धन की मर्यादा अनार्यों मे भी स्थापित की थी।[3] यद्यपि दैत्य और असुर देवों तथा आर्यों के भाई बन्धु ही थे परन्तु रहन सहन और विचार व्यवहार मे दोनो मे बहुत अन्तर पड गया था। उस युग की सामाजिक स्थिति अस्त-व्यस्त थी। शक्तिशाली शासक होता था। आर्यों और देवो मे केवल राज्य की परम्परा चल रही थी। देव दैत्यो के युद्ध से जनता सत्रस्त थी। देव, दैत्य, मानव, असुर, आर्य, व्रात्य नाग, गन्धर्व किन्नर, यक्ष, रक्ष आदि अनेक नृवश उस युग मे विस्तार पा रहे थे, जो परस्पर दायाद बान्धव थे, किन्तु परस्पर विग्रह करते थे। बारह दारुण देवासुर सग्राम हो चुके थे। आचारो की भिन्नता ही नृवंश की इस विग्रह भावना का मूल कारण थी।[4] यद्यपि उस समय पृथ्वी का विस्तृत भू-भाग रिक्त पड़ा था, फिर भी भूमि के लिए युद्ध होते थे। जो भूमि स्वच्छन्द थी, वहा लोग बसना नही चाहते थे, वरन् वे दूसरो की अधिकृत भूमि छीनना चाहते थे।'[5] केवल आर्य और देवता ही अपने को पूज्य समझते थे 'आर्य लोग अपने को मनु की सन्तान अथवा मानव कहते थे और यहाँ के मूल निवासियों को आत्मसात् करने के बदले उन्हे दनु की सन्तान अथवा दानव कह कर दूर दूर रखते थे। यहाँ तक कि जिन मूल निवासियो ने उनकी आर्य संस्कृति के कई तत्व स्वीकार करके उनसे मैत्री भी स्थापित कर ली थी उन्हे भी वे पूरा मानव न समझकर वानर (मनुष्य कोटि मे सन्दिग्ध जीव) समझते थे।'[6] आर्यों मे विवाह मर्यादा दृढबद्ध हो चुकी थी और स्त्रियो के लिए पुरुष 'पति' या 'स्वामी' हो गए थे, उनके शरीर और जीवन की सम्पूर्ण सत्ता पर उनका अखण्ड एव सर्वतन्त्र अधिकार हो गया था। यहाँ तक इस मर्यादा का रूप बना कि यदि वीर्य किसी अन्य पुरुष का भी अनुदान लिया हो, तो भी सतान का पिता उस स्त्री का वह 'पति' ही माना जायगा, जिससे उसका

---

१. वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ. २९४।
२ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ४२४।
३ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ११।
४ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ३४९।
५ वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ३४९-५०।
६. तुलसी दर्शन—डा० बल्देवप्रसाद मिश्र, पृ १६१, वय रक्षाम मे भी इसी प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं ३५०-५१।

विवाह हो चुका हो।[१] बहुत से ऋषियों ने तो वीर्यदान अपना एक पेशा ही बना लिया था।[२] इस प्रथा से आर्य जाति को यह लाभ तो अवश्य हुआ कि वह एक सगठित जाति हो गई थी परन्तु इससे एक नई और महत्वपूर्ण बात यह उत्पन्न हो गई थी कि उनके राज्य सम्पत्ति आदि सब वैयक्तिक होते गए और देखते ही देखते मानवो और एलो के महाराज्यो का विस्तार हो गया था।[३] परन्तु इससे स्त्रियो के अधिकारो का खात्मा हो गया था। पत्नी का अपना कुल गोत्र कुछ भी न रहा। पितृ मूलक वश परम्परा मे पिता का कुल गोत्र केवल पुत्र को ही मिलता था पुत्री को नही।[४] आर्यों की जाति मे स्त्री की गणना न थी। वह मात्र पुरुष की पूरक थी।[५] पिता की सारी राज्य-सम्पत्ति का निश्चित रूप से पुत्रो को ही उत्तराधिकार मिलता था-पुत्रियो को नही।[६] स्वयवरो की प्रथा बड़े-बड़े आर्य कुलों मे प्रचलित थी परन्तु उसमे भी कन्या को अपनी पसन्द का पुरुष चुनने का अधिकार न था। पिता ही उस चुनाव की कोई शर्त रख देता था। और उस शर्त को पूरा करने पर वह कन्या उसी को दे दी जाती थी। ऐसे स्वयवरो मे कन्या को 'वीर्यशुल्का' कहा जाता था। इसका अर्थ था—पराक्रम के मूल्य पर कन्या की खरीद।[७] कुछ कुल कन्या के मूल्य के धन भी लेते थे।[८] राजा लोग अपनी कन्याएँ पुरोहितो को यज्ञ दक्षिणा की भाँति भी दे देते थे। जैसे दशरथ ने ऋषि शृग को अपनी कन्या शान्ता दे दी थी।[९] बहुपत्नी की प्रथा थी। पति को अनेक स्त्रियो से विवाह करने के अधिकार प्राप्त थे, किन्तु पत्नी को नही। विवाह के अतिरिक्त आर्य लोग दासियाँ भी रखते थे।[१०] आर्य राजाओ के अन्तःपुर मे चार प्रकार

---

१. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ४२३, साथ ही देखिए हिन्दू सभ्यता, डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. १६२।
२ वयं रक्षामः पृ, ४२३।
३. वयं रक्षामः पृ. ४२४।
४. वयं रक्षामः पृ. ४२४।
५. वयं रक्षामः पृ ४२५।
६. वयं रक्षामः पृ. ४२६।
[redacted] वयं रक्षामः पृ. ४२१।
८. वयं रक्षामः पृ ४२५।
९. वयं रक्षामः पृ. ४२१।
१० वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ४३६।

की पत्नियाँ रहती थी।[१] दाय भाग और उत्तराधिकार के संबध मे भी आर्यों मे प्रथम यही विधि प्रचलित थी कि राज्य सब पुत्रो मे बाँट दिया जाता था।[२] किन्तु आगे अधिकाशत अग्रज ही क्षत्रपति होता था, शेष उसके अनुजीवी होते थे।[३]

रावण के राज्य स्थापन के पश्चात् लका मे भोग विलास की मात्रा बढी थी। वहाँ यौवन के अधे धनी तरुण किशोरो के धन और प्राणो को हरने वाली दो वस्तुओ का प्राबल्य था-एक वेश्यालय, दूसरा द्यूतालय। इसलिए लका के श्रेष्ठ, चतुर नागरिक राक्षस वेद विद्या, अश्व विद्या, शस्त्र विद्या और रत्न विद्या और मोहिनी-विद्याएँ भी सीखते थे।[४]

इसके अतिरिक्त भी आचार्य चतुरसेन जी के इस उपन्यास से सामाजिक परिस्थितियो का दिग्दर्शन करानेवाले कितने ही उद्धरण उद्धृत किए जा सकते है।'

सास्कृतिक परिस्थितियाँ—

'वय रक्षाम' मे तत्कालीन सास्कृतिक हलचल तो बिल्कुल ही स्पष्ट है। राम-रावण कालीन धार्मिक परिस्थितियो के चित्रण पर उपन्यासकार ने इसमे पर्याप्त ध्यान दिया है। वह काल आर्यों और अनार्यों के सघर्ष का काल था।[५] आर्य और देव परस्पर सगठित थे और उनका सगठन अत्युत्तम था। रावण ने आर्यों के इस सगठन को जड मूल से उखाड फेंकने की योजना बनाई थी। इसीलिए उसने सास्कृतिक विप्लव का सूत्रपात किया था। रावण के रक्त मे शुद्ध और बहिष्कृत दोनो ही आर्यों का रक्त था। उसका पिता आर्य विश्रवा था। और माता दैत्य राजपुत्री थी। वेद का उस समय जो स्वरूप था, उसे उसने अपने पिता से बालकाल ही मे अध्ययन कर लिया था। तब तक वेद ही

---

१ वयं रक्षाम· आचार्य चतुरसेन, पृ ४२६।
२ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ. ४२६।
३ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ. ४२७।
४ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ. ३१४।
५. वयं रक्षाम· आचार्य चतुरसेन, पृ ११ साथ ही देखिए—
१. वैदिक साहित्य और सस्कृति बलदेव उपाध्याय, पृ, ४६८।
हिन्दू सभ्यता, डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल, पृ १५९-१६१।

आर्यों का एक मात्र साहित्य और धर्मवचन था जो केवल मौलिक था, लेखबद्ध न था। रावण के मन मे तीन तत्व काम कर रहे थे। उसका पिता शुद्ध आर्य और विद्वान ऋषि था। उसकी माता शुद्ध दैत्य वंश की थी। उसके बन्धु बान्धव बहिष्कृत वाय वंशी थे।[1] उन्हे क्रिया कर्म से च्युत कर दिया गया था। बहिष्कार का सबसे कटु रूप याचको, पुरोहितो द्वारा सस्कार-क्रिया से उन्हे वंचित रखना यथा यज्ञो से बहिष्कृत समझना था। यज्ञ और वेद का उस समय पर्याप्त मान था, उससे वंचित कर देना एक ऐसी अपमानजनक बात थी जिसने इन जातियो मे आर्यों के विरुद्ध दैत्यो तथा असुरो से भी अधिक, जो आर्यों के दायाद बान्धव थे, द्वेष और विरोध की ज्वाला सुलगा दी थी।[2] रावण ने सबसे प्रथम वेद का सम्पादन किया था। ऋचाओ पर उसने टिप्पणियाँ तैयार की। मूल मन्त्रो की व्याख्या की। व्यवहार अध्याय को बीच-बीच मे वृद्धिगत किया। इस प्रकार मूल वेद और रावण कृत टिप्पणियाँ और व्याख्याएँ सब मिल कर वेद का एक ऐसा सस्करण हो गया, जो जम्बूद्वीप के सब आर्यो तथा आर्येतरो के लिए मान्य हो गया, कुछ तो वेद के नाम से और कुछ रावण के प्रभाव से। आगे चलकर यही रावण भाष्य टिप्पणी सहित 'कृष्णयजुर्वेद' नाम से विख्यात हुआ। कृष्णयजुर्वेद मे पशुवध, मद्यपान, स्त्री समर्पण, शिश्न-पूजन, गोवध, नरवध, ब्राह्मण वध, कुमारी वध, आदि का विधान सम्मिलित हो गया, जो वास्तव में बहिष्कृत आर्यों एवं असुरो की परिपाटी थी।'[3] रावण ने आर्यों का समूल नाश करने के लिए 'रक्ष सस्कृति' की स्थापना की थी। उसका नारा था 'वय रक्षाम' हम रक्षा करेंगे। उसने सहस्त्रो समर्थ राक्षसो को विविध छद्म वेष धारण करके भिन्न भिन्न प्रदेशो मे भेज दिया था, जो सब जातियो मे रावण द्वारा स्थापित राक्षस धर्म का प्रचार करते तथा लोगो को राक्षस बनाते थे।[4] यह राक्षस शिश्न-पूजक थे। उनके अधिकाश कार्य आर्य

---

१. वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ १६१।

२. वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ. १६१।

३. भारतीय सस्कृति का इतिहास, आचार्य चातुरसेन, पृ २४५ इसके साथ ही देखिये तैत्तिरीयापस्तब हिरण्यकेशी काड ६ प्र० १ अ० ८।

४ वय रक्षाम आचार्य चातुरसेन, पृ १६२।

विरोधी थे। उनमे हिंसामय यज्ञ[१], सुरापन[२], मास भक्षण[३], स्त्री सहवास[४], नरबलि[५] गोवध आदि प्रथायें प्रचलित थी। रावण ने बल पूर्वक वैदिक यज्ञानुष्ठानो को आसुरी ढग पर करने के अनेक उपाय किए—उसने सहस्त्रो राक्षसो को यह आदेश दिया कि जहाँ कही आर्य ऋषि रावण विरोधी विधि से यज्ञ कर रहे हो, वहाँ बलपूर्वक बलि-मास और मद्य की आहूति दो। इतना ही नही, उसने राक्षसो द्वारा यज्ञकर्ता ऋषियो ही को मार कर बलि देना प्रारम्भ कर दिया।[६] नर भक्षण भी उसका एक व्यापार हो गया।[७] इस समय असुरों, नागो एव आर्यों मे विभिन्न धार्मिक पद्धतियाँ प्रचलित थी।[८] आर्यों ने वशिष्ठ के नेतृत्व मे वैदिक विधि-परम्परा दूसरी ही स्थापित की थी। उधर नारद की वाम-परम्परा देवो मे और दैत्यो मे भी प्रचलित थी।[९] भृगु पृथक ही आर्यवेणी परम्परा प्रचलित कर रहे थे। इस पर भी आर्यों को बड़ा गर्व था। वे तनिक विधि भग होने पर ही आर्यजनो को बहिष्कृत कर देते थे।[१०] रावण ने इस

१. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. १६३।
२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ १६३।
३. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. १६३।
४. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. १६३।
५. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. १६३।
६. विश्वामित्र सम्भवतः इसी कारण से यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को दशरथ जी से माँग ले गए थे। 'निसिचर निकर सकल मुनि खाए' से भी यही भास होता है। आदि कवि ने भी लिखा है:—

   भक्षयन्ते राक्षसैर्भीमैर्नर मांसोपजीविभि।
   ते भक्ष्यमाणा मनुयो दण्डकारण्यवासिनः॥

७. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ३४९, साथ ही देखिए—
   १. भारतीय संस्कृति का इतिहास, आचार्य चतुरसेन, पृ. २५०।
   २. हिन्दू सभ्यता, डा० राधा कुमुद मुकर्जी, अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० १६०।
   ३. अध्यात्म रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग २, पृ. ४६-४७।
८. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ३४९।
९. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ २५०।
१०. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. ३५०।

अस्त व्यस्त स्थिति से भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा की।[१] उसने रक्ष संस्कृति की स्थापना करके समूचे नृवंश को समान वैदिक संस्कृति मे दीक्षित करना प्रारंभ कर दिया था। वैदिक धर्म मे उसने समूचे नृवंश का समन्वय किया।[२]

उधर राम भी एक महान् सांस्कृतिक पुरुष थे। उन्होंने रावण की महत्वाकांक्षा को पहचान लिया था। उन्होंने आर्य संस्कृति को संकुचित घेरे से बाहर निकाला। उनका महत्सांस्कृतिक कार्य रावण वध और राक्षस वंश का समाप्ति थी।[३]

इनके अतिरिक्त उस काल मे अन्य कितने ही धार्मिक अनुष्ठान प्रचलित थे।[४] विभिन्न रीति-रिवाजों[५], नृत्य वाद्य[६], अन्त्येष्टि[७] आदि के भी वर्णन इसमे प्राप्त हैं।

---

१ ' ब्राह्मण लोगों ने तो आर्य संस्कृति के प्रसार और ज्ञान विज्ञान के विचार और प्रचार के लिये तपोवनों में विद्यविद्यालय खोलकर शासन के कार्य से उदासीनता सी धारण कर ली थी। उद्धत क्षत्रियों को इसीलिये उनकी उपेक्षा का निर्बाध अवसर मिल गया। फलत: वे कभी किसी ऋषि की गायें घुरा लेते तो कभी किसी का सिर ही काट डालते थे।
भारत की ऐसी अस्त-व्यस्त स्थिति से भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा यदि किसी ने की तो उपनिवेशाकांक्षी लंकाधिपति रावण ने की। वह भौतिक विज्ञान का महापंडित था। उसने देखा कि यहाँ आर्य लोग अपने को मनु की सन्तान अथवा मानव कहते हैं और यहाँ के मूल निवासियों को आत्मसात् करने के बदले उन्हें दनु की संतान अथवा दानव कह कर दूर-दूर रहते हैं। आदि। तुलसी दर्शन, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ १६१।

२. वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन, पृ ३५० साथ ही देखिए, हिन्दू सभ्यता, डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ १६०-१६१।

३ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ४२५-४३० तक एव भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ २३७।

४. वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन, पृ ४१५-४१६, ४८९-४९०।

५. वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ४९५।

६ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ. ४९६।

७. वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ३३१।

राजनीतिक परिस्थिति—'वय रक्षाम' मे तत्कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियो पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है कि आर्यों का और देवो का सगठन उस काल मे अत्युत्तम था। उन्होने लोकपालो, दिग्पालो की स्थापना की थी, जो आर्यों के प्रात भाग की रक्षा करते थे। देवो की प्रबल जातियो मे तब मरुत, वसु, आदित्य प्रभावशालिनी थी। चोटी के पुरुषो मे इन्द्र, रुद्र, यम, वरुण की वश परम्पराओ के पुरुष थे। यम, वरुण, इद्र और कुबेर चार लोकपाल थे।[१] अनार्यों की भारत और भारत की सीमाओ पर उन दिनो अनेक जातियाँ थी। इनमे महिष, कपि, नाग, मृग, ऋक्ष, व्रात्य, आर्जिक, राक्षस, दैत्य, दानव, कीकट, महावृष, वाल्हीक, मूँजवन आदि प्रमुख थी। इन सबका सयुक्त नाम अनार्य ही था।[२] इन सबके अपने छोटे छोटे राज्य थे। रावण ने प्रथम इन छोटे छोटे अनार्य राजाओ को ही अपने अधिकार मे किया। मय दानव की पुत्री मदोदरी से विवाह करके उसने एक प्रबल जाति को सम्बधी बना लिया था। स्थान स्थान पर राजा लोग अपने उपनिवेश स्थापित कर रखते थे। रावण ने भी देवो के चारो लोकपालो को पराजित करके स्थान-स्थान पर अपने उपनिवेश स्थापित कर दिए थे। रावण ने राक्षसो तथा दक्षिण के बहिरग भारतीयो की एक सयुक्त सेना बनाई थी, उसी से उसने प्रथम अपने भाई कुबेर को दलित किया, उसके बाद यम और वरुण के उत्तराधिकारियो को। इद्र को बन्दी बनाकर वह लका ले आया था। मार्ग मे उसने कितने ही छोटे-छोटे राजाओ को पराजित किया। केवल दो वीरो से उसे मुँह की खानी पडी थी—एक हैहय वशी कार्तवीर्य अर्जुन से माहिष्मती मे, दूसरे किष्किन्धा के कपिराज बाली से। इन दोनो से पराजित होकर उसने मैत्री सबध स्थापित कर लिया था।[३] उस काल मे यदि पराजित राजा अधीनता स्वीकार कर ले, तो उसे नष्ट न करके मित्र बना लिया जाता था। रावण ने इसी नीति के अनुसार अनेक राजाओ को अपना मित्र बना लिया था। इस काल मे सर्वत्र राजतत्र ही था। सम्पूर्ण सत्ता राजा के हाथ मे ही रहती थी। आर्यों के यहाँ ब्राह्मणो का सम्मान था। और अनार्य उन्हें अपना शत्रु समझते थे। छोटे छोटे

---

१. भारतीय सस्कृति का इतिहास-आचार्य चतुरसेन-पृ. २४२ एव वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन-पृ १६२।

२ वय रक्षाम' आचार्य चतुरसेन-पृ. १६२।

३. वयं रक्षाम. आचार्य चतुरसेन-पृ २१२-२१ एव ३४६-४७ मे वर्णन बाल्मीकि रामायण से मिलते हैं देखिये बाल्मीकि रामायण उत्तरकांड सर्ग १८-१९।

राजाओं को एक सूत्र में बांधने के लिए राजसूय यज्ञ करने की प्रथा थी। इसके पश्चात् अश्वमेध यज्ञ किया जाता था। दोनों ही यज्ञों में दिग्विजय यात्रा की जाती थी। कुछ लोग स्वेच्छा से अधीन होते थे, कुछ लड़कर। फिर वे सब राजा लोग आकर यज्ञ में सेवा कार्य करते थे। तब यज्ञ कर्ता को सम्राट् की या महाराज की उपाधि मिल जाती थी। अधिकांश आर्य राजा विलासी हो गए थे। उनकी अधिकांश सैनिक शक्ति देवासुर संग्रामों में क्षीण हो चुकी थी। आर्य राजाओं का संगठन भी टूट चुका था। जिस समय रावण अनार्यों को संगठित कर रहा था, उस समय आर्य नरेश छोटी छोटी बातों के लिए आपस में लड़-कट रहे थे। राष्ट्रीयता की भावना बिल्कुल विलुप्तप्राय थी।[१] किन्तु अनार्यों की इस बढ़ती शक्ति से कुछ ब्राह्मण सजग हो चले थे। परशुराम और विश्वामित्र का कार्य इस दिशा में सराहनीय था।[२] अगस्त्य ऋषि का भी राक्षसों पर आतंक था। उस काल में ऋषिगण भी सशस्त्र रहते और युद्ध में धीरता पूर्वक लड़ते थे। आत्म-रक्षा के बिना समर्थ हुए जनस्थान तथा दण्डकारण्य में वे रह भी नहीं सकते थे। उनके उपनिवेश भी एक प्रकार के छोटे से जनपद ही थे, जहाँ प्रमुख ऋषि का शासन राजा ही की भाँति माना जाता था—और उन्हें कुलपति समझा

---

१. 'मर्यादा पुरुषोत्तम राजा रामचन्द्र का जिस समय आविर्भाव हुआ था उस समय क्षत्रिय लोग उत्पाती हो गये थे। ·····राष्ट्रीयता तो उस समय विलुप्त प्राय थी। यही देख लीजिये कि पूर्वोत्तर प्रदेश के नरेश (विदेहराज) के यहाँ जब स्वयंवर हुआ तो पश्चिमोत्तर प्रदेश के नरेश (दशरथ) के यहाँ निमन्त्रण तक न गया।' (तुलसी दर्शन डा० बलदेवप्रसाद मिश्र पृ. १६०-६१)

२. '····· इधर ब्राह्मण लोग भी इस परिस्थिति से कुछ सजग हो चले थे और उनमें भी परशुराम के समान क्रान्तिकारी योद्धा का आविर्भाव हो गया था। ·····(किंतु) भारत का राष्ट्रीय संगठन उनके द्वारा न हो पाया। विश्वामित्र पहिले स्वतः राजा रह चुके थे। उन्हें क्षत्रित्व और ब्राह्मणत्व दोनों का पूर्ण अनुभव था।····· यह उन्हीं का प्रयत्न था कि रामचन्द्र जी तपोवनों की रक्षा और दुष्ट दानवों के दमन के लिये प्रवृत्त हुए। यह उन्हीं का प्रयत्न था कि अनिमंत्रित होते हुए भी रामचन्द्र जी सीता स्वयम्बर के अवसर पर मिथिला गये और अपना पराक्रम दिखाकर उत्तरीय भारत के आर्यावर्त के दो दूरस्थ संभ्रांत राजकुलों को स्नेह सूत्र में बांधकर आर्य संगठन का प्रथम सूत्रपात किया।' (तुलसी दर्शन पृष्ठ १६२)।

जाता था।[1] प्रस्तुत उपन्यास मे इसके अतिरिक्त तत्कालीन राज्य व्यवस्था, राजनीति, कूट नीति, पर राज्य सम्बन्ध, सैन्य व्यवस्था आदि पर भी यत्र-तत्र प्रकाश प्राप्त होता है।

आर्थिक परिस्थितियाँ—

'वय रक्षाम' मे जिन राजवशो का वर्णन किया गया है, उनकी आर्थिक स्थिति उत्तम थी। रावण की आर्थिक स्थिति अत्यत सुदृढ थी। समृद्धि की वृद्धि से उसने अपनी लका को मानो सोने की ही बना डाला था।[2] साधारण जन की आर्थिक स्थिति का इसमे विशेष चित्रण नही प्राप्त होता। इस काल मे लोभी, धोखेबाज, ठग, व्यापारी वणिक को पाणिक कहते थे। इसका अर्थ 'पण लोभी' होता था। ऐसे लोभी पणिको को भी आर्य लोग बहिष्कृत करके दक्षिण मे निष्कासित करते थे। दक्षिण मे आकर भी ये लोग पण्यकर्म करने लगे थे।[3]

समय के द्योतन के लिए उपन्यासकार ने कई स्थानो पर प्रकृति का भी आश्रय लिया है। जिसका हम आगे वर्णन करेंगे। निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते है कि इस उपन्यास के वर्णनो द्वारा पाठक के सामने तत्कालीन युग और समय प्रत्यक्ष हो उठता है। पात्र, उनकी वेश भूषा एव रहन-सहन भी उस युग के सर्वथा अनुरूप ही है।

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण सृष्टि —

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासो के कथानको को पाँच भागो में विभिन्न युगो के अनुसार रख चुके हैं। 'वय रक्षाम' को निकाल देने के पश्चात् हम उसने समस्त ऐतिहासिक उपन्यासो को चार भागों मे रख सकते हैं—

१ बौद्ध काल,
२ मध्य काल,
३ मुगल काल,
४ अँग्रेजी राज्यकाल और आधुनिक काल।

प्रस्तुत अध्याय मे इन सभी कालो के उपन्यासो मे प्राप्त वातावरण सृष्टि पर हम क्रमश विचार करेंगे।

---

१ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन-पृष्ठ ४४१।
२ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन-पृष्ठ १०६-८।
३ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन-पृष्ठ १६०-साथ ही देखिए-भारतीय संस्कृति का इतिहास-पृष्ठ २४१।

बौद्ध कालीन नगर ग्रामों में देश चित्रण—

इस काल से सम्बन्धित आचार्य चतुरसेन जी का केवल एक उपन्यास 'वैशाली की नगर बधू' है। इसका सम्बन्ध भारतीय इतिहास के एक महत्वपूर्ण काल ६०० ई० पू० से ५०० ई० पूर्व से है। इसमें गान्धार से लेकर मगध और अंग तक के राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, एवं सामाजिक ऊहापोह का कलात्मक अंकन प्राप्त होता है।

वस्तु वर्णन—

'नगर वधू' में इस प्रकार के कितने ही चित्रण प्राप्त है। 'वैशाली'[१] 'राजगृह'[२], 'चम्पा'[३], श्रावस्ती[४] आदि नगरों के, उनके आसपास के भू भागों के बड़े सजीव वर्णन उपन्यासकार ने इसमें प्रस्तुत किए हैं। सथागार[५], दुर्ग[६] बाजार आदि के भी बड़े यथार्थ वर्णन प्रस्तुत उपन्यास में प्राप्त हैं। 'नगरवधू'[७] में प्राप्त सथागार का चित्रण देखिए—

'सथागार का सभा मन्डप मत्स्य देश के उज्ज्वल श्वेत संगमरमर का बना था। और उसका फर्श चिकने और प्रतिबिम्बित काले पत्थर का बना था। उसकी छत एक सौ आठ खम्भों पर आधारित थी। ये खम्भे भी काले पत्थर के बने थे। सभा भवन के चारों ओर भीतर की तरफ सौ सौ सिंहासनदे हाथी दांत की चौकियाँ रखी थी, जिन पर अपनी-अपनी नियुक्ति के अनुसार आठों कुल के सम्भ्रान्त आ-आकर साकार चुपचाप बैठ रहे थे। भवन के बीचों बीच सुन्दर चित्रित हुरे रंग के पत्थर की एक वेदी थी। जिस पर दो बहुमूल्य स्वर्ण खचित चाँदी की चौकियां रखी थी। [८]।

'सथागार का प्रथम उपर्युक्त वर्णन बड़ा ही चित्रमय है। केवल पढ़कर ही

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ २ से ४।
२ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ६८-६९।
३. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. २३०।
४ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ २८३।
५ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. १२-१३, २८-२९।
६. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. १२-१३, २८-२९।
७ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ३।
८ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १२-१३।

कोई कुशल चित्रकार सरलता से सथागार का चित्र चित्रित कर सकता है। इस प्रकार के वर्णनो की नगरवधू मे न्यूनता नही है।

काल चित्रण (समाज वर्णन)—

'वैशाली की नगरवधू' म उपन्यासकार ने बौद्धकालीन युग की सामाजिक' राजनीतिक एव आर्थिक परिस्थितियो का भी बडा ही सूक्ष्म एव सजीव वर्णन किया है।

सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियाँ.—

प्रस्तुत उपन्यास से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल मे नगर कम और गाव अधिक थे। गाव सम्पन्न थे, और उन पर वहाँ के मुखियाओ का शासन था।[1] खेती और पशु पालन गावो मे मुख्य व्यवसाय थे। बडे बडे व्यापार मार्ग थे जिन पर सार्थवाह चला करते थे। इस काल मे भी वर्ण व्यवस्था थी किंतु अब क्षत्रियो का स्थान ब्राह्मणो से ऊपर हो गया था। अधिकाशत क्षत्रिय राजा और ब्राह्मण महामात्य होते थे। किंतु दोनो मे विचार वैभिन्य था। दोनो म काफी द्वेष और स्पर्धा फैली हुई थी। 'मगध' राज्य को उदाहरण के लिए हम ले सकते हैं। ब्राह्मणो के तिरस्कार का कोई भी अवसर मिलने पर क्षत्रिय उन्हें छोडते न थे। ब्राह्मण भी अन्दर ही अन्दर षड्यन्त्र किया करते थे। उधर ब्राह्मणो को नीचा दिखलाने के लिए बौद्ध, जैन एव श्रमण आदि भी निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। ब्राह्मण अछूतो का बडा अपमान करते थे। हरि केशीबल के अपमान की घटना से यह स्पष्ट हो जाता है। चाडाल मुनि के अन्न माँगने पर ब्राह्मणो ने उसे धक्के देकर निकालते हुए कहा था 'अरे दुष्ट चाडाल, तू अपने को मुनि कहता है। नही जानता, पृथ्वी पर केवल हम ब्राह्मण ही दान पाने के प्रकृत अधिकारी हैं ब्राह्मणो ही को दिया दान पुण्य फल देता है। अरे काणे चाडाल, तू हम ब्राह्मणा के सम्मुख वेदपाठी ब्राह्मणो की निंदा करता है, याद रख हमारा बचा हुआ अन्न भले ही सड जाय और फेंकना पडे, पर तुम निगठ चाडाल को एक कण भी नहीं मिल सकता, भाग।'[2] इसके अतिरिक्त ब्राह्मण स्वय भी स्वार्थी और लोलुप हो चुके थे। वे पाखण्ड करके दान और दक्षिणा मे सुन्दर दासियो को ले जाते और उनके रत्नाभरण उतार कर पाँच-पाँच निष्क मे वृद्धो को बेच देते थे।'[3]

---

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. २९९।
२ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ २२४।
३ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. १५३।

उन दिनों देश के केवल दस प्रतिशत सामन्त ब्राह्मण एवं सेट्ठिजन ही सर्वसाधारण की कमाई का उपयोग करते थे। शेष ९० प्रतिशत में २० प्रतिशत तो दास ही थे, जिनका समाज में कोई अधिकार ही न था। उन्हें पशुओं की भांति बेचा और खरीदा जाता था। चम्पा की राजकुमारी के विक्रय की घटना इसका स्पष्ट प्रमाण है।[1] शेष ७० प्रतिशत जन साधारण के तरुण बलात् इन सामन्तों और राजाओं के निरर्थक युद्धों में अपने प्राण देने को विवश किए जाते थे और उनकी विधवा युवती सुन्दरी कन्याएँ राजाओं के अन्तःपुर में दासियों, उप-पत्नियों आदि के रूप में रख ली जाती थीं। ब्राह्मण उस काल के सामन्तों और राजाओं को परमेश्वर घोषित करते, उन्हें ईश्वरावतार प्रमाणित करते और उनके सब ऐश्वर्यों को पूर्व जन्म के सुकृत का फल बतलाते थे। इसके बदले में वे उनसे बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ फटकारते और स्वर्णभूषिता सुन्दरी दासियाँ दान में पाते थे।[2]

उस काल में गांधार की सामाजिक स्थिति उत्तम थी। गांधार में एक स्त्री के रहते दूसरी स्त्री करने की प्रथा न थी।[3] दासी प्रथा भी वहाँ न थी। कलिंगसेना और नन्दनी के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है।[4] किन्तु इधर के राज्यों की परिस्थिति इस विषय में अत्यन्त दयनीय थी। स्त्रियों का समाज में कोई स्थान न था। लोलुप सम्राट अपने अन्तःपुरों में भेड़ बकरियों के रेवड़ की भाँति स्त्रियाँ भर लेते थे। बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी।[5] परस्त्रीगमन भी असामाजिक कार्य नहीं समझा जाता था। शिशु नाग वंश को आर्य धर्म में प्रतिष्ठित करने वाले गोविंद स्वामी जैसे महात्मा ने भी परस्त्रीगमन करके वर्षकार को जन्म दिया था। मातंगी उनकी पुत्री थी ही।[6] इस प्रकार अज्ञात में वर्षकार ने अपनी भगिनी मातंगी का उपभोग किया था।[7] इतना ही नहीं सम्राट बिम्बसार ने भी मातंगी उपभोग किया था।[8] और आगे

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३५७ से ३६५ तक।
२. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. २८६।
३. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ २९१।
४ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ २८७ से २९२ तक।
५ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १५३-२८६।
६ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ. ९८ से १००।
७ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ. १०० से १०१।
८ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १०२।

चलकर अज्ञान मे उसकी पुत्री अम्बपाली जो वर्षकार के औरस से थी—का उपभोग किया था।[१] स्त्री बिल्कुल असहाय थी। अम्बपाली इच्छा न रहते हुए भी विवश नगरवधू बनाई गई।[२] कुन्डनी कोड़े मार-मार कर विषकन्या बनाई गई।[३] गाधार कुमारी कलिगसेना की इच्छा का भी कोई मूल्य नही समझा गया। उदयन से प्रेम करते हुए भी उन्हे विवश होकर वृद्ध प्रसेनजित से विवाह करने को बाध्य होना पडा था।[४] इसी प्रकार चन्द्रप्रभा सोमभद्र से प्रेम करती थी किंतु उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह करना पड़ा विड्डभ से।[५] इस युग मे विलासिता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी।[६] खान पान मे किसी प्रकार का परहेज न था। सभी मुख्य अवसरो पर मास और मदिरा का खुलकर सेवन होता था। पारिवारिक जीवन मे भी मास और मदिरा का प्रयोग होता था। 'मधु गोलक' और 'ओदन' का भी उपयोग होता था। आखेट का प्रचलन था। भुने कुरकुरे मास खण्डो का प्रयोग प्रचलित था।[७]

इस काल मे वर्ण सकर सतानें बढ रही थी। ब्राह्मण और क्षत्रियो ने इतरवर्ग की कामिनियो को अपने उपभोग के लिए तो अपना लिया था, किंतु उनसे उत्पन्न सन्तानो को उन्होंने नही अपनाया था।[८] उन सन्तानो को वे अपने कुल और गोत्र से अलग ही रखते थे, जिससे वर्णसंकरो की एक नवीन जाति बनती जा रही थी। जो आर्यों से अधिक शक्तिशालिनी एव प्रतिभा-शालिनी थी। मगध का राज्यकुल स्वय सकर था। प्रसेनजित के दासी पुत्र विड्डभ ने ही जो सकर था—उसे सिंहासनच्युत कर दिया था। सम्भवत: यही गम्भीर रहस्यपूर्ण सकेत-जैसा कि आचार्य चतुरसेन जी ने 'प्रवचन' मे कहा है—प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहते थे।'[९]

---

१ वैशाली की नगरवधू, पृ. ७५१, ७५४, ७५५।
२ वैशाली की नगरवधू, पृ १२ से १७ तक।
३. वैशाली की नगरवधू, पृ ७७ से ८१ तक।
४ वैशाली की नगरवधू, पृ. २८५ से २९४ तक।
५ वैशाली की नगरवधू, पृ ४६९ से ४७१ तक।
६. वैशाली की नगरवधू, पृ. १५२ से १५४ तक।
७ वैशाली की नगरवधू, पृ १४२-१४३।
८. वैशाली की नगरवधू, पृ १५२-१५३।
९ यह सत्य है कि यह उपन्यास है। परन्तु इससे अधिक सत्य यह है कि यह एक गम्भीर रहस्यपूर्ण संकेत है। जो उस काले पर्दे के प्रति है, जिसकी ओट

साधारण जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। भूखी-नगी जनता अत्याचार सहन करती हुई जीवन-यापन कर रही थी। राजाओ और विशेषकर धन कुबेरो के यहां धन सिमिट कर एकत्र हो गया था।[1] बलभद्र (सोमप्रभ) द्वारा अम्बपाली के, प्रासाद को लूटने वाली घटना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल की साधारण जनता को अन्न प्राप्त न था। और सामन्तो के यहाँ वह आवश्यकता से अधिक भरा हुआ था।[2]

राजनीतिक परिस्थिति —

प्रस्तुत उपन्यास मे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ विशेष उभर हुई हैं। उस युग मे भारत मे बहुत छोटे छोटे राज्य थे। कुछ गणतन्त्रात्मक थे और कुछ राज सत्तात्मक। गणराज्यो मे वज्जियो मल्लो एव शाक्यो के राज्य प्रमुख थे। अवन्ती, कोशल, वत्स्य, मगध, चम्पा आदि राज्य सत्तात्मक थे। प्रद्योत, प्रसेनजित, उदयन बिम्बसार एव दधिवाहन क्रमश इन राज्यो के सम्राट थे। लिच्छवियो की राजधानी वैशाली थी। इस सघ मे विदेह, लिच्छवि, क्षात्रिक, वज्जी, उग्र, भोज, ऐक्ष्वाकु और कौरव ये आठ कुल सम्मिलित थे। यह गण राज्य शक्तिशाली एव सम्पन्न थे। कोई कोई गण अत्यन्त दुर्बल थे। राजनीतिक हलचलें राजधानी तक ही सीमित थी। सभी गणो की सरकारें अपनी वैदेशिक नीति मे विशेष सतर्क थी। जयराज की मगध यात्रा वाली घटना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[3] सरकारो के गुप्तचर विभाग पर विशेष बल दिया जाता था। जासूसी कार्यो के लिए विष कन्याओ का उपयोग होता था। मगध राज की कुडनी एक ऐसी ही गुप्तचर थी। मगध के महामात्य वर्षकार भी वैशाली मे गुप्तभेद ज्ञात करने के ही उद्देश्य से आए थे।[4] प्रभजन

मे आर्यों के धर्म, साहित्य, राजसत्ता और सस्कृति की पराजय और मिश्रित जातियों की प्रगतिशील सस्कृति की विजय सहस्राब्दियों से छिपी हुई है, जिसे सम्भवत किसी इतिहासकार ने आख उघाडकर नहीं देखा है (वैशाली की नगरवधू प्रवचन)।

१. वैशाली की नगरवधू , पृ २८६।

२ वैशाली की नगरवधू , पृ २९९ तथा ६१२-१३।

३ वैशाली की नगरवधू , आचार्य चतुरसेन, पृ ६१५-६२०।

४. वैशाली की नगरवधू , आचार्य चतुरसेन, पृ ३०९-३१६ तक।

उनका एक सफल गुप्तचर था।[१] वैशाली का गुप्तचर विभाग भी सबल था। जयराज मगध मे गुप्तचर बन कर ही गया था।[२]

स्त्रियो के लिए ही उस काल मे सम्राट परस्पर झगड बैठते थे। वैशाली का महायुद्ध एक स्त्री के लिए ही हुआ था। विलासिता एव ऐश मे आकठ तक डूबे हुए सामन्त और राजा सुरा और सुन्दरी के अतिरिक्त कुछ सोचते भी न थे। सुन्दर स्त्रियो का युद्ध के अवसर पर उपयोग होता था। सुन्दरी के कारण ही चम्पा का पतन हुआ था।[३] परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के लिये राजा लोग अपनी पुत्री का विवाह निकटस्थ नरेश से कर देते थे, जिससे मैत्री भाव बना रहता था।

प्रस्तुत उपन्यास मे तत्कालीन राज्यो की व्यवस्था गणराज्यो की व्यवस्था एव युद्ध आदि की व्यवस्था पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। तत्कालीन गणराज्यो की व्यवस्था आज से भिन्न थी। गणपति का स्थान आज के स्पीकर के समान था। मतदान विभिन्न रग की शलाकाओ के माध्यम से होता था। गण राज्यो की कार्य पद्धति पर भी उपन्यासकार ने विस्तार से प्रकाश डाला है। व्यवस्था परिषद् मे प्रत्येक कुल का समान प्रतिनिधित्व था। प्रतिनिधियो की सख्या कुलो की सख्या के आधार पर निश्चित की जाती थी। इस व्यवस्था मे वही व्यक्ति भाग ले सकता था, जो वहा का जन्म से नागरिक होता था। बाहर के व्यक्तियो को राज्य सेवाओ से वचित रखा जाता था।[४]

सास्कृतिक—

सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो के साथ-साथ प्रस्तुत उपन्यास मे तत्कालीन धार्मिक एव सास्कृतिक प्रगति के चित्र भी बडे ही सजीव है। उस काल के धार्मिक आन्दोलनो, सास्कृतिक गति विधियो के चित्रण के कारण ही प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक ज्ञात होता है। उस काल मे धर्म विलासिता के पक्ष मे डूबा हुआ था। ब्राह्मणो ने राजाओ को एव साधारण जनता को अपने आधीन रखने के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक विधान कर रखे थे। यज्ञ, तप और व्रत की प्रधानता थी। यज्ञ का माध्यम बनाकर ब्राह्मण अपनी

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ६१८।
२. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ६१५-६२०।
३. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. २३२ - २४० तक।
४. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १३-४१ तक।

वासनाओं को शात करते थे। मांस एवं मदिरा का प्रचलन था। यज्ञों के अवसर पर राजा द्वारा दास और दासियां वितरित की जाती थी।[१] अतिथि सेवा का बड़ा माहात्म्य था। आर्य धर्म अस्त व्यस्त हो रहा था। ब्राह्मण धर्म का ह्रास और बौद्ध एवं जैन धर्म का अभ्युदय हो रहा था। ब्राह्मण धर्म की निरंकुशता एवं स्वच्छन्दता के कारण उत्तर वर्ण उनसे द्वेष रखने लगे थे। अधिकांश लोग बौद्ध एवं जैन धर्म की ओर आकर्षित होने लगे थे। सम्राट और धन कुबेर लो बौद्ध धर्म में दीक्षित हो ही रहे थे, साथ ही साधारण जन भी उससे कम प्रभावित न थे।[२] काशी ऐसे आर्य संस्कृति के केन्द्र में भी बौद्ध धर्म तेजी से बढ़ रहा था। सारनाथ से ही भगवान् बुद्ध ने अपनी शिष्य परम्परा का प्रारम्भ किया था। उधर धर्म को सामने रखकर ब्राह्मण लोग कितने ही अत्याचार कर रहे थे। आर्य अधिकार मद पर मत्सप, आलसी, घमंडी और अकर्मण्य हो गए थे। अब वे या तो थोथे यज्ञाडम्बरों की हास्यास्पद विडम्बना में फंसे थे या कोरे कल्पित ब्रह्मवाद में।[३] वैशाली गणराज्य में प्रतिवर्ष उत्साह और उल्लास के साथ मधुपर्व के उत्सव मनाने की परिपाटी थी।[४] उस समय आखेट का भी प्रचलन था। 'नगरवधू' भी सामन्तपुत्रों के साथ आखेट पर जाती थी।[५]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत उपन्यास का अध्ययन करने के पश्चात् हम उस काल की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों से अवगत हो जाते हैं। उपन्यासकार का उद्देश्य भी यही था। उसने स्वयं लिखा है मैंने यह ठान ली कि इस उपन्यास में मैं एक तरफ जहाँ मसीह से पूर्व पाँचवीं छठी शताब्दी की सम्पूर्ण धर्मनीति और समाज नीति का रेखा चित्र खींचूं, वहां अपने अध्ययन और विचारों को भी प्रकट करता जाऊं। अपनी बात को अधिक बल से कहने के लिए मुझे जैन, बौद्ध, हिन्दू-साहित्य तथा संस्कृत-साहित्य के साथ वैदिक-साहित्य, दर्शन, विज्ञान और मनोविज्ञान का भी अध्ययन करना पड़ा। अनेक अंग्रेजी और दूसरी भाषाओं के लेख और

---

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ २८६-८७।

२ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ५३-५८ तक, ६८ से ७२ तक, ३२८ से ३३२ तक।

३. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३७५, ४०५ से ४०९ तक।

४. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ४७५-४८०।

५ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ४८०-४८६।

खम्भो पर महालय का रंग मंडप खड़ा था । इस मंडप मे दस हजार से भी अधिक दर्शक एक साथ सोमनाथ के पुण्य दर्शन कर सकते थे। मंडप के सामने गम्भीर गर्भगृह मे सोमनाथ का अलौकिक ज्योतिर्लिंग था। सोमनाथ का यह ज्योतिर्लिंग आठ हाथ ऊँचा था। महालय के गगनचुम्बी शिखर पर समुद्र की ओर जो भगवे रंग की ध्वजा फहराती थी, वह दूर देशो के यात्रियो का मन बराबर अपनी ओर खीच लेती थी। महालय के शिखर के स्वर्ण कलश सूर्य की धूप मे अनगिनत सूर्यों की भांति चमकते थे।[1] इसके अतिरिक्त घोघा गढ़[2], गदावा दुर्ग[3], खम्भात[4], प्रभास पट्टन[5], गजनी[6] आदि के वर्णन भी विस्तार से प्राप्त होते हैं। सोमनाथ महालय के आस-पास के भूभाग का भी वर्णन उपन्यासकार ने बड़ा सजीव किया है।[7] इतना ही नही आचार्य चतुरसेन जी ने वृक्ष और पादपो तक का जीता जागता वर्णन प्रस्तुत किया है, जिसे हम प्रकृति-वर्णन' मे अलग से लेंगे। गजनवी ने किस किस स्थान पर अपने डेरे डाले[8], कैसे-कैसे मोर्चे बनाए[9], कैसे युद्ध प्रारम्भ किया[10], सक्टेश्वर की बावड़ी से किस प्रकार महमूद ने लाभ उठाया एवं उसकी बनावट कैसी थी[11] आदि का भी सजीव वर्णन उपन्यासकार ने यहाँ दिया है। 'रक्त की प्यास'[12] हृदय निमंत्रण, देवांगना[13], 'लाल पानी' आदि उपन्यासों मे भी इसी प्रकार के भौतिक चित्रण प्राप्त होते हैं किंतु इन उपन्यासो मे वे सूक्ष्म हैं विस्तृत नही। 'देवांगना' मे प्राप्त 'संघाराम' का वर्णन बड़ा सजीव और विस्तृत है।[14]

---

१. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ २ से ४ तक।
२. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ १०७।
३. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ १८९-९१।
४. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ४०० से ४०२।
५. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ २७४-२७५।
६ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ ९१।
७ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३ से ४ तक।
८. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ ३१९ से ३२२ तक।
९. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३२१ एवं ३६१-३६३ तक।
१०. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३६१।
११. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३४२-३४५।
१२. रक्त की प्यास, पृ ३८।
१३. देवांगना, पृ २६-२७।
१४. देवांगना पृ १९।

पुस्तकें भी पढ़नी पड़ी।[1] स्पष्ट है प्रस्तुत उपन्यास का निर्माण वातावरण एवं तत्कालीन समाज व्यवस्था के निरूपण के लिए ही हुआ है। उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपन्यासकार ने प्रस्तुत कथानक के माध्यम से तत्कालीन युग एवं समाज का अंकन तो किया ही है साथ ही उसने ब्राह्मण धर्म के ह्रास और बौद्ध एवं जैन धर्म के उत्पन्न होने और विकसित होने की परिस्थितियों का भी अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। कितने ही अध्यायों को उपन्यासकार ने केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रस्तुत उपन्यास में सजोया है।

आचार्य चतुरसेन जी के मध्य काल से सम्बन्धित उपन्यासों में देश काल का चित्रण —

इसमे हम ई० सन् १००० से १५०० ई० तक के समय को रख सकते हैं। इस काल से सम्बन्धित आचार्य चतुरसेन जी के सात उपन्यास हैं। सोमनाथ (दसवीं एवं ग्यारहवीं शताब्दी), रक्त की प्यास, हरण-निमन्त्रण एवं पूर्णाहुति (खवास का ब्याह) (ग्यारहवीं शताब्दी), देवांगना, बिना चिराग का शहर-बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दी काल पानी (पन्द्रहवीं शताब्दी)।

वस्तु वर्णन

लगभग इन सभी उपन्यासों में भौतिक चित्रण किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त होता है। किसी में गढ़, किले, मन्दिर, महालय आदि के विस्तृत वर्णन हैं तो किसी में नगर, नगर के आसपास के भूभाग, वाटिका, बाजार, नदी, पर्वत आदि के सांकेतिक वर्णन। 'सोमनाथ' नामक उपन्यास में सबसे अधिक चित्रण प्राप्त हैं। इसमें नगरों, दुर्गों एवं महालयों के वर्णन तो इतने सजीव हैं कि यदि कोई कुशल चित्रकार थोड़ा-सा भी प्रयास करे तो इनके आनुमानिक चित्र सरलता से बना सकता है। सोमनाथ महालय का तो विस्तृत वर्णन पढ़कर पाठक प्रत्यक्ष ही वहाँ विचरण करने लगता है। महालय में कौन-सा स्थान कहाँ पर था, उसकी बनावट किस प्रकार की थी, ज्योतिर्लिंग का आकार प्रकार कैसा था आदि का बड़ा ब्योरेवार वर्णन इसमें प्राप्त होता है। देखिए—महालय के मण्डप के भारी-भारी खम्भों पर हीरा, मानिक, नीलम आदि रत्नों की ऐसी पच्चीकारी की गई थी कि उसकी शोभा देखने से नेत्र थकते नहीं थे। जगह-जगह सोने-चांदी के पात्र, स्तम्भों पर चढ़े थे। ऐसे दैसी

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, भूमि पृ० ७८२।

इन उपन्यासों में युद्ध आदि के वर्णन भी उस युग के अनुरूप ही हैं। इन युद्धों का भी तत्कालीन युग के वातावरण के अनुसार उपन्यासकार ने सूक्ष्माति-सूक्ष्म वर्णन किया है, जिससे यह वर्णन भी वातावरण सृष्टि में साधक ही हुए हैं बाधक नहीं।

समाज वर्णन

आचार्य चतुरसेन जी के इन सभी उपन्यासों में तत्कालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सजग चित्रण प्राप्त होता है।

सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियां—प्रस्तुत उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित हुई हैं। तत्कालीन भारत की सामाजिक स्थिति के विषय में अलबरूनी जो महमूद गजनवी के समय में भारत में आया था—ने लिखा है 'हिंदू लोग अभिमानी हैं, वे विदेशियों को म्लेच्छ कहते हैं और उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते। यद्यपि वे एकेश्वरवादी हैं परन्तु मूर्तिपूजा सारे देश में, प्रचलित है। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में वह लिखता है कि देश में भिन्न भिन्न जातियां तो हैं परन्तु सब लोग एक ही शहर या गांव में रहते हैं। और परस्पर मिलते-जुलते भी है। बाल विवाह की प्रथा है। विवाह बहुधा माता पिता ही करते हैं। दहेज की प्रथा है। एक बार विवाह हो जाने पर पति पत्नी को छोड़ नहीं सकता। विधवा विवाह नहीं है। विधवाएं या तो अग्नि में जलकर मर जाती हैं या आजन्म वैधव्य व्यतीत करती हैं। प्राय राजवंश की स्त्रियां ही सती होती हैं। '[1] आदि। अब हमें देखना यह है कि क्या इन उपन्यासों में इसी प्रकार की सामाजिक स्थिति प्राप्त होती है? क्या वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इन उपन्यासों में उस युग विशेष को प्रतिबिम्बित किया है? 'सोमनाथ' में तो अलबरूनी द्वारा वर्णित सभी सामाजिक प्रवृतियां पूर्णरूपेण उभर कर आई हैं। इसमें तत्कालीन वातावरण में यत्र तत्र आधुनिक विचारधारा का भी उपन्यासकार ने समावेश किया है। किन्तु वह पूर्णरूपेण तत्कालीन वातावरण में छिपी हुई है।

उस काल में धर्म की भांति समाज में भी विप्लव मचा हुआ था। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त परस्पर भयानक संघर्षों, कुरीतियों और अंधविश्वासों में फंसे थे। ब्राह्मणों ने बौद्धों और जैनियों को नष्टप्राय कर दिया था। शैवों और

१. भारतवर्ष का इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद, पृ १७३।

वैष्णवों की प्रबलता हो रही थी। और वे परस्पर उलझ रहे थे।[1] धर्म उस काल में केवल ढकोसला मात्र रह गया था। यद्यपि 'गय सर्वज्ञ' ऐसे कुछ धार्मिक महापुरुष भी थे।

छुआछूत का भूत तत्कालीन समाज को ग्रस चुका था।[2] देव स्वामी इसी छुआछूत का शिकार होकर यवन बन गया था। विधवाओं की दशा चिंतनीय थी। बाल विवाह प्रचलित था। विधवा हो जाने के पश्चात् पुन विवाह की प्रथा नहीं थी। यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णस्वामी ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति भी अपनी एकमात्र पुत्री शोभना के विधवा होजाने पर पुन विवाह न कर सका।

साम्पत्तिक दृष्टिकोण से यह युग, एक सम्पन्न युग था। परन्तु इस सम्पदा के भोक्ता देश के सब लोग न थे। केवल राजा, ब्राह्मण और सेठ लोग ही उसे उपयोग करते थे। शेष लोगों की दशा अति दयनीय थी। सम्पत्ति के सबसे बड़े भाग के भोक्ता राजा लोगों के राजमहलों में विलास पूर्ण आहार विहार के अद्भुत साधन उपस्थित रहते थे। उदाहरणस्वरूप हम गुर्जरेश्वर कुमार पाल, 'रक्त की प्यास' के भीमदेव और पृथ्वीराज, 'पूर्णाहुति' के पृथ्वीराज आदि के राज महलों को ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेकों विलासी सामन्त वीरराजा लोग भोग विलास में तल्लीन थे। दास दासियों की फौज के बिना इनका काम नहीं चलता था। घरों में स्त्रियों की पल्टनें भरी रहती थीं। इनकी नैतिकता और दायित्व का कोई मापदण्ड न था। युद्ध में भी इनका भारी व्यय होता था। राजा लोगों के आलसी और मद्यप होने से साधारण जनता की दशा खराब थी। उसमे एकता न थी। अनेक पन्थ, अनेक मत, अनेक विचार, अनेक अन्धविश्वासों ने उनके मन में घर कर रखा था। जिन्हें हम सांस्कृतिक स्थिति में दिखलायेंगे। हिन्दुओं के इस अरक्षित जीवन से लाभ उठाकर मुसलमान साधु फकीर सैकड़ों की संख्या

---

१ सोमनाथ पृ ७९ साथ ही देखिए हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड सम्पादक डा० धीरेंद्र वर्मा एवं ब्रजेश्वर वर्मा, पृ ३९-४०।

२ " शूद्रों और अन्त्यजों का जीवन सेवा-धर्म के पालन में व्यतीत होता था ऊपर उठने के लिए उनको न तो कोई साधन प्राप्त थे। और न किसी और से प्रोत्साहन मिल सकता था। "हिन्दी साहित्य द्वितीय भाग सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं डा० ब्रजेश्वर वर्मा पृ० ४२।

मे सम्पूर्ण भारतवर्ष मे फैलकर बस गये थे। वे देश के दीन दरिद्रो को धडाधड मुसलमान बना रहे थे।'[1]

राजनीतिक परिस्थितियाँ—

भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। सम्पूर्ण देश छोटे छोटे राज्यो मे विभक्त था। इन सबको एक सूत्र मे बाधनेवाली कोई प्रबल सत्ता न थी। राजपूतो के छोटे छोटे राज्य पजाब से दक्षिण तक और बगाल से अरब सागर तक फैले हुए थे। आये दिन इनमे परस्पर सग्राम होते रहते थे।[2] सबसे महत्वपूर्ण बात इस काल की राजनीतिक परिस्थिति मे यह थी राजा शैव हिन्दू और मन्त्री जैन होते थे। इमस राज्य की अर्थ व्यवस्था जैनो के हाथो मे होती थी। नागरिक सेठ साहूकार भी जैन होने से राज्य मे राजा की अपेक्षा जैन मन्त्री का अधिक प्रभाव रहता था। 'रक्त की प्यास' मे शैव राजा और जैन मत्री के सघर्ष का ही वर्णन है। परतु यह बात गुजरात मे ही थी राजस्थान मे नही। यद्यपि गुजरात के राजा राजस्थान के भी अज्ञात स्वामी तथा सम्बधी रिश्तेदार थे, फिर भी राजस्थान मालवा, सिन्ध और गुजरात के राजाओ मे सहयोग के स्थान पर युद्ध और कलह ही का बोलबाला रहता था। जिससे राजनीतिक अवस्था छिन्न भिन्न थी। प्राचीन राजवश जर्जर हो चुके थे। मानसिक अन्धता राजवशियो मे भी थी। नित्य नये युद्ध हुआ करते थे। ये युद्ध प्राय बिना किसी उद्देश्य के निरर्थक विजय या परस्पर की ईर्ष्या या कन्याहरण के लिए किए जाते थे। 'रक्त की प्यास' मे भीमदेव और पृथ्वीराज का युद्ध केवल एक कन्या के लिए ही हुआ था। 'पूर्णाहुति' मे पृथ्वीराज द्वारा सयोगिता का हरण भी इसी बात का प्रमाण है।[3]

'सोमनाथ' पर जिस समय आक्रमण हुआ उस समय गुजरात की गद्दी पर चामुण्डराय ऐसा आलसी एव अफीमची राजा था।'[4] किन्तु उस काल मे

१ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ ८०।

२. रक्त की प्यास- पृ १२५।

३ 'स्त्री का बलपूर्वक अपहरण करना एक साधारण सी बात थी और इस विषय को लेकर भयकर युद्धो तक की नौबत पहुच जाती थी। पृथ्वीराज और जयचद के सघर्ष का कारण सयोगिता ही थी।"
(हिन्दी साहित्य) द्वितीय भाग डा० धीरेन्द्र वर्मा एव ब्रजेश्वर वर्मा— सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि पृ ४३।

४. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ- १३३-१३५।

घोघाबापा धर्मगजदेव ऐसे प्रतापी राजा भी थे किंतु वास्तव मे यह केवल शौर्य की चिन्गारी मात्र थे। परस्पर सगठित न होने के कारण यह केवल मात्र युद्ध युद्ध मे कट मरना ही जानते थे।

'सोमनाथ' लुट जाने के पश्चात् भी भारत की राजनीतिक स्थिति मे किसी प्रकार का सुधार नही हुआ था। इसके बाद ही पृथ्वीराज और भीमदेव से युद्ध हुए[1], और पृथ्वीराज बिना आगा-पीछा देखे कन्नोज पर केवल एक स्त्री के लिए चढ गया। उसने सयोगिता का हरण तो कर लिया किंतु उसका दल क्षीण हो चुका था। इसी समय गोरी ने उस पर पुन आक्रमण किया। इस समय पृथ्वीराज चौदह वर्ष की अबोध कुसुम कलिका सयोगिता के मधुपान मे ही मदहोश था। परिणामात वह पराजित होकर बदी हुआ। दिल्ली का हिंदू राज समाप्त हो गया।[2]

इसके पश्चात् भी भारत देश सोता ही रहा। सुल्तान अलाउद्दीन के समय भी हिंदू राजा सगठित न हो सके। देवगिरि के राजा की जब वह जिंदा खाल खिचवा रहा था, तो अन्य हिंदू राजा चुपचाप छिपे बैठे थे।[3]

पद्रहवी शताब्दी में भी भारत की यही राजनीतिक दशा थी। कच्छ प्रदेश के छोटे-छोटे राजा जो परस्पर सम्बध मे लडभिड रहे थे।[4] मुसलमान सुल्तानो की उनपर दृष्टि थी। उनको प्रसन्न करने के लिए हिन्दू राजा अपनी पुत्रियो का विवाह उनके साथ कर देते थे।

सास्कृतिक चित्रण--

आचार्य चतुरसेन जी के इन उपन्यासो मे विशेषकर सोमनाथ मे सास्कृतिक चित्रण तो बडे ही सजीव हैं। वास्तव मे महमूद का 'सोमनाथ अभियान' राजनीतिक से धार्मिक महत्व का अधिक था इसी कारण से उसने गुजरात पर चढाई तो अवश्य की और सोमनाथ को भग भी किया फिर भी उसने अपनी सत्ता भारत मे स्थापित करने की चेष्टा नही की। वास्तव मे महमूद एक धर्मांध लुटेरा था। जिस समय उसने 'सोमनाथ' देवालय को

---

१. 'रक्त की प्यास' में इसी युद्ध का वर्णन उपन्यासकार ने किया है।

२ 'पूर्णाहुति' मे इन्हीं घटनाओं को विस्तार से उपन्यासकार ने लिया है।

३. 'बिना चिराग का शहर' मे इसी काल का वर्णन है।

४ 'लाल पानी' नामक उपन्यास से इस समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

भग किया भारत मे रूढिवाद अज्ञान धर्मान्धता, कट्टरता आदि घर कर चुके थे। यहाँ विभिन्न मतो का बोलबाला था।[१] जनता अंध विश्वासो की शिकार थी थी। भूत, पिशाच, बैताल आदि पर जनता का अगाध विश्वास था। त्रिपुर सुन्दरी के मन्दिर मे धर्म के नाम पर कितने अमानुषिक कृत्य होते थे।[२] वाममार्गी धूर्त साधुओ का बाहुल्य था। सोमनाथ का पतन भी इन्ही पाखडी देशद्रोही साधुओ के कारण सम्भव हो सका था।'[३] उस काल मे त्रिपुर सुन्दरी एव दुर्गा की मूर्तियो पर खुले आम नरबलि दी जाती थी और कापालिक नर मुण्डो की माला पहने घूमा करते थे।[४] ब्राह्मणो के असाध्य अधिकार थे। यज्ञ एव वेद पाठ का अधिकार केवल उन तक ही सीमित था।

जनता की रुचि उत्सवो एव धार्मिक कृत्यो मे अधिक थी। 'गनगौर' के पर्व आदि के वर्णन तो बडे ही सजीव हैं।[५] बौद्ध धर्म के धार्मिक उत्सवो के भी कुछ वर्णन 'देवागना' मे प्राप्त हैं। वास्तव मे इस काल मे हिन्दू धर्म में विप्लव मचा हुआ था। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त परस्पर संघर्षों, कुरीतियो और अन्ध विश्वासो मे फसे थे। जिससे धर्म की दशा डावाडोल हो रही थी।[६]

इस विवरण के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने मध्यकालीन उपन्यासो मे भी तत्कालीन राजनीतिक, एव सास्कृतिक गतिविधियो का बडा ही सजीव एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। वास्तव मे सत्य तो यह है कि इन उपन्यासो मे आचार्य चतुरसेन जी ने तत्कालीन इतिहास को जुटाया ही नही है वरन् जगाया भी है। इसी कारण से इनके चित्रण तथ्यपरक होने के साथ साथ तत्वपरक भी हैं।

---

१. '......राजपूत काल का धार्मिक संगठन विकीर्ण दिखाई देता है।......दसवीं शताब्दी के एक अरब यात्री का कथन है कि भारत में बयालीस मत है।... इस समय के समस्त वातावरण में जैसे विभिन्नता की बिजली दौड़ गई थी।' हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड संपादक डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं ब्रजेश्वर वर्मा पृ. ३०-३१।

२. सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ. २४ से ३५ तक।

३. सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ. ३४२ से ३४६।

४. सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ. २५, २९३ से २९५।

५. सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ. ४१३-४१४।

६. सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ. ७९ साथ ही देखिए हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं डा० ब्रजेश्वर वर्मा पृ. ३९-४१।

मुगलकालीन—मध्यकालीन राजपूती, शौर्य, वैभव, विलासिता एवं उक्खड़पन के चित्रण के साथ-साथ आचार्य चतुरसेन जी ने मुगल वैभव एवं विलासिता का भी बड़ा ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। आचार्य चतुरसेन जी के मुगलकालीन केवल दो उपन्यास हैं। १ आलमगीर २ सह्याद्रि की चट्टानें। इनमें १६ वीं एवं १७ वीं शताब्दी के भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हलचलों का अत्यन्त सजीव वर्णन है।

वस्तु वर्णन—मुगलकालीन वास्तुकला संसार प्रसिद्ध है। उनके बनवाये हुए महलों, मकबरों, किलों, मसजिदों तथा अन्य इमारतों से उनकी असाधारण प्रतिभा तथा सुरुचि का पता लगता है। मुगल वास्तुकला में हिन्दू और मुसलमानी कलाओं का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। आचार्य चतुरसेन जी के 'आलमगीर' नामक उपन्यास में मुगलकालीन वास्तुकला की स्पष्ट झलक दीख पड़ती है। जहाँ भी वस्तुवर्णन का अवसर आया है आचार्य चतुरसेन जी ने विस्तार से किया है। 'आलमगीर' नामक उपन्यास के 'आम खास का दरबार'[१] 'तख्ते ताऊस'[२] 'दिल्ली का लाल किला'[३] 'खासगाह'[४] आदि के वर्णनों को एवं विभिन्न युद्धों के रेखा चित्रों को हम वस्तु वर्णन में रख सकते हैं। 'सह्याद्रि की चट्टानें' में वस्तु वर्णनों की न्यूनता है किन्तु तो भी कुछ वर्णन आ ही गए हैं। इनमें हम युद्धों के वर्णनों को ले सकते हैं।

'आलमगीर' में से वस्तु वर्णन का एक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

'किले के भीतर एक से बढ़कर एक शोभनीय खास महल थे। उनकी पंक्तियों का धवल प्रतिबिम्ब चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना से यमुना के स्वच्छ जल में, असाधारण शोभा विस्तार करता था। इन महलों में जो मुख्य वस्तु थी वह दीवाने आम की इमारत थी। जिस पर देखने वाले की सबसे पहले दृष्टि पड़ती थी। इसके बाद ही दीवाने खास था, जिसमें बादशाह खास खास दरबारियों से महत्वपूर्ण विषयों पर गुप्त मन्त्रणा करता था। इसके बाद एक से एक बढ़कर गुम्बजों वाले महलों का ताता चला जाता था। ये सब बेगम महल कहाते थे। बेगम महल की बनावट ऊपर से संगमरमर की थी। पर भीतर उसकी छत

---

१. आलमगीर, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३-४।
२. आलमगीर, आचार्य चतुरसेन, पृ. ४-७।
३. आलमगीर, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३२-३५।
४. आलमगीर, आचार्य चतुरसेन. पृ २७-२९।

पर सोने का सिंहासन मूल्यवान् कारीगरी का कार्य किया गया था। खम्भों और दीवारों पर सच्चे जवाहरात की पच्चीकारी इतनी मनोरम और बहुमूल्य थी कि हम उसे उस युग की स्थापत्यकला का एक आदर्श नमूना कह सकते हैं।"[1]

इसी प्रकार कितनी ही अन्य वस्तुओं के वर्णन भी प्रस्तुत उपन्यास में प्राप्त होते हैं, जिनमें हम विवाहोत्सव[2], तख्ते ताऊस[3], आम और खास दरबार[4], खासमहल[5] आदि के वर्णनों का ले सकते हैं।

समाज वर्णन —

सामाजिक परिस्थिति :—इस काल की सामाजिक स्थिति विशेष उत्तम न थी। एक ओर मुगल बादशाह का दरबार ऐश्वर्य, शान शौकत एव भोग-विलास का आगार था।[6] तो दूसरी ओर जन-साधारण दुखी था।[7] हिन्दू मुसलमानों का आपसी भेदभाव दूर न हुआ था। शाहजहाँ कट्टर सुन्नी मुसलमान था। स्वयं कट्टर मुसलमान होने के कारण वह दूसरे धर्मों का आदर नहीं करता था।[8] धर्म का समाज पर पूर्ण प्रभाव था। राज्य की नीति भी धर्म से प्रभावान्वित होती थी। बादशाह और उसके दरबारी विलासी हो गए थे। उनके हरमों में सहस्त्रों स्त्रियों के रेवड भरे रहते थे। केवल बादशाह के हरम में ही दो हजार से ऊपर स्त्रियाँ थीं। उसमें बेगमात के अतिरिक्त पासवानियाँ, कंचनियाँ, सुलतानिया और दस्तानिया रहती थीं। हरम का प्रबन्ध अत्यन्त सुव्यवस्थित था। जैसे राज्य के भिन्न-भिन्न शासन-विभागों का अनुशासन होता था वैसे ही हरम का भी होता था। मुगल महिलाओं का समय आनन्द से शराब, संगीत और फूलों की सेज से व्यतीत होता था। हरम के निवासी रात दिन देश के करोड़ों दीन-हीन कृषकों की कमाई से निष्ठुरता पूर्वक

१. आलमगीर-पृष्ठ ३२-३३।

२ आलमगीर-पृष्ठ ३३।

३. आलमगीर-पृष्ठ ४-७।

४. आलमगीर-पृष्ठ ३।

५ आलमगीर-पृष्ठ ५७-५८।

६. आलमगीर-आचार्य चतुरसेन पृष्ठ ३४-३९ तक कुछ इसी प्रकार के वर्णन निम्न इतिहास ग्रंथों में भी प्राप्त भारत का मुगल इतिहास-कृपालसिंह नारग-पृष्ठ ३२८ भारत का इतिहास, डा० ईश्वरी प्रसाद पृष्ठ ४३४।

७ आलमगीर-पृ ३६-३९।

८ आलमगीर-पृ ३६-३९।

उगाहे धन को पानी की तरह बहाते रहते थे।[१] सम्पूर्ण साम्राज्य मे स्वेच्छा-चारिता की तूती बोल रही थी। मदिरापान का आधिक्य था। हरम की स्त्रियाँ तक मदिरापान की अभ्यस्त हो गई थी।[२] शाहजहाँ एक कामुक बादशाह था। उसके राज्य मे किसी सुन्दर स्त्री का सतीत्व सदैव सकट मे रहता था। बेगम महल का शाही खर्चा सालाना एक करोड रुपए था। इससे बडे-बडे सर्व तो भाँति-भाँति के इत्र और सुगध द्रव्य मे होते थे। जिनकी सदैव ही महल मे नदी बहती थी। पानो की मद भी बडी खर्चीली थी। इनमे मोतियो का चूना काम मे लाया जाता था। एक-एक बेगम हजारो रुपए रोज पान का ही खर्च करती थी।[३] बेगमात और शाहजादियो की पोशाक इत्र मे सराबोर रहती थी। वे प्रति दिन कई-कई पोशाकें बदलती थी।[४]

यद्यपि शाहजहाँ के हरम मे हजारो बेगमात, बांदियां और कंचनियां थी, फिर भी उसे उन पर संतोष न था। प्रत्येक वर्ष खिराज के तौर पर साम्राज्य भर के सूबेदारो को एक नियत तादाद मे रगमहल के लिए सुन्दर सुकुमारियां भेजनी पडती थी। इतने पर भी बादशाह के अनुचित सम्बन्ध अनेक रईस और उमरा की पत्नियो से थे, जो गुप्त नही थे। प्रकट मे ये रईस और उमरा बादशाह के खिलाफ कुछ नही कर पाते थे। पर भीतर ही भीतर वे उससे जलते थे।[५]

---

१. आलमगीर-पृ. ३४-३५।
भारतवर्ष का इतिहास पृ ४३४-३५ पर प्राप्त वर्णन से आचार्य चतुरसेन जी के कथन की पुष्टि हो जाती है।

२. आलमगीर पृ ३८-३९ आचार्य चतुरसेन जी की पुष्टि के लिए निम्न उद्धरण पर्याप्त होगा '........Excessive addiction to wine and women was a very common vice among the aristocrats. We are told by Abul Fazal that the Emperor had a seraglis of 5000 women supervised by a separate staff of Female Offiecrs........' 'An Advanced History of India' by R. C. Majumdar, (Part II)
H C. Ray Chaudhari etc. page 566.

३. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ३९-४०।

४. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४१ साथ ही देखिए An Advanced History of India part II, page 566.

५. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ४२।

इतना ही नही अपनी बढी चढी कामलिप्सा की पूर्ति के लिए बादशाह ने अपने रगमहल मे मीना बाजार की बुनियाद डाली थी। यह मेला आठ दिन तक रहता था। इसमे स्त्रियो को छोडकर और किसी का प्रवेश निषिद्ध था। नीच और ऊँच सभी जाति की स्त्रियाँ अपना अपना माल बेचने के बहाने जाती और माल की आड मे अपने आपको ऊँचे से ऊँचे मूल्य पर बादशाह तथा शाहजादो के हाथ बेचती थी। इन्ही सब कारणो से जन साधारण की दशा नित्यप्रति दयनीय होती जा रही थी। शाहजहाँ, दारा, रोशनआरा, जहाआरा आदि के चरित्र को सामने रखकर उपन्यासकार ने तत्कालीन वातावरण को प्रत्यक्ष करने का सफल प्रयत्न किया है।

औरगजेब के काल मे भोग विलास की मात्रा कम हो गई थी किन्तु उसकी धार्मिक कट्टरता के कारण समाज की दशा और भी दयनीय हो गई थी। उसके हिन्दू विरोधी कार्यों से हिन्दू समाज मे अशान्ति व्याप्त हो गई थी। अपने राज्य के पहले ही वर्ष मे उसने नए मन्दिरो के निर्माण का निषेध कर दिया था। इतना ही नही उसने अनेक मन्दिरो को भ्रष्ट किया, नष्ट किया और उनके स्थानो पर मस्जिदें बनवाई। उसने मथुरा शहर का नाम बदल कर इस्लामाबाद रख दिया। और साम्राज्य के सब सूबो, परगनो, शहरो और महत्वपूर्ण स्थानो मे जनता के सदाचार की देखभाल करने के लिये मोहातबशिब नियुक्त किये जिनका वास्तविक काम था हिन्दुओ के तीर्थों को विध्वस करना। उन्होंने हिन्दुओ पर जजिया लगाया। स्त्रियो, १४ वर्ष के बच्चो और गुलामो को ही इससे छूट मिलती थी। इससे बचने के लिये बहुत से हिन्दू मुसलमान हो गये। इसके अतिरिक्त हिन्दुओ से बिक्री कर लिया जाता था। और मुसलमानो से नही।'[1] उसने हिन्दुओ के मेलो को भी रोक दिया और त्योहारो पर भी रोक टोक लगाई।

---

१ सह्याद्रि की चट्टानें पृ सं १४०-१४१।

इस विषय में प्रोफेसर एस० आर० शर्मा का कथन उल्लेखनीय है 'हिन्दुओं को कष्ट देना औरंगजेब के राज्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। यदि वह हिन्दुओं पर इतने अत्याचार न करता तो उसके कट्टर सुधारवादी होने के बावजूद भी उसके शासन का काल कुलक्षण और अपमानित होने के स्थान पर अत्यन्त शानदार होता'

Mughal Empire in India Part II page 149

साथ ही देखिए भारत का मुगल इतिहास ३४३ ३४६

भारतवर्ष का इतिहास पृ ३८२

शिवा जी ने इसी कारण से औरंगजेब का विरोध किया था उन्होने उसे एक पत्र भी जजिया कर के विरोध मे लिखा था।[1]

एक ओर भोग विलास की मात्रा बढ रही थी। धर्म पर कुठाराघात हो रहा था। आए दिन नित्य नये युद्ध होते रहते थे दूसरी ओर किसानो की दशा बिगड़ती जा रही थी। बड़े बड़े भूखन्ड पर्वतो और रेतीले मैदानो के रूप मे पड़े थे। आबादी कम थी। खेती के तरीके रद्दी थे। फिर भी खेती के योग्य भूमि का बड़ा भाग हाकिमो के अत्याचारो तथा किसानो की दुर्दशा के कारण उजड़ा पड़ा था। लाखोंकरोड़ो किसान असहाय थे, जब वे निर्दयी और निरकुश हाकिमो की जरूरत को पूरा नही कर सकते थे, तब उन्हे एक प्रकार से लूट लिया जाता था। उनकी दाद फर्याद सुनने वाला कोई न था। अंधेरगर्दी यहाँ तक बढी थी कि इनकी निजी जरूरत की चीजें भी छीन ली जाती थी तथा इनके बाल-बच्चो को लौंडी, गुलाम बना लिया जाता था। वे बेचारे घर बार छोड़ शहर मे भाग आते, वहाँ सिपाही, भिश्ती, साईस, ऊँट वाले, चाकर और खिदमतगार बनकर पेट पालते थे।'[2]

आर्थिक स्थिति :—

शाहजहाँ के काल मे राज्य की आर्थिक स्थिति उत्तम थी। बादशाह ने अपने राज्यकाल के चालीस साल बिना लड़ाई भिड़ाई किए बिताए थे। इससे बे अन्दाज दौलत उसके खजाने मे इकट्ठी हो गई थी। उसके खजाने मे बड़े-बड़े कीमती जवाहरात कंकड, पत्थर की तरह ढेर के ढेर पड़े रहते थे।[3] इस साम्राज्य

---

१ सह्याद्रि की चट्टानें पृ १४२-४३

२. आलमगीर पृ. ५१-५२ साथ ही देखिये बर्नियर का लेख है कि किसी महामारी के कारण नहीं वरन् राज्य की कठोरता के कारण ही किसानों की सख्या मे कमी हो गई थी। देहातो मे मजदूरों की तथा खेती की अवनति के कारण दरिद्रता फैल रही थी। गरीब किसान जब निर्धनता के कारण, जब लगान नहीं दे सकते थे तब उनके लड़के छीन लिए जाते थे और गुलाम बनाकर बेच दिये जाते थे। कूच के समय पल्टनों के सिपाही, बिना किसी भय के, किसानों की फसल को रौंदते चलते थे। भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरीप्रसाद पृ ३८०।

तथा भारत का मुगल इतिहास पृ. ३६६ ६७।

३. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ४७।

की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि सोना चाँदी संसार भर मे घूमघाम कर जब भारतवर्ष मे पहुँचता था तो यही खप जाता था।[1] शाहजहाँ के काल तक मुगल बादशाहो का यह नियम रहा था कि जब कोई अमीर उमरा मर जाता था तो उसकी सब सम्पत्ति शाही खजाने म दाखिल कर ली जाती थी। इस मद से अटूट धन दौलत शाही खजाने मे आती रहती थी।[2] शाहजहाँ ने अपने राज्य-काल मे बडे-बडे खर्चीले काम भी किए थे। अपने राजस्व के प्रारम्भिक बीस वर्षों मे शाहजहाँ ने दान तथा पुरस्कार मे साढे नौ करोड की चीजें दी थी। आगरा, दिल्ली, लाहौर, काबुल, काश्मीर और कन्धार तथा अजमेर की शाही इमारतो और किलों की तैयारी मे लगभग तीन करोड रुपया खर्च किया था।[3]

किन्तु इतना होने पर भी भारत की सार्वजनिक साम्पत्तिक अवस्था अच्छी न थी। देश का विस्तार बहुत था और उस पर एक छत्र शासन के साधन उपलब्ध न थे। किसानों एव जन साधारण की आर्थिक स्थिति दयनीय थी।[4]

'सह्याद्रि की चट्टानें' के काल मे भी जन साधारण की आर्थिक स्थिति विशेष उत्तम न थी। औरंगजेब के खजाने का एक बहुत बडा भाग युद्धो मे व्यय हो रहा था। उसकी धार्मिक कट्टरता के फलस्वरूप हिन्दुओ की दशा और भी दयनीय हो गई थी। उसने हिंदुओ पर जजिया लगा दिया। जिसके प्रत्यक्ष फल दो हुए सरकार की आय बढ गई और नए मुसलमानो की सख्या मे वृद्धि होने लगी। बहुत से स्थानो मे ६ मास के अन्दर ही अन्दर सरकारी खजाने की आय चौगुनी हो गई थी। किंतु जजिया का बोझ पडने से हिंदू व्यापारी शहरो को छोडकर भागने लगे, क्योकि शहरो म ही वसूली का जोर था। इससे व्यापार थोडे ही दिनो मे चौपट हो गया। छावनियो मे विशेष दिक्कत होने लगी। हिंदू

---

१. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ४६।
साथ ही देखिए An Advanced History of India Part II By R. C Majumdar,—H. C. Ray Chaudhari & Datta Page 567 & 570.

२ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ४८।

३. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ४९।

४. आलमगीर पृ. ५१-५२।
साथ ही देखिये An Advanced History of India Part II By R C. Majumdan—H. C. Ray Chaudhari and Datta. Page 576-77.

व्यापारियो के भाग जाने से फौजो को अन्न मिलना भी कठिन हो गया था।[१] निरन्तर सैन्य कार्यवाहियो के कारण भारत के अधिकाश प्रदेशो मे व्यापार क्रियात्मक रूप से सर्वथा नष्ट भ्रष्ट हो गया था। दक्षिण प्रदेश की दशा और भी खराब थी। कोई व्यापारी इस प्रदेश मे आने का साहस नही कर सकता था। लूट खसोट का बोलबाला था। ग्रामीण उद्योग, कृषि आदि तो समाप्तप्राय हो थे। व्यापार और कृषि की इस अधोगति ने देश को आर्थिक दृष्टि से कगाल बना दिया था।[२]

राजनीतिक परिस्थितियाँ—

शाहजहाँ के समय मे मुगलो के तेज और वैभव का सूर्य मध्याह्न को पहुँच चुका था। किन्तु बादशाह इतना वैभवशाली होने पर भी देश मे गैर था। सिर्फ करोडो हिन्दू ही नही, शिया मुसल्मान भी जो उसके दरबार मे ऊँचे-ऊँचे पदों पर थे, उससे धार्मिक द्वेष रखते थे। इसके अतिरिक्त उसके राज्य सरहद पर और भीतर भी अनेक राजा महाराजा सरदार ऐसे थे जो सदा उसके विद्रोही बने रहते थे। कुछ नाम मात्र का कर बहुत दबाने से देते, कुछ बिल्कुल ही नही देते थे। कुछ ऐसे भी थे जो उल्टा कर लेते थे। बादशाह को सदैव युद्ध के लिए तत्पर रहना पडता था, उसे शातिकाल मे भी बहुत भारी सेना रखनी पडती थी। बादशाह की इस भारी भरकम सेना पर यद्यपि शाही खजाने से अपार धन व्यय होता था, पर उसकी व्यवस्था बहुत ही खराब थी। बादशाह के जल सेना बिल्कुल थी ही नही, और समुद्र तटो की ओर से यह सोने और हीरो से भरा हुआ साम्राज्य सर्वथा अरक्षित था।[३] तत्कालीन स्थिति को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुगल राजनीति दोषपूर्ण और खोखली थी। सेना अव्यवस्थित और असगठित थी। जलसेना थी ही नही। सम्पूर्ण साम्राज्य मे निरतर कहीं न कहीं विद्रोह होते ही रहते थे। नदियाँ और बन्दरगाह सब विदेशियो के लिए खुले थे।[४]

---

१ सह्याद्रि की चट्टानें पृ. १४४।
साथ ही देखिये An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar—H. C. Ray Chaudhari & Datta Page 576 & 577.

२. सह्याद्रि की चट्टानें पृ. १४३-४४।
साथ ही देखिए भारत का मुगल इतिहास पृ. ३६६-६७।

३. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ५१-५३।

४ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ५३।

वास्तव मे मुगल शासन, सैनिक शासन था। प्रबंध, दीवानी, फौजदारी एव सैन्य व्यवस्था सब जगह थी। राजधानी से सुदूर प्रातो के सम्बध शिथिल थे। समाचार देर से आते जाते थे। मार्ग की असुविधाएँ थी। एक केन्द्र मे बैठकर शासन नही किया जा सकता था। इस कारण सुदूर प्रान्तो मे स्थित उच्चाकाक्षी शाहजादे स्वतत्र बादशाह ही बन बैठे थे। लूटमार, अत्याचार से उन्होंने अधिक से अधिक धन सग्रह कर लिया था, और अपनी प्रबल स्वतत्र सेना बना ली थी। वे अपने प्रातो की आमदनी को स्वेच्छा से खर्च करते थे। कोई भी इस विषय म उनसे पूछने वाला न था। इससे उनकी शक्तियाँ बहुत बढ गईं थी।[१] शाहजहाँ के रुग्ण होते ही उत्तराधिकार विषयक जो युद्ध हुए थे, वह इसी त्रुटिपूर्ण राजनीति के परिणाम थे।[२]

मुगलकाल मे साम्राज्य की सारी व्यवस्था और राजनीति मे मुगल हरम का हाथ रहता। शाही हरम एक ऐसा गोरखधन्धा था कि जहाँ बेशुमार उल्टी सीधी बातें अधेरे मे होती रहती थी। शाहजहाँ के राज्यकाल मे उसकी बडी बेटी जहाँआरा की तूती बोलती थी। स्वय बादशाह और दारा उसकी मुट्ठी मे थे।[३] शाहजहाँ के चारो पुत्रो के जासूस दरबार और हरम मे घुसे बैठे थे।[४]

---

१. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. ५३।

साथ ही देखिए An Advanced History of India Part II By R C Majumdar—H C Ray Chaudhari and Datta. Page 564.

२. आलमगीर पृ २२७ के पश्चात् के पृष्ठो मे इसी गृहयुद्ध का वर्णन है।

साथ ही देखिए औरगजेब नामा प्रथम भाग खड ३ पृ. ३३ दारा शिकोह का लड़ना और भागना पृ ३६ ३८ शाहशुजा से लड़ाई पृ. ३९-४०। (दारा शिकोह का पीछा)

An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar—H C Ray Chaudhari and Datta. Page 481 to 487

इनसे तुलना करने पर आचार्य चतुरसेन जी के वर्णनों की सत्यता प्रमाणित हो जाती है।

३. आलमगीर पृ. ५४।

४. आलमगीर पृ. ५४।

शाहजहाँ की दूसरी पुत्री रोशनआरा हरम में औरगजेब की जासूस थी।[1] साम्राज्य के भीतर बाहर सर्वत्र अगणित षड्यन्त्र चल रहे थे। तो भी कामुक शाहजहाँ अपने भोगविलास में तल्लीन था। वह षड्यन्त्रो को जानकर भी चुप्पी साध जाता था। कारण वे षड्यत्र उसी की सतानो द्वारा चलाये जा रहे थे। अन्त में यह षड्यन्त्र ही मुगल साम्राज्य के पतन और विनाश का कारण सिद्ध हुए।'[2]

'सह्याद्रि की चट्टानें' के काल सन् (१६५९ से १६८०) में भारत की राजनीतिक स्थिति और भी दयनीय हो चुकी थी। औरंगजेब अपने भ्राताओ के रक्त से रगे सिंहासन पर बैठ चुका था, किन्तु उसकी कट्टर राजनीति ने सम्पूर्ण देश में एक तहलका मचा दिया था। उसके हिन्दू विरोधी कार्यों ने उसके कितने ही शत्रु उत्पन्न कर दिये थे। मराठे, राजपूत, सिख, जाट आदि सभी हिंदुओ की वीर जातियो ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। परिणामस्वरूप मुगल राज्य दुर्बल हो गया था।[3]

'सह्याद्रि की चट्टानें' में औरगजेब की दक्षिण विषयक नीति स्पष्ट उभरी हुई दीख पडती है। उपन्यासकार ने स्वय इस विषय में लिखा है 'महाराष्ट्र का उत्थान ऐसी उग्रता से प्रचण्ड अग्निशिखर के समान हुआ कि उसने मुगल साम्राज्य को भस्म ही कर दिया। वास्तव में सह्याद्रि की यह दावाग्नि शताब्दियों से गहराई में दबी हुई थी। मुगल साम्राज्य पर सिखो के, राजपूतों के बुन्देलो के, जाटो के और दूसरी सत्ताओ के जो धक्के लगे, वे तो मुगल साम्राज्य को केवल हिलाकर ही रह गए, किंतु सह्याद्रि की ज्वाला ने मुगल तख्त को भस्म ही कर दिया।[4] दक्षिण मे बीजापुर और गोलकुन्डा नाम की दो छोटी रियासतें थी। शिवाजी ने दक्षिण के इन राज्यो से मित्रता का सगठन करके मुगल साम्राज्य

---

१. आलमगीर पृ. १०७-११२।
२. महाराज छत्रसाल बुंदेला डा० भगवानदास गुप्त पृ. २३ से २९।
३. An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar, H C. Ray Chaudhari, and Datta. Page 491 to 508.
४. सह्याद्रि की चट्टानें पृ. ४५-४६।
प्रमाण के लिए देखिए An Advanced History of India Part II By R. C Majumdar,—H. C. Ray Chauchari and Datta. Page 504 to 507 & 510 to 511.

की दक्षिणी सीमाओं पर आघात करना आरम्भ किया और उधर मुगल साम्राज्य मराठों से डरकर बीजापुर और गोलकुन्डा के सामने मैत्री का हाथ फैलाने को बाध्य हुआ। मुगलों के भय से गोलकुंडा का सुल्तान भी शिवाजी से जा मिला, परन्तु बीजापुर ने सन्देह के वातावरण में शिवाजी की मित्रता स्वीकार की। किंतु यह मित्रता शीघ्र ही समाप्त हो गई थी, क्योंकि शिवाजी ने उसके किलों और प्रदेशों को हड़प कर लिया था।[१] बीजापुर की दशा नित्यप्रति निराशापूर्ण होती जा रही थी। आदिलशाह द्वितीय शराब पीते-पीते मर गया, और नाबालिग सुल्तान सिकन्दर के गद्दी पर बैठने पर वजारत की मसनद हथियाने को परस्पर झगड़े होने लगे और शासन एक बारगी डगमगा गया। इस अवसर का शिवाजी ने पूर्ण लाभ उठाया। उन्होंने आदिलशाही मंत्रियों से समझौता कर लिया अपनी पूर्ण शक्ति से वे मुगल साम्राज्य के विरोध में जा डटे।[२]

सांस्कृतिक स्थिति—

शाहजहाँ और औरंगजेब दोनों ने ही अपने राज्यकाल में हिंदू धर्म को कुचलने की पूर्ण चेष्टा की थी। किंतु तो भी हिंदुओं में एक न एक धार्मिक महापुरुष सदैव ही रहा था।

मुसलमान फकीरों की शाहजहाँ के काल में सब जगह बड़ी आवभगत होती थी। इन फकीरों में थोड़े से सच्चे फकीर होते थे, अधिकतर मुस्टंडे धूर्त ही होते थे। औरंगजेब ने अपने शासन काल में इन धूर्त फकीरों की सम्पूर्ण जमा पूंजी चालाकी से हस्तगत कर ली।[३]

औरंगजेब के काल में हिंदुओं के त्योहार भी फीके पड़ गए थे। उसने होली के त्योहार पर बाजारों में गंदे गीत गाने बंद करवा दिये थे। इस अवसर

---

१. सह्याद्रि की चट्टानें पृ. ४४-४५।
प्रमाण के लिये देखिए An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar,—H. C. Ray Chaudhari and Datta Page 512 to 517.

२. सह्याद्रि की चट्टानें पृ. ४४।
प्रमाण के लिए देखिए An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar,—H. C. Ray Chaudhari and Datta. *Page 514 to 516.*

३. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ. १८६-८७।

पर हुल्लड़बाजी करने वालों को दंड दिया जाता था। राज्य के हिंदू ज्योतिषियों को पदच्युत कर दिया गया था, किंतु मुसलमान ज्योतिषियों को अपने पदों पर आसीन रहने दिया गया था। सती प्रथा बंद कर दी गई थी। इतना ही नहीं मुहर्रम के जलूस तथा ताजिये निकालना भी बंद करवा दिया गया था।[1]

सह्याद्रि की चट्टानें में महाराष्ट्र की धार्मिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। महाराष्ट्रीय जाति आर्यों और द्रविड़ों के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी, इसलिए उसके खून में आर्यों की सामाजिकता और द्रविड़ों की उद्दंडता घर कर गई थी। महाराष्ट्रियों के धार्मिक विचारों पर भी सादगी का असर था। उत्तर भारत के हिंदू जात पात के बन्धन में फँसे थे, धर्म पर ब्राह्मणों की ठेकेदारी थी, देश की रक्षा करना केवल क्षत्रियों का काम समझा जाता था, परन्तु महाराष्ट्र में ऐसा न था। वहाँ एक राष्ट्रधर्म, राष्ट्रीय एकता के बीच पनप रहा था जिसे आगे धर्म और नीति के सुधारक जनों ने पल्लवित किया। उस युग के महाराष्ट्रीय सुधारकों में ज्ञानदेव, चाँगदेव,, निवृत्ति, मुक्ताबाई, तुकाराम, नामदेव, एकनाथ, रामदास, शेख मुहम्मद, दामाजी, भानुदास, वेदाव स्वामी, जनार्दन पन्त आदि प्रमुख थे। इनमें से कुछ ब्राह्मण थे, कुछ स्त्रियाँ थीं, कुछ मुसलमान से हिंदू बने हुए थे, एवं शेष नीच जाति के लोग थे। इन्होंने हरिनाम की महिमा गा करके भक्ति मार्ग का उपदेश दिया। उस समय लोगों ने यह नहीं देखा कि कौन गा रहा है। जात पाँत की उतनी महिमा न रही जितनी हरिनाम और श्रेष्ठ कर्म की। उन्होंने महाराष्ट्र की लोक भाषा में ग्रंथ लिखे, कविताएँ की, गीत सुनाए और उसका यह परिणाम हुआ कि महाराष्ट्र में उदार सार्वजनिक धर्म की बुनियाद पड़ी और महाराष्ट्र में एक सत्ता का उदय हुआ। महाराष्ट्र की एकता को पंढरपुर के देवमन्दिर और उससे सम्बन्धित यात्राओं से भी बड़ा लाभ पहुँचा था। यह पवित्र स्थान उस समय महाराष्ट्र का सबसे बड़ा तीर्थ स्थान माना जाता था।'[2]

---

१. आलमगीर, आचार्य चतुरसेन पृ. ३३५-३४०।
साथ ही देखिए भारत का मुगल इतिहास पृ. ३४२-४३।
An Advanced History of India Part II By R C Majumdar,—H. C Ray Chaudhari and Datta Page 495 to 497.

२ सह्याद्रि की चट्टानें आचार्य चतुरसेन पृ ४६-४८।

एक भाषा, एक धार्मिक प्रवृत्ति और एक से सामाजिक संस्कारों ने मिलकर महाराष्ट्र में उस राज्य क्रांति का उदय हुआ कि जिसने मुगल तख्त की कब्र खोद दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इन दो ही मुगल कालीन उपन्यासों में तत्कालीन युग को पूर्ण रूप से मूर्तिमान कर दिया है। जैसा कि प्रथम ही लिख चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने आलमगीर नामक उपन्यास में तत्कालीन युग का इतने विस्तार से वर्णन किया है कि यह उपन्यास उपन्यास की अपेक्षाकृत इतिहास ग्रंथ ही अधिक ज्ञात होता है।

ब्रिटिश शासन कालीन—आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यास 'सोना और खून' में मुगल राज्य काल के पश्चात् के भारत का बड़ा ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

सामाजिक परिस्थितियाँ—

इस काल में सम्पूर्ण भारत में साधारण प्रजा की अवस्था अत्यन्त दयनीय हो गई थी। किसानों का लगभग सर्वनाश हो गया था। और पुराने खानदान गारत हो चुके थे।[1] सम्पूर्ण भारत अराजकता से भरा था। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पिन्डारी छाए हुए थे। देश के निर्धन और धनी सभी उनके नाम से काँपते थे। वह न किसी राजा की आन मानते थे, न अदल। झुन्ड के झुन्ड हथियारबंद गिरोह बनाकर घूमते रहते थे। गाँवों को जलाते, धनियों को घरों से उठा ले जाते, और मनमाना धन मिलने पर उन्हें छोड़ते थे। धन न मिलने पर उन्हें जान से मार डालते थे।[2] वास्तव में मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात भारत में उसके शासन का अन्त हो गया था। और मुगल साम्राज्य जमीन पर पड़ा हुआ था, कि कोई आए और उसे उठा ले। इस समय न भारत में कोई साहसी जन साम्राज्य की स्थापना कर रहा था न किसी में राजनीतिक दम था।[3] अँग्रेज शनैः शनैः भारतीय समाज को अपने शिकंजे में कसने जा रहे थे। उन्होंने बड़े-बड़े और महँगे कानून प्रचलित किए, अदालतों की कार्यवाही पेचीदा कर दी और व्यय बढ़ाकर असह्य कर दिए गए। कम्पनी सरकार को जो टैक्स न दे सकते थे, उनके लिए अदालतों

१ सोना और खून, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध पृ. २०६।
२ सोना और खून, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध पृ. १०२।
३ सोना और खून, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध पृ. १०९।

के दरवाजे बन्द थे। उनके लिए न कानून था, न इन्साफ। इस काल की पुलिस अत्याचार का एक नमूना थी। गाँवों की पंचायतों का नाश कर डाला गया था, और वहाँ के स्कूल तोड़ डाल गए थे। उनके स्थान पर नए विद्यालयों की भी स्थापना नहीं की गई थी। तत्कालीन कम्पनी सरकार दो करोड़ बीस लाख की आबादी में से सिर्फ डेढ़ सौ विद्यार्थियों को ही शिक्षा देती थी, जब कि भारत को टैक्सों की वसूली में से कम्पनी के डायरेक्टर इन दिनों में ५० ००० पौंड से भी अधिक धन केवल दावतों में व्यय कर देते थे। सब बड़ी-बड़ी नौकरियाँ अब अँग्रेजों के लिए सुरक्षित रख ली गई थीं। और शासन में विश्वास और जिम्मेदारी के काम पर किसी भारतीय को नहीं रखा जाता था। वास्तविकता यह थी कि भारतीय जो उस समय सुसभ्य जीवन के सब धन्धों में कुशल थे, अयोग्य, असहाय और नालायक करार कर सदा के लिये अपने ही देश में नीच बना दिए गए थे। और उन्हें बलात् शराबी और दुराचारी बनाया जा रहा था।[१] भारत के राजा और नवाब भोग विलास में तल्लीन थे। अवध के नवाब नसीरुद्दीन हैदर के समय तक आते-आते अवध की दशा भी अत्यन्त दयनीय हो गई थी। नवाब अँग्रेजों के हाथ की कठपुतली मात्र रह गया था।[२]

उधर जन जीवन में भी अंग्रेज शनैः शनैः पैठते जा रहे थे। कहीं वे भारतीयों से साझा करके, तो कहीं सहायता करके, कहीं धोखा देकर उन्हें अपनी मुट्ठी में लेते जा रहे थे।[३]

इस समय भारत में हिन्दू-मुस्लिम एकता बहुत थी, और लोग तत्कालीन मुगल बादशाह के प्रति वफादार थे। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक साम्प्रदायिक झगड़े भारत से समाप्तप्राय हो चुके थे।[४] किंतु अंग्रेज फूट डालकर शासन

---

१ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ २०७।
कुछ इसी प्रकार का वर्णन 'भारत में अंग्रेजी राज' सुन्दरलाल तीसरी जिल्द पृ ११३३ से ११४९ में भी प्राप्त होता है।

२. सोना और खून प्रथम भाग पूर्वार्द्ध, पृ २१८-२२२।

३ सोना और खून दूसरा भाग पूर्वार्द्ध के प्रथम खण्ड में इन्हीं सब बातों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

४ सोना और खून दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ २२६-२२८।

करने का तरीका उस समय भी काम मे ला रहे थे। वे हिंदुओ की अपेक्षा मुसलमानो की वफादारी पर कम भरोसा करते थे।[१]

इस काल मे छोटे से लेकर बडे तक सभी रिश्वत लेते थे। बहुत से जिले के कलक्टर या तहसीलदार पुराने इजारेदारो की जमीदारी कल्पित नामो से स्वय ही खरीद लेते थे और सारी मालगुजारी स्वय हडप जाते थे। इसमे बहुत सी मालगुजारी बाकी पड जाती थी, जिसे सख्ती से वसूल करने की कडी आज्ञाएँ ऊपर से जारी होती रहती थी।[२]

इस काल मे भारत मे स्त्रियो की दशा भी उत्तम न थी। यूरोप से कम ही स्त्रियाँ भारत आती थी, जिससे विदेशी व्यभिचार मे भयकर रूप से बढे थे।[३] बडे बडे नगरो मे अपहरण, बलात्कार के अपराध चरम सीमा को पहुँच रहे थे।[४] सावलसिंह की पुत्री मालती के हरण की घटना के परिपार्श्व मे लेखक ने इन्ही परिस्थितियो का चित्रण किया है।

अपहरण और बलात्कार के साथ-साथ भ्रूण हत्यायें भी खूब हो रही थी, बालिकाओ का वध होता था, सती पर निर्मम अधर्म होता था, छुआछूत का बोल बाला था, विधवा विवाह नही हो सकता था। शूद्र और स्त्रियो को माननीय अधिकार प्राप्त न थे। लोग छिपकर नीच स्त्रियो से व्यभिचार करते थे। स्त्रियो का व्यापार होता था। दास खरीदे जाते थे। नर बलि भी होती थी। अन्य अनेको प्रकार के पापाचार बढ रहे थे।[५] इन सभी बातो का चित्रण

१. भारत मे अंग्रेजी राज प० सुन्दरलाल जिल्द तीसरी पृ ११८३ से ११८५ तक को पढने से भी इसी बात की पुष्टि होती है। यहाँ १८ जनवरी सन् १८४३ को लार्ड एलेनब द्वारा ड्यूक आफ वेलिंगटन को लिखे गए पत्र की कुछ पंक्तियाँ हमारी बात को स्पष्ट करने मे सहायक होंगी। देखिए I have no reason to suppose that it has offended the Mussal mans, but I can not close my eyes to the belief that, that race is fundamentally hostile to us, & therefore our true policy is to conciliate the Hindoos, .. Lord Ellenborough to the Duke of Wellington, January 18, 1843.

२. सोना और खून, दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ. ४१९।

३. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ. ४१९-२०।

४. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ. ४२०।

५. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ५१४।

उपन्यासकार ने कितनी ही कथाओ के माध्यम से प्रस्तुत उपन्यास मे किया है। उदाहरण के लिए सती प्रथा की दुर्दशा का चित्रण उसने शुभदा एव राजाराम मोहनराय की कथा के द्वारा किया है।[1]

देश की आर्थिक स्थिति भी उत्तम न थी। प्रजा पिस रही थी, किंतु कुछ लोग जनता को लूट कर अपना घर भर रहे थे। बडे-बडे धनी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करके रुपया बटोरते और अँगरेजो की छत्रछाया मे कलकत्ते मे आ बसते थे। छोटे नगर टूटन और बडे नगर बसने लगे। विदेशी वस्त्रो के प्रचार के कारण देश की निर्धनता बढती जा रही थी। देश के कारीगरो की जीविका-निर्वाह के साधन खत्म होते जा रहे थे। देश का धन प्राचीन देशी राज्यो एव कर्मचारियो के हाथ से निकल कर अंगरेजो के हाथ मे एकत्र होता जा रहा था।

सांस्कृतिक—

अभी तक भारत मे दो ही जातियाँ प्रधान थी—हिंदू और मुसलमान। किंतु अंग्रेजो के आने के पश्चात् यहाँ ईसाई मत का भी प्रचार होने लगा था। हिन्दू और मुसलमानो में अब साम्प्रदायिकता के भाव न रह गये थे। वे परस्पर दूध और पानी की भाँति मिलते जा रहे थे किंतु वे दोनो ही ईसाइयो से घृणा करते थे। यद्यपि हिन्दू धर्मावलम्बियो की सख्या देश मे सबसे अधिक थी किंतु उस काल तक हिंदुत्व चारो ओर से रूढिवाद और कुरीतियो से जकड गया था ईसाइयो के प्रचार के कारण साम्प्रदायिकता की भावनाएँ नित्य-प्रति बढती जा रही थी। अंग्रेजो ने आधुनिक शिक्षा को अपने प्रचार का माध्यम बनाया था। उन्होने अँग्रेजी विश्वविद्यालय खोले, इनमे नियुक्त होकर अंग्रेज और जर्मन अध्यापक और महोपाध्याय भारत मे आने लगे। भारतीय विद्यार्थी उनकी बताई विद्या को वास्तविक समझते। जो कोई भारतीय ढग की बात करता, उसे तर्क विरुद्ध, विधा विरुद्ध, इतिहास विरुद्ध, बुद्धि विरुद्ध, प्रमाण शून्य कहानी अथवा मिथ्या कथा कहकर उनका उपहास किया जाने लगा।[2] इतना ही नहीं अंग्रेज मेधावी मस्तिष्कों को धन और शक्ति के बल पर खरीदने लगे थे। वे कितने ही श्रेष्ठ विद्यार्थियो को छात्रवृत्तियाँ दे देकर विदेश भेज रहे थे। ये छात्रवृत्ति पाने वाले छात्र जब विदेश से भारत लौटते तो पूर्णरूपेण विदेशी रग

१ सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध शुभदा की कथा पृ. ४३८ से ५१८ तक
२. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ. ५१२।

मे रगे होते थे। ये नवयुवक अपने धर्म ग्रथो का निरादर और विदेशी ग्रथो की श्रेष्ठता का प्रचार करते थे। 'तीर्थों' और मन्दिरो के पीछे कोई आध्यात्मिक भावना है, यह ये नही समझ पा रहे थे। न वे हिंदू के अनुष्ठानों को युक्ति से समझ सकते थे। एक तरफ बुद्धिवाद का प्रकट प्रवाह-दूसरे उदारता और क्रांति की भावनाओ का उदय, तीसरे अनवरत ईसाइयो तथा अग्रेज और जर्मन अध्यापकों द्वारा निरतर हिंदू धर्म, सस्कृति और विद्या की निंदा, इन सबने मिलकर चारो ओर से हिंदू धर्म और समाज पर तीव्र आक्रमण कर दिया था। जिसका जवाब देने वाला कोई न था। हिंदू धर्म के नेता इस समय वे ब्राह्मण और पुजारी थे जो स्वार्थ, घमड, रूढिवाद और अन्धविश्वास के केन्द्र थे।

इतना ही नही विभिन्न धार्मिक रीति रिवाजो पर भी कुठाराघात होने लगा था। अब अँगरेजी विद्यालयो से निकला हुआ स्नातक बड़ी ही निर्भयता के साथ उसी प्रकार हिन्दुत्व की निन्दा करने लगा—जैसे ईसाई मिशनरी करते थे। ये युवक मूर्तिपूजा के विरोध मे धर्म नीति पर रहे थे। अपने पूर्वजों के धार्मिक और नैतिक मामलो पर उनकी कोई श्रद्धा न रह गई थी। घर-घर यह विवाद छिड़ा रहता था कि ईश्वर साकार है या निराकार। नास्तिकता की भी भावनाएँ फैलती जा रही थी। पाठ्यक्रम में हिंदू धर्म की तो कोई शिक्षा होती ही न थी—मिशनरियो के विद्यालयो मे ईसाई पथ की शिक्षा दी जाती थी। इसका परिणाम भारतीय नव शिक्षित तरुण पर यह हुआ कि वे धर्म शून्य हो गए। अब वे किसी भी समाज के सदस्य न थे। अब घर से विदेशी और अपने ही ग्राम मे बहिष्कृत थे। ये लोग सब सामाजिक सुविधा के लिए धर्म परिवर्तन करने मे भी न हिचकते थे। ऐसे धर्म परिवर्तन करनेवालो मे माइकेल मधुसूदन दत्त प्रमुख थे।[१] ऐसे नवयुवको ने क्रिश्चियन बनकर एक नवीन जाति स्थापित करनी प्रारम्भ कर दी थी।

उधर आधुनिक शिक्षित नवयुवको की यह दशा थी और इधर तीर्थ व्यभिचार के अड्डे बने हुए थे। महन्तो के घर पापाचार के गढ़ थे, पुजारी पन्डे लालच, स्वार्थी और दुराचारी थे। इस प्रकार चारो ओर से भारत की सास्कृतिक प्रगति एकदम ठप सी हो गई थी।

राजनीतिक परिस्थिति

भारत को—

मुगल साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् भारत की राजनीतिक स्थिति

---

१. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ. २१३-१४।

अत्यन्त विशृंखल हो गई थी। छोटे-छोटे राज्य अपनी अपनी ढफली और अपना अपना राग अलाप रहे थे। इन राज्यों को एक शृंखला में बाँधनेवाली कोई भी शक्ति उस समय न रह गई थी। मुगल बादशाह केवल नाम मात्र का बादशाह रह गया था। वास्तव में इस समय मुगल साम्राज्य जमीन पर पड़ा हुआ था। उसकी रक्षा करने वाला भी कोई दृढ़ व्यक्तित्व सामने न था।[1] पुर्तगाली डच, फ्रांसीसी एवं अंग्रेज सभी इस अरक्षित साम्राज्य को अपने अधिकार में कर लेना चाहते थे। ये सभी व्यापारी बनकर भारत में आए थे और राजा बनने की इच्छा कर रहे थे। कुछ समय तक अंग्रेजों की पुर्तगाली, डच एवं फ्रांसीसियों से प्रतिद्वन्द्विता भी चली किन्तु शीघ्र ही अंग्रेजों की शक्ति के सामने इन सभी के पैर उखड़ गए थे। शनैः शनैः अंग्रेज भारत को अपने अधिकार में लेते गए।

सन् १७५७ के प्लासी युद्ध एवं सन् १७६४ के बक्सर युद्ध के पश्चात् अंग्रेजी शक्ति बढ़ गई थी। उनका बंगाल एवं अवध पर पूर्ण अधिकार हो गया था। मराठा संघ टूट चुका था। उनका केन्द्र पूना अंग्रेजों के अधिकार में आ गया था। पेशवा बिठूर में कैदी था। सिंधिया और होल्कर के दम-खम हो चुके थे। पूना का छत्र भंग होते ही पिन्डारी अपने आप ही तितर-बितर हो गये थे। इस प्रकार भारत की प्रायः सब राजनैतिक शक्तियाँ या तो अंग्रेजों की प्रभुता को स्वीकार कर चुकी थीं या उनकी मित्र हो चुकी थीं। रामेश्वरम् से लेकर दिल्ली तक के सभी मुख्य केन्द्रों में अंग्रेजी सेना की छावनियाँ छाई हुई थीं।[2]

अंग्रेजों ने भारतीय राजाओं और नवाबों को पराजित करने के पश्चात् भी कूटनीति से काम लिया। उन्होंने एक ओर इन राजा एवं नवाबों को अन्दर अन्दर समाप्त कर दिया और दूसरी ओर उनका ऊपरी ढाँचा बनाए रखा और इस प्रकार युग के प्रभाव से भारत को आगे बढ़ने से रोक दिया।[3]

सन् १८४८ ई० लार्ड डलहौजी मैं भारत में आये। उनकी कुटिल नीति से भारतीय राज्यों में अत्यधिक असन्तोष व्याप्त हो गया था। सम्पूर्ण परिस्थितियाँ अंग्रेजों के विपक्ष में होती जा रही थीं। ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकमात्र उद्देश्य धन बटोरना मात्र रह गया था, जिससे चारों ओर दरिद्रता का साम्राज्य

---

१. सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ. १०९।
२. सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ. २०७।
३. सोना और खून, दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ. ३०९-१०।

छाया हुआ था। इतना ही नहीं सेना भी असन्तुष्ट थी। सामन्त सरदारों के वंशज स्वभावतः अंग्रेजों की नवीन शक्ति के विरुद्ध थे। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में विद्रोह की भावना दिनों दिन प्रबल होती जा रही थी।[1] इस विद्रोह का स्वरूप शीघ्र ही भारतीय स्वाधीनता का बन गया था—पर यह स्वाधीनता सामन्ती ढर्रे ही की थी, जिसके मुखिया एकतन्त्री राजा और बादशाह थे, जन साधारण की आजादी की इसमें कोई चर्चा ही न थी। किंतु यह अवश्य था कि जनता अंग्रेजी राज्य से दुखी थी—इससे वह बड़े-बड़े जमींदारों के प्रभाव में आकर उनका साथ दे रही थी। इस विद्रोह में राजनीति में किंचित मात्र धार्मिक जोश भी मिला दिया गया था। जिससे यह विद्रोह और भी अधिक शक्तिशाली हो गया था।[2]

सन् १८५७ की क्रान्ति क्यों हुई, इस पर भी आचार्य चतुरसेन जी ने विस्तार से प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिखों के युद्ध, डलहौजी की भू पिपासा, झांसी, दिल्ली, कानपुर, मेरठ, लखनऊ आदि स्थानों पर हुई क्रान्तियों पर भी विभिन्न कथाओं के माध्यम से प्रकाश डाला है। 'सोना और खून' के द्वितीय भाग के दोनों खंडों में इसी क्रान्ति को ही कथा [redacted] व्याज से आचार्य चतुरसेन जी ने स्पष्ट किया है।

भारत के बाहर की—

'सोना और खून' में भारत के बाहर की भी राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का सफल चित्रण हुआ है। इसमें सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक के संसार के विभिन्न देशों की उन राजनीतिक एवं सामाजिक घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है, जो केवल सोना और खून के लिए हुई थीं। इन घटनाओं के माध्यम से उपन्यासकार ने तत्कालीन विश्व की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला है।[3] इंगलैंड[4],

---

१. सोना और खून, दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ ३१०।
प्रमाण के लिए देखिए भारत में अंग्रेजी राज पं० सुन्दरलाल, तीसरी जिल्द, पृ. १३२३ से १३२१ तक।

२. सोना और खून, दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ. ३१०-११।

३. सोना और खून के दोनों भागों में इन पर विस्तृत प्रकाश प्राप्त होता है।

४. सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ १०५, १०६, १११, ११८।
प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ १०१-१२, १३४-१५०, २२८-४००।
द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध पृ २७१-७७, २९१, ३०१-३ तक।

चीन[1], फास[2], आस्ट्रिया[3], जर्मनी[4], जापान[5], रूस[6], पोलैंड[7], स्पेन[8] आदि देशो की विभिन्न परिस्थितियो का चित्रण इसमे बडा यथार्थ है।

सामाजिक उपन्यासो में—

वास्तव में वातावरण का महत्व केवल ऐतिहासिक उपन्यासो मे ही अधिक होता है। वैसे आचार्य चतुरसेन जी के सामाजिक उपन्यासो मे भी बीसवी शताब्दी की सामाजिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो का सफल अकन प्राप्त होता है। यहाँ हम सक्षिप्त मे इस पर प्रकाश डालेंगे।

सामाजिक एव सास्कृतिक परिस्थितिया—

बीसवीं शताब्दी के पूर्व ही से मुगल साम्राज्य ध्वस्त एव अंग्रेजी राज्य दृढ हो चुका था। शनैं शनैं यहाँ के जन जीवन पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव प्रबल होता जा रहा था। महारानी विक्टोरिया की घोषणा से देश के नवयुवको मे विचार-स्वातंत्र्य की भावना जागृत हो गई थी। देश मे ईसाइयो ने स्थान-स्थान पर प्रचार के अड्डे स्थापित कर लिये थे। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारत मे ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज एव आर्य-समाज की स्थापना हो चुकी थी। इसके साथ ही श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानद तथा स्वामी रामतीर्थ अपने उपदेशो द्वारा पथ-भ्रान्त जनता को पथ-प्रदर्शित कर रहे थे। स्वामी दयानन्द अन्ध विश्वास और पाखण्ड त्यागने का उपदेश दे रहे थे। इनके अनुयायी भी वर्ण-व्यवस्था का विनाश करने एव विभिन्न प्रकार की सामाजिक कुरीतियो को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे। आचार्य चतुरसेन जी

---

१. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ४०१ एव द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध २८६-८८।

२ सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ११२ एवं द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध पृ २४६, २८० २८३।

३ सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ११२।

४. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ. ११२।

५. सोना और खून, द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध पृ २८९।

६ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ ११३ तथा द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध पृ. २९०।

७. सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ. ११३।

८. सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ. ११३, ११८।

के उपन्यासो मे आर्य-समाजी कार्य कर्ताओ की गति विधियो पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही साथ उनके उपन्यासो मे वर्ण व्यवस्था[१], दासी प्रथा, गोली प्रथा[२], धार्मिक अंध विश्वास[३], साम्प्रदायिक संघर्ष[४], दहेज प्रथा[५], वृद्ध विवाह[६], बाल विवाह[७], हिंदू समाज मे विधवाओं की करुण स्थिति[८], वेश्याओ की स्थिति[९] आदि पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

राजनीतिक परिस्थितियां—

सन् १८५७ ई० की सशस्त्र क्रान्ति के पश्चात् से ही भारतीय जनता मे स्वतन्त्रता की भावना का विकास होने लगा था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण मे यह भावना और विकसित ही हुई थी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व और पश्चात् की राजनीतिक परिस्थितियों का सफल अंकन आचार्य चतुरसेन जी के 'आत्मदाह' नामक उपन्यास मे प्राप्त होता है।[१०] प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् थरथराती हुई, ब्रिटिश सरकार सुख की सांस ले रही थी। किंतु देश मे सार्वजनिक असतोष फैल रहा था। आये दिन क्रान्तिकारी आन्दोलनो का भडाफोड होता था। विशेषकर पजाब मे असन्तोष की भावना बहुत प्रबल थी।[११] इसी समय 'जलियान वाला बाग' हत्याकाड भी हो गया था[१२] जिससे

---

१ आत्मदाह पृ १३७-१३८।

२ 'गोली' नामक उपन्यास ही इस प्रथा पर लिखा गया है।

३. लगभग सभी उपन्यासों में इनकी चर्चा प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण बहते आँसू २२३, २२५, २२७, धर्म पुत्र पृ. ६८, ८१।

४ आत्मदाह पृ. १३७।

५. 'अपराजिता' नामक उपन्यास मे विशेष प्रकाश। तथा अदल बदल पृ ५४ ५६

६. गोली पृ. १४२।

७. बहते आँसू पृ. ६०।

८ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) नामक उपन्यास ही आचार्य चतुरसेन जी ने विधवा समस्या पर लिखा है। इसके अतिरिक्त देखिए आत्मदाह १२५-१२७ अदल बदल पृ ५१-५३, गोली पृ. १३८ बगुला के पंख पृ. २४०-२४१।

९ आत्मदाह १५१-५३, १५५-५६।

१० आत्मदाह, पृ- २८१-८२, २८६-८८, ३०९-११।

११ आत्मदाह, पृ २८१-८२।

१२. आत्मदाह, पृ २८७-८८।

देश की राजनीतिक दशा और भी खराब हो गई थी।[१] इसके पश्चात् ही गाँधी जी के नेतृत्व मे अहिंसात्मक आन्दोलन का प्रारम्भ हो गया था।

द्वितीय महायुद्ध के आते-आते असतोष की यह भावना सम्पूर्ण भारत मे व्याप्त हो चुकी थी। गाधी जी का अहिंसात्मक आन्दोलन तेजी पर था। उधर यूरोप युद्ध की ज्वाला मे जल भुन कर खाक हो रहा था। हिटलर जल थल और वायु मे सर्वग्रासी महाकाल बन नर रक्त मे स्नान कर रहा था। महाराज्यो और महाराष्ट्रो के गर्वीले राजमुकुट भूलुठित हो रहे थे। ब्रिटिश साम्राज्य महासकट से गुजर रहा था। और इधर भारत का वातावरण अशान्त था। प्रत्येक वस्तु महगी होती जा रही थी। आर्डिनेन्सो और जोर जुल्मो की भरमार हो रही थी। काग्रेस का नेतृत्व बूढे और ठन्डे दिल कर रहे थे वे कह रहे थे कि ठहरो और प्रतीक्षा करो।[२] पर देश के नवयुवक प्रतीक्षा करने को तैयार न थे। इस समय दो व्यक्तियो का प्रभाव देश पर था। एक जवाहर और दूसरे सुभाष। जवाहर जेल मे थे और सुभाष देश से बाहर। परतु दोनो ही क कार्य कल्पतरु बना मे तैरते हुए आते और लाखो करोडो तरुणो को एक मूक सदेश दे जाते थे।[३] सुभाष की जर्मनी, सिंगापुर एव वर्मा आदि से निरतर होने वाली स्पीचों ने देश को हिला डाला था। देश मे नेता सक्रिय थे और उधर जर्मन नाजी सेनाएँ एक के पश्चात् दूसरे देश को आक्रान्त करती अबाध गति से बढती जा रही थी। फ्रास और ब्रिटेन की दशा दयनीय थी। पूर्व मे जापान ने भी युद्ध का दाख फूक दिया था। सुभाष के नेतृत्व में 'जयहिंद' सेना भी अग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध आ डटी थी।[४] देश मे भी विद्रोह की भावनाएँ व्याप्त हो चुकी थी। ७ अगस्त सन् १९४२ से आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उसी दिन गाधी जी सहित सब चोटी के नेता जेलो मे डाल दिये गए। किंतु तो भी यह आन्दोलन न रुका। लगभग ४ करोड व्यक्तियो ने खुले रूप से इस विद्रोह मे भाग लिया। यह खुला विद्रोह गोलियो की बौछारो के साए मे खडा हुआ। एक हजार से ऊपर जगहो पर गोली चली। विद्यार्थियों ने लाखों की सख्या मे इस आन्दोलन म योग दिया। देशी राज्यों तक इस विद्रोह

---

१. आत्मदाह, ३०९-११।
२. धर्मपुत्र, पृ ११२-१६।
३. धर्मपुत्र, पृ ११४-१५।
४. धर्मपुत्र, पृ ११५-१७।

की आग फैली।[1] किंतु अन्तत महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् यह आन्दोलन भी दबा दिया गया। इस आन्दोलन की झलक 'धर्मपुत्र' मे डा० अमृतराय के परिवार को सामने प्रस्तुत करके उपन्यासकार ने की है।

सन् १९४७ आते-आते अग्रेजो ने भारत छोडना स्वीकार कर लिया। वे १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत छोडकर चले तो गए किंतु उसके दो खड करते गए। पाकिस्तान पृथक कर दिया गया। उसने स्वच्छन्द आचरण प्रारम्भ कर दिया। जिन्ना ने जिस डाइरेक्ट ऐक्शन का सकेत किया था वह तुरन्त अमल मे लाया गया और देखते ही देखते पश्चिमी पजाब और पूर्वी बगाल मे मार-काट लूट-भाग बलात्कार-हत्या का बाजार गर्म हो गया। यह आग की भयकर लपटें कलकत्ता, नौआखाली, बिहार, इलाहाबाद, बम्बई और दिल्ली आदि मे होती हुई सम्पूर्ण देश मे व्याप्त हो गई। 'धर्मपुत्र' मे इस भयकर ज्वाला की एक झलक देखने को प्राप्त होती है।[2]

'उदयास्त' 'बगुला के पख' एव 'खग्रास' आदि उपन्यासो मे आचार्य जी ने स्वतन्त्रता के पश्चात् के भारत का चित्रण किया है। इनमे स्वतत्रता के पश्चात् की परिवर्तित होती हुई भावनाओ, स्वार्थी नेताओ की लोलुपताओ एव अन्य अनेक समस्याओ का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है।

प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन—

प्रकृति एक विशद चिरतन काव्य है। मनुष्यो के परस्पर सम्पर्क के फल-स्वरूप जो परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें सामाजिक वातावरण की सज्ञा दी जा सकती है। इसका वर्णन हम पिछले पृष्ठो मे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तीनो ही प्रकार के उपन्यासो का पृथक-पृथक कर चुके हैं। यहाँ हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे प्राप्त प्रकृति चित्रण पर सक्षिप्त मे प्रकाश डालेंगे।

मनुष्येतर जगत् है प्रकृति-प्रकृति या प्राकृतिक का अर्थ है स्वाभाविक। अत प्रकृति के अन्तर्गत वही वस्तुएँ आती हैं जिन्हे सजाने, सवारने मे मानव का हाथ नहीं लगा है वरन् वे स्वय ही अपनी नैसर्गिक छटा से हमे आकर्षित करती हैं। ईश्वर या 'उस महान्' की कारीगरी को हम प्रकृति और मनुष्य की

---

१. धर्मपुत्र, आचार्य चतुरसेन पृ. ११६-११८।
२. धर्मपुत्र, आचार्य चतुरसेन पृ. १६९-१८७।

कारीगरी को कला कहते हैं। प्रकृति मे पशु, पक्षी, सरिता, निर्झर, गिरि, गुहा, पृथ्वी, वृक्ष, लता, गुल्म आदि की गणना की जा सकती है। इन सबका अनुभव हम अवलोकन, रस्रा स्वादन, श्रवण, सुवास-ग्रहण और स्पर्श द्वारा कर सकते हैं।[१] मनुष्य की कारीगरी का वर्णन हम पिछले पृष्ठो मे 'वस्तु वर्णन' के अतर्गत कर चुके हैं यहाँ हम केवल 'उस महान्' की कारीगरी पर प्रकाश डालेंगे।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासो मे (वय रक्षाम) को छोडकर प्रकृति वर्णन कम ही किया है। अधिकाश अपने उपन्यासो में प्रकृति का प्रयोग उन्होंने पृष्ठ भूमि के रूप मे ही किया है। यत्र-तत्र उन्होंने प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन रूप मे भी किया है। इस प्रकार उनके समस्त उपन्यासो मे प्रकृति के सक्षिप्त और विस्तृत उल्लेख लगभग १०७ स्थलो पर प्राप्त हैं। 'वय रक्षाम' मे तो प्रकृति अपने उन्मुक्त रूप मे दीख पड़ती है। ऐसा लगता है कि उपन्यासकार ने अपना समस्त कौशल इन चित्रो को गढ़ने मे लगा दिया है। इसी से ये प्रकृति चित्र सक्षिप्त होते हुए भी विराट् का दर्शन कराने वाले हैं। सजीवता, स्वाभाविकता, नवीनता एव ताजगी के कारण प्रत्येक चित्र अपने मे पूर्ण है। 'सुम्बाद्वीप' के प्रभात का एक चित्र देखिए सुदर प्रभात था। प्रभात के इन क्षणो मे समुद्र तट की प्रकृति-शोभा देखते ही बनती थी। सर्वत्र एक माधुर्य पूर्ण आलोक छाया था। सुदूर क्षितिज पर फैले हुए फेनिल सागर की गम्भीर तरगो पर प्रभातकालीन सूर्य की रक्तिम किरणें थिरक रही थी। लाल-पीली आभा से उद्भासित आकाश अनन्त की ओर एक धूमिल रेखा बनाता हुआ समुद्र से जा मिला था। इसके नीचे सफेद पक्षी जहाँ-तहाँ जल क्रीडा रत थे। पछवा हवा कुछ वेग से बह रही थी, और उसके झोको से तटवर्ती वृक्ष झूमते हुए एक चीत्कार-सी कर रहे थे। प्रबल वात के थपेडो से आन्दोलित महासागर की रौद्र लहरें गम्भीर गर्जन-तर्जन करती हुई अनवरत गति से तटवर्ती काली और लाल-लाल चट्टानो से टकरा रही थी। सारा उपकूल श्वेत झागो से भरा था।[२]

केवल वर्णन पढने मात्र से ही उस सुन्दर प्रभात का चित्र पाठक के नेत्रो के समक्ष साकार हो उठता है। प्रस्तुत प्रकृति-वर्णन उद्दीपन और पीठिका दोनो ही रूपो मे प्रयुक्त हुआ है। रावण अपनी अभिसारिका दैत्यबाला को

१ हिन्दी काव्य मे प्रकृति चित्रण, डा० किरणकुमारी गुप्ता पृ. १० से १६।
२ वय रक्षाम: आचार्य चतुरसेन, पृ ८७।

हत्या अपने नेत्रों के समक्ष ही देख चुका था, उसके मस्तिष्क में प्रतिकार लेने का संकल्प उसी प्रकार गूंज रहा था जिस प्रकार "प्रबल वात के थपेडों से आंदोलित महासागर की ज्वार की रौद्र लहरें गम्भीर गर्जन तर्जन कर रही थीं।" यद्यपि प्रभाव सुन्दर है, रावण के संतप्त विचारों से अलिप्त है। अपनी आभा में, सौन्दर्य में वह बेसुध है भूला हुआ है किन्तु सागर! वह अलिप्त कहां रह पाया? क्यों रावण के विचारों के समान उसमें भी जो तूफान छिपा है! वह उसे निर्विकार कैसे रहने देता? इस प्रकार प्रस्तुत प्रकृति चित्रण पीठिका और उद्दीपन दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुआ है।

इनके सोमनाथ उपन्यास में प्राप्त सन्ध्या का भी एक चित्र देखिए 'सूर्य अस्त हो चुका था। सन्ध्या का अन्धकार चारों ओर फैल गया था। केवल पश्चिम दिशा में एकाध बादल क्षण-क्षण में क्षीण होती अपनी लाल आभा झलका रहा था, जिसका स्वर्ण प्रतिबिम्ब सोमनाथ महालय के स्वर्ण शिखरों पर अपनी क्षीणकाय झलक दिखा रहा था।'[१] प्रस्तुत चित्र केवल पीठिका रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। चित्र संक्षिप्त होने के साथ-साथ सजीव एवं उपयुक्त भी है, इसी कारण से वह कथा में पूर्णरूप से खप गया है।

अब सूर्यास्त के पश्चात की प्रकृति के उन्मुक्त सौन्दर्य का एक चित्र देखना अनुपयुक्त न होगा" सूरज डूब चुका था। झिलमिलाते तारे यों ही छुटपुट आसमान पर नजर आते थे। बादल के लक्के, कोई सफेद, कोई आधी, कोई नीलगू, जरा जरा से मगर एक दूसरे से मिले हुए फैल रहे थे। जिनमें ग्यारस के चांद की अठखेलियां आम, पीपल, बरगद के पत्ते जब हवा जोर से चलती—खड़खड़ा उठते थे। हवा में जरा-जरा खुनकी थी।'[२] ग्यारस के चांद का बादलों के साथ अठखेलियां करना, बादलों का आपस में आंख मिचौनी करना, हवा में गमस होते हुए भी प्रकृति का उन्मुक्त भाव से गुनगुनाना और मुस्काना क्या कम सजीव है।

दिन रात के विभिन्न मोडों के वर्णनों के साथ-साथ आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों में विभिन्न ऋतुओं का भी सजीव, स्वाभाविक, सांकेतिक किन्तु कहीं-कहीं विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। यह वर्णन भी उद्दीपन एवं पीठिका दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुए [redacted]। 'वयं रक्षाम' में प्राप्त हेमन्त का एक चित्र देखिए जो 'वाल्मीकि रामायण' में प्राप्त हेमन्त के

१ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ १।
२. सोना और खून, भाग १ उत्तरार्ध पृ २२-२३।

चित्र का स्मरण दिला देता है। सीता हरण के पूर्व राम, सीता से कहते हैं 'सीते, यह कैसा सुहावना समय है। शीत के कारण शरीर में स्फूर्ति का अनुभव हो रहा है, अब शरीर अधिक जल का प्रयोग नहीं सह सकता, सहसा भूमि शस्य श्यामला हो रही है। शरीर को अग्नि और धूप सुहाने लगी है। पूर्णिमा की रात्रि भी अब धूमिल होती है, वायु भी अति शीतल हो गई है। "[१] प्रस्तुत वर्णन में विस्तार और वाल्मीकि का अनुकरण अधिक होने के कारण सजीवता एवं स्वाभाविकता नहीं रह गई है। किन्तु जहाँ पर आचार्य चतुरसेन जी ने स्वतन्त्र, सश्लिष्ट प्रकृति चित्र खींचे हैं वे निश्चित ही सजीव एवं प्रभावोत्पादक हैं। 'सोमनाथ' उपन्यास में प्राप्त बसंत की मनोरम ऋतु का सुहावना वर्णन देखिए 'बसन्त की मनोरम ऋतु गुजरात पर छा गई। रम्य गुर्जर भूमि विविध लता पुष्पों से भर गई। पुष्पों की भीनी महक से वातावरण सुरभित हो गया। आम के वृक्ष बौर से लद गये। उन पर कोयल कूकने लगी। गुजरात की भूमि एक मनोहर वाटिका की शोभा धारण कर उठी। सघन-वनस्थली में गिरिश्रृंग से निकलती हुई स्वच्छ जल की पहाड़ी नदियाँ और निर्झर टेढ़ी सीधी भूमि पर सर्पाकार बहते अति शोभायमान प्रतीत होने लगे। विविध रंगों के पक्षियों के चहचहाने से ध्वनित-सी गुर्जर भूमि स्वर्ग की सुषमा दिखाने लगी। गत विपत्ति को भूल लोग विविध रंग के वस्त्राभूषण धारणकर फाग का आनंद लेने लगे।"[२] पुष्पों की भीनी महक, सुरभित वातावरण, गिरिश्रृंग की गोद में किलोलें करती हुई सरिता, उन्मुक्त तरलता, स्वरमय एकांतता साथ ही सुख दुःख से अलिप्त अपने में मस्त पक्षियों का एकांत कलरव सबने मिलकर वास्तव में सम्पूर्ण चित्र को सजीव, स्वाभाविक एवं गतिमय बना दिया है। गुजरात की भाँति मनोरम बसन्त पाठक के मानस में भी छा जाता है। प्रस्तुत वर्णन केवल पीठिका रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। अब एक उद्दीपन रूप में प्रयुक्त बसन्त के वर्णन को देखिए। 'आत्मदाह' का सुधीन्द्र अपनी पत्नी सुधा की मृत्यु से सतप्त है। उस समय उसके आकुल-व्याकुल मन को बसन्त कैसा लगता है इसका चित्र भी देखने योग्य है बसन्त आ गया था। होली को दस पाँच दिन रह गये थे। सुधीन्द्र को प्रकृति-निरीक्षण का पुराना शौक था। प्रातःकाल का समय था, सुहावनी हवा चल रही थी। वे अपने छोटे से कमरे में कालीन पर मसनद के सहारे पड़े थे। सामने के वृक्ष को देख रहे थे। वृक्ष के

---

१. वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन पृ. ४५१।
२. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ. ५०४।

सब पत्ते झड रहे थे। हवा का झोका आता था और ढेर के ढेर पत्ते झडकर उड जाते थे। वृक्ष पर नई कोपलें खिली थी, वे लाल चमक रही थी उन्होंने दु:खपूर्ण मुस्कराहट मुझपर डालकर कहा 'यही वसत है।' सूखे पत्तो को झडना और नव पल्लवो को विकसित करना उसका काम है। शायद यही प्राकृत जीवन का रूप है। वाह रे वसत।"[१] अन्तिम शब्द 'वाहरे वसत' में कितनी कसक है, कितनी हृदय की तडपन एव घुमडन है। पत्नी विछोह के कारण सुधीन्द्र को प्रकृति का रम्य रूप भी उग्र, पीडक और उपहास करता दीख पडता है। पत्तो का झडना, नवीन कोपलो का निकलना-वसत का कार्य कहकर उपन्यासकार ने ससार-चक्र के क्रिया-कलाप की ओर भी अपरोक्ष में सकेत कर दिया है।

अब बगाल की वर्षा ऋतु के शृ गार का भी एक चित्र देखिए आषाढ का पहला मेह बरस चुका। हवा मे गीली मिट्टी की सोधी महक आम की अमराइयों में होकर तबियत खुश कर रही थी। बगाल के मौसम का यह वातावरण बडा ही लुभावना होता है। ठडी हवा चल रही थी, और आम के सघन पत्तो मे गिरते हुए सूरज की सुनहरी धूप छनकर समूचे वातावरण को रगीन बना रही थी।"[२]

मिट्टी की सोधी महक, आम की अमराइयो की भीनी सुगध छन छनकर आती हुई तिरछी सुनहरी धूप में यो ही मादकता भरी पडी है। उसपर वर्षा ऋतु वह भी बगाल की सबने मिलकर वातावरण को सचमुच रगीन एव उन्मादक बना दिया है। चित्र सक्षिप्त होते हुए भी सजीव, स्वाभाविक, गतिमय एव पूर्ण है। इसी प्रकार व विभिन्न ऋतुओ के कितने ही सजीव चित्र आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में भरे पडे हैं।

ये हुए उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत प्रात, अपराह्न, सध्या, रात्रि एव विभिन्न ऋतुओं के शब्द चित्र। इसके अतिरिक्त उसने सरिता, निर्झर, गिरि, गुफा, वृक्ष, लता, सरोवर आदि के भी कितने ही सजीव वर्णन अपने उपन्यासो में प्रस्तुत किए हैं। यहाँ उपत्यका के मध्य स्थित सरोवर की शोभा का एक चित्र प्रस्तुत है।

---

१ आत्मदाह आचार्य चतुरसेन पृ १८३।

२. सोना और खून आचार्य चतुरसेन प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ. २१०।

'उपत्यका का यह प्रांत विजन और सघन था। वहाँ निर्मल जल का सरोवर था, सरोवर में शतदल कमल खिले थे। ताल तमाल, हिंताल की सघन छाया में मध्याह्न की धूप छन-छनकर-शीतल होकर सोना-सा बखेर रही थी। मंद पवन चल रहा था। सरोवर में चक्रवाक, सारस, हंस आदि नाना विहग थे। तरुणी एक विशाल शाल्मली वृक्ष के नीचे सूखे पत्तों पर लेट गई।'[१]

वर्णन पढ़ने मात्र से उपत्यका मध्य स्थित सरोवर का चित्र पाठक के मानस में साकार हो उठता है। सरोवर में कमलों का खिला होना, जल पर मध्याह्न के सूर्य की सुनहली किरणों का इठला इठलाकर नृत्य करना, विहगों का कलरव सबने मिलकर निर्जन विजन में स्थित सरोवर के सौंदर्य को द्विगुणित कर दिया है। प्रस्तुत प्रकृति-चित्र उद्दीपन और पीठिका दोनों ही रूप में प्रयुक्त हुआ है।

यह हुआ 'उस महान' की कारीगरी का वर्णन। अब प्रकृति के उन्मुक्त वर्णन में लिपटा हुआ मनुष्य की कारीगरी का भी एक चित्र देखिए।

'पानी खूब बरसा है। अब वर्षा थम गई है। आसपास की चीजें धुलकर साफ हो गई हैं। मकानों की दीवारें, बड़ी-बड़ी भव्य अट्टालिकाएँ, कोलतार की काली नागिन सी बल खाती सड़कें, मोटरें सब धुलकर निखर गई हैं। हवा में एक खुनकी आ गई है। मौसम खुशगवार हो गया है। रात बहुत बीत गई है। लोगों का सड़कों पर आवागमन कम हो गया है। पर हजारों बिजली की बत्तियों के प्रतिबिम्ब से सड़कें चमचमा रही हैं। ऐसा लग रहा है जैसे आज नई दिल्ली की सुहागरात है।'[२] मनुष्य निर्मित सम्पूर्ण नगर प्रकृति के अंचल में नहा धोकर विश्राम करता सा दीख पड़ता है। 'सुहागरात' शब्द ने वातावरण को और भी सजीव और उन्मादक बना दिया है। वास्तव में इसमें तो यही भाव होता है कि कला और प्रकृति के पाणिग्रहण के पश्चात् दोनों की सुहागरात का आज दिन हो। दिल्ली की सुहागरात कला की सुहागरात है। उत्प्रेक्षा के द्वारा उपन्यासकार ने वर्णन को और भी मर्मस्पर्शी एवं गतिमय बना दिया है।

प्रकृति के सौम्य, सरस एवं रम्य चित्र एक ओर यदि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं तो दूसरी ओर विकराल, अत्याचारी एवं भयंकर रूप भी। प्रथम प्रकार के चित्र यदि हृदय में उत्साह उत्पन्न करते हैं तो

---

१. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ. ६।

२. उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ. ११९।

दूसरे प्रकार के वर्णन हृदय मे भय और आतक का संचार करते हैं। पिछले पृष्ठो मे हमने प्रकृति के रम्य रूप का वर्णन किया है। अब प्रकृति के भयकर पक्ष का भी एक चित्र देखिए।

'धीरे-धीरे सूर्य अस्त होने लगा और सागर मे भी तूफान के चिह्न स्पष्ट होने लगे। तरणियो पर सभी पाल चढा दिए गए। बन्दी, स्त्रिया और धन की मजूषाएँ बीच मे रख ली गई। सभी तरणियो को एक मे बाँध दिया गया। देखते ही देखते वायु का वेग बढ गया। बिजली चमकने लगी। प्रचन्ड वायु हल्की वस्तुओ को उठाती और भारी वस्तुओ को गिराती प्रलय-गर्जना करने लगी। सागर मे चट्टानो की भाँति बडी-बडी लहरें उठकर उन क्षुद्र तरणियो को आकाश मे उछालने और गिराने लगी। बन्दी अबन्दी सभी जन चीत्कार करने लगे। सबके कोलाहल से वह समुद्र का गर्जन-तर्जन और भी भयावह हो उठा। चर्म रज्जुओ के सुदृढ बन्धन टूट-टूटकर तरणियाँ दूर-दूर बहने और उलट-पुलट होने लगीं।'[१] सिन्धु का गरजना, तरणियो का डगमगाना, रज्जुओ के सुदृढ बन्धन का टूट जाना एक ओर हृदय मे जहाँ भय का सचार करते हैं, वही दूसरी ओर ये रेखाएँ पाठक की कल्पना के समक्ष भयकर तूफान का एक चित्र साकार कर देती हैं।

वैसे तो आचार्य चतुरसेन जी के अधिकाश उपन्यासों मे प्रकृति-वर्णन सक्षिप्त ही हैं किन्तु 'वय रक्षाम' मे वे प्रकृति के मोह में अधिक पड गए हैं जिससे कई स्थलो पर प्रकृति का वर्णन इतना विस्तृत हो गया है कि कथा को भी दम साध कर रुक जाना पडता है। दण्डकारण्य की सुषमा वर्णन[२], किष्किन्धापुरी[३], स्वर्ण लका[४], बाली द्वीप[५], सुषा नगरी[६] आदि के भौगोलिक वर्णन विस्तृत होने के साथ-साथ नीरस भी है। कथा से असम्बद्ध ऐसे वर्णनो का उपन्यास में प्रयोग वर्जित होना चाहिए। जैसा कि हम प्रथम ही कह चुके हैं कि इस प्रकार के वर्णन केवल आचार्य चतुरसेन जी के 'वय रक्षाम' उपन्यास में

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ. ७३-७४।
२. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ. १६८ से १६९ तक।
३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ. २०८-२०९ तक।
४. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ. २४-२६ एवं १०१-१०२।
५. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ. १३-१५।
६. वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन पृ. ३३ से ३६।

ही प्राप्त है। अन्य उपन्यासो में अधिकांशत प्रकृति वर्णन संक्षिप्त और सांकेतिक ही हैं।

इतनी सतर्कता से कार्य लेने पर भी आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासो में देशकाल सम्बन्धी कुछ भूलें प्राप्त होती हैं। इन भूलो को हम निम्न चार प्रकारो मे रख सकते हैं—

१ भाषा सम्बन्धी भूलें।
२ वस्तु सम्बन्धी भूलें।
३ काल क्रम सम्बन्धी भूलें।
४ विचार सम्बन्धी भूलें।

यहाँ हम चारों प्रकार की भूलो पर संक्षिप्त मे विचार प्रस्तुत करेंगे—

१ भाषा सम्बन्धी भूलें—

जैसा कि हम आचार्य चतुरसेन जी की भाषा शैली का वर्णन करते समय दिखला चुके हैं कि आचार्य जी भाषा के सम्बन्ध मे अत्यन्त सतर्क रहे हैं। उन्होंने सजीव वातावरण का निर्माण बहुत कुछ उपयुक्त भाषा के माध्यम से ही किया है। फिर भी कहीं-कहीं भाषा सम्बन्धी कुछ दोष रह ही गए हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने अपने 'सोमनाथ' उपन्यास मे 'परेड' शब्द का प्रयोग किया है। इसके स्थान पर फारसी का 'कवायद' शब्द अधिक उपयुक्त हो सकता था। इसी प्रकार 'नगरवधू' मे 'धिक्कृत कानून' मे कानून का प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त ज्ञात होता है। उस काल मे 'कानून' शब्द प्रचलित न रहा होगा। यदि इसके स्थान पर 'धिक्कृत नियम' अथवा 'धिक्कृत अधिनियम' का प्रयोग उपन्यासकार न किया होता तो अधिक उपयुक्त होता। इसके सम्बन्ध मे भाषा शैली वाले अध्याय म विशेष विचार किया जा चुका है।

२. वस्तु सम्बन्धी भूलें—

आचार्य चतुरसेन जी वस्तु वर्णन के समय बड़े सतर्क रहे हैं। यद्यपि उनके उपन्यास विभिन्न कालो से सम्बंधित हैं, तो भी उनके विभिन्न उपन्यासो मे उसी काल के अनुरूप वस्तु वर्णन प्राप्त होता है। किंतु जहा पर उन्होंने 'इतिहास रस' के प्रतिपादन की चेष्टा की है, वहाँ वस्तु संबंधी भूलें अनायास ही हो गई हैं। उदाहरण के लिए 'वैशाली की नगरवधू' म प्राप्त उन वैज्ञानिक वर्णनो को ले सकते हैं जिन पर कथानक विश्लेषण करते समय हम चर्चा कर चुके हैं। जैसा कि हम पीछे दिखला चुके हैं कि कुछ आलोचको को 'वैशाली के

महायुद्ध के वर्णन मे आधुनिक रासायनिक एव कृमि युद्ध (Chemical germ warfare) और रथ मुशल-महाशिलाटक जैसे रथो, अस्त्रो, विविध-प्रकार के टैंको का आभास' दीख पडा है।[1] कुछ आलोचको को वैज्ञानिक शाम्बव्य काश्यप की अनुसधानशाला किसी आधुनिक कालेज की प्रयोगशाला-सी दीख पडी है। उनका कथन है 'वैज्ञानिक शाम्बव्य काश्यप की अनुसधानशाला किसी आधुनिक कालेज की प्रयोगशाला है जहाँ 'बहुत से मृतक पशु पक्षियो के शरीर लटक रहे थे। अनेक जडी-बूटियाँ थैलियो मे भरी हुई थीं। बहुत से पिटक, भाड और काँच की शीशियो मे रसायन द्रव्य भरे थे' (अ० १३ प्रथम एव द्वितीय) महायुद्ध मे जो रसायनिक द्रव्य प्रयुक्त हुए थे वे भी यहाँ थे और उससे भी भयकर थे। वैज्ञानिक ने सोम को बताया 'इनमे बहुतो मे ऐसे हलाहल विष हैं जिन्हे कूप, तालाब और जलाशयो मे डाल देने से उसके जल के पीने ही से शत्रु पुर में महामारी फैल जाती है। बहुत से ऐसे रसायन हैं कि शत्रु-सैन्य विविध रोग में ग्रसित हो जाती है, वायु विपरीत हो जाती है, ऋतु विपर्यय हो जाती है। इनमें कुछ ऐसे द्रव्य हैं कि यदि हवा के रुख पर उडा दिया जाय तो शत्रु सैन्य के सम्पूर्ण अश्व, गज अधे हो जाएँ। सैनिक मूक, बधिर और जड हो जाएँ (अ० १४) आने वाली बीसवी शताब्दी के युद्ध में प्रयोग होने वाले विज्ञान रस वहाँ भरे थे,[2] इस प्रकार के वर्णन आधुनिकता का आभास उत्पन्न करते हैं जिससे ऐतिहासिकता को गहरा आघात लगता है। इसी कारण ऐसे वर्णनो को हमने वस्तु सबधी भूलो में रखा है।

काल क्रम सम्बन्धी दोषः—

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे कालक्रम सबधी दोषो का आधिक्य है। इसका कारण उनकी 'इतिहास रस' वाली धारणा ही है। किंतु इतना निश्चित है कि उनकी इस धारणा ने ऐतिहासिक उपन्यासो के सौन्दर्य को बढाया नही वरन् घटाया ही है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'वय रक्षाम' एव 'वैशाली की नगरवधू' मे तो इस प्रकार के दोषो की भरमार ही है। उन्होंने इन दोनो ही ऐतिहासिक उपन्यासो मे काल परिधि की चिंता किए बिना ही कई कालो के पात्रो को एक स्थान पर ही एकत्र कर लिया है। 'वैशाली की नगरवधू' नामक उपन्यास मे वे 'पाचालो की परिषद्' नामक

१. आलोचना उपन्यास, विशेषाक इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार, अक्टूबर १९५४ पृ. १८१।

२. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार, डा० गोपीनाथ तिवारी, पृ. १७५।

अध्याय में उन्होंने भारद्वाज' कात्यायन, शौनक, बोधायन, गौतम, आपस्तम्ब, शाम्बव्य, जैमिनि, कणाद, औलूक, वासिष्ठ, सांख्यायन, हारीत, पाणिनि, वैशम्पायन पैल, माण्डव्य उपरिचर, अथर्व अंगिरस आदि सभी ऋषि, मुनि, दार्शनिक, स्मृतिकारो को एक ही साथ ला बैठाता है।[1] इस प्रकार के प्रयोगो के फलस्वरूप ही कथानक एवं भाषा शैली की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की रचना होने पर भी उनका यह उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से अधिक आदर नहीं प्राप्त कर सका है। डा० नगेन्द्र ने इस ऐतिहासिक उपन्यास को संदेह की ही दृष्टि से देखा है। इन्ही दोषो के फलस्वरूप वे इसे किंचित मात्र भी हृदय मे न उतार पाए। डा० प्रभाकर माचवे ने इन्ही दोषो से खीझकर स्पष्ट घोषणा कर दी 'ऐतिहासिक उपन्यास क्या नही होना चाहिए, इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठो का युद्धकालीन इतिहास रस का मौलिक उपन्यास है।'[2] डा० जगदीश गुप्त 'ऐतिहासिक उपन्यासकार की ऐसी सीमाहीन स्वतंत्रता को असम्य समझते हैं।'[3]

इसी प्रकार अपने 'वय रक्षाम' उपन्यास मे भी उन्होंने कई युगो—यथा सतयुग एवं त्रेता युग—की प्रमुख घटनाओ को एक मे ही संयुक्त कर दिया है। मनुभरत[4], प्रलय[5], वरुण-ब्रह्म[6], देवासुर-संग्राम[7], राजा बलि एवं वामन[8], दाशराज संग्राम[9], एवं राम रावण संग्राम आदि को एक ही काल मे समेट लिया गया है। यद्यपि उन्होंने इसको प्रमाणित करने के लिए एक लम्बा भाष्य भी दिया है किंतु उससे यह देश काल संबंधी दोष दूर नहीं हुए हैं। कुछ ऐसे ही दोषो के कारण आचार्य चतुरसेन जी के ये श्रेष्ठ उपन्यास भी यत्र-तत्र उपहासास्पद हो गए हैं।

---

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३३२ से ३४० तक।
२. आलोचना 'ऐतिहासिक उपन्यास' डा० माचवे।
३. आलोचना उपन्यास विशेषाक इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार पृ. १८२
४ वयंरक्षाम: आचार्य चतुरसेन, पृ. २२ से ३० तक।
५. वयंरक्षाम: आचार्य चतुरसेन, पृ. ३० से ३३ तक।
६. वयंरक्षाम: आचार्य चतुरसेन, पृ ३३ से ३७ तक।
७. वयंरक्षाम: आचार्य चतुरसेन, पृ. ४५ से ५० तक।
८. वयंरक्षाम: आचार्य चतुरसेन पृ. ४३ से ४५ तक।
९. वयंरक्षाम: आचार्य चतुरसेन पृ. १३८ से १४४ तक।

विचार सबंधी भूलें—

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे आधुनिक विचारो का खुलकर प्रयोग किया है। किंतु इन विचारो का प्रयोग करते समय उन्होंने इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि वे तत्कालीन वातावरण से पूर्ण रूप से उपयुक्त हो। इसी कारण से उनके अधिकाश उपन्यासो मे प्राचीनता के साथ नवीनता उसी प्रकार से घुली मिली प्राप्त होती है जैसे दूध मे पानी। 'सोमनाथ' उपन्यास मे शांति की समस्या, मानवतावादी दर्शन, 'वैशाली की नगरवधू' मे नारी समस्या गणतन्त्रात्मक एव राजसत्तात्मक राज्यो की समस्या आदि पर उपन्यासकार ने अपरोक्षरूप से आधुनिक विचारो को प्राचीन कथानक मे बड़ी सुघड़ता के साथ ढाल दिया है। किन्तु इतना होते हुए भी आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे विचार सम्बंधी भूलो की न्यूनता नही है। कई स्थानो पर वर्तमान जीवन की विचार प्रक्रिया आचार्य जी को इस प्रकार अभिभूत किए हुए दीख पड़ती है कि वह जाने अनजाने रूप से उनके प्राचीन पात्रो एव घटनाओ के माध्यम से अभिव्यक्त हो गई हैं। इस प्रकार के प्रयोग अनैतिहासिक होने के साथ साथ ऐतिहासिक उपन्यासो को निर्बल बनाने वाले भी होते है। आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे ऐसी भूलें उन स्थलो पर भयानक रूप से उभरी हुई हैं जहाँ उन्होंने अपने दृष्टिकोण का प्रचार करना चाहा है। अपने उपन्यास 'नगरवधू' एव 'वय रक्षाम' म कई स्थलो पर उन्होंने बलात् साम्यवादी विचारो को, खाओ, पियो और मौज करो वाले सिद्धातो को थोपने की चेष्टा की है। किन्तु ये आधुनिक विचार कथानक से पृथक ही भटके हुए स्पष्ट ज्ञात होते है। 'वय रक्षाम' म खाओ, पियो और मौज करो वाले सिद्धात से प्रेरित होकर ही उन्होने मुक्त सहवास, विवसन विचरण, हरण और पलायन तथा नरमास की बिक्री आदि का खुलकर चित्रण किया है। सम्भवत इसी सिद्धात से प्रभावित होकर ही उन्होंने 'नगरवधू' के ऋषियो तक को मास भक्षी एव मदिरा पेयी बना दिया है। इसी प्रकार साम्यवाद एव बौद्धमत से प्रभावित होने के कारण उन्होंने 'नगरवधू' मे ब्राह्मण एव आर्य राजाओ को खुलकर अपशब्द कहे हैं। वे ऐसा कहते समय यह विस्मृत कर बैठे है कि जिस काल का वे चित्रण कर रहे है उस काल म ब्राह्मण एव आर्य राजाओ का समाज मे अपना निज का स्थान था। उनमे कुछ चारित्रिक दुर्बलताएँ अवश्य रह गई थीं किंतु उतनी नहीं जितनी उन्होंने बौद्धमत मे प्रभावित होने के कारण उपन्यास म चित्रित कर दी हैं। इस प्रकार के विचार सम्बंधी दोषो के कारण ही उनके 'नगरवधू' उपन्यास का सौंदर्य कई स्थानों पर धूमिल पड़ गया है।

देश काल निर्माण एवं वातावरण-सृष्टि संबंधी आचार्य चतुरसेन जी की मौलिक, विशेषताएँ एवं अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारो से भिन्नता—

इस विवरण के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे देशकाल अथवा वातावरण-सृष्टि अत्यंत सजीव है। उन्होंने पाठको के हृदय मे यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए कि वह भूतकाल की एक सच्ची ऐतिहासिक घटना को पढ़ रहा है, उसके पात्रो को उनके क्रिया-कलापो को प्रत्यक्ष देख रहा है विभिन्न साधनो का उपयोग किया है। प्रथम उसने उपन्यास से सम्बद्ध इतिहास को विस्तार के साथ दिया है। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने तीन वृहद् उपन्यासो के अंत में लम्बी-लम्बी भूमिकाएँ भी जोडी हैं। द्वितीय—उसने उपन्यास के प्रारंभ में कुछ ऐसे वर्णन दिए हैं जिनका अस्तित्व आज भी है, जैसे पुराने खंडहर, नगरकोट, किले आदि के वर्णन। इन्ही को सामने प्रथम रखकर वह उसको प्राचीन कथाओ को उसके परिपार्श्व से धीरे धीरे एक एक करके निकालता जाता है। जैसे 'वैशाली की नगरवधू' के 'प्रवेश' में उसने वर्तमान वैशाली के ध्वसावशेषो का वर्णन किया है।[1] तृतीय—इसने अपनी बात की पुष्टि के लिए उपन्यास के मध्य में भी कई स्थानो पर प्रसिद्ध इतिहासकारो के मत और उनके नाम दिए हैं। जैसे 'वय रक्षाम' के अध्याय चार में सिंघ प्रदेश की सभ्यता का वर्णन करते हुए उन्होने डा० फॅक फोर्ट, डा० टी० टेरा, डा० मार्शल, डा० स्टेइन आदि विद्वानो को साक्षी बनाया है। अन्यत्र कई स्थानो पर भी ऐसे ही वर्णन हैं। किंतु इससे औपन्यासिकता को गहरा आघात लगा है।

इसके अतिरिक्त उसने प्रत्येक उपन्यास के बीच-बीच में ऐतिहासिक विवरण भी दिए हैं। कई स्थानो पर तो इन ऐतिहासिक विवरणो के आधिक्य के कारण कथा-तत्व बाधित भी हुआ है। जैसे जहाँ ऐतिहासिक अथवा प्रकृति चित्र आदि संक्षिप्त हैं कथा का सौंदर्य बढ़ गया है, उसमें गति आ गई है। किंतु जहा वर्णनो में विस्तार है, विद्वता प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति है, कथा के ऊपर इतिहास हावी है वहाँ कथा अवरुद्ध हो गई है, कथाकार विवरणो में पड़ कर कथा को भूल गया है, ऐसे स्थलो पर वह कथाकार के पद को त्यागकर इतिहासकार हो गया है।

जैसा कि पिछले विवरण से स्पष्ट है उपन्यासकार ने अपने उपन्यासो में राम काल से लेकर आधुनिक काल तक को लिया है। इस प्रकार उसके वर्णन

१. वैशाली की नगरवधू, प्रवेश पृ. १।

का क्षेत्र अत्यत विस्तृत है। चारो युगो का सामाजिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक इतिहास उसके उपन्यासो मे प्राप्त हो जाता है। वास्तव मे आचार्य चतुरसेन जी ने जिस युग के भी कथानक को उठाया है, उस युग को काल के व्यवधान को चीर कर देखने का प्रयत्न किया है। उस युग के जीवन के सर्वांग को देखने का प्रयत्न कहीं कहीं सफल भी नहीं हुआ है। इसका कारण क्षेत्र का विस्तार है, एक साथ कई युगो मे डुबकी लगाने की प्रवृत्ति है। वास्तव मे वे दम साधकर एक युग मे पैंठे नही हैं और जहाँ पैठ हैं वहाँ जन जीवन के चित्रण म सफल हुए हैं—'सोमनाथ' इसका उदाहरण है। किंतु अधिक व्यापक क्षेत्र लेने के कारण वे प्रत्येक युग मे दम साधकर बैठ नही पाये हैं। कुछ उपन्यासो में तो उनकी इतिहास की डुबकियाँ स्पष्ट ज्ञात हो जाती हैं। इतिहास अलग है, कथा अलग। उनका आनुपातिक समन्वय नही हो सका है। इसका कारण है एक ही डुबकी में उपन्यासकार सर्वांग की झाँकी देने के मोह में हैं। बीच-बीच में विस्तृत ऐतिहासिक विवरण उसके द्वारा लगाई गई इतिहास की डुबकियाँ हैं और छोटी-छोटी कथाओ द्वारा उस इतिहास की पुष्टि का जो प्रयत्न है, वे हैं डुबकी के फलस्वरूप जल मे उठे बुदबुदे जो कुछ ही क्षणो के लिए उठकर विलीन हो जाते हैं। अत इन छोटी-कथाओ का प्रभाव भी उसी प्रकार क्षणिक पड़ता है। किन्तु ऐसा सर्वत्र नही हुआ है 'सोना और खून' मे यह प्रवृत्ति विशेष है। सोमनाथ' इसके एकदम विपरीत है उसमे इतिहास और कथा का समन्वय है। जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं कि ऐसे उपन्यासो के लिखते समय उन्होंने केवल विद्यालयों के लिए लिखे पिटे पिटाये इतिहास-ग्रथो पर निर्भर न रहकर अनेक प्राचीन ग्रथो एव पुरातत्व-सबधी अभिलेखो के अध्ययन मनन द्वारा प्राचीन भारत की आत्मा मे प्रवेशकर, उसम पूर्णरूप से पैठकर, उसके सर्वांग को देखकर उसका विश्लेषण कर, उसके सस्कारो को अपनी आत्मा में रमाकर तब उन्होंने उस युग का पुनर्निर्माण किया है। तभी ऐसे उपन्यासो में उस युग का वातावरण एकदम सजीव हो उठता है। जैसा कि हम पिछले पृष्ठो में दिखला चुके हैं कि उनके श्रेष्ठ उपन्यासों तथा नगरवधू, सोमनाथ आदि में उस का सजीव वर्णन, प्राचीन नाम उपाधियाँ, प्रथा, रीति-रिवाज, उत्सव, सामाजिक एव राजनीतिक हलचलो का यथा तथ्य चित्रण प्राप्त होता है। जिसके कारण उनके इन उपन्यासो में उस युग का वातावरण अत्यन्त जीवित एव स्वाभाविक बन पड़ा है।

उपन्यास पढ़ते समय भी पाठक को उसकी ऐतिहासिकता पर पूर्ण विश्वास बना रहे, इसके लिए उसने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो तत्कालीन

वातावरण निर्माण मे सहायक हो सके। 'रय रक्षाम' मे संस्कृत के कथोपकथन, 'नगरवधू' मे प्राचीन वाङ्मय के पारिभाषिक शब्दो से सम्पन्न संस्कृत निष्ठ भाषा, 'आलमगीर' मे क्लिष्ट फारसी एव अरबी के शब्दो का बाहुल्य तत्कालीन वातावरण को प्रत्यक्ष करने के लिए ही किया गया है। पिछले भाषा वाले अध्याय मे हम इस पर विस्तार से लिख चुके हैं।

जैसा कि हम पिछले पृष्ठो मे दिखला चुके हैं कि उनके वस्तु वर्णन भी तत्कालीन युग-विशेष के अनुरूप ही हैं।

जैसा कि हम 'सांस्कृतिक चित्रण' मे स्पष्ट कर चुके हैं कि उन्होने तत्कालीन वातावरण एव देश काल को सजीव करने के लिए उन कालो के रीति रिवाजो एव प्रचलित त्योहारो का बड़ा सजीव वर्णन किया है। वास्तव मे आचार्य चतुरसेन जी ने वातावरण का चित्रण करते समय बाहरी ही नही वरन् उसके आंतरिक मतव्यो पर भी ध्यान रखा है उन्हे समाज की द्वन्द्वात्मक गति का वैज्ञानिक ज्ञान था, वे मानवीय चेतना के विविध स्तरो की आंतरिक एकता से पूर्ण परिचित थे, इसी कारण वे युग विशेष का पुनर्निर्माण करने मे सफल रहे हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने वातावरण निर्माण के लिए केवल विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एव सांस्कृतिक परिस्थितियो का चित्रण ही नही किया है वरन् उनको व्यक्त करने वाले चरित्रों एव उनकी तदनुरूप मनोवृत्तियो का भी सफल अंकन किया है।

वास्तव मे केवल उपर्युक्त विशेषताओ के सम्पन्न होने मात्र से ही किसी युग के इतिहास को जुटाया भले ही जा सके किंतु जगाया नही जा सकता। इतिहास को जगाने के लिए उसमे प्राण-प्रतिष्ठा करना आवश्यक है। प्राण-प्रतिष्ठा होती है जीवन्त पात्रो के द्वारा। जैसा कि हम 'चरित्र चित्रण' वाले अध्याय मे दिखला चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने श्रेष्ठ उपन्यासो मे वातावरण को सजीव करने के लिए कुछ ऐसे पात्रो का निर्माण अवश्य किया है जिनका इतिहास मे भले ही अस्तित्व न रहा हो, भले ही वे उस विशेष नाम और रूप मे उस समय न रहे हो। किंतु यह निश्चय है कि वे उस युग विशिष्ट की प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार के पात्रो के विषय मे ठीक ही कहा है 'इन पात्रो को भी ऐतिहासिक ही मानना चाहिए क्योकि इनका अस्तित्व चाहे तथ्य परक न हो परतु तत्व-परक अवश्य है—अर्थात् इनका

यह विशेष नाम या रूप न रहा हो, परन्तु ये उस युग विशिष्ट की प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं इसमें सदेह नही—इससे इतिहास जुटाने मे कोई लाभ न होता हो परन्तु युग का इतिहास जगाने के ये अमोघ साधन हैं। ये तथ्य-सकलन मे सहायक न होकर वातावरण तैयार करते हैं और ऐतिहासिक कथाओ मे घटनाओ और नामो की अपेक्षा वातावरण का महत्व कही अधिक है, क्योकि इतिहास की आत्मा नामो और घटनाओ म न रहकर वातावरण मे ही निहित रहती है।'[१] 'वैशाली की नगरवधू' के सोमप्रभ, कुण्डनी, 'सोमनाथ', की शोभना एव फतहमुहम्मद आदि इसी प्रकार के पात्र हैं।

जैसा कि हम दिखला चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे प्रकृति चित्रण भी अत्यत सजीव एव सरस हुआ है। उसका प्रयोग पीठिका एव उद्दीपन दोनो रूपो मे ही हुआ है। किंतु प्रकृति चित्र भी जहाँ सक्षिप्त हैं, वहाँ वे सरस, सजीव एव सवेदना उत्पन्न करनेवाले हैं। ऐसे चित्रो को पढकर ही पाठक उन चित्रो से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसकी कल्पना के समक्ष ऐसे चित्र साकार हो उठते हैं, किंतु जहाँ प्रकृति-चित्र विस्तृत है, वर्णन उबा देने वाले हैं। वे कथा से हटे हुए दीख पडते हैं।

कई स्थानो पर प्राचीन जन-श्रुतियो एव विश्वासों का आश्रय लेने के कारण वर्णन अयथार्थ भी हो गए हैं, जिससे कथानक का कलात्मक सौंदर्य अनुकूल नही रह सका है। 'वैशाली की नगरवधू' मे छाया पुरुष का लोप होना, विष कन्या कुण्डनी का चरित्र, शम्बर असुर का चरित्र आदि एव 'वय रक्षाम' मे मारीच का स्वर्ण मृग बनना, सर्प के पेट मे यक्ष किन्नर, देव, नर का समा जाना, मेघनाद द्वारा माया के बल पर दिव्य धनुष का निर्माण आदि प्रसग जन विश्वासो, प्राचीन परम्पराओ को व्यक्त करने के लिए ही उपन्यासकार ने लिए हैं।

इसके अतिरिक्त उसने कितने ही धार्मिक अधविश्वासो, रूढियो एव मूर्खता जन्य परम्पराओ का भी तत्कालीन वातावरण को स्पष्ट करने के लिए चित्रण किया है। चित्रण के साथ ही साथ आचार्य चतुरसेन जी ने व्यग द्वारा करारी चोट भी की है। 'सोमनाथ' मे इसके अनेक उदाहरण भरे पडे हैं।

ऊपर हमने आचार्य चतुरसेन जी की देशकाल निर्माण सम्बन्धी मौलिक विशेषताओ पर विचार किया है। अब प्रश्न हो सकता है कि आचार्य चतुरसेन

१ विचार और विश्लेषण, डा० नगेन्द्र, पृ १४६-१४७।

जी देश काल निर्माण अथवा वातावरण सृष्टि मे अन्य प्रमुख उपन्यासकारो से कहाँ तक भिन्नता एव समता रखते हैं।

प्रथम हम हिंदी के प्रमुख उपन्यासकारो से इस विषय मे आचार्य चतुरसेन जी की तुलना करते हैं। हिंदी के सर्व प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार थे श्री किशोरीदास बाजपेयी। बाजपेयी जी के उपन्यासो म भी आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो की भाँति विवरणो का आधिक्य है किंतु आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक विवरण इतिहास सम्मत अधिक हैं जब कि बाजपेयी जी ने इस ओर विशेष ध्यान नहो दिया है। 'इतिहास रस' का दोनों ही के उपन्यासो में प्रयोग मिलता है, जिससे इतिहास तत्व को गहरा आघात लगा है। बाजपेयी जी के लगभग सभी उपन्यासों में यह विशेषता प्राप्त है जब कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो यथा—नगरवधू आदि को छोड़कर शेष में इतिहास के तथ्यो पर विशेष ध्यान रखा गया है। रहा वातावरण निर्माण का प्रश्न ! उसमें बाजपेयी जी से आचार्य जी से बहुत आगे हैं।

'प्रसाद' जी ने 'इरावती' में जो वातावरण-सृष्टि की है, बहुत कुछ वैसी ही सजीव वातावरण सृष्टि आचार्य चतुरसेन जी के बौद्धकालीन उपन्यासो में प्राप्त है। डा० वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासो में देश-काल निर्माण में हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासकारो में सबसे अधिक प्रवीण माने जाते है। ऐतिहासिक सत्य का जहाँ तक प्रश्न है आचार्य चतुरसेन जी से वर्मा जी निश्चित रूप से आगे हैं किंतु जहाँ तक वातावरण निर्माण का प्रश्न है आचार्य चतुरसेन जी को वर्मा जी नहो पा पाते हैं। आचार्य चतुरसेन जी सी प्रौढ भाषा वर्मा जी के पास नहीं है। इसी कारण से देशकाल का निरूपण तो वर्मा जी के उपन्यासो में आचार्य चतुरसेन जी के समान ही हुआ है किंतु वातावरण-सृष्टि में वे आचार्य जी को स्पर्श नहीं कर पाये हैं।

'राहुल', यशपाल, तथा भगवतीचरण वर्मा आदि के ऐतिहासिक उपन्यासो मे उसी प्रकार से 'इतिहास रस' की प्रमुखता है। जैसी आचार्य चतुरसेन जी की 'नगरवधू' मे। वातावरण सृष्टि मे राहुल आचार्य जी की कला को नही पहुँच पाये हैं। यशपाल और भगवती बाबू के ऐतिहासिक उपन्यासो (दिव्या, अमिता एव चित्रलेखा) मे वातावरण-सृष्टि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो की ही भाँति हैं। वातावरण-सृष्टि की दृष्टि से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों से श्रेष्ठ है। नवीन

उपन्यासकारो मे रागेयराघव, अमृतलाल नागर आदि के उपन्यासो मे भी देशकाल का निर्माण सुन्दर हुआ है। देश-काल के सटीक वर्णनो मे यत्र-तत्र ये आचार्य चतुरसेन जी की कला को भी पीछे छोड गए हैं।

अन्य भारतीय भाषाओ के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकारो यथा बकिम बाबू, राखाल बाबू (बँगला) के० वी० अय्यर (कन्नड), न० सी० फड़के, वरेरकर (मराठी), मुशी और धूम्रकेतु (गुजराती) आदि से एव विश्व के महान् ऐतिहासिक उपन्यासकारो यथा—टाल्सटाय ड्यूमा, ह्यूगो, वाल्टर स्काट आदि से जब आचार्य चतुरसेन जी की वातावरण निर्माण के विषय मे तुलना करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी कुछ विशेषताओ में इन उपन्यासकारो से आगे और कुछ में बहुत पीछे थे। आचार्य चतुरसेन जी राखाल बाबू एव टाल्सटाय की भाँति साकेतिक देशकाल चित्रण नही कर सके हैं। उन्होने वाल्टर स्काट की भाँति विवरणात्मक देशकाल चित्रण ही विशेष किया है। ड्यूमा, ह्यूगो, मुशी आदि में वातावरण निर्माण साकेतिक एव विवरणात्मक दोनो ही प्रकार से हुआ है, आचार्य चतुरसेन जी के श्रेष्ठ उपन्यासो में यथा 'सोमनाथ', 'सह्याद्रि की चट्टानें' आदि में यही प्रवृत्ति दीख पड़ती है।

अत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो में देशकाल अथवा वातावरण सृष्टि सबधी कुछ दोषो के रहते हुए भी वे एक सीमा तक अपनी इस कला में सफल रहे हैं।

अध्याय ७

आचार्य चतुरसेन की कहानियाँ

आचार्य चतुरसेन की कहानियाँ

उपन्यास और कहानी—

उपन्यास और कहानी में विषय की दृष्टि से कोई विशेष अंतर नहीं है। वह दोनों एक ही कोटि के हैं। ये सामान्य रूप से कथा-साहित्य की दो भिन्न शैलियाँ हैं। इन दोनों साहित्यांगों के मूल तत्वों में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। पात्र, कथानक, कथोपकथन, देशकाल तथा शैली—ये पाँच तत्व इन दोनों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं, यद्यपि छठे तत्व—उद्देश्य की उपन्यास में प्रधानता होती है।' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रथम पाँच तत्वों की कहानी में अनिवार्यता बतायी है, और छठे की अनिवार्यता तथा प्रधानता उपन्यास में सिद्ध की है।'[१] उपन्यास और कहानी के पारस्परिक सम्बंध को स्पष्ट करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है 'कहानी अपने पुराने रूप में उपन्यास की अग्रजा है और नये रूप में उसकी अनुजा। वृत या कथा-साहित्य की शाखा होने के कारण कहानी और उपन्यास दोनों में ही कई बातों की समानताएँ हैं।'[२] किंतु 'कहानी की एक तथ्यता ही उसका जीवन-रस है और यही उसे उपन्यास से पृथक करता है।'[३] इसी प्रकार आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उपन्यास और कहानी की समानता पर विचार करते हुए लिखा है 'उपन्यास और कहानी रचनात्मक कला सृष्टियाँ नहीं हैं, उनमें जीवन का स्वरूप दिखाया जाता है। उनमें घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों के वास्तविक चित्र उपस्थित किए जाते हैं। विशेषकर उपन्यास तो जीवन की ऐसी झलक दिखाने का उद्देश्य रखता है, जिसमें मूल घटना और उसकी कलात्मक अभिव्यंजना में कोई अंतर

---

१. साहित्य का साथी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. २९।

२ काव्य के रूप, डा० गुलाबराय, पृ. २१५।

३. काव्य के रूप, डा० गुलाबराय, पृ. २१७।

ही न दिखाई दे। जीवन के या वास्तविक ससार के, किसी अंश या खड को काटकर जैसे उपन्यासो मे रख दिया गया है—चलते फिरते पात्रो और सजीव घटनाओ का अकन, जिसमे मूल और प्रतिकृति का अतर ही न रह गया हो। कहानी मे यह बात यद्यपि इतनी स्पष्ट नही होती—उसके छोटे आकार और उसकी तीव्र घटना प्रगति के कारण यद्यपि वह किसी वास्तविक जीवन खड का प्रतिरूप नही जान पड़ती—फिर भी कहानी लेखक का यह प्रयास तो रहता ही है कि वह कहानी मे भी यथार्थ जीवन चित्र का आभास अधिक से अधिक ला दे। अग्रेजी का शब्द 'फिक्सन' जो उपन्यास और कथा-साहित्य के लिए काम मे लाया जाता है कदाचित् इसी अर्थ को व्यक्त करता है कि उपन्यास तथा कहानी मे कल्पना द्वारा रची गई कथा को वास्तविक जीवन घटना से पृथक करना आसान नही है। कला मे वास्तविकता का भ्रम हो जाने की पूरी सभावना है।"[1] डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने कहानी और उपन्यास का अन्तर एक उदाहरण के द्वारा बडी सरलता से स्पष्ट किया है। उनका कथन है 'यदि बन्द दरवाजे के भीतर से एक छोटे छिद्र के सहारे, बाहर के किसी उपवन मे ताका जाय तो गुलाबो का एक राजा अपनी हरी-हरी डाल पर मस्ती से झूमता दिखाई पडेगा। वह अपनी उत्सुकता और कोमल रमणीयता मे आपूर्ण खिला मिलेगा। इसके उपरात यदि दर्वाजा पूरा खोल दिया जाय तो विशाल उपवन का मनोहर दृश्य सामने खुल पडेगा। अवश्य ही उस उपवन के व्यापक प्रसार मे वह गुलाब भी एक तरफ दिखाई पडेगा। इस उदाहरण मे छिद्र के माध्यम से दिखाई पडने वाला गुलाब, कहानी के रूप मे कहा जायगा और उपवन की दिव्य सामूहिकता उपन्यास की प्रतिनिधि मानी जायगी। दोनो ही अपने दो रूपो म सर्वथा पूर्ण है।[2] अत मे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'कहानी यदि अपने एकोन्मुख समष्टि प्रभाव के माध्यम से हमारे चित्त को पूर्णतया झकृत और आन्दोलित करके हमे अनुमान, कल्पना और और जिज्ञासा के उन्मुक्त द्वार पर ला खडा करती है, तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रो की झाकी देकर सारे रहस्यो और वस्तु स्थितियो से परिचित कराकर हमारे भीतर एक पूर्णताविधायक सतुष्टि उत्पन्न कर देता है। ' साराश यह है कि उपन्यासकार अपने पाठक से किसी प्रकार की अकाक्षा-याचना नही करता। जो कुछ ज्ञातव्य है, उसे स्वय इस प्रकार उपस्थित कर देता है कि

---

१. नया साहित्य, नये प्रश्न, आचार्य नददुलारे वाजपेयी, पृ. १९०।
२. कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ. १७।

पाठक को अपनी ओर से कल्पना और अनुमान करने को कुछ बचता ही नहीं, इसके ठीक विरुद्ध कहानीकार अपनी आ म ता देने को देता कम है पर पाठक से प्राप्त करना चाहता है, बहुत अधिक।'[1] इसी प्रकार प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इस विषय पर विचार करते हुए लिखा है 'कहानी और उपन्यास में तत्वों की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। भेद है घटनाओं की व्यष्टि और समष्टि की योजना की दृष्टि से। कहानी की विस्तार सीमा छोटी ही होती है, चाहे उसका कितना ही फैलाव क्यों न किया जाय। उपन्यास की विस्तार सीमा बड़ी होती है चाहे उसका कितना ही सकोच क्यों न किया जाय। कहानी जीवन का एक चित्र रखती है—निरपेक्ष, स्वच्छन्द। उपन्यास जीवन के एकाधिक चित्रों का योग सघटित करता है, सापेक्ष, सबद्ध'[2]। कुछ विद्वान तो उपन्यास और कहानी मे शैलीगत वैभिन्य तक स्वीकार नहीं करते।[3] किंतु वास्तव मे इन दोनों में भेद अवश्य है। श्री प्रकाशचद्र गुप्त ने तो स्पष्ट कहा है 'उपन्यास और गल्प भिन्न कला हैं। यह आवश्यक नहीं कि सफल उपन्यासकार अच्छा गल्प लेखक भी हो। उपन्यास मे जीवन का दिग्दर्शन होता है, गल्प मे केवल झाँकी मात्र होती है। मानव चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को, किसी घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी लिखी जाती है।'[4] इसी कारण श्री डब्लू० एच० हुडसन ने लिखा है कि 'कहानी और उपन्यास में केवल लघुता-दीर्घता की आकार और मात्रा की ही विभिन्नता नहीं है, अपितु प्रकार का भी अन्तर है।' डा० भगीरथ मिश्र ने इन दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है—तत्व की दृष्टि से यद्यपि उपन्यास और कहानी में मौलिक भेद नहीं है पर एक की कला पूर्ण विवरण मे है और दूसरे की सक्षिप्त में। कहानीकार कथोपकथन, वर्णन, पात्र आदि में से किसी एक प्रकाशन के साधन से संतुष्ट हो सकता है, परंतु उपन्यासकार केवल एक से ही काम नहीं चला सकते। उपन्यास का क्षेत्र प्राय. वस्तु-वर्णन के ही अतर्गत है, जबकि कहानीकार अपनी आन्तरिक भावनाओं को गीतिकाव्य की भाँति नितात व्यक्तिगत ढग से ही व्यक्त कर सकता है अर्थात् कहानी में स्वानुभूति चित्रण का उपन्यास से अधिक अवसर है।'[5] आचार्य जी ने कहानी और उपन्यास की कला पर विचार करते हुए

१ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ. २०-२१।
२. हिन्दी का सामयिक साहित्य, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. १४६।
३. उपन्यास सिद्धान्त, श्री श्यामू सन्यासी, पृ ५।
४. नया हिन्दी साहित्य-एक दृष्टि, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, पृ. १०८।
५. काव्यशास्त्र, डा० भगीरथ मिश्र, पृ. ९२।

लिखा है 'उपन्यास बहुशाखी तरुवर है जिनमे यथेष्ट कथा शाखाएँ, अनगिनत भाव पुष्प गुच्छा और विविध पात्र चरित्र रूपी फलो का समावेश रहता है, यह भाव कल्पना और सत्य के सहारे उठाया हुआ एक अविनश्वर कल्पवृक्ष है। परतु कहानियाँ आज एक लता के समान हैं। जो एक ही शाखा मे बढती चली जाती हैं--ऊपर की ओर एक पतली डोरी के सहारे। और वह डोरी होती वक्तव्य का चरम छोर--जहाँ मोहक पुष्प एव गुच्छे नजर आते हैं। कहानी लता की भाँति अतिशय कोमल एक शाख उन्मुख--मुग्धबालिका की भाँति पराश्रय परायणा है। अत उसमे बहुत सावधानी से भाव--कल्पना और अभिव्यजना का आरोप करना पड़ता है।[1]

अंत मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपन्यास का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, उसमे सम्पूर्ण जीवन का विशद और व्यापक चित्र उपस्थित किया जा सकता है किंतु कहानी की परिधि सीमित है अत उसमे जीवन की एक झलक मात्र प्रस्तुत की जा सकती है। उपन्यास में मानव-समाज की कितनी गहन व्याख्या सम्भव है, उतनी कहानी मे नहीं। उपन्यासकार पूरी परिस्थिति और गतिशील जीवन की विवृति करता है जबकि कहानीकार एक भाव या प्रभाव विशेष का चित्रण करता है। उपन्यासकार यदि विश्लेषक है तो कहानीकार सश्लेषक। कहानी मे प्रासगिक कथाओ का अवसर नही होता, जबकि उपन्यास मे आधिकारिक कथा को सहायता देने के लिए प्रासगिक कथाओ की भी योजना की जाती है। इस प्रकार अपनी सक्षिप्तता, प्रभावोत्पादकता, अनुभूति की तीव्रता, एक ध्येयता आदि के कारण कहानी उपन्यास से सर्वथा स्वतत्र सत्ता रखती है।

पिछले पृष्ठो मे हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो पर प्रकाश डाल चुके हैं अब यहाँ हम उनकी कहानियो पर सक्षिप्त विचार करेंगे।

आचार्य जी की प्रथम कहानी 'सच्चा गहना' सन् १९१० मे 'गृहलक्ष्मी' मे प्रकाशित हुई थी।[2] उस समय से मृत्यु समय तक आचार्य जी ने लगभग चार सौ कहानियो की रचना की जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित हुई। जैसा कि हम आचार्य चतुरसेन की रचनाएँ एव उनके कथा-साहित्य का वर्गीकरण 'नामक अध्याय में दिखला चुके हैं कि आचार्य जी के अब तक २५ कहानी सग्रह

१. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ ३१।
२. वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३।

प्रकाशित हुए हैं। उनमें प्राप्त कहानियों को हमने वर्ण्य-वस्तु के आधार पर चार वर्गों में रखा है—१ प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक २. सामाजिक एवं राजनीतिक ३ मनोवैज्ञानिक ४ विविध।

आगे हम इसी वर्गीकरण के आधार पर आचार्य जी की समस्त कहानियों के कथानकों का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रगैतिहासिक एवं ऐतिहासिक कहानियाँ—

आचार्य जी ने अपने उपन्यासों की भाँति ही विभिन्न कालों से संबंधित लगभग १५० ऐतिहासिक कहानियों की रचना की है। इन कहानियों को हम निम्न पाँच वर्गों में रख सकते हैं—

१. पौराणिक कहानियां—अभिमन्यु, उपमन्यु, पितृभक्त श्रवन, प्रह्लाद, गरुण जी, ध्रुव, गुरु भक्त मोहन, पाँच पाडव, उत्तंक, चन्द्रहास आदि।

२ जैन बुद्ध कालीन कहानियाँ—जैसे अम्बपालिका, प्रबुद्ध, भिक्षुराज, कुमार सिद्धार्थ, कुणाल आदि।

३. मध्य-युग से संबंधित कहानियाँ—बसंत, पूर्णाहुति, भाट का वचन, लाल की आग, वीर बादल, हठी हम्मीर, कान्ह चौहान, बेला का ब्याह, बल्लू जी चम्पावत आदि

४. मुगल कालीन कहानियां—सिंहगढ़ विजय, लालारुख, दे खुदा की राह पर, नूरजहाँ का कौशल, फत्ता सिसोदिया, जैसलमेर की राजकुमारी, विश्वासघात, सोया हुआ शहर, बावर्चिन, मेड़ते का सरदार, वीर बालक हकीकतराय, बालक दुर्गादास, कैदी रिहाई, छेदा भील, कुम्भा की तलवार, हल्दी घाटी में, रणबांका राठौर, दर्बार की रात आदि।

५. अंगरेजी राज्यकालीन कहानियाँ—टीपू सुल्तान, हैदरअली, स्कूल के सहपाठी, अंग्रेज वीर बालक आदि

अब हम उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर आचार्य चतुरसेन जी की ऐतिहासिक कहानियों का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

पौराणिक कहानियाँ

आचार्य चतुरसेन जी की पौराणिक कहानियाँ केवल 'आदर्श बालक' कहानी संग्रह में प्राप्त होती हैं। अपने प्रारंभिक काल में बालकों के मनोरंजन और ज्ञान वर्धन के उद्देश्य से उन्होंने पौराणिक कहानियों की रचना की थी। 'बाल-साहित्य के अन्तर्गत इन कहानियों का विशिष्ट स्थान है।

कथानक की दृष्टि से यह पौराणिक कहानियाँ अत्यत साधारण कोटि की हैं। इनका निर्माण पौराणिक घटनाओ और चरित्रो के आधार पर किया गया है। यह पौराणिक कहानियाँ भी दो प्रकार की हैं। १ पौराणिक आदर्श मानव बालको स सबधित जैसे अभिमन्यु, उपमन्यु, पितृभक्त श्रवन, प्रह्लाद, ध्रुव, एव पाँच पाडव आदि और दूसरी कोटि म हम 'गरुड जी' जैसी कहानियों को रख सकते है। किंतु इन दोनो ही प्रकार की कहानियो की प्रधान विशेषता यही है कि इन सभी मे मानव लोक और देव लोक दोनो से सम्बधित घटनाएँ घटित होती है। बिलकुल पौराणिक ढग से ही कहानीकार ने कहानी की घटनाओ को चित्रित किया है किस प्रकार गरुड को उत्पन्न होने मे एक सहस्त्र वर्ष लगे, किस प्रकार वे उत्पन्न होते ही आकाश म उड गए और किस प्रकार अवसर आने पर वे भगवान् विष्णु के वाहन बने आदि घटनाओ को ज्यो की त्यो कहानीकार ने पुराण की कहानियो से ले लिया है। वास्तव मे इन कहानियो मे केवल कहानी कहने का ढग कहानीकार का अपना है और शेष सामग्री उसकी पुराणो से उधार ली हुई ही है। कहानीकार ने इन कहानियो को कलात्मक बनाने का भी प्रयत्न नहीं किया है, इसी कारण न उसने इनमें कार्य-कारण के सबध का ध्यान रखा है और न ही उन्हे बुद्धि सगत बनाने का। इन कहानियो द्वारा वह कुतूहल वृत्ति भी जाग्रत करने मे असफल रहा है। इस प्रकारकी कहानियो की घटनाएँ वास्तव मे दैव प्रेरित और दैव चालित ही हैं। अत इनमे कहानी की कलात्मकता खोजना ही व्यर्थ है।

जैन-बौद्ध कालीन कहानियों के कथानक

बुद्ध के मानव-प्रेम से प्रभावित होकर आचार्य चतुरसेन जी ने कई कहानियाँ बौद्ध सस्कारो पर लिखी हैं। इस प्रकार की कहानियो मे अम्बपालिका, प्रबुद्ध, भिक्षुराज, वासवदत्ता, मृत्यु चुबन, आचार्य उपगुप्त कुमार सिद्धार्थ, कुणाल आदि को ले सकते है।

कथानक

इस काल से सम्बधित कहानियो मे हम दो प्रकार के कथानक पाते हैं। प्रथम वे जो विस्तृत हैं एव सम्पूर्ण जीवन की प्रमुख घटनाओ पर आधारित हैं। और दूसरे वे जो किसी एक घटना को लेकर ही अग्रसर हुए हैं। प्रथम वर्ग मे हम अम्बपालिका, प्रबुद्ध, भिक्षुराज आदि कहानियों को रख सकते हैं और द्वितीय मे सिद्धार्थ, कुणाल आदि को। प्रथम प्रकार के कथानको मे कथा के

कई-कई मोड़ एक साथ प्राप्त होते हैं। प्रत्येक कथानक अपने में एक उपन्यास की सामग्री रखता है। उदाहरण के लिए हम आचार्य चतुरसेन जी की 'अम्बपालिका' नामक कहानी को ले सकते हैं। इसी कहानी के कथानक पर आगे चलकर आचार्य जी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' की रचना की थी।

'अम्बपालिका' के कथानक का प्रारम्भ ऐतिहासिक ढंग से कथाकार ने किया है। वह इसमें एकदम कहानी कहना प्रारम्भ नहीं करता, वरन् प्रथम वह कहानी किस स्थान की, किस काल की एवं किन इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों से संबंधित हैं, इसका परिचय देने के पश्चात् मुख्य कथा को प्रारम्भ करता है। 'प्रबुद्ध' में बिना किसी भूमिका के ही वह कहानी प्रारम्भ कर देता है। प्रस्तुत कहानी का कथानक भगवान् बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं को लेकर अग्रसर हुआ है। इस कथानक में भी दो-तीन उपन्यासों की सामग्री प्राप्त की जा सकती है। इस कहानी के कथानक का विस्तार कितने ही मोड़ों को स्पर्श करता हुआ अग्रसर हुआ है। प्रथम मोड़—शुद्धोधन का युवराज सिद्धार्थ की विरक्ति देख कर चिंतित होना। दूसरा मोड़—युवराज के विवाह के लिए सभी देशों की राजकुमारियों को निमंत्रित करना। तीसरा मोड़—युवराज का राजनंदिनी यशोधरा को देख कर आकर्षित होना। चौथा मोड़—यशोधरा के प्रेमपाश में बँधकर कुमार का कुछ काल के लिए अपने को विस्मृत कर बैठना। पाँचवाँ मोड़—युवराज की अन्तर्हित प्रबुद्ध सत्ता का कुछ समय के लिए जाग्रत होना। छठा मोड़—युवराज का गोपा के प्रेमपाश में फँसकर अंतर्हित प्रबुद्ध सत्ता का पुन मूर्छित हो जाना। सातवाँ मोड़—एक म्लान पुष्प को देखकर कुमार की अंतर्हित प्रबुद्ध सत्ता का पुन सचेत हो जाना। आठवाँ मोड़—गोपा की व्याकुलता। नवाँ मोड़—कुछ समय के लिए राजकुमार एवं गोपा दोनों में ही मानसिक अंतर्द्वन्द्व का प्रारम्भ। दसवाँ मोड़—युवराज के पुत्र का जन्म। ग्यारहवाँ मोड़—एक श्रमण से राजकुमार का मिलना और उसके पश्चात् उनके हृदय में वैराग्य का जाग्रत होना। बारहवाँ मोड़—सभी बंधनों का अतिक्रमण कर राजकुमार का गृह त्याग कर बाहर निकल जाना। तेरहवाँ मोड़—राजकुमार द्वारा आंतरिक तेज से दीप्त होकर सिद्धि को प्राप्त करना। चौदहवाँ मोड़—राजगृह में सम्राट् बिम्बसार का भगवान् बुद्ध की शरण में आना। पन्द्रहवाँ मोड़—भगवान् बुद्ध का ७ वर्ष पश्चात् कपिलवस्तु में सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात प्रत्यावर्तित होना एवं अपने पिता शुद्धोदन का आतिथ्य

स्वीकार करना और अतिम मोड है अपनी मानिनी पत्नी यशोधरा से मिलने के लिए स्वय भगवान् बुद्ध का उसके समीप जाना और उसके द्वारा अपने पुत्र राहुल को बुद्ध को धारण मे कर देना।

इस प्रकार इतने मोडो का समावेश करके उपन्यासकार ने इतने व्यापक और विस्तृत कथानक का निर्माण किया है। आचार्य चतुरसेन जी की कहानी 'भिक्षुराज' का कथानक भी इसी प्रकार विस्तृत है। उसमे प्रियदर्शी सम्राट अशोक के पुत्र और पुत्री महेद्र एव सघमित्रा के बौद्ध बनने के पश्चात् के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित किया गया है। इस प्रकार की कहानियो मे कथानको के निर्माण मे आचार्य चतुरसेन जी ने उपन्यासो की भांति ही-भूमिका, कहानी की समस्या का आरम्भ द्वद्व, आरोह, कौतूहल, चरम सीमा और उपसहार—आदि विकास क्रमो का आश्रय लिया है।

इस काल से सम्बन्धित दूसरे प्रकार की कहानियाँ कुमार सिद्धार्थ, कुणाल आदि मे कथानक अपेक्षाकृत छोटे हैं। इसमे घटनाऐं भी न्यून हैं। इनमे कथाकार ने चरित्र को प्रकट करने वाली कुछ प्रमुख घटनाओं को ही लिया है। यह कहानियाँ बहुत कुछ पौराणिक कहानियो की भाँति ही हैं।

मध्य युग से सम्बन्धित कहानियों के कथानक

इस काल से सम्बधित आचार्य चतुरसेन जी की कहानियो को भी हमे दो वर्गों मे रखना पडेगा। प्रथम वर्ग मे हम बसत, पूर्णाहुति, भाट का वचन, लात की आग, कान्ह चौहान, बेला का ब्याह आदि कहानियो को ले सकते हैं और दूसरे मे वीर बादल, हठी हम्मीर आदि कहानियो को रख सकते हैं। इस काल की प्रथम वर्ग की कहानियो मे भी कई-कई मोडो का समावेश मिलता है। इसमे भी नाटक की पाँचो अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। बसत और पूर्णाहुति दोनो ही कहानियो के कथानको का सम्बध महाराज पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओ से है। 'बसत' कहानी का कथानक पृथ्वीराज द्वारा सयोगिता हरण से सबधित है। एक ब्राह्मण के मुख से सयोगिता के रूप का वर्णन सुनकर ही पृथ्वीराज अपने सामन्तो सहित राजकुमारी सयोगिता को उसके स्वयवर से हरण करने कन्नौज जा पहुँचते हैं। सयोगिता के हरण करने के पश्चात् उनके मार्ग मे प्रत्यावर्तन के समय कितने ही अवरोध आ उपस्थित होते हैं। जयचद की विशाल वाहिनी से पृथ्वीराज का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वे अपने सामन्तो को साथ ले बढ़ते जाते हैं किंतु जयचद स्वय सामने आकर उनका मार्ग

रोक लेता है यहाँ पर बड़े कलात्मक ढग से कहानीकार कथानक को मोड़ता है। जयचद अपनी पुत्री सयोगिता के करुण-नेत्रो को देख कर द्रवित हो जाते हैं। इस मोड को किंचित् ध्यान से देखिए। उन्होंने (जयचद ने) तलवार फेंक, पृथ्वीराज की पाँच परिक्रमा करके कहा है कन्नोज के यज्ञ को बिगाड़ने वाले और मेरी प्राण प्रिय पुत्री को हरने वाले पृथ्वीराज, दिल्ली का राज्य, अपनी इज्जत और लाज तुझे देकर मैं कन्नोज जाता हूँ।

राजा नीचा सिर किए, दूर तक पड़ी लाशो मे होकर लौट रहे थे। सूरज छिप रहा था। पृथ्वीराज और उसके तैंतालीस बचे हुए सूरो ने कमर खोली, और उसी जगल मे पड़ाव डाला।'

इस प्रकार प्रस्तुत कहानी को बड़े ही कलात्मक ढग से मोड़कर उसे प्रभावशाली एव स्वाभाविक बना दिया है। निश्चित रूप से जयचद भी राजा होने के साथ-साथ एक पिता भी था। अपनी लाडली पुत्री के नेत्रो मे करुण भाव देखकर उसका ममत्व जाग्रत हो जाता है। पिता होकर अपनी पुत्री के सुहाग को वह स्वय नष्ट करे, यह कैसे सम्भव था? जयचद के चरित्र मे इसी कारण कहानीकार ने मानव सुलभ भावनाओ का किंचित् मात्र स्पर्श देकर प्रस्तुत कथा को कलात्मक एव स्वाभाविक बना दिया है।

पूर्णाहुति कहानी के कथानक का क्षेत्र अत्यत विस्तृत एव विशाल है। इस छोटी सी कहानी के अतर्गत चदकृत 'पृथ्वीराज रासो' ऐसे वृहत् महाकाव्य के कथानक को समेटने की चेष्टा की गई है। इसमे मुहम्मद गोरी के विभिन्न आक्रमणो, पृथ्वीराज द्वारा सयोगिता के हरण और अतिम बार गोरी द्वारा पृथ्वीराज के पराजित होने की घटनाओ को कथा सूत्र मे अनस्यूत किया गया है। इसका अत भी रासो की भाँति ही हुआ है। किस प्रकार चद-कवि से प्रेरणा प्राप्त कर पृथ्वीराज, गोरी को अपने शब्द भेदी बाण का लक्ष्य बनाकर अत मे स्वय चदबरदाई के साथ आत्महत्या करता है। इसी विशाल कथानक पर प्रस्तुत कहानी आधारित है। स्पष्ट ही प्रस्तुत कथानक मे एक वृहत् उपन्यास की सामग्री भरी गई है। आगे चलकर कहानीकार ने इसी कथानक पर अपने 'पूर्णाहुति' (खवास का ब्याह) नामक उपन्यास की रचना की थी। 'बेला का ब्याह' कान्ह चोहान' नामक कहानियों के कथानक भी पृथ्वीराज के जीवन से सम्बंधित हैं।

---

१. [illegible]हुणा, विजय, (कहानी संग्रह) पृ ५०-५१।

'भाट का वचन' कहानी गुजरात के प्रसिद्ध सोलंकी राजा कुमार पाल से सम्बंधित है। इस कहानी में उस काल की सामन्तशाही का एक पहलू प्रदर्शित किया गया है। वास्तव में यह एक भाट के उत्सर्ग की कहानी है। इस कहानी का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है। अपनी ६५ वर्ष की आयु में गुजरात नरेश ने अपने करद मेदपाट के सिसोदिया राजा की कन्या से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। विवश होकर सिसोदिया राजा को अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करना पड़ा। सिसोदिया का इष्टदेव श्री एकलिंग था। और कुमारपाल जैनधर्मी था। अत उसके राज्य महल में जाने से पूर्व जैन गुरु की चरण वंदना करना अनिवार्य था। किंतु राजकुमारी ने निश्चय कर लिया था कि मैं प्राण रहते ऐसा नहीं करूंगी। राजकुमारी को ब्याह ने राजा का खाडा लेकर जयदेव भाट गए थे। उन्होंने राजकुमारी के हठ को देखकर वचन दे दिया आपको न जैन दीक्षा लेनी होगी और न ही जैन उपाश्रम में जाना पड़ेगा, यदि एसा करने को विवश किया गया तो प्रथम भाट का सिर कटेगा—फिर कुछ और होगा। 'भाट के इस आश्वासन पर राजकुमारी ने पाटन आना स्वीकार किया। किंतु राजा ने भाट के वचन की उपेक्षा करके रानी को जैन उपाश्रम में जाने की आज्ञा दी। भाट ने लाख समझाया किंतु राजा न माने। अत में गुर्जर-सैन्य और भाटों में ठन गई। दोनों दल परस्पर टकराने वाले ही थे कि इसी समय सीसोदिनी रानी ने दोनों दलों के मध्य आत्महत्या कर ली। इसके पश्चात् रानी की चिता के साथ, जयदेव और उसके परिवार के दो सौ भाई-बंद सिसोदिनी रानी के साथ जलकर खाक हो गए।

'लाज की आग' का कथानक भी इसी काल से सम्बंधित है। इसमें भी कहानीकार ने सामन्तशाही काल के राजपूतों की मनोवृत्ति को प्रकट किया है। इसमें कथा गुर्जर-नरेश कुमारपाल और प्रसिद्ध नृपति अर्णोराज के पारस्परिक संघर्ष की है। इस संघर्ष का मूल कारण एक ऐसा रिवाज था जो उन दिनों गुजरात और राजपूताने के राजपूतों में प्रचलित था। गुजरात के राजपूत नंगा सिर रखने में कोई हानि नहीं समझते थे, परन्तु राजपूताने के राजपूत नंगा सिर रखना असभ्यता समझते थे। गुर्जरेश्वर की बहन देवलदेवी शाकम्भरी नाथ अर्णोराज को ब्याही थीं। एक दिन चौसर खेलते समय पति ने पत्नी की गोट पीटते हुए कह दिया 'यह मारा नंगे सिर वाला।' इस पर देवलदेवी ने समझा कि उनके भाई गुर्जरेश्वर पर व्यंग्य किया गया है। इसी बात पर दोनों में वाद-विवाद हो गया। यह विवाद इस सीमा तक बढ़ा कि इसी बात को लेकर गुर्जरेश्वर और

अर्णोराज का सम्मुख युद्ध हुआ। अर्णोराज पराजित हुआ और वंदी बना लिया गया। अंत मे उसे गुर्जरेश्वर ने बहन और गुरु के कहने से मुक्त कर दिया। अत मे अर्णोराज ने नवीन सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गुजरेश्वर कुमारपाल से अपनी षोडसी पुत्री मिल्हन कुमारी का विवाह कर दिया।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कथानको मे मुख्य कथा के साथ-साथ सहायक कथा की भी कहानीकार ने सृष्टि की है। इन कहानियो की भी भाव भूमि लम्बी-चौडी है इनमे व्याख्या का अश अधिक और सवदना का अश न्यून है।

इस काल से सम्बधित दूसरे प्रकार की कहानियो के कथानक सरल, सक्षिप्त एव उपदेशात्मक है। इनमें कथाकार का प्रमुख उद्देश्य कहानी के माध्यम से एक चरित्र विशेष के कुछ आदर्श गुणो को सामने रखने का रहा है।

मुगलकालीन कहानियों के कथानक

आचार्य चतुरसेन जी की अधिकाश ऐतिहासिक कहानिया इसी काल से सम्बधित हैं। इस काल से सबधित कहानियाँ दो प्रकार की हैं—१ जिनमे मुगल ऐश्वर्य एव भोग विलास का चित्रण हुआ है और २ जिनमे राजपूती शौर्य का वर्णन किया गया है। अपनी इस प्रकार की कहानियो की रचना के सबध मे आचार्य जी ने एक स्थान पर स्वय कहा है 'इस भावना से कि जन्मत मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा ममत्व क्षत्रित्व पर उमड आया। बचपन ही मे एक छोटी सी पुस्तक मेवाड का इतिहास कही से मेरे हाथ आ लगी थी। उन दिनो रात को मैं बहुधा पिता जी को उसे पढकर सुनाया करता था। उसमे वर्णित वीर चरित्र कुछ ऐसे मेरे मन पर अकित हो गए और मेरे मन का क्षत्रित्व का ममत्व उनमे मिलकर कुछ ऐसा रस उसमें उत्पन्न कर गया कि इस समय भाव व्यक्तिकरण मे समर्थ होकर मैं राजपूत शौर्य और उत्सर्ग के रेखाचित्र कहानियो में चित्रित करने लगा। मेरी राजपूत वातावरण की कहानियाँ खूब उभरी। राजपूतो का बखान करते-करते स्वाभाविक ही रौनि पर मेरी कलम मुगल वैभव पर रपट गई और इस प्रकार मुगल जीवन पर लिखी हुई तत्कालीन मेरी कहानियाँ भी खूब प्रौढ हो गई। राजाओं के वैभव मैं अपनी आंखो से इन्ही दिनो देख रहा था। बडी-बडी शानदार दावतें मेरी राजमहलो में हो चुकी थी। अभावो मे पले हुए मुझ जन्म दरिद्र के लिए ये सब बातें कम प्रभावशाली न

थी। इसी से वैभव विलास ऐश्वर्य का ऐसा गहरा रग मेरे मानस पर पड गया कि उसे मैंने अपनी कहानियो मे दोनो हाथो से उलीचा। एक रोगिणी राजकुमारी को देखने जब मैं अन्त पुर मे पहुँचा तो मैंने देखा, मकडी के जाले के समान परिधान म एक प्रकार से वह नगी उस कच्छ में दीख रही थी और उसके अग पर लाखों रुपयों के जवाहिरात थे। इतने बडे-बडे मोती मैंने कभी न देखे थे—अगूर के बराबर। 'दुखवा मैं कासे कहूँ कहानी मे मैंने उसी राजकुमारी को उसके सारे ही शृगार विलास सहित, अपने पाठको के सम्मुख ला खडा किया है।'[1]

आचार्य जी की सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक कहानियाँ विशेषत इसी काल की हैं। 'दुखवा मैं कासो कहूँ, 'लालारुख, बावर्चिन' अबुल फजल वध, ताज, प्यार, कलगा दुर्ग, कुम्भा की तलवार, हल्दी घाटी में, बाण वधू, सोया हुआ शहर आदि आचार्य जी की प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानियाँ इसी काल से सबधित हैं। 'मुगल बादशाहों की अनोखी बातें नामक कहानी सग्रह की समस्त कहानियाँ इसी काल से सम्बधित हैं। इस सग्रह मे १९ कहानियाँ हैं। इनमे से मुख्य है—शराबी की बात, शराब की सुराही गे, नूरजहाँ का कौशल, हाथा-पाई, सब माल बादशाह सलामत का, बहादुरी की तराजू गवैये की मरम्मत, एक सवाल के चार जवाब, बीस लाख रुपये की जूतिया आदि। इसी प्रकार की कुछ कहानियाँ आचार्य के 'वीर गाथा' नामक कहानी सग्रह मे भी हैं जैसे दिल्ली दरबार मे शिवा जी राजे, रघुपति सिंह आदि। इसके अतिरिक्त 'सिंहगढ विजय', 'दुखवा मैं कासे कहूँ सजनी', 'राजपूत बच्चे', 'वीर बालक' बुलबुल हजार दास्तान', लालारुख' आदि कहानी सग्रहो म इस काल से सम्बधित आचार्य जी की लगभग ७० कहानियाँ प्राप्त होती है।

इस काल से सम्बधित कहानियों में तीन प्रकार के कथानक प्राप्त होते हैं। प्रथम प्रकार के वे कथानक हैं जो लम्बे और नाटकीय गुणों से पूर्ण हैं। जैसे झडा, कलगा दुर्ग, कुम्भा की तलवार, हल्दी घाटी में, अबुलफजल वध, पान वाली आदि कहानियों के कथानक। दूसरे प्रकार के वे कथानक हैं जो सक्षिप्त, साकेतिक चमत्कार प्रधान एव कलात्मक हैं जैसे 'दुखवा मैं कासे कहूँ', 'लालारुख', 'सोया हुआ शहर', बावर्चिन' आदि कहानियो के कथानक। तीसरे प्रकार के वे कथानक हैं जो सक्षिप्त तो हैं किन्तु साथ ही वे न कलात्मक ही है और न ही उनमें साकेतिकता ही है। ऐसे कथानकों में हम 'मुगल बादशाहों की

१ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ २१-२२।

अनोखी बातें', 'राजपूत बच्चे', 'वीरगाथा' आदि कहानी संग्रहो के कथानको को ले सकते हैं। अब हम आगे इन तीनो प्रकार के कथानको का संक्षेप मे अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

प्रथम प्रकार के कथानको की सबसे बडी विशेषता है उनका विस्तार और नाटकीयता। बौद्ध कालीन एव मध्ययुग से सम्बधित कहानियो के प्रथम प्रकार मे जैसा विस्तार प्राप्त होता है बहुत कुछ वैसा ही विस्तार इन कहानियो मे प्राप्त होता है। इनमे कथाकार ने एक ही कथानक मे एक सम्पूर्ण युग, को साकार करने का प्रयत्न किया है। इन कहानियो मे तत्कालीन वातावरण को स्पष्ट करने के लिए वर्णनात्मकता का आश्रय अधिक लिया गया है। इसके साथ-साथ इस प्रकार की कहानियो मे कथाकार ने विविध भाव चित्रो को उभारने की ओर भी ध्यान दिया है। इसी कारण से यह कहानिया लम्बी होने पर भी रोचक बन पडी हैं। उदाहरण के लिए हम 'भंडा' कहानी को ले सकते हैं। इसमे कथा के साथ-साथ इस युग का प्रत्यक्ष चित्रण भी है। आलमगीर की मृत्यु के पश्चात् भारत की राजनीतिक अवस्था किस प्रकार की हो गई थी, इसको इसमे वर्णनात्मक ढग से उभारा गया है। वास्तव मे इन कहानियो के द्वारा आचार्य जी ने इस युग के आदर्श और त्याग के साथ-साथ राजपूती आन पर मर मिटने का दृढ सकल्प रखने वाले चरित्रो को प्रस्तुत किया है।

इन काल से सम्बधित दूसरे प्रकार की कहानिया अधिक कलात्मक एव सजीव हैं। इनमें कथानको के चित्रपट संक्षिप्त एव सांकेतात्मक हैं। इस प्रकार की अधिकांश कहानियो के कथानको के निर्माण मे क्रमबद्ध स्वाभाविक घटनाओ के घटने का प्रमुख हाथ रहता है। साथ ही साथ इनमे सांकेतिकता एव वातावरण निर्माण की सतर्कता भी प्राप्त होती है। कथा को अग्रसर करने के लिए सयोगो का भी आश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिए हम आचार्य जी की प्रसिद्ध कहानी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' को लेते है। इसमे कथानक का प्रारम्भ बादशाह की नव विवाहिता बेगम सलीमा को लेकर होता है। बादशाह सल्तनत के झझटो से दूर रहकर अपनी नव विवाहिता पत्नी के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने उसे लेकर कश्मीर के दौलतखाने मे चले आये थे। यहाँ बादशाह ने अपनी बेगम की खिदमत एक कमसिन, सुन्दर बाँदी पर सौप दी थी इस बाँदी और सलीमा को लेकर ही कथानक अग्रसर होता है। सलीमा यौवन के नशे मे मस्त बाँदी के हाथो से मदिरा पीती जाती है अन्त मे वह उसी मे बेसुध हो जाती है। बाँदी वस्तुत उसका एक अज्ञात प्रेमी

था जो अपनी प्रेमिका के सान्निध्य का लाभ उठाने के लिए बाँदी के वेश में रहने लगा था। सलीमा उससे सर्वथा अनभिज्ञ थी। अपनी प्रेयसी को बेसुध देखकर वह अपने को उस एकान्त में रोकने से असमर्थ हो गया। उसने इस बेसुध अवस्था में अपनी प्रेमिका के कपोलों पर एक चुम्बन अंकित कर दिया। कथानक का विकास इसी घटना से होता है। इसके पश्चात् कथा को अग्रसर करने के लिए कथाकार ने संयोग का आश्रय लिया है। जिस समय बाँदी ने सलीमा के कपोलों पर चुम्बन अंकित किया, इसी समय संयोग से वहाँ बादशाह आ उपस्थित होते हैं। वे बाँदी की इस धृष्टता को देख लेते हैं। इस संयोग से कथानक में नाटकीय विकास होता है। बादशाह को ज्ञात हो जाता है कि वास्तव में वह बाँदी पुरुष है। उसके लिए वे आज्ञा देते हैं तहखाने में डालकर भूखों मार डालने की। सलीमा की मूर्छा दूर होने के पूर्व ही यह सम्पूर्ण घटना घटित हो जाती है। उसे ज्ञान भी नहीं हो पाता कि बादशाह उससे क्यों अप्रसन्न हो गए। वह बादशाह के समीप पत्र भेजती है किंतु वे अप्रसन्नता में बिना पत्र पढ़े ही सलीमा को मर जाने को कह देते हैं। सलीमा के नारी हृदय पर ठेस पहुँचती है। वह बाँदी वाली घटना से अब भी अपरिचित है अतः अन्तिम पत्र बादशाह को लिखकर वह हीरा चाट लेती है। उसकी मृत्यु के पश्चात् बादशाह को वास्तविक घटना का पता उस बाँदी रूपी पुरुष से ही होता है। बादशाह को हार्दिक दुःख होता है। इस कहानी का अन्त बड़ा ही कलात्मक है। देखिए—'सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गये। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन रात रहते हैं। सामने, नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफेद कब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस दिन रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में, उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की कब्र दिन रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है तो उस गम्भीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म भेदिनी गीत ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ-साफ सुनते हैं कोई करुण कोमल स्वर में गा रहा है—

'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी।'

इसी प्रकार संयोगों एवं क्रमबद्ध घटनाओं को आश्रय बनाकर विकसित होने वाली कई अन्य प्रमुख कहानियाँ और भी हैं। यहाँ हम केवल इस प्रकार की तीन कहानियाँ कार्वाचिन, लालारुख एवं सोया हुआ शहर का ही विश्लेषण और प्रस्तुत करेंगे।

'बार्वचिन' नामक कहानी के कथानक का प्रारम्भ ही संयोग से होता है। इस कहानी में अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह के पतन काल का और मुगल देशमार के आमुओं का जो कभी केवल हीरे, मोती, दम और ऐश्वर्य ही को जानते थी ऐसा सचित्र रेखा चित्र है, जो हृदय में घाव कर जाता है। प्रस्तुत कथा का प्रारम्भ सम्राट की पौत्री शाहजादी गुलबानू की कथा से होता है। एक दिन गुलबानू अपनी पालकी में बैठी लाल किले की ओर आ रही थी। संयोग से पालकी का एक बूढ़ा कहार ठोकर खाकर गिर पड़ा। श्रमित होने के कारण उठने की चेष्टा करने पर भी वह उठ न सका। पालकी का रुकना था कि अफसर ने चाबुकों की मार से कहार के प्राण ले लिए। कहार के स्थान पर उसने कुछ अपशब्द कहकर एक नवयुवक को लगाना चाहा, किन्तु अपशब्द उस नवयुवक को सहन न हुए, उसने उस अफसर का विरोध किया। परिणामस्वरूप उसे भी चाबुक की मार खाकर वहीं गिर जाना पड़ा। कथा का विकास दूसरे संयोग से होता है। शाहजादी गुलबानू ने संयोग से सभी घटना स्वयं अपनी आँखों से देखी थी। उन्होंने बादशाह से स्वयं उस अफ़सर की निर्दयता कह सुनाई। परिणामस्वरूप बादशाह ने उस निर्दय अफसर (अमीर) को पदच्युत करके उसके स्थान पर उसी तरुण को रखने की आज्ञा दे दी। उस तरुण का नाम इलाहीबख्श था। उसके साहस और सौंदर्य पर मुग्ध होकर शाहजादी गुलबानू उससे प्रेम करने लगी थी। इस प्रेम का लाभ उस तरुण ने उठाया और वह बादशाह की नाक का बाल बन बैठा। फिर कथानक का विकास इस संयोग के बारह वर्ष के पश्चात् की एक घटना से होता है। सन् १८५७ का गदर हो गया था। बादशाह कुछ विश्वासघातियों के विश्वासघात के कारण पराजित हो गए थे। संयोग से इन विश्वासघातियों का प्रधान इलाहीबख्श ही था, जो शाहजादी की कृपा के कारण एक उच्च पद पर पहुँच चुका था। इसी विश्वासघाती ने अपने आश्रयदाता बादशाह को निरीह दशा में हुमायूँ के मकबरे में गिरफ्तार भी कराया था।

इसके पश्चात् कथानक का चरम विकास एक संयोग के द्वारा ही सँजोया गया है। संयोग से शाहजादी गुलबानू जीवित बच गई थी। उपर्युक्त घटना के तीन वर्ष पश्चात् पुनः एक घटना घटित होती है। संयोग से वही शाहजादी गुलबानू जिसने एक बार इलाहीबख्श की प्राण रक्षा की थी—उसी विश्वासघाती के यहाँ एक बावर्चिन के रूप में जा पहुँचती है। एक दिन घटनावश जब इलाहीबख्श को शाहजादी—बावर्चिन के मुख से ही उसकी सम्पूर्ण

कथा ज्ञात होती है, तो वह लज्जित होकर सदैव के लिए घर त्याग कर भाग जाता है।

प्रस्तुत कहानी का अंत भी आदर्शवादी है। किस प्रकार शाहज़ादी की करुण कथा ने उस पाषाण हृदय विश्वासघाती का हृदय परिवर्तित कर दिया, इसे कथाकार ने बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कथा में प्रस्तुत किया है। इस कथानक के माध्यम से कथाकार ने एक ओर जहाँ मुगल दर्बार के ऐश्वर्य, शान शौकत की एक झाँकी दिखलाई है वहीं उसने अन्त में उस साम्राज्य के पतन और उसके पश्चात् का एक करुण चित्र भी प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत कथानक सयोगो का माध्यम लेकर अवश्य विकसित हुआ है, किंतु कहीं पर भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। यही इस कथानक की सबसे बड़ी कलात्मकता है।

इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी की 'लालारुख' कहानी का कथानक भी बड़ा कलात्मक एवं रोचक है। इसमें भी सयोग का आश्रय लिया गया है। कथानक का प्रारम्भ इस भूमिका के पश्चात् होता है' बादशाह आलमगीर की दुलारी छोटी शाहज़ादी लालारुख का ब्याह बुखारे के शाहजादे से तय पा गया था। इसके बाद ही यह बात भी तमाम दरबारियों और बुखारा के एलचियो से सलाह मशविरा करके तय पा गई थी, खासतौर से बुखारा के शाहजादे ने इस बात पर पूरा जोर दिया था कि उसे कश्मीर के दौलतखाने में शाहज़ादी का इस्तकबाल करने की इजाज़त दी जाय, और बादशाह ने इस बात को मंजूर कर लिया था। उस दिन लालारुख की सवारी दिल्ली की बाजारो में होकर कश्मीर जा रही थी, और दिल्ली शहर की यह सब तैयारियां इसी 'सिलसिले में थी।' इसी प्रकार की भूमिका के पश्चात् कथानक का विकास सयोग का माध्यम बना कर होता है। इस यात्रा के मध्य ही एक दिन शाहज़ादी के समीप बुखारे के शाहज़ादे का भेजा हुआ एक गवैया आता है। शाहज़ादी दूर ही से उसका गाना सुनकर उसपर मोहित हो जाती है। एक दिन उसने लज्जा त्यागकर उस गवैये को अपने रूबरू हाजिर होने का हुक्म दिया। और प्रथम साक्षात्कार में ही उस गवैये के सौंदर्य और गुणों पर मुग्ध होकर उसने उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। किन्तु वह गवैया अधिक समय तक उसके समीप न रह सका। शाहजादे ने इस प्रेम सम्बन्ध के ज्ञात होते ही उसे हिरासत में ले लिया। इस घटना से शाहज़ादी को बड़ा दुःख हुआ और वह बिना शाहज़ादे की ओर देखे ही उसके चरणों पर लोटकर उस गवैये की जान

बरुगी की भीख माँगने लगी। कथा मे एक नाटकीय परिवर्तन होता है। शाहजादे ने लालारुख की बात पूर्ण करने का वचन दिया किन्तु जब लालारुख न प्रसन्नता मे शाहजादे के चरणो पर से मुख उठाकर उसके मुख की ओर देखा तो वह 'या खुदा' कहकर शाहजादे की गोद मे ही बेहोश होकर लुढक गई। कथा के अंत मे कथाकार इस रहस्य का उद्घाटन करता है, कि वास्तव मे शाहजादा ही वह गवैया था, जिससे लालारुख प्रेम करने लगी थी। प्रस्तुत कथानक भी सयोगो के माध्यम से बडे कलात्मक ढग से चरम सीमा तक पहुँचाया गया है। अन्त भी बडा ही नाटकीय एव कलात्मक है। सम्पूर्ण कथानक के विकास मे कथाकार ने कार्य-कारण का ध्यान रखा है तभी कथा स्वाभाविक एव आकर्षक बन पडी है। आचार्य जी की इस कहानी को पढकर प्रेमचन्द जी की 'दिल की रानी' और 'धोखा कहानी स्मरण हो आती है। उन दोनो का भी इसी प्रकार आकस्मिक अन्त होता है।

'सोया हुआ शहर' का कथानक भी बहुत कुछ इसी प्रकार का है। उसमे शाहजादा खुर्रम अपनी प्रेमिका ताजमहल के सामने दो रूपो मे आता है। उसमे भी कथा का विकास सयोगो का माध्यम बनाकर होता है। अत उसका भी बडा ही नाटकीय एव आकर्षक है।

इस प्रकार की कहानियो की सर्वप्रधान विशेषता है इनका तडित वेग से अत होना। वास्तव मे इस प्रकार की कहानियो की समाप्ति पर पर्दा इतने जोर से गिरता है कि सारी चमक करनेवाली दीपावलियाँ एक साथ ही बुझ जाती हैं। और अधकार का साम्राज्य छा जाता है, जहाँ वातावरण जनसकुल नगर चतुष्पाथ के यात्रियो के कोलाहल से पूर्ण था। वहाँ श्मशान भूमि की नीरवता छा जाती है। इन कहानियो मे घटनाओ का सयोग, उनकी आकस्मिकता की मगरूरी ही सर्वोपरि सर ताने खडी रहती है।''[1]

इसकाल से सबधित तीसरे प्रकार की कहानियो के कथानकों मे न वह प्रौढता ही है और [redacted] ही ऐसी कलात्मकता ही। ऐसे कथानकों का निर्माण केवल किसी घटना विशेष के प्रदर्शन के लिए ही हुआ है। जैसे 'मुगल बादशाहो की अनोखी बातें' नामक कहानी सग्रह मे जितनी भी कहानियाँ हैं उनका उद्देश्य केवल मात्र मुगल बादशाहो की सनक को दिखाने मात्र का है। 'वीर गाथा' 'आदर्श बच्चे' 'राजपूत बच्चे' आदि कहानी सग्रहो मे जो इस काल से सबधित

---

१. आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय पृ. २०८।

कथानक हैं उनका उद्देश्य भी केवल मात्र एक या दो घटनाओं के माध्यम से उन आदर्श अथवा वीर बालकों के चरित्र के उद्घाटन का रहा है।

अंग्रेजी राज्य-कालीन ऐतिहासिक कहानियों के कथानक

इस काल से सम्बधित अधिकांश कहानियों के कथानक या तो मुगल शासन के अन्तिम समय से सम्बन्धित हैं अथवा किसी क्रान्ति या राजा से सम्बधित। मुगल शासन के अन्तिम समय से सम्बधित अनिवार्य कथानको जैसे बादचित, पानवाली आदि को हम पीछे ले चुके है। इसके अतिरिक्त भारतीय क्रान्ति से सम्बधित कहानियों को हम राजनीतिक कहानियों में आगे लेंगे। यहाँ केवल हम अंग्रेजी राज्य कालीन रजवाड़ो की कहानियो के कथानको जैसे राजा साहब की कुतिया, राजा साहब की पतलून, मुहब्बत आदि को लेंगे। इस प्रकार की कहानियों में कहानीकार ने उन राजा रईसों के विलासमय, वासनापूर्ण एवं अरक्षित जीवन के रेखा चित्र खींचे हैं, जिन्हे अंग्रेज शासकों ने एकदम निष्क्रिय एव विलासी बना दिया था। 'मुहब्बत' नामक कहानी में मुहब्बत नाम की एक वेश्या एवं एक विलासी कामुक राजा के जीवन की कथा कही गई है। किस प्रकार वेश्या ने डाक्टर से मिलकर राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करके उन्हें विष दे दिया और किस प्रकार उसके द्वारा उड़ाये गए दस लाख रुपये राजा की मृत्यु के पश्चात् उसे मूर्ख बनाकर अकेले डाक्टर ने हड़प लिए —इसका अत्यत सजीव चित्रण इस कथानक के माध्यम से आचार्य जी ने किया है। इसी प्रकार 'राजा साहब की कुतिया' और 'राजा साहब की पतलून' में राजा रईसों की सनक, भड़क, हिमाकत एवं फजूलखर्ची की हास्यास्पद घटनाएँ वर्णित हैं।

ऐतिहासिक कहानियों के कथानकों की निर्माण विधि

जैसा कि हम पीछे दिखला चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी की विभिन्न कालो से सम्बधित लगभग डेढ़ सौ ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। इन कहानियो के निर्माण में आचार्य जी ने कुछ विशिष्ट विधियों का प्रयोग किया है। यहाँ हम उन्हें सक्षिप्त रूप में देखने का प्रयत्न करेंगे।

१. किसी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति के जीवन के लम्बे भाग को लेकर कथानक का निर्माण करना, जैसे प्रबुद्ध, चक्रराज आदि।

२ किसी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं को लेकर उन पर कथानक का ढाचा खड़ा करना, जैसे कुणाल, बाला दुर्गादास, सिंहगढ़ विजय, पूर्णाहुति, बसत आदि।

३ कुछ कल्पित एवं कुछ ऐतिहासिक पात्रो के चरित्र को प्रकट करने वाली कुछ प्रमुख घटनाओ को ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण करके दिखलाना। जैसे 'वार्वाचिन' 'दुखवा मैं कासे कहूँ' आदि

४ लम्बी कहानियो के कथानको के साथ सहायक कथाओ की भी अवतारणा हुई हैं। यह सहायक कथानक नाटक मे प्रकरी की भाँति मूल कथा के साथ थोडी दूर तक जाकर रुक गया है। जैसे 'हल्दी घाटी मे' नामक कहानी मे सलूम्बरा सरदार की कथा, दूसरे प्रकार के वे सहायक कथानक हैं जिनका प्रयोग पताका की भाँति मूल कथा मे आदि से अन्त तक हुआ है। जैसे 'भाट का वचन' नामक कहानी मे जयदेव भाट की कथा।

५ उनकी अधिकाश ऐतिहासिक कहानियो का प्रारभ वातावरण निर्माण करते हुए होता है। ऐसी कहानियो के कथानको मे वेग उस समय आता है जब कोई सहायक कथा सूत्र उसमे आ मिलता है।

६ उनकी ऐतिहासिक कहानियो मे घटना को प्रस्तुत करने की निम्न दो विशेषताये उल्लेखनीय हैं। प्रथम-घटना की अवतारणा के प्रथम उसके ही अनुरूप वर्णन या चित्रण की एक पीठिका प्रस्तुत होती है जैसे वार्वाचिन, कालाफ्स, दुखवा मैं कासे कहूँ आदि कहानियो मे दूसरे— घटनाओ के ही माध्यम से वे अपनी कहानियो मे नाटकीयता और अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करते हैं जैसे प्रबुद्ध, दुखवा मैं कासे कहूँ, सोया हुआ शहर आदि कहानियो मे। तीसरी एक प्रमुख विशेषता और है। उनकी अधिकाश ऐतिहासिक कहानियाँ प्रसाद जी की भाति भावात्मक हैं। उन्होने इन कहानियो को तात्विक धरातल से बहुत कम लिखा है। उनके मन मे जो भी जैसी भावनायें उठी उसके अनुरूप या तो उन्होंने इतिहास से कोई कथासूत्र ढूढ निकाला या अपने कल्पना लोक से उसकी सृष्टि कर ली और उसमे अपनी सहज अनुभूतियो और भावनाओ को पिरो दिया यही कारण है कि उनकी प्राय समस्त कहानियाँ भावात्मक हो गई हैं। और भावात्मक कहानियो की अपनी स्वतत्र शिल्पविधि होती है वे सर्वथा एक-एक रूप मे स्वतत्र और मौलिक होती हैं।[१] अतएव प्रसाद जी की कहानियो के समान ही आचार्य जी अपनी कहानियो मे घटना के प्रस्तुत करने मे चरित्र चित्रण के निर्माण मे, सिद्वात प्रतिपादन और वातावरण की अवतारणा में बिल्कुल मौलिक सिद्ध हुए हैं।

१ हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायण लाल पृ० २२९।

सामाजिक कहानियों के कथानक

कोई कहानी सामाजिक है, ऐसा कहने से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सम्पूर्ण इतिवृत्त का सम्बन्ध उस वस्तु स्थिति से है जो मूलत व्यापक समाज मे फैली है। वह समाज भारतवर्ष का हो सकता है, अमेरिका का अथवा किसी भी देश का हो सकता है। समाज के भीतर व्यक्तिगत जीवन भी आता है और कौटुम्बिक अथवा सामाजिक भी। व्यक्ति और समाज के साथ उसकी सम्पूर्ण इयत्ता का सयोग होने के कारण जितनी भी उपदेश, धर्म तथा सस्कृति से सबद्ध बातें होगी वे भी इसके अतगत आजायेंगी। इस प्रकार सामाजिक कह देने से बडी ही व्यापकता का बोध होगा और विशिष्टता विधायक कोई बात स्पष्ट होगी नही। फिर भी व्यापक वर्गीकरण के विचार से इतना सकेत तो मिल ही जाता है कि इस वर्ग की कहानी मे समाज के किसी अग अथवा रूप का उल्लेख मिल सकता है।[1]

आचार्य जी ने सौ के लगभग सामाजिक कहानियाँ लिखी है। इन कहानियो का समस्या के अनुसार वर्गीकरण करना निश्चित रूप से कठिन है, कारण आचार्य जी ने दुनियाँ भर की समस्याओ पर लेखनी चलाई है। यहाँ हम केवल उनकी कुछ प्रमुख समस्याओ पर आधारित कहानियो के कथानकों का विवेचन करेंगे।

आचार्य जी ने अपनी इस प्रकार की कहानियो मे वैवाहिक समस्याएँ यथा दहेज की समस्या, दहेज के प्रश्न पर सम्बन्धियो मे मन मुटाव, लडकी पसद करना, विवाह के अवसर पर पारस्परिक सघर्ष, स्त्री-पुरुष के मध्य प्रेम, जो विवाह का आधार बनता है आदि तथा विधवा समस्या, वेश्या समस्या, प्रेम का झूठा मोह दिखलाकर पुरुष द्वारा नारी को प्रवचित करने की समस्या, स्त्री शिक्षा, नारी स्वातन्त्र्य, वृद्ध एव बाल विवाह धर्म एव सुधारवाद के नाम पर होने वाले पापाचार, रिश्वत आदि का अत्यन्त यथार्थ-चित्रण प्रस्तुत किया है।

नारी की विवशताओ, उसकी दुर्बलताओ एव पुरुषो द्वारा प्रवचित किए जाने का चित्रण आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी 'टार्च लाइट' 'वन्समोर' 'सविता' 'विधवाश्रम' 'पतिता' 'कहानी खत्म हो गई' 'जापानी दासी' 'ठकुरानी' 'फिर' 'द्वितीया' 'कन्यादान' 'पत्थर मे अकुर' 'प्रणय वध' 'वेश्या' 'हेरफेर' 'सोने की पन्नी' 'म्यूजिक मास्टर' 'दूध की धार' आदि कहानियो मे किया है।

---

[1] कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ. १६१।

'टार्च लाइट' में एक पुरुष की चारित्रिक दुर्बलता का चित्रण किया गया है। एक विधवा को विनय नाम का एक युवक किस प्रकार प्रवंचित करता है, इसी का चित्रण प्रस्तुत कहानी में प्राप्त होता है। विनय उसकी ओर आकर्षित होता है और वह विनय की ओर। विनय उसे विवाह का प्रलोभन देता है। सीधी साधी तरुणी उसके इस प्रलोभन में आकर अपना सतीत्व खो बैठती है। किंतु तरुणी के गर्भवती हो जाने पर विनय उसे त्याग कर एक दूसरा विवाह रचा लेना है। अपने सतीत्व का मूल्य उसके प्रेमी से मिलता क्या है? केवल एक सौ रु० का नोट! यह भी उसके सम्मान के लिए नहीं वरन् उसकी जिह्वा पर ताला लगाने के लिए। कारण विनय के विवाह के समय ही अकस्मात् वह आ उपस्थित होती है। उसके जबान खोलने पर विनय के विवाह रुक जाने की सम्भावना है अतः वह सौ रु० का एक नोट उसकी हथेली पर रखवा देता है। नारी इस आघात को सहन नहीं कर पाती और वह नोट फेंक कर चुपचाप लौट आती है। इसके अतिरिक्त उस नर पशु के साथ वह अबला, असहाय एवं निराश्रित नारी कर भी क्या सकती थी? इसी प्रकार 'कहानी खत्म हो गई' कहानी में भी एक असहाय विधवा के पतन की दर्दनाक कथा प्राप्त होती है। किस प्रकार एक जमींदार ने अपने बूढ़े सर्वराहकार की विधवा बेटी को पतन के मार्ग पर ढकेला और उसके गर्भवती हो जाने पर किस प्रकार उसने उससे आँखें फेर ली, इसी का चित्रण कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी में किया है। इसमें कहानी में उस विधवा का आदर्श भी दृष्टव्य है। वह जमींदार द्वारा प्रवंचित होने पर भी उसका नाम खोलना नहीं चाहती। उसका कहना है

मैं और किसी अधिकार की बात नहीं कहती, किसी बदनामी के भय से आप डरें नहीं। मर जाऊँगी, पर आपका नाम न लूंगी। परन्तु, मैं औरत हूँ, असहाय हूँ। मेरा कोई हमदर्द नहीं, आप ही अब मुझे राह बताइये। गाँव के किसी इज्जतदार गरीब ठाकुर से मेरा ब्याह करा दीजिए। किंतु वह नर-पशु यह भी न करा सका। इस पर भी वह अबला उस व्यक्ति का नाम जबान पर न लाई। अपने नवजात शिशु की उसने उत्पन्न होते ही हत्या कर दी किंतु इस अभियोग में वह पुलिस द्वारा रंगे हाथों पकड़ ली गई। पुलिस की प्रताड़ना खाने पर भी उसने बच्चा किसका है, इस रहस्य को न बताया। अन्त में उस नर पशु ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया किंतु उस अबला को आश्रय न दे सका। विवश होकर उस विधवा को आत्म हत्या कर लेनी पड़ी।

'जापानी दासी' कहानी इससे कुछ भिन्न है। इसमें आचार्य जी ने एक

क्रीता दासी का चित्रण किया है। बिजली नाम की एक दासी को एक नर पशु सौ चेन मे क्रय करता है। वह दासी के साथ बलात्कार करना चाहता है किंतु बिजली, दासी होते हुये भी नारी धर्म से परिचित है। वह उस नर पशु से अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आत्महत्या करके प्राण दे देती है किंतु अपने धर्म का त्याग नही करती। इस कथानक द्वारा आचार्य जी ने यह प्रदर्शित किया है कि भारतीय ललनाओ के समान ही अन्य देश की नारियाँ भी अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अपने प्राणो तक को उत्सर्ग करना जानती हैं।

इसके एकदम विपरीत उनकी 'सविता' कहानी है। इसमे आचार्य जी ने सविता और कविता नाम की दो आधुनिक शिक्षिता नवयुवतियो का चित्रण किया है। किस प्रकार ये दोनो नवयुवतियां पाखण्डियो के चक्कर मे पड़कर अपना सर्वस्व दे बैठती हैं, और धन के लोलुप पिता किस प्रकार सब कुछ जानते हुए भी अनजान बने रहते हैं, इसी तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत कहानी मे कहानीकार ने किया है। इस कहानी मे कहानीकार ने अपरोक्ष रूप मे यह भी सकेत किया है कि आज की आधुनिक शिक्षा नवयुवतियो को किस दिशा की ओर खीचे लिए जा रही है तथा माता पिताओ के लिए शिक्षित पुत्रियो का विवाह एक कैसी विषम पहेली हो गई है। 'वन्समोर' कहानी मे भी आचार्य जी ने आधुनिक सभ्यता पर एक करारा व्यग्य किया है। इसम भी कहानीकार ने यही दिखलाने का प्रयत्न किया है कि आज एक साधारण स्थिति के पिता के लिए अपनी पुत्रियो के लिए वर खोजना कितना कठिन कार्य हो गया है। आज के शिक्षित नवयुवक पत्नी नही अप्सरा चाहते हैं। वे अपनी भावी पत्नी की खोज उसी प्रकार करते हैं जैसे कोई सवार घोड़ी की खोज करता है। इतना ही नही वे किसी सुशील कन्या को जब देखने जाते हैं तो उसका निरीक्षण भी इस प्रकार करते है, जैसे किसी पशु का क्रय करने के पूर्व किया जाता है। देखिए एक बी० एल० महोदय एक सभ्रात परिवार की एक शिक्षित कन्या को विवाह के लिए देख जाते हैं किंतु एक बार देखने पर वे निश्चय नही कर पाते कि लड़की सुन्दर है अथवा नही। वे एक बार (वन्समोर) उस लड़की को और देखना चाहते हैं। लड़की के पिता से इसका कारण बतलाते हुए उनका कहना है हाथो की उँगलिया ठीक-ठीक नहीं देख सका। हमारी ही बिरादरी मे एक शादी होकर आई है, उस लड़की की उँगलिया और नाखून इस कदर खराब हैं साहेब कि बयान नही कर सकता, इसी वजह से जरा उँगलिया

और एक बार देख लूँ, तब अपनी राय कायम करूँ।'[1] कितना गहरा कटाक्ष किया है कहानीकार ने आधुनिक शिक्षित युवकों के ऊपर।

आचार्य जी की 'मूल्य' कहानी का कथानक बहुत कुछ उनके उपन्यास 'अपराजिता' के कथानक के समान है। इसमे कहानीकार ने दहेज की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। 'ठकुरानी' कहानी मे भी नारी की विवशताओ एव तज्जनित कुठाओ का चित्रण है।

अपनी 'सोने की पत्नी' कहानी मे उन्होने मनुष्य की धन-लिप्सा पर सीधा कटाक्ष किया है। इसका निर्माण बडे ही कलात्मक ढग से कहानीकार ने किया है। एक निर्धन नवयुवक किस प्रकार अपनी पत्नी को सोने से मढ देने की अभिलाषा रखता है किंतु वह सामग्री उसके उदर पोषण की भी नही एकत्र कर पाता। वह केवल मात्र एक निष्क्रिय स्वप्नदृष्टा मनुष्य है। कर्मठ कार्यरत पुरुष नहीं। एक दिन स्वप्न मे वह देखता है कि उसकी पत्नी सोने की हो गई है। उसे धन की आवश्यकता है, वह पत्नी के समीप अपनी कठिनाई लेकर जाता है। पत्नी अपनी एक अगुली काटकर उसे दे देती है। उसका कार्य पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार उस युवक की आवश्यकताएँ बढती जाती हैं और सोने की पत्नी के अग कटते जाते हैं। अत मे स्वप्न टूटने पर उसे अपनी धन लिप्सा का ज्ञान होता है।

अपनी 'विधवाश्रम' कहानी मे आचार्य जी ने समाज के ठेकेदारो पर करारी चोट की है। 'इस कहानी मे बहुत तीव्र व्यग्य और असतोष की भावना से लेखक ने 'विधवाश्रमो' के भीतरी कुत्सित जीवनो का भडाफोड किया है— जिनकी स्थापना आर्यसमाज ने उसकी आवश्यकता समझकर की थी। और अत मे ये सच्चे अर्थो मे कुटनखाने बन गए। लेखक को कुछ दिनो तक बिल्कुल निपट से ऐसी सस्थाओ को देखने का अवसर मिला है। इसीलिए उसके ये रेखाचित्र काल्पनिक नहीं सच्चे हैं।'[2] इस कहानी मे कहानीकार का सुधारक रूप अधिक प्रबल है। उसने नग्न सत्य को ज्यो का त्यो प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे प्रस्तुत कहानी प्राकृतवादी कहानियो के समीप जा पहुँची है। अत आदर्शवादी अवश्य है। उसने समाज की आँखो मे धूल झोकनेवाले, अबलाओ का सतीत्व नष्ट करनेवाले चारो ही धूर्तो को दड दिला दिया है।

---

१ नवाब ननकू, कहानी संग्रह, पृ ११६।

२ पोर नावालिग, कहानी संग्रह, सम्पादिका कमल किशोरी, पृ ८०।

किंतु इस कहानी के द्वारा वह कुत्सा का ही प्रचार कर सका है, सुधारवादी दृष्टिकोण का नहीं।

इसी प्रकार की उनकी 'पतिता', 'वेश्या' आदि कहानियाँ भी हैं। अपनी 'पतिता' कहानी में आचार्य जी ने कुछ वेश्याओं के कारुणिक जीवन की कथाएँ कही हैं। ये वेश्याएँ अपनी कथाएँ स्वयं कहती हैं। आनन्दी, हीरा, आदि वेश्याएँ अपने जीवन की विवशताओं एवं कटुताओं को इस कहानी में एक-एक कर सामने रखती गई हैं। पतिता होते हुए भी यह वेश्याएँ अपनी विवशताओं के कारण पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करने में पूर्ण सफल रही हैं। वास्तव में इन कहानियों की सफलता इसी में है कि पाठक का हृदय बरबस इन पतिता बहिनों की दुरावस्था से द्रवित होकर उनके प्रति गहरी संवेदना और सहानुभूति से भर जाता है। किंतु यद्यपि प्राकृतवादी (Naturalistic) ढंग की कहानियों का उद्देश्य समाज का सुधार करना आवश्यक था, परन्तु उसमें मानवता की लज्जाप्रद और घृणास्पद बातें कलात्मक सौंदर्य के साथ चित्रित की गई हैं। उनके सुन्दर और सत्य होने में कोई संदेह नहीं चरित्र-चित्रण और शैली की दृष्टि से वे बड़ी शक्ति-शाली और सुन्दर रचनायें हैं, परन्तु साथ ही वे अमंगलकारक और कुरुचिपूर्ण हैं। उनके कथानक साधारणतः वेश्याओं, खानगियों, विधवाश्रमों, सड़क पर भीख माँगनेवालों और गुन्डों के समाज के लिए गए हैं। उनका चरित्र चित्रण यथार्थ और सजीव है, कला उनकी निर्दोष है, परन्तु जनता की रुचि और मंगल भावना के लिए यह अच्छा होता कि वे समाज-सुधारक अपनी अपूर्व प्रतिभा का उपयोग किसी भिन्न रीति से करते।'[1]

आचार्य जी की कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिसमें उन्होंने नारी की कोमल भावनाओं—त्याग, तपस्या और उत्सर्ग आदि को चित्रित किया है। उदाहरण के लिए उनकी कहानी 'सुखदान', 'नहीं', 'बाहर भीतर', 'धरती और आसमान', 'गुमलागुलीम', 'दूब की धार' आदि कहानियों को ले सकते हैं। अपनी 'सुखदान' नामक कहानी में उन्होंने पति पत्नी के पारस्परिक आध्यात्मिक सम्बन्ध—जो शरीर से नितान्त भिन्न हैं—को बड़े ही भावपूर्ण एवं कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है। विद्यानाथ को अपनी प्रथम पत्नी की मृत्यु के पश्चात् अपनी साली सुषमा से विवाह करना पड़ता है। सुषमा और उनकी आयु में बड़ा अन्तर था किंतु तो भी सुषमा ने विद्यानाथ से सहर्ष विवाह करना स्वीकार

१. हिन्दी कहानियाँ, सम्पादक डा० कृष्णलाल, भूमिका, पृ ६०।

किया। अपने सुख के लिए नहीं, दियानाथ के सुख के लिए। उसे ज्ञात था कि उससे जीजा जीजी के अभाव में शायद ही अपनी प्रतिभा एवं पौरुष का उपयोग कर सकें। अपने जीजा के जीवन के निर्माण के लिए वह अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं का उत्सर्ग करके उनसे विवाह करना स्वीकार कर लेती है। दियानाथ स्वयं उसके त्याग को देखकर मर्माहत हो उठते हैं। वे सुषमा से प्रश्न करते हैं 'मुझ जैसे पुरुष को, जो आयु में तुमसे बहुत बड़ा और विधुर है, तुमने हठपूर्वक अपना पति बनाया, जब कि तुम्हें अधिक उपयुक्त जीवन साथी मिल सकता था। और इस पर भी हँसती हो, गाती हो, खेलती हो, पिता और माता को भूली हुई हो। अपने अयोग्य पति को उदास भी नहीं देख सकती हो। सुषमा, यह क्या तपस्या नहीं है।'

इस पर सुषमा का उत्तर दृष्टव्य है। उसका कहना है 'स्त्री पति के सर्वस्व को पाकर भी असन्तुष्ट ही रहती है। पति उसे अपेक्षाकृत अयोग्य ही प्रतीत होता है। तिस पर पति उसके सभी अत्याचार सहन करता है, केवल थोड़े सुखदान की आशा से, जिसकी उसे इसलिए बड़ी आवश्यकता होती है कि वह बाहरी जगत् की सभी सामाजिक और आर्थिक जिम्मेदारियों के बोझ से निरन्तर थककर चूर रहता है। पर कितनी स्त्रियाँ पुरुष को यह सब दे सकती हैं? वे स्त्रियाँ धन्य हैं, जिन्हें ऐसे पुरुष पति मिले हैं, जो अपना आत्म समर्पण पत्नी को करने के आदी हैं। पत्नी उन पर अबाध शासन चलाती है, और उनकी सम्पूर्ण सम्पदा स्वच्छन्द भोगती है। तथा उसके धन से निर्बाध जीवन-यापन करती है,' मुझे ऐसा ही एक पति प्राप्त है।'[1] स्पष्ट है कि प्रस्तुत कहानी पति-पत्नी के अभिन्न अस्तित्व एवं परस्पर के सामाजिक जीवन पर केंद्रित है।

'बाहर और भीतर' कहानी में भी नारी की कर्तव्य-निष्ठा पर प्रकाश डाला गया है। इस कहानी में अत्यन्त कलात्मक ढंग से उसने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न पर प्रकाश डाला है। प्रश्न है—स्त्री की बाह्य सुन्दरता देखनी चाहिए या आन्तरिक? विवाह के लिए स्त्री की सुन्दरता ही आज भी प्रधान मानी जाती है और उसके अन्य गुण दोषों को पीछे डाल दिया जाता है किंतु इसमें उन्होंने यह दिखलाया है कि स्त्री की बाह्य सुन्दरता से उसकी आंतरिक सुन्दरता का अधिक महत्व है। यदि नारी में आन्तरिक सौंदर्य है तो

---

१ मेरी प्रिय कहानियां, पृ १६९-१७०।

पति को ही नही ससार को वश मे कर सकती है, जब कि बाह्य सौंदर्य केवल क्षणिक प्रभाव ही डालने मे समर्थ हो सकता है।

अपनी 'धरती और आसमान' कहानी मे आचार्य चतुरसेन जी ने एक कलाकार के गृहस्थ जीवन को चित्रित किया है। कलाकार जो एक असफल गृहस्थ है किंतु सफल कलाकार। वह कला की सफलता मे व्यस्त रहकर पत्नी को अभाव के ससार मे घसीटता चला जाता है। वह सदा आदर्श के आसमान पर विचरण करता रहा, और कभी अपनी जीवन सगिनी की ओर देखा भी नही—जो धरती पर रह रही है और अभाव मे जिसका जीवन घिस गया है। और अब एकाएक वह उसे देखता है, पति की दृष्टि से नही, कलाकार की दृष्टि से। उसे ज्ञात होता है कि इस अभाव मे रहकर उसने चित्र अनेक बनाए किंतु जीवित चित्र केवल अपनी पत्नी का ही बना सका है, अपनी अभाव के कारण रोगी और दुःखी पत्नी को देखकर वह विचार करता है 'निस्सदेह यह चित्र मेरा ही बनाया हुआ है। मेरी यह पत्नी वह नही है जो अब से बीस साल पहले ब्याह कर आई थी। यह तो मेरे द्वारा बनाई हुई मूर्ति है। इसे बनाने मे मुझ कलाकार के बीस वर्ष लग गए, निस्सदेह बीस वर्ष। इन बीस वर्षों मे उसके गुलाबी चमकदार गालो को पीला पिचका हुआ बनाया गया, उन पर झुर्रियो की रेखाएं अकित की गई। इन नेत्रो का मादक तेज, कटाक्षो का विद्युत्प्रवाह धो-पोंछकर इनमे अमिट सूनापन पैदा किया गया। प्रम का आमत्रण सा देने वाले इन सरस होठो को सुखाकर उन्हे फीका किया गया। उन्नत युगल यौवनो को ढहा दिया गया। अब वे उसके अतीत यौवन के एक प्रमाणिक इतिहास बन गए थे। उसकी वह मृदुल-सुचिक्कण अलकावलियो को जगली झाडियो का रूप दे दिया गया था।'[१] इस प्रकार प्रस्तुत कहानी मे कलाकार के अभावो एव उसकी वेदना को बड़े ही कलात्मक ढग से कहानीकार ने प्रस्तुत किया है।

'दूध की धार' कहानी मे उन्होंने नारी के भावुक एव कोमल हृदय को साकार किया है। इसमे अन्त म वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नारी की सार्थकता उसके मातृत्व मे है।

अपनी 'मास्टर साहब', कहानी मे उन्होंने नारी के एक दूसरे ही रूप को चित्रित किया है। इस कहानी का कथानक आचार्य जी के 'अदल बदल' नामक उपन्यास के कथानक के समान ही है। उसमें माया पतित होने से पूर्व ही

१. मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ २९१।

अपने पति के समीप पहुँच जाती है, जब कि इसमे माया अपना सतीत्व लुटाकर एवं पाप की गठरी अपने उदर मे लिए हुए पति के पास वापस लौटती है।

नारी जीवन से सम्बन्धित आचार्य चतुरसेन जी की 'नहीं' और 'युगलागुलीय' कहानी भी है। यह कहानियाँ प्रयोग की दृष्टि से सर्वथा नवीन हैं। इनमें न कथानक है, न चरित्र चित्रण, न घटनाएँ, केवल भाव हैं। भावो का आवेश नही है, विचारो के आधार पर एक स्थापना की गई है। यह कहानियाँ महान् साहित्यकारो के एक दो वाक्यो पर आधारित हैं। उनकी 'नहीं' कहानी शरत् बाबू के दो वाक्यों पर आधारित है और 'युगलागुलीय' रवीन्द्र बाबू की दो पंक्तियो पर। 'नहीं' का कथानक केवल नाम मात्र का है। दक्षिणा को उसके पति त्याग देते हैं, वे दूसरा विवाह कर लेते हैं। दक्षिणा पिता के यहाँ रहकर एकान्त तपस्या रत रहती है। पद्रह वर्ष पश्चात् उसके पति के नेत्र खुलते हैं, वे दक्षिणा को लेने आते हैं। दक्षिणा का यौवन ढल चुका था किंतु तो भी अन्नादीदी उसे पति का ध्यान आकर्षित कराने के लिए शृंगार कराना चाहती हैं। इस पर दक्षिणा दीदी से पूछती है · स्त्री की देह ऐसी तुच्छ चीज है कि उसके रूप सौष्ठव को छोडकर उसका और कोई उपयोग ही नहीं? इसी प्रश्न के समाधान मे प्रस्तुत कहानी का कथानक अग्रसर हुआ है।

'युगलागुलीय' मे दो आधुनिकतम उच्चशिक्षिता भारतीय नारियो के विभिन्न दृष्टिकोणो को कथानक का आधार बनाया गया है। यह दोनो सखियाँ हैं श्रद्धा और रेखा। दोनों बचपन मे साथ ही खेली थी, साथ ही पढ़ी थी। साथ ही दोनो ने प्रथम श्रेणी मे एम. ए. परीक्षा पास की थी।··· श्रद्धा का विवाह हो गया, परंतु रेखा ने विवाह नही किया। उसने विदेश जाकर प्रतिष्ठा के साथ डाक्टरेट प्राप्त किया था। विश्वभ्रमण करने के पश्चात् नारी विषयक दृष्टिकोण श्रद्धा से भिन्न हो गया था। प्रस्तुत कहानी मे दोनों सखियों के नारी विषयक विभिन्न दृष्टिकोणो को ही दिया गया है।

इसके अतिरिक्त उनकी अन्य अनेक सामाजिक कहानियाँ प्राप्त हैं। अपनी 'अन्वाजान' कहानी मे कहानीकार ने एक पिता के हृदय को मूर्त किया है और इस कार्य मे उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। पिता के हृदय की आसक्ति, द्वन्द्व और दुर्बलताओं के व्यक्तीकरण मे कहानीकार पूर्ण सफल रहा है।

'मनुष्य का मोल' मे कहानीकार ने एक पौरुषयुक्त पुरुष का रेखाचित्र खींचा है। प्रस्तुत कहानी आचार्य चतुरसेन के उपन्यास 'दो किनारे' के दूसरे

खड 'दादाभाई' के समान ही है। उसमे 'दादाभाई' का विवाह ठेकेदार की पुत्री से खीचतान कर करा दिया गया है किंतु इसमे वह अत तक कुवारे ही रहते है। देखिए—उन्होंने अपनी शादी नही की। पूछने पर वे जोर से हँसकर कहते है फुर्सत ही नही मिली शादी करने की। अबकी बार फिर जवान हो पाऊँ, तो किसी लडकी को देखू।[1] सम्भवत 'दादा भाई' की रचना आचार्य जी ने नरेन्द्रसिंह को पुन जवान बनाकर विवाह कराने के लिए ही की हो!

अपनी 'जैन्टिलमैन' कहानी मे आज के युग की सभ्य ठगी और जुआ चोरी का भडा फोड किया है। इस कहानी के तथ्य सग्रह करने मे विद्वान लेखक ने उन सब विशिष्ट व्यक्तियो से मुलाकात की थी जिनके काल्पनिक नाम कहानी मे लिखे गए है। कहानी लेखक कुछ काल महानगरी बम्बई मे वहाँ के बडे-बडे सटोरियो, बैंको और मिलो के मालिकों के सम्पर्क मे रहा और उनके कूट आर्थिक ताने बाने उसने स्वय देखे समझे। 'जेन्टिलमैन' के नाम से जिस पुरुष पुगव का उल्लेख किया गया है वह बम्बई, दिल्ली और लाहौर का एक महान् अर्थशास्त्री था। अपने काल मे उसने इन तीनो महानगरो को अपने अर्थ विप्लव से हिला डाला था। आचार्य जी ने उसी के श्रीमुख से उसकी सफल योजनाएँ सुनी थी, तथा बम्बई का मार्केट भी भस्म होता अपनी आँखो से देखा था।[2] इसी कारण से प्रस्तुत कहानी के वर्णन अत्यत यथार्थ एव सजीव है।

अपनी 'पुरुषत्व' कहानी मे उन्होंने एक ऐसे पुरुष का चित्रण किया है, जिसकी दृढता और पौरुष पर नगर की एक सर्व श्रेष्ठ वेश्या मुग्ध हो जाती है।

'तिकडम' 'डाक्टर साहब की घडी' उनकी कौतुक कहानियाँ है। कला की दृष्टि से यह बहुत पीछे है। 'शर्मा जी' प० छोटेलाल' आदि कहानियो मे इन व्यक्तियो के रेखा चित्र बडे ही सजीव हैं।

राजनीतिक कहानियाँ

'यों तो राजनीतिक' कही जाने वाली कहानी भी मूलत. समाज का ही अग है और उनकी विवेचना सामाजिक कहानी के साथ ही होनी चाहिए राजनीति का अपना अलग ही क्षेत्र होता है। राजनीतिक कहानी के अन्तर्गत ऐसी भी स्थितियाँ आ जाती हैं, जिसमे विषय और बात किसी एक ही देश,

१. पीरनाबालिग, कहानी संग्रह, पृ २३।
२. पीरनाबालिग, कहानी संग्रह, पृ. ४८।

जाति, धर्म अथवा समाज से सम्बद्ध न हो। दो अथवा दो से अधिक देशों और समाज का रूप भी उसके भीतर आ जाय।' इनका प्रतिपाद्य समाज के अन्तर्गत से उतना नहीं चलता जितना कि राजनीतिक वातावरण और जीवन के किसी दर्शन से सम्बद्ध होता है। देश की अथवा विश्व की राजनीतिक गतिविधि का ही सामूहिक प्रभाव इसमें ध्वनित होता। समाज के अन्तर्गत उसका नायक उतना नहीं आएगा जितना राजनीतिक मंच पर विचरण करता दिखाई पड़ेगा, विचार करता हुआ विवाद करता हुआ और आचरण करता हुआ। ऐसी कहानियों में सारा वातावरण एक प्रकार से राजनीतिक हो जाता है। भले ही प्रच्छन्न रूप में कहीं धर्म और समाज भी झाँकता मिले, पर सामूहिक प्राधान्य राजनीतिक प्रभाव का ही बना रहता।'[१]

आचार्य जी की राजनीतिक कहानियाँ लगभग बीस के हैं। जैसा कि हम 'जीवन वृत्त' वाले अध्याय में दिखला चुके हैं कि आचार्य जी का राजनीति से कभी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा, किन्तु परोक्ष रूप से अवश्य रहा। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है, परन्तु जब इस प्रकार मानसिक प्रतिक्रियायें विचार क्रांति कर रही थीं, तभी भारतीय क्रांति के भी मैं निकट पहुंचा। इसका कारण भगतसिंह था। उसे मैं तब किसी और ही नाम से जानता था। मेरी लेखन शैली से आकर्षित होकर मेरे पास आया था। मुझे अपने गिरोह का सरदार बनाने का उसका आग्रह था। उन लोगों में मैं सम्मिलित तो न हुआ, पर सम्पर्क तो रहा ही। इन सब कारणों से मेरे कथा साहित्य में क्रांति मूर्त होने लगी। बहुत सी कहानियाँ मैंने इसी प्रकार की लिखी।'[२] उनकी 'पहली सलामी' इसी प्रकार की एक सस्मरणात्मक कहानी है। इसमें उन्होंने क्रांतिदूत भगतसिंह के साथ अपने व्यक्तिगत सम्पर्क को एवं एसेम्बली में हुए बम काड को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। कहानी आदि से अंत तक सजीव एवं हृदय स्पर्शी है। उनकी जीवन्मृत खूनी, क्रांतिकारिणी, वारंट, मुखबिर, लौह पुरुष, रूपदर्शीव, सफेद कौवा आदि कहानियाँ भी इसी प्रकार की हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के समय में राजनीतिक वातावरण ऐसा था कि जिसमें एक ओर गांधी जी के प्रभाव के कारण सत्याग्रह, धरना देना, खद्दर चरखे का प्रचार, हिन्दू मुसलमान ऐक्य, मद्यपान प्रतिबंध आदि का बोल बाला था तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी दल पूर्ण सतर्कता के साथ ब्रिटिश शासन को उलटने

१. कहानी की रचना विधान डा० शर्मा, पृ. १६२।
२. वातायन पृ. २४।

के प्रयत्न मे था। आचार्य जी ने अपनी कहानियो मे इन दोनो का ही चित्रण किया है। उनको लौह पुरुष, बारट आदि कहानियाँ प्रथम प्रकार की है तथा खूनी, क्रान्तिकारिणी, मुखबिर, जीवन्मृत दूसरे प्रकार की। इन दोनो से भिन्न इनकी प्रतीकात्मक राजनीतिक कहानियाँ है इनमे हम लम्बग्रीव, सफेद कौवा आदि को रख सकते हैं।

इनमे प्रथम वर्ग की कहानियो के कथानक सीधे-साधे एव सरल हैं। 'लौह पुरुष' कहानी म कहानीकार ने केवल बापू के व्यस्त एव कर्मठ जीवन की एक झाँकी दिखलाने का प्रयत्न किया है। बापू एक साथ कई कार्य करते हैं। उनका आश्रम कार्य, मनोरजन का कार्य, सुधार का कार्य एव राजनीतिक मत्रणा का कार्य एक ही साथ चलता है। इसी को प्रस्तुत कहानी म कहानीकार ने प्रदर्शित करन का प्रयत्न किया है। कथानक म आदि से अन्त तक रोचकता एव सजीवता बनी रही है। कहानीकार प्रस्तुत कहानी मे बापू के कर्मठ जीवन की एक झाकी प्रस्तुत करने मे पूर्ण सफल रहा है।

अपनी 'बारट' कहानी मे आचार्य चतुरसेन जी ने दिखावटी देश भक्तो की कलई खोलकर रख दी है। उन दिनो गाव गाव कडाह चढे थे, पानी उबल रहा था, नमक बन रहा था। नमक नही बन रहा था नमक कानून तोडा जा रहा था यो जो नमक बनना था, वह जान और आबरू के मोल का था।'[1] उस समय फसली नेताओ की धूम थी। ये नेता देश के भोले भाले नवयुवको को उत्तेजित करके कारागारो मे धडाधड भरवाते जा रहे थे किंतु जेल जाने के नाम से स्वय बहुत भयभीत थे। इस भय का ही चित्रण कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी मे किया है। इस कहानी मे नमक आन्दोलन का चित्र तो उतना सजीव नही है जितनी कि उसमे हास्य की सामग्री प्राप्त हो जाती है।

अब हम आचार्य चतुरसेन जी की दूसरे वर्ग की राजनीतिक कहानियो को लेते हैं। उनकी 'जीवन्मृत' कहानी मे एक अत्यन्त खतरनाक भेद छिपा हुआ है। 'इस भेद का सम्बन्ध भारत के एक बहुत भारी असफल विप्लव से है। कहानी में कुछ उलझनें थी, कुछ ऐसी बातें थी जो लिखी नही जा सकती थी और छोडी भी नही जा सकती थी, इन उलझनो के कारण ही प्रतिदिन पचास पृष्ठ लिखने की सामर्थ्य रखने वाले लेखक को यह कहानी पूर्ण करने में नौ मास लगे थे। फिर भी कहानी चाद में छपते ही चाँद की दो हजार की जमानत जब्त हो गई थी। कहानी को पढकर तत्कालीन लाहौर हाईकोर्ट के

---

१. लम्बग्रीव, कहानी सग्रह, पृ. ६२।

प्रसिद्ध कौंसेल (बाद में जस्टिस और फिर कस्टोडियन जनरल) श्री अछरूराम ने आश्चर्यचकित होकर ४ पृष्ठों के पत्र में लेखक को लिखा था कि क्या वास्तव में कल्पना सत्य की ऐसी हूबहू तस्वीर खींच सकती है ? कहानी नायक के श्री अछरूराम बाल सहचर रहे हैं। उस व्यक्ति के चरित्र के वे प्रत्यक्ष द्रष्टा हैं।'[1] प्रस्तुत कहानी का नायक एक गुरुकुल के आचार्य का पुत्र है। देश उसका प्राण और देश सेवा उसका व्रत था' किन्तु उसके हृदय के किसी कोने में विलासिता और वासना भी छिपी पड़ी थी। देश स्वतंत्र कराने का अवसर आया। एक राजा साहब के साथ ब्रिटिश राज्य को उलटने का षड्यंत्र प्रारंभ हुआ। किन्तु ये लोग अपने प्रयास में असफल रहे। राजा साहब तो बच निकले किंतु कहानी का नायक युवक पकड़ा गया। अन्त में शीघ्र ही नारी के माया जाल मे पड़कर वह देश द्रोही बन गया था। इस कहानी के निर्माण की विधि भी कुछ विचित्र है। इसमें पात्रों के नाम गायब हैं, कथानक नहीं है केवल उसका आदि अंत है। प्रस्तुत कहानी में मानवीय ऐषणाओं और मनोविकारों को मूर्त करने में कहानीकार ने पर्याप्त परिश्रम किया है और एक सीमा तक सफल भी रहा है।

इस कहानी के एकदम विपरीत आचार्य चतुरसेन जी की 'मुक्तद्विर' कहानी का कथानक है। इसमे कहानीकार ने ऐसे देशभक्त का चित्रण किया है जिसने अपने क्रांतिकारी मित्र को बचाने के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया था। इस नवयुवक का नाम हरसरन दास था। यह परतप नरश्रेष्ठ किसी प्रेस में एक कम्पोजीटर था, अत्यन्त गरीब, सीधा और अपढ़। देखने में दुबला-पतला-अभद्र-असभ्य-सा। बातचीत में भीरु, जीवन में लापरवाह। दिल्ली की बम फैक्टरी के उद्‌घाटन का उल्लेख तो भारतीय विप्लव के इतिहास में एक महत्वपूर्ण बात है परंतु इस हुतात्मा को शायद किसी ने जाना भी नहीं। जिसके त्याग, तपने भय और प्रलोभनों को ही नहीं, बड़ी से बड़ी ईर्ष्या को भी जय कर लिया था।'[2] कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी में इसी व्यक्ति के चरित्र को अधिक से अधिक उभारा है। इससे कुछ भिन्न आचार्य चतुरसेन जी की 'पीर नाबालिग' कहानी है। इसमें उन्होंने एक ऐसे नवयुवक का चित्रण किया है जिसने अपना सर्वस्व राजनीतिक आन्दोलनों पर न्योछावर कर दिया किंतु मिला उन्हें कुछ नहीं। उनके साहसिक कार्यों का, उत्सर्ग का,

---

१. लम्बग्रीव, कहानी संग्रह, सम्पादिका कमलकिशोरी, पृ. १६।

२. लम्बग्रीव, कहानी संग्रह, सम्पादिका कमलकिशोरी, पृ. ८४।

सम्पूर्ण श्रेय लीडर लोग ही हड़प ले गये।' 'पीर नाबालिग' एक ऐसा ही तरुण है, जिसे अपनी 'क्रान्तिकारिणी' कहानी में आचार्य चतुरसेन जी ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि स्त्रियों पर भी क्रान्तिकारी दल का प्रभाव पड़ा था। ये स्त्रियाँ देश की स्वतन्त्रता के लिए रण चंडी की भाँति संलग्न थीं। इस कहानी का कथानक केवल इतना है—एक क्रान्तिकारिणी बस के द्वारा पुलिस से बचने के लिए भागना चाहती है। अकस्मात पुलिस बस को घेर लेती है। उस युवती से भी प्रश्न होता है। वह पास ही बैठे वकील साहब की बहन बन जाती है। उसकी मुखमुद्रा देखकर वकील साहब भी थानेदार से उसका परिचय अपनी बहिन के रूप में देते है। थानेदार लौट जाते हैं किंतु दूसरे दिन ही वकील साहब का घर पुलिस घेर लेती है। तब तक वह क्रांतिकारिणी वहाँ से भाग चुकी थी। अत में वकील साहब के उत्तरों को सुनकर और क्रांतिकारिणी को न पाकर पुलिस निराश होकर लौट आती है। इस छोटे से कथानक द्वारा कहानीकार ने तत्कालीन क्रांतिकारी दल की सतर्कता की ओर भी संकेत किया है।

आगे चलकर आचार्य जी का क्रान्तिकारियों से मन हट गया था। उनके आतंकवाद को देखकर आचार्य जी को विश्वास हो गया था कि इससे देश का लाभ कभी नहीं हो सकता। देश केवल गांधी के अहिंसा मार्ग पर ही चलकर स्वतंत्र हो सकता है। अपनी 'खूनी' कहानी में उन्होंने यही प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। जिस समय इस कहानी की रचना हुई थी उस समय गांधी जी के अहिंसात्मक का जन्म ही हुआ था और इस कहानी के लेखक ने गांधी-वाद पर अपनी अप्रतिम रचना 'सत्याग्रह और असहयोग' रची ही थी, जो उन दिनों गीता की भाँति पढ़ी जा रही थी। क्रान्तिकारियों के आए दिन आतंकपूर्ण साहसिक कार्य सुन पड़ते थे, किसी कलम के धनी का और सरस्वती के पुत्र का यह साहस न था कि उनके आतंकवाद की ओर अंगुली भी उठाए—तभी आचार्य जी ने शुद्ध अहिंसा की राजनीति का एक प्रभावशाली रेखा चित्र इस कहानी में चित्रित किया था।"[१] इस कहानी में कहानीकार ने एक ऐसे व्यक्ति का चित्र खींचा है जिसे अपने दल के नायक की आज्ञा पर अपने एक निर्दोष मित्र की निर्मम हत्या करनी पड़ी थी। हत्या करने के पूर्व दल के कठोर अनुशासन के कारण वह नायक से इस आज्ञा का कारण भी नहीं पूछ सकता था। विवश होकर उसे अपने मित्र की हत्या करनी पड़ी। हत्या के पश्चात् उसने नायक से अपने मित्र का अपराध ज्ञात किया। नायक ने उसका

१. सम्बोध, कहानी संग्रह, सम्पादिका कमल किशोरी, पृ. ४२।

अपराध बतलाते हुए कहा 'वह हमारे हत्या सबधी षड्यत्रो का विरोधी था। हम उस पर सरकारी मुखबिर होने का सदेह था'[1] इस पर उस व्यक्ति का उत्तर दर्शनीय है 'मुझे मेरे वचन फेर दो। मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त कर दो, मैं उसी के समुदाय का हूँ। तुम लोगो मे अभी छाती पर तलवार के घाव खाने की मर्दानगी न हो तो तुम अपने को देशभक्त कहने से इनकार कर दो। तुम्हारी इन कायर हत्याओ को मैं घृणा करता हूँ। मैं हत्यारो का साथी, सलाही और मित्र नहीं रह सकता तुम तेरहवी कुर्सी को जला दो।'[2] स्पष्ट है कि इस कहानी तक आते-आते आचार्य जी का विश्वास हो गया था कि मनुष्य को अपनी प्रज्ञा अहिंसा का सौंप देनी चाहिए।

अपनी प्रतीकात्मक राजनीतिक कहानियो मे आचार्य जी ने प्रतीको एव सकतों का आश्रय लिया है। उनकी सफेद कौआ' एक उत्कृष्ट व्यग्यध्वनि की कहानी है। इसमे एक ऐतिहासिक सत्य की व्यजना बडे ही सुदर व्यग्य के रूप मे कहानीकार ने की है। भारत म अग्रेजो के आगमन एव पलायन, अग्रेजी सस्कृति के भारतीय जीवन में प्रवेश एव गाधी जी की 'क्विट इण्डिया' के जादू की करामात को व्यग्यविनोद की भाव भगिमा मे प्रस्तुत कहानी मे साग ध्वनित किया गया है। इसमे मुगल शासको को महाराज सूद्रक के रूप में, अग्रेजो को सफेद कौए के रूप मे, महात्मा गाधी को ल्गोटी बाबा के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। प्रतीको की योजना अत्यत सुन्दर है। विनोद और चमत्कार से साथ-साथ प्रस्तुत कहानी मे भावोत्कर्ष का भी सुन्दर समन्वय है।

इसी प्रकार की उनकी दूसरी प्रतीकात्मक कहानी है 'लम्बग्रीव'। इसमे कहानीकार ने भारत विभाजन की विभीषिका से लेकर गाधी जी की हत्या तक का चित्र बडे ही कलात्मक ढग से प्रस्तुत किया है। वास्तव मे इस कहानी मे कलाकार की आहत आत्मा असह्य वेदना से चीत्कार कर रही है। उस चीत्कार से देव दैत्य तक विचलित हो गये हैं। कलाकार, जो नित्य ही भूत दया, प्राणियो के सुख और जीवन के आनद के स्वप्न देखता रहता है, जब महा महानरमेध का द्रष्टा बना तो फिर उसकी वेदना की सीमा क्या होगी? शायद ही विश्व के किसी कलाकार ने भारत की विभाजन विभीषिका पर ऐसा हाहाकार किया होगा। कहानी के टेकनिक का जहाँ तक सबध है, लेखक

१ लम्बग्रीव, कहानी सग्रह, सम्पादिका कमल किशोरी, पृ ४७।
२. लम्बग्रीव, कहानी संग्रह, सम्पादिका कमल किशोरी, पृ. ४७।

को जातिगत विद्वेष से अछूता रहने मे अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। कहानी मे विशुद्ध मानव प्रेम और भूतदया है। रत्ती भर भी प्रोपेगेन्डा नही है व्यग्य और श्लेष के चमत्कार के तो कहने की क्या है। 'चद्रकला' कहानी का प्राण है, जो शिव का शिरोभूषण और विभाजन के पुरोहित का राष्ट्रचिह्न है'[1] इस कहानी को आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी माना है।[2] इस कहानी मे आचार्य जी ने किंचित मात्र पौराणिक पुट भी दिया है। भारत विभाजन को उन्होने कैलाशी के कोप का सूचक बतलाया है।' उत्तुग हिमकूट पर धूर्जटि क्रोध से फूत्कार कर उठे। उनका हिम धवल दिव्य देह थरथरा गया। अभी अभी उनकी समाधि भग हुई थी और उसी समय उन्हे प्रतीत हुआ कि उनके जटाजूट से कोई चद्रकला को चुरा ले गया।' यह चद्रकला लम्बग्रीव की टोपी पर जा बैठी थी। उसने अपने ध्वज का चिह्न भी चद्रकला ही रखा था। फिर कैलाशी को क्रोध क्यो न आए। अन्तत उन्होने अपना तृतीय नेत्र खोल दिया। भारत विभाजन की विभीषिका मे भस्म होने लगा कहानीकार के अनुसार अत मे भगवान् शकर का क्रोध गाधी का बलिदान लेकर शात हुआ। गाधी को प्राप्त कर देवाधिदेव मुस्करा उठे, आप ही आप उनका तृतीय नेत्र निमीलित हो गया, उच्च हिमकूट पर वासती वायु बहने लगी, विविध वर्ण पुष्प खिल गये, मकरद लोभी भ्रमर गूँजने लगे, कोयल कूकने लगी, मलय मारुत का सुख स्पर्श पा कैलाशी आनन्द विभोर हो गए। बादलो को छिन भिन्न करती हुई उमा रत्न शृगार किए आ उपस्थित हुई।

कैलाशी ने धीरे से त्रिशूल नीचे रख दिया। डमरू अपने स्थान पर अवस्थित हुआ। शुद्ध शिव-रूप होकर धूर्जटि ने कहा 'हे कालपुरुष, तू जयी हो। आ मेरे शीर्षस्थान पर आसीन रह, और वही से अनत विश्व पर जब तक भूलोक मे काल का आयु दड है, तू ही चद्र कला के स्थान पर शीतल स्निग्ध-शुभ्र-शिव ज्योत्स्ना की मर्त्य प्राणियो पर वर्षा करता रह।'

इन कहानियो को कहनीकार ने पुराण-कथा के रूप मे प्रस्तुत किया है, जिससे इनकी कलात्मकता एव व्यजना शक्ति बढ गई है। 'इन कहानियो का मूल धरातल कल्पना और भावुकता है अतएव यह कहानियाँ अपने शिल्प मे

---

१. लम्बग्रीव, कहानी संग्रह, सम्पादिका कमल किशोरी, पृ. १।
२. साहित्य सन्देश, जनवरी-फरवरी १९५३, पृ ३५१।

भावुकतापूर्ण रेखाचित्र और गद्यगीत के समीप आ गई हैं। इनके कथानक मे न तो इतिवृत्तात्मकता है न संवेदना की क्रमबद्धता बल्कि उनमे भावनाओ का उमडता हुआ ज्वार है। समस्त कथा एक प्रसग मे ही नहीं केवल एक भाव के ऊपर एक पैर से खडी हो जाती है और उसकी कला एक ही भाव के अनेक चित्रो के माध्यम से स्पष्ट होती है अत ऐसी कहानियो मे साकेतिकता और व्यजना ही शैली के दो उपकरण माने जा सकते हैं।'[1]

मनोवैज्ञानिक कहानियां

'चरित्राकन से कुछ पृथक् हटकर और पात्र की किसी वृत्ति विशेष को पकडकर उसकी विविध भगिमाओ के सारे उतार-चढाव को दिखाना ही मनोवैज्ञानिक कहानी का मुख्य लक्षण मानना चाहिए। कहानी के अन्य किसी तत्व की ओर न तो ध्यान जाता है और न उसका कोई प्रभाव ही उमड पाता है। उनमे केवल मानसिक तर्क-वितर्क और ऊहापोह इस ढग से किया जाता है कि चरित्र के इतिवृत्तात्मक अश की ओर चित्त कम आकर्षित होता है और सारा मनोरजन केन्द्रित हो जाता है मन स्थिति की विवेचना मे। इन कहानियो म एकनिष्ठ होकर जब किसी प्रकार की मनोदशा का उद्घाटन कुछ दूर चला जाता है तो एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक वातावरण छा उठता है। इसीलिए वातावरण प्रधान कहानिया मनोवैज्ञानिक कहानियो के साथ सफलता से चल सकती हैं, और बडे सुन्दर प्रभाव उत्पन्न करती मिलेंगी।'[2]

किंतु जिस प्रकार अभी हम ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक कहानियो का वर्गीकरण कर आए हैं, उस प्रकार हम आचार्य चतुरसेन जी की मनोवैज्ञानिक कहानियो का वर्गीकरण नही कर सकते। कारण इनकी अधिकाश कहानियो मे मनोविज्ञान पानी मे शक्कर सरीखा घुला मिला प्राप्त होता है। मनोवैज्ञानिक पुट के कारण ही इनकी कई कहानियो का कलात्मक सौंदर्य निखरा हुआ दीख पडता है। 'किन्ही-किन्ही कहानियो मे किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन होता है या सभ्यता के विकास का काल्पनिक चित्रण किया जाता है। कहानी की रोचकता उसके कौतूहल के अतिरिक्त मानव समाज के प्रति सहानुभूति मे है। हम मनुष्य हैं और मनुष्य के विचारो, आशाओ और अभिलाषाओ, उसकी

---

१. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायणलाल, पृ. ७६।

२. कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ. १६२-१६३।

सफलता और विफलताओं के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण रुचि रखते हैं। यही सहानुभूति जो हमारे साहित्य का मूल है कहानी का भी आधार है। मनोवैज्ञानिक सत्य इस सहानुभूति के लिए सामग्री उपस्थित करे उसका पोषण करता है।" इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सत्य से पोषित आचार्य जी की कितनी ही कहानियां प्राप्त होती हैं। उनकी कहानी 'नवाब नवर्' एक भाव कथा है, जिसमें चरित्र और आचार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। कहानी में कुछ तीन मुख्य पात्र हैं। राजा साहब एक शराबी कबाबी वश्यागामी लम्पट रईस जिन्होंने इसी काम में अपनी सारी सम्पत्ति फूँक दी और अब दारिद्र्य और रोग का भोग भोग रहे हैं। दूसरी हैं एक विगलित यौवन वेश्या और तीसरे हैं एक रईस के औरस से उत्पन्न वेश्या पुत्र जो अपने को नवाब समझते हैं। इस कहानी में तीनों दोस्तों की मुलाकात का रेखा चित्र है। मुलाकात में जीवन के आगे पीछे के समूचे जीवन की स्पष्ट झांकी अंकित करने में लेखक ने अपनी अपरिसीम कथा निर्माण कला का परिचय दिया है। इससे भी अधिक अपनी उस विश्लेषण सामर्थ्य को मूर्त किया है जब कि वह चरित्र को आचार से पृथक मानता है। तीनों ही पात्र हीन चरित्र हैं। परन्तु उनके हृदय की विशालता, विचारों की महत्ता, भावों की पवित्रता ऐसी व्यक्त हुई है कि बड़े से बड़ा सदाचारी भी उसकी समता नहीं कर सकता। पूर्ण कहानी पढ़कर तीनों में से किसी भी पात्र के प्रति मन में विराग और घृणा नहीं होती, आत्मीयता और सहानुभूति के भाव पैदा होते हैं। आचारहीन व्यक्ति भी उच्च चरित्रवाले होते हैं। तथा आचार और चरित्र में मौलिक अन्तर क्या है यह गम्भीर मनोवैज्ञानिक और आचारशास्त्र सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण कहानीकार ने इस कहानी में व्यक्त किया है।

अपनी राजनीतिक कहानियों में भी उन्होंने मनोविज्ञान का पुट दिया है। 'जीवन्मृत', खूनी, क्रान्तिकारिणी, वारंट, मुखबिर आदि कहानियां उच्चकोटि मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं। इन कहानियों में एक ओर कर्मठ क्रान्तिकारियों के अन्तस का उद्घाटन किया गया है तो दूसरी ओर ऐसे नेताओं के मनोभावों को उभारा गया है जो बुजदिल वितृ यश और धन के लोलुप हैं। इसी प्रकार 'खूनी' में खूनी का, 'जीवन्मृत' में जीवन्त, उसकी पत्नी एवं पिता का, 'वारंट' में सम्पादक महोदय, 'क्रान्तिकारिणी' में वकील साहब एवं

---

१ साहित्य सदेश कहानी अंक, जनवरी-फरवरी १९५३, पृ २९०-२९१।

मिसेज भगवती चरण का, 'मुसविर' मे हरसरन का मनोविश्लेषण अत्यन्त सुन्दर ढग से हुआ है ।

आचार्य जी ने अपनी कुछ कहानियो मे सेडिस्म एव मैसोकिस्म का भी प्रयोग किया है । सेडिस्म को परपीडक कहते हैं इसमे किसी व्यक्ति को दूसरे को पीडा देकर आनन्द की उपलब्धि होती है और मैसोकिस्म को स्वपीडक कहते हैं इसमे दूसरो से पीडित होने मे आनन्द प्राप्त होता है । अपने को कष्ट देकर भी इसमे आनन्द प्राप्त किया जाता है । भूख, हडताल, सत्याग्रह, सिटडाउन स्ट्राइक करनेवालो मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है । यह लोग स्वय पीडा उठाकर पीडक को रास्ते पर लाना चाहते हैं । १ आचार्य जी की 'मूल्य' एव 'ठकुरानी' कहानियो मे स्वपीडक वाली भावना ही प्राप्त होती है ।

आचार्य जी की सामाजिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक कहानियों के कथानक निर्माण की विविध प्रणालियाँ

अपनी ऐतिहासिक कहानियो के कथानको के समान ही आचार्य जी ने अपनी सामाजिक, राजनीतिक एव मनोवैज्ञानिक कहानियो के कथानको के निर्माण मे कुछ विशिष्ट विधियो का प्रयोग किया है उनमे से कुछ निम्न हैं —

१ कहानी के कथानक का प्रारम्भ सरल और शान्त विधि से होता है । कहानी के मध्य मे अकस्मात् एक घटना घटित होती है । जिससे कथानक दो सूत्री होकर अग्रसर होने लगता है । ये दोनो ही सूत्र परस्पर सघर्ष करते हुए विकसित होते हैं किंतु अन्त मे वे विरोधी सूत्र सयुक्त होकर अपनी पूर्व स्थिति मे पुन आ जाते हैं जैसे मास्टर साहब, मूल्य आदि ।

२ कथानक का प्रारम्भ किसी समस्या को लेकर होता है । कथा के कुछ अग्रसर होते ही उसमे सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है । कथानक दो सूत्रात्मक हो जाता है । कथानक के अन्त तक पहुँचते पहुँचते उसका एक सूत्र शक्तिहीन होकर दूसरे से आ मिलता है । जैसे ठकुरानी, पुरुषत्व आदि ।

३ कथा सूत्र का जन्म किसी छोटी-सी घटना को लेकर होता है और इसका विकास तथा चरम परिणति भी अन्ततोगत्वा उसी घटना पर आधारित रहते हैं जैसे तिकडम, डाक्टर साहब की घडी, बर्मा रोड आदि कहानियों के कथानक ।

---

१ आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, डा० देवराज उपाध्याय पृ० १०१ ।

४ कहानी का प्रारम्भ किसी ऐसे सूत्र से होता है जो आदि से अन्त तक एक सा बना रहता है। 'इसमें न किसी सहायक शक्ति की आवश्यकता है न किसी विरोधी शक्ति की प्रतिक्रिया वरन् यह सूत्र स्वतः स्वाभाविक गति से आगे बढ़ता है और विविध मनोभावों, अन्यान्य कार्य व्यापारों के बीच से आगे बढ़ता है लेकिन सबमें एक क्षमता और शृंखला रहती है और अन्त में यह कथानक उसी स्वाभाविक दृष्टि से एक हो जाता है लगता है जैसे इस कथानक *निर्माण में चरम सीमा की कोई व्यवस्था नहीं है, न कोई व्यवस्था है, न उसकी* कोई उपेक्षा ही है।'[1] जैसे नवाब ननकू, सुखदान, पीरनाबालिग, बाहर भीतर आदि कहानियों के कथानक।

५ आत्मकथात्मक कहानियों का निर्माण दो प्रकार से हुआ है। प्रथम कथानक का प्रारम्भ किसी व्यक्ति के आत्म कथात्मक कथा वर्णन से होता है और यही एक व्यक्ति सम्पूर्ण कथा पर छाया रहता है। इनमें कथा प्रायः एक ही पात्र के मुख से कहलाई गई है। जैसे पीरनाबालिग, कहानी खत्म हो गई, खूनी, क्रान्तिकारिणी आदि कहानियों के कथानक। दूसरे प्रकार की कहानियों का आरम्भ भी किसी व्यक्ति के आत्म कथात्मक कथा वर्णन से ही हुआ है किंतु इस प्रकार की कहानियों में आदि से अन्त तक एक ही पात्र अपनी कथा नहीं कहता वरन् इसमें कई पात्र एक एक कर अपनी-अपनी कथा कहते गए हैं। यह सभी परस्पर भिन्न प्रतीत होती हुई कथाएँ एक सूत्र द्वारा आबद्ध होती हैं, जिससे कथानक पूर्ण सुसंगठित, शृंखलाबद्ध एवं स्वाभाविक रहता है। जैसे जीवन्मृत, पतिता आदि कहानियों के कथानक। इन दोनों ही प्रकार की कहानियों के कथानक अत्यन्त स्वाभाविक गति से बिना कथानक में किसी प्रकार की कलात्मक सश्लिष्टता उत्पन्न किये चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं।

६ आचार्य जी ने अपनी कुछ कहानियों का आरम्भ किन्हीं महान् साहित्यकारों के एक दो वाक्यों को लेकर किया है। जैसे 'नहीं', युगलांगुलीय आदि कहानियों का आरम्भ।

७ आचार्य जी ने अपनी कुछ कहानियों का निर्माण व्यंजनाओं के द्वारा किया है। इनमें घटनाओं की न्यूनता है। संयोग और आकस्मिकता के आधार पर भी इन कहानियों का निर्माण नहीं हुआ है। वास्तव में इन कहानियों के कथानक कथात्मक न होकर रूपकात्मक एवं प्रतीकात्मक हैं। ऐसे कथानकों

---

१ हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायणलाल, पृ० १३२-१३३।

के उदाहरण मे हम 'सफेद कौवा', लम्बग्रीव' आदि कहानियो के कथानको को रख सकते हैं। अपनी इस प्रकार की कहानियो के निर्माण मे आचार्य जी ने एक नवीन कथानक तत्व की सहायता ली है। इनमें वर्णनात्मकता, नाटकीयता एव व्यजना तीनो का ही समन्वय प्राप्त होता है।

आचार्य जी की कहानियों में चरित्र चित्रण

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो की भाँति उनकी कहानियो मे पात्रो का चरित्र चित्रण विस्तार से प्राप्त नही होता। कहानी म रचना विस्तार की सर्वांगीण परिमिति दिखाई पडती है। इस तथ्य का प्रभाव चरित्र और उसके विकास क्रम पर भी पडता है।[1] इस स्थान सकोच के कारण ही कुछ विद्वानो का मत है कि 'वास्तव मे कहानियो का काम चरित्र चित्रण है भी नहीं'[2] डा० श्रीकृष्णलाल ने भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कहानी मे उपन्यास की भाँति किसी चरित्र का अनेक कार्यों और प्रसगो के बीच यथाविधि विस्तृत चित्रण सभव ही नही है, इसीलिये कहानी का केन्द्रबिन्दु चरित्र चित्रण नही हो सकता।[3] किन्तु वास्तव मे सत्य यह है कि कहानी का केन्द्र बिन्दु चरित्र चित्रण भले ही न हो, परन्तु उसका कहानी मे महत्वपूर्ण स्थान तो है ही। आचार्य जी ने अपनी कहानियो मे इस बात का ध्यान रखा है। उनकी कहानियो के पात्रो को भी उनके उपन्यासो की भाँति कई वर्गों मे रखा जा सकता है। यहाँ हम उनकी कहानियो के पात्रो के वर्गीकरण मे न जाकर केवल कहानियो मे प्राप्त चरित्र चित्रण कला की प्रमुख विशेषताओ पर विचार करेंगे।

आचार्य जी की कहानियो की चरित्र चित्रण सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ—

आचार्य जी के उपन्यासो की भाँति उनकी कहानियो मे भी कुछ विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।

आचार्य जी की कहानियो के चरित्रो की सर्व प्रमुख विशेषता है कि वे घटनाओ के अनुरूप ही चित्रित हुए हैं। उनकी कहानियो के पात्रो का व्यक्तित्व उनके उपन्यासो के पात्रो के व्यक्तित्व की भाँति पूर्ण एव निखरा हुआ भले ही न हो किन्तु जितना भी वह चित्रित हुआ है पूर्ण स्वाभाविक एव सजीव है।

१ कहानी का रचना विधान डा० शर्मा पृ ९३।

२. कहानी में चरित्र चित्रण निबन्ध डा० देवराज उपाध्याय, कहानी मासिक वर्ष ३ अक १ अक्टूबर ५०।

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास डा० श्री कृष्णलाल पृ ३२८।

उदाहरण के लिए हम उनकी 'क्रान्तिकारिणी', 'मुखबिर', 'खूनी', 'पतिता', 'विधवाश्रम', 'पत्थर मे अकुर', 'प्रतिशोध', 'कन्यादान', 'अभाव', 'सत्यव्रण', 'हेर फेर', बहिन !' 'तुम कहाँ', 'मैं तुम्हारी आखो को नहीं तुम्हे चाहता हूँ', 'नवाब ननकू', 'अम्बपालिका', 'भिक्षुराज' आदि कहानियो के चरित्रो को ले सकते हैं।

आचार्य जी ने अपने उपन्यासो की भाँति अपनी कहानियो के पात्रो के व्यक्तित्व के विकास मे भी मनोविज्ञान का पूर्ण आश्रय लिया है। अपनी कुछ कहानियो मे समाज सापेक्ष्य व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओ को उन्होने बडी कुशलता के साथ उभारा है। उन्होने अपने उपन्यासो की भाँति अपनी कहानियो मे भी व्यावहारिक मनोविज्ञान का बडा सुन्दर परिचय दिया है। किंतु यहाँ भी वे मनोवैज्ञानिक कहानीकारो की भाँति पात्रो का मनोविश्लेषण करने नहीं बैठे हैं, वरन् अपने उपन्यासो की भाँति यहाँ भी उन्होंने मनुष्य के भीतर के भावो को बडी कुशलता से उरेहा है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'बाहर भीतर' 'धरती और आसमान' 'खूनी' 'जीवन्मृत' 'मुखबिर' 'कुलदास' आदि कहानियो मे आचार्य जी पात्रो के बाह्य चित्रण मे जितने सफल रहे हैं उतने मानसिक चित्रण मे नही। इन कहानियो मे चरित्रो के भीतर पैठकर उनके मनोराज्य के ऊहापोह का, विचारो के सघर्ष का चित्रण करने की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। इन कहानियो के चरित्र भी उनके प्रारम्भिक उपन्यासो की भाँति प्राय व्यक्तिगत विशेषताओ की अपेक्षा वर्गगत विशेषताओ के अधिक समीप हैं। उदाहरण के लिए हम उनकी 'विधवाश्रम', 'पतिता' 'पानवाली', 'घोडी का मोल तोल' आदि कहानियो को ले सकते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी ऐतिहासिक कहानियो के चरित्रो का निर्माण अधिकाशत कल्पना, अनुभूति और आदर्श के तादात्म्य से किया है, जिसमे उनके ये चरित्र एक ओर आदर्श की भावभूमि को स्पर्श करते हुए दीख पडते हैं तो दूसरी ओर यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि आदि से अत तक उनके यह चरित्र रोमांटिक हो उठे हैं। अपनी 'दुखवा मैं कासे कहूँ' 'लालारुख', 'वार्दचिन' आदि कहानियो मे आचार्य जी ने ऐसे ही चरित्रो की सृष्टि की है।

आचार्य जी ने अपनी कहानियो के पात्रो का चरित्र चित्रण मे अपने उपन्यासो की भाँति ही चरित्र चित्रण की दोनो ही शैलियो प्रत्यक्ष एव परोक्ष का आश्रय लिया है। जिन कहानियो मे उन्होंने चरित्रो के अन्तर्जगत को उभा-

रता चाहा है, वहाँ उन्होने पात्रो के अतर्द्वन्द्व को दिखलाकर, उनके चरित्र को स्पष्ट किया है।

आचार्य जी की अधिकाश ऐतिहासिक कहानियो के पात्र आचरण प्रधान हैं जबकि उनकी सामाजिक कहानियो के अधिकाश पात्र चरित्र प्रधान है। उनकी ऐतिहासिक कहानियो को पढने से हमारे समक्ष पात्रो के आचरण का इतिहास और उसकी व्यवस्था ही आती है, पात्रो के चरित्र का विश्लेषण इन कहानियो में कम ही प्राप्त होता है। 'अम्बपालिका' कहानी के अध्ययन के पश्चात हमारे सम्मुख अम्बपाली मे आचरण का ब्योरा ही कुछ समय के लिए आ पाता है, यहाँ उसमे चरित्र का आन्तरिक पक्ष उभरा हुआ नही है। जबकि उनके उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' मे उसके चरित्र के बाह्य और आतरिक दोनो ही पक्ष पूर्णरूप से उभरे हुए मिलते हैं। उन्होने अपनी इन कहानियो की पात्रो के आचरण के माध्यम से ही आगे बढाया है। जिससे इन पात्रो के चरित्र बाह्य जगत म अधिक स्पष्ट और अधिक मनोरजक हैं। अपनी श्रेष्ठ सामाजिक कहानियो मे मनोजगत के चित्रण के माध्यम से ही उन्होंने कथा को अग्रसर किया है। उदाहरण के लिए उनकी 'धरती और आसमान' 'सुखदान', 'बाहर भीतर', 'नही' आदि कहानियो को ले सकते है।

आचार्य जी की कहानियो के पात्रो के मूल प्रेरणा स्रोत—

आचार्य जी के उपन्यासो की भाँति उनकी कहानियो के पात्र भी उनके अपने अनुभव की ही देन हैं। अपनी कहानियो के कुछ पात्रो के मूल प्रेरणा स्रोतो का उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वय लिखा है 'कभी-कभी अत्यन्त साधारण सी बात पर उत्कृष्ट कहानी तैयार हो जाती हैं। नवाब ननकू, मेरी उत्कृष्ट कहानी है, परतु उनकी मूल छाया, मुझे एक मोटर ड्राइवर से मिली जब उसका मेरा कुछ घटो का साथ हुआ था। तिकडम, ठाकुर साहब की घडी, प्राइवेट सेक्रेटरी और मरम्मन अकस्मात एक जरा सा सूत्र मिलते ही एक ही सिटिंग मे लिखी गई हैं। एक दो कहानियाँ कुछ चित्रो को देखकर ही एकाएक प्रेरणा पाकर लिखी गई हैं। 'पानवाली' और 'दे खुदा की राह पर' ऐसी ही कहानियाँ हैं।'[1] 'दुखवा मैं कासे कहूँ' नामक कहानी के पात्रो के निर्माण की प्रेरणा भी उन्हें इसी प्रकार की एक घटना से प्राप्त हुई थी, जिसका कि उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

---

१ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ ३५-३६।

आचार्य जी की कहानियों के कथोपकथन

हम पीछे आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो के कथोपकथनो की चर्चा करते समय कथोपकथन की परिभाषा, उसके उद्देश्य एव महत्व आदि पर प्रकाश डाल चुके हैं। अत यहाँ हम सक्षिप्त रूप से आचार्य जी की कहानियो के सवादों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कहानी के सवाद गुण धर्म मे किंचित् मात्र उपन्यास के सवादो से भिन्न होते हैं। 'कथा साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास मे इसका स्वच्छद अनियन्त्रित और अपरिमित विहार मिलता है, परन्तु कहानी मे इसका लघु प्रसारी, वैदग्ध्यपूर्ण, आकर्षक और चमत्कारी प्रयोग ही इष्ट होता है।'[1]

आचार्य जी ने अपनी कहानियो मे इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि उनके कथोपकथन क्षिप्र और गतिशील हो। कई कहानियो का आरभ ही उन्होंने सवादो से किया है। इस प्रकार के आरम्भ से पाठको का ध्यान कथा की ओर उसी प्रकार केंद्रित हो जाता है जैसे रगमच पर होने वाले किसी अभिनय की ओर। इस प्रकार के सवाद हम आचार्य जी की 'वाणवधू' 'नही' आदि कहानियो मे देख सकते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने प्रयोग के लिए कुछ ऐसी कहानियो की रचना की है जिनमे सवादो का सर्वथा अभाव है। उदाहरण के लिए हम उनकी कहानी 'धरती और आसमान' को ले सकते हैं। किंतु यह केवल एक प्रयोग मात्र है। वैसे उनकी अधिकाश कहानियो मे सवादो की बहुलता ही प्राप्त होती है।

आचार्य जी के उपन्यासो की भाति ही उनकी कहानियो मे भी 'कथानक को गति प्रदान करने वाले, पात्रो के चरित्र को उभारने वाले, कथाकार के उद्देश्य को स्पष्ट करने वाले, वातावरण सृष्टि करने वाले सक्षिप्त, सार्थक, स्वाभाविक एव शृ खलाबद्ध कथोपकथन प्राप्त होते हैं। उनके उपन्यासो के कथोपकथनो का विश्लेषण करते समय हम इन सब प्रकारो पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। जिस प्रकार से विभिन्न प्रकार के कथोपकथनो का प्रयोग आचार्य जी ने अपने उपन्यासो मे किया है उसी प्रकार से अपनी कहानियो मे भी। यहाँ हम सक्षेप मे उनकी कहानियो मे प्राप्त कथानक को गति प्रदान करने वाले, पात्रो के चरित्र को उभारने वाले, कथाकार के उद्देश्य

---

१ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ० १२२।

को स्पष्ट करने वाले एवं वातावरण सृष्टि करने वाले संवादों पर विचार प्रस्तुत करते हैं।

कथानक को गति प्रदान करने वाले—

जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि कथानक को गति प्रदान करने के लिए कथा में कथोपकथनों का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन का कथा सूत्र से प्रत्यक्ष संबंध हो, अन्यथा कथानक की शृंखला नष्ट हो जावेगी एवं कथा बिखर जावेगी। आचार्य जी ने अपने उपन्यासों की भाँति ही अपनी कहानियों के कथोपकथनों में भी इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि वे अनियंत्रित एवं अनावश्यक न हों। यहाँ हम अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जी की कहानी 'मास्टर साहेब' के एक कथोपकथन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

सरल हृदय एवं सरल स्वभाव मास्टर साहब की पत्नी भामा कुसंग में पड़कर पति और पुत्र को त्यागकर चल देती है। अपने पति को त्यागने के लिए उसे महिला संघ की महिलाएँ उत्तेजित करती हैं, किंतु जब वह पति को त्यागकर संघ के आश्रय में आ जाती है तो उसे साधारण कर्मचारी भी हीन दृष्टि से देखने लगते हैं। एक साधारण कर्मचारी से भामा का वार्तालाप सुनिए—

'सुना तुमने, वह खूसट आया था, दफ्तर में।'

'कौन।'

'अरे वही बागड़बिल्ला मास्टर, तुम्हारा पति।'

'लेकिन तू तमीज से बातें कर।'

'मेलुवा, तुमसे ? क्या तुम मेरी अफसर हो ?'

'तो तूने समझा क्या है ?'

'तुम बीस पाती हो, मैं भी बीस पाता हूँ। तुमसे कम नहीं।'

'तो इसी से तू मेरी बराबरी करेगा ?'

'कल इतना काम कर दिया, सारा सामान बाजार से ढोकर लाया और अब तू-तू करके बातें करती हो ? ऐसी ही शाहजादी थी तो बीस रुपल्ली पर नौकरी करने और इस कोठरी में दिन काटने क्यों आई थीं ?'

'देख हरिया, ज्यादा बदतमीजी करेगा तो अच्छा नहीं होगा।'

'क्या मारोगी ? मारोगी ?'

'मैं कहती हूँ, तू अपनी हैसियत में रह।'

'और तुम भी अपनी हैसियत में रहो। बहुत सहा, कल मैं मेम साहब से साफ कह दूंगा कि जिस तिस की गुलामी करना मेरा काम नहीं है। ऐसी तीन सौ साठ, नौकरी मिल सकती हैं। कुछ तुम्हारी तरह घर छोड कर भगोडा नहीं हूँ। इज्जत रखता हूँ।'[1]

प्रस्तुत कथोपकथन से स्पष्ट हो जाता है कि कथा पुन एक करवट लेने वाली है। मामा को वास्तविक जीवन का ज्ञान हो गया है, इस धक्के के पश्चात् ही वह अपने पति के समीप जाने का निश्चय करती है।

यह तो मैंने केवल एक छोटा सा उदाहरण प्रस्तुत किया। इस प्रकार के कितने ही उदाहरण आचार्य जी की कहानियो मे प्राप्त होते हैं। 'प्रबुद्ध' कहानी का सिद्धार्थ-श्रमण सवाद[2], 'दुखवा मैं कासे कहूँ' नामक कहानी के साकी-बादशाह सवाद[3], सलीमा-बादशाह सवाद[4] आदि कितने ही इस प्रकार के उत्कृष्ट सवाद आचार्य जी की कहानियो मे प्राप्त होते हैं।

चरित्र प्रकाशक सवाद—

आचार्य जी ने अपनी कहानियो मे भी अपने उपन्यासो की भाँति सवादो द्वारा पात्रो के चरित्र का विश्लेषण किया है। जैसा कि हम उपन्यासो के कथोपकथनो का विवेचन करते समय प्रथम ही कह चुके हैं कि कथोपकथन का सीधा सम्बन्ध पात्रो से ही है। कथोपकथन के अभाव मे न पात्रो के व्यक्तित्व की रेखाएँ उभर सकेंगी और न ही उनके चरित्र का ही विश्लेषण सम्भव हो सकेगा। अत कथाकार अपने पात्रो के मनोभावो एव कार्यों की सूचना कथोपकथनो द्वारा ही देता है। आचार्य जी ने अपनी कहानियो मे खुलकर इस प्रकार के सवादो का उपयोग किया है। आचार्य जी ने इस प्रकार के सवादो का प्रयोग करते समय इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि पात्र की बातचीत करने की पद्धति द्वारा भी उसके व्यक्तित्व का प्रस्फुटन हो सके। वाक्यो मे उनके उतार-चढाव मे, उनके विभिन्न अशो पर पडनेवाले स्वराघातो मे अथवा व्यक्तित्व विधायक आवृत्तियो के अनुरूप पदावली के प्रयोग मे बोलने वाले का एक अपनापन रहता है। उसकी बातचीत के ढग मे अपना एक स्वतत्र निरालापन

---

१. नवाब ननकू सग्रह, आचार्य चतुरसेन, मास्टर साहेब पृ ९० ।
२. मेरी प्रिय कहानियाँ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ४०-४१ ।
३. मेरी प्रिय कहानियाँ, आचार्य चतुरसेन, पृ ७१ और ७६ ।
४ मेरी प्रिय कहानियाँ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ७५ ।

ऐसा स्पष्ट दिखलाई पड़े कि उस व्यक्ति की अपनी इकाई को स्पष्ट कर दे। एक ही पात्र भिन्न-भिन्न स्थितियों में पड़ने के कारण, अथवा विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक भूमिकाओं पर स्थापित रहने के कारण तदनुरूप रंग ढंग से ही अपने विचार और भाव प्रकट करता है। परिस्थिति और आन्तरिक भावों के अनुरूप उसकी वाणी का उतार चढ़ाव बिल्कुल बदल सकता है। लेकिन इन सम्पूर्ण परिवर्तनों में परिवर्तनशीलता रहते हुए भी उसकी संवादात्मक पद्धति एक विशेष प्रकार की बनी ही रहकर उसके व्यक्तित्व को उभाड़े रहे, ऐसे क्रम का निर्वाह करना चाहिए।[1] आचार्य जी ने अपनी कहानियों के चरित्र प्रकाशक संवादों में इस बात का सदैव ध्यान रखा है। उदाहरण के लिए हम उनकी कहानी 'टार्च लाइट' के विनय और बालिका के संवादों को ले सकते हैं।[2] बालिका दो भिन्न परिस्थितियों में दो प्रकार से बोली है किंतु दोनों भिन्न भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न पद्धति के संवाद करते हुए भी वह अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखती है। प्रथम संवाद में आन्तरिक प्रेम हृदय का आह्लाद और काम बुभुक्षा व्यंजित होती है तो दूसरे में उसकी आन्तरिक वेदना एवं विनति प्रकट होती है। इसी प्रकार के चरित्र प्रकाशन संवाद उनकी कितनी ही कहानियों में प्राप्त होते हैं। 'नवाब ननकू' 'सुखदान' 'बाहर भीतर' 'जीवन्मृत' 'मुहब्बत' आदि कहानियों में क्रमशः नवाब ननकू, सुषमा और विद्यानाथ[3], उषा और उसके पति[4], राजा साहब और जीवन्मृत[5], मुहब्बत डाक्टर और राजासाहब[6], आदि के संवाद बहुत कुछ इसी प्रकार के हैं।

इसी प्रकार आचार्य जी ने अपनी कहानियों में संवादों के माध्यम से वातावरण की सृष्टि भी की है। उन्होंने अपने उपन्यासों की भाँति कहानियों में भी सुदूर अतीत के कथानकों में तत्कालीन समाज और व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली पदावली के व्यवहार से काल की दूरी को उभारा है। उनकी ऐतिहासिक कहानियों में विशेष रूप से यह गुण देखा जा सकता है। 'अम्बपालिका', 'प्रबुद्ध',

---

१ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ. १२६।
२ मेरी प्रिय कहानियाँ, आचार्य चतुरसेन, पृ. १७४-१७७ तथा १७७-१७८।
३. मेरी प्रिय कहानियां, आचार्य चतुरसेन, पृ १६८-१७१।
४. मेरी प्रिय कहानियां, आचार्य चतुरसेन, पृ. १८६-१८८।
५. मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन, पृ. २३२-२३३।
६ मेरी प्रिय कहानियाँ, आचार्य चतुरसेन, पृ. २५३-२५५ तथा २५६-५७, २६१-२६३।

'भिक्षुराज', 'भाट का वचन', 'लात की आग', 'कुम्भा की तलवार', 'आर्बचिन' 'लालारुख', 'दुखवा मैं कासे कहूं मोरी सजनी' आदि कहानियो मे सवाद-पद्धति से ही कथा-काल का परिज्ञान हो जाता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य जी की कहानियो मे लगभग सभी प्रकार के कथोपकथन प्राप्त हो जाते हैं उनकी रजवाडो से सम्बन्धित कहानियो के सवाद एक विशेष वर्ग से सम्बन्धित ज्ञात होते है। 'मुहब्बत', राजा साहब की कुतिया', 'राजा साहब की पतलून' आदि कहानियो के सवादो को हम वर्ग गत कह सकते है। इनमे राजा, रईसो की सनक, फिजूलखर्ची और हिमाकत का अच्छा दिग्दर्शन किया गया है। राजाओं की जातीय विशेषताएँ उनके प्रत्येक शब्दो से स्पष्ट होती हैं। शुद्ध बौद्धिक सवादो का आचार्य जी ने अपनी कहानियो में प्रयोग न्यून ही किया है किंतु फिर भी उनकी 'नही', 'गुगलागुलीय' आदि कहानियो के कुछ सवाद बौद्धिक हैं, किंतु बौद्धिक होते हुए भी इनमे नीरसता नही आने पाई है।

आचार्य जी ने अपनी कई कहानियो मे काव्यात्मक एव भावात्मक सवादो का भी प्रयोग किया है। वैसे भावात्मक सवादो के सम्राट तो 'प्रसाद' जी थे किंतु आचार्य जी ने भी अपनी कुछ कहानियो मे इस प्रकार के सवादो का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'प्यार', 'कम्बग्रीव', 'लालारुख' आदि कहानियो के सवादो को ले सकते हैं। इन कहानियो के सवादो मे आलकारिक प्रस्तुत विधान, उक्ति वैचित्र्य एव विदग्धता की सारी सजावट ऐसे कौशलपूर्ण ढग से सामने प्रस्तुत की गई है कि प्रसग का सम्पूर्ण चित्र साकार सा हो उठा है। किंतु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है कि इस प्रकार के सवाद आचार्य जी की कहानियो मे न्यून ही हैं। वास्तव मे उन्होंने वातावरण को सजीव करने के उद्देश्य से ही काव्यात्मक अथवा अलकृत सवादो का प्रयोग किया है, व्यर्थ नही। अन्त मे हम सक्षिप्त रूप से आचार्य जी की कहानियो के सवादो की विशेषताओ पर विचार करते हुए देखने का प्रयत्न करेंगे कि उनके कथोपकथनो मे अन्य कहानीकारो से क्या भिन्नता और क्या साम्य है तथा उनकी कथोपकथन सम्बन्धी अपनी मौलिक विशेषता क्या है ?

आचार्य जी की कहानियो के सवाद रोचक, सक्षिप्त एव गठे हुए हैं। वे अधिकतर कथा के अग बनकर ही आए हैं। कथा पर भारवत् बन कर नही। जैसा हम पीछे दिखला चुके हैं उन्होंने अपनी कई कहानियों का प्रारम्भ ही सवादो द्वारा किया है। उन्होंने अपने उपन्यासो की भाँति अपनी कहानियो के

सवादो मे भी इस बात का ध्यान रखा है कि वे वक्ता के विचार एवं बुद्धि के अनुसार लम्बे अथवा सक्षिप्त हों। किंतु उनकी कुछ प्रारम्भिक कहानियो के सवाद शिथिल एव अस्वाभाविक भी हैं, जैसे 'आदर्श बालक', 'वीर बालक', 'राजपूत बच्चे', मुगल बादशाहों की अनोखी बात आदि कहानी सग्रहो की कहानियो के सवाद।

आचार्य जी के सवादो की सर्वप्रमुख विशेषता है उनका परिस्थितियो एव वातावरण के अनुरूप होना। उनकी कहानिया विविध कालो एव विविध विषयों से सबधित है। जिस काल के कथानक को उन्होंने लिया है उसके सवाद भी उस काल के वातावरण को सजीव करने वाले हैं। उदाहरण के लिए हम उनकी बौद्धकालीन और मुगलकालीन कहानियो को ले सकते हैं। 'श्रेष्ठ चत्वर', प्रतिहार, तोरण, परम भट्टारक, परिच्छद अमात्यवर्ग, श्रीपाद पद्म, तपश्चर्या, उत्तरीय, उष्णीव, अमात्यवर, भाण्ड, आयुष्मान् (बौद्धकालीन कहानियो मे) जहाँपनाह, हुजूर, अर्ज, कनीज, फाहशा, इस्तकबाल, बद्दे किस्मत, कमसिन, बाअदब, ताकीद (मुगलकालीन कहानियों मे) आदि शब्द कथोपकथनो मे लाकर कथाकार ने वातावरण का निर्माण किया है। किंतु कहानियो मे सवादो द्वारा वातावरण निर्माण म उतने सफल नही हैं जितने उपन्यासो मे। किंतु यह बात नि सकोच स्वीकार करनी पडेगी कि आचार्य जी के सवादो में जितनी विविधता प्राप्त है उतनी हिंदी साहित्य के किसी भी कहानीकार के सवादो मे नही प्राप्त होती। प्रेमचद जी सामाजिक, राजनीतिक कहानियो के सवादो मे अधिक सफल हैं, 'प्रसाद' की ऐतिहासिक एव भावात्मक कहानियो के सवाद अपने मे अद्वितीय हैं, जैनेन्द्र की कहानियो के सवाद सकेतात्मकता लिए हुए है किंतु आचार्य जी के सवाद इन सभी विशेषताओ से पूर्ण है। एक बात और भी स्वीकार करनी पडेगी कि आचार्य जी की ऐतिहासिक कहानियो के सवादो मे वैसी वातावरण निर्माण की शक्ति नहीं है जैसी 'प्रसाद' की ऐतिहासिक कहानियों के सवादों मे, न उनकी सामाजिक कहानियो के सवाद वैसा पैनापन लिए हुए हैं जैसा कि प्रेमचद की कहानियो के सवाद। हाँ, आचार्य जी की प्रतीकवादी कहानियो के सवाद अपने ढग के निराले हैं। उदाहरण के लिए हम 'लम्बग्रीव' और 'सफेद कौवा' नामक कहानियों के सवादों को ले सकते हैं, इनमे जो चुभन है, त्वरा और प्रवाह है वह आज की प्रयोगवादी कहानियो मे कहाँ ?

आचार्य जी ने एक-दो स्थानो पर अपनी कहानियो के सवादो द्वारा दर्शन के गहन विषयो का भी प्रतिपादन किया है। किंतु ऐसे अवसरो पर

उन्होंने यह ध्यान रखा है कि संवाद दुरूह न होने पाये। उदाहरण के लिए हम उनकी 'प्रबुद्ध' कहानी के श्रमण-सिद्धार्थ संवाद[1] एवं सिद्धार्थ सम्राट् संवाद[2] को ले सकते हैं।

आचार्य जी के संवादों की एक और विशेषता उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी कहानियों के संवादों के साथ साथ प्रसंगानुकूल पात्रों की मुद्राओं और भाव भंगिमाओं का भी यथातथ्य चित्रण किया है। कभी-कभी कहानीकार ने पात्रों की मुद्राओं और भाव भंगिमाओं के साथ-साथ कार्य व्यापारों एवं घटनाओं का उल्लेख भी पात्रों के संवादों के साथ-साथ किया है। ऐसे संवाद आचार्य जी की प्रौढ़ और कलात्मक कहानियों में प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए हम 'सुखदान' कहानी के विद्यानाथ और सुषमा संवाद[3], राजासाहब, ननकू और राजेश्वरी संवाद नवाब ननकू आदि को ले सकते हैं।

आचार्य जी की प्रौढ़ कहानियों के कथोपकथनों की एक विशेषता और है। उनके एक कथोपकथन से दूसरा कथोपकथन अनायास ही निकल आता है। ऐसे कथोपकथनों में प्रथम कथोपकथन का अन्तिम वाक्य दूसरे कथोपकथन की पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

आचार्य जी की कुछ प्रारम्भिक कहानियों के संवादों में नाटकीयता अधिक आ गई है। उन्होंने नाटक की भाँति कहानियों में भी, लज्जित सी होकर (जरा मुस्कराकर)[4], 'तलवार का प्रहार,'[5], 'कान में'[6] आदि निर्देशनों का प्रयोग किया है। जिससे इन कहानियों की कलात्मक महत्ता न्यून पड़ गई है, कारण कहानी पठन-पाठन की वस्तु है अभिनय की नहीं। उनकी 'वाणवधू' नामक कहानी इन्हीं निर्देशनों के कारण ही कहानी से अधिक एकांकी के समीप पहुँची हुई प्रतीत होती है।

वास्तव में सत्य यह है कि आचार्य जी की कहानियों में कथोपकथन की ये समस्त रूप और शैलियां प्राप्त होती हैं। कहीं उन्होंने छोटे-छोटे और

१. मेरी प्रिय कहानियां, आचार्य चतुरसेन 'प्रबुद्ध', पृ. ४० ।
२. मेरी प्रिय कहानियां, आचार्य चतुरसेन 'प्रबुद्ध', पृ ४४ ।
३ नवाब ननकू कहानी संग्रह, आचार्य चतुरसेन. पृ. २४-२५ ।
४ मेरी प्रिय कहानियां, अम्बपालिका, पृ २२ ।
५. मेरी प्रिय कहानियां, वाणवधू , पृ १३५ ।
६. मेरी प्रिय कहानियां, वाणवधू , पृ. १३७ ।

पैने सवादो का प्रयोग किया है तो कहीं भारीभरकम विचार एव कार्य व्यापारो के सकेतो से पूर्ण सवादो का आश्रय लिया है तो कहीं विनोद व्यग से पूर्ण सरल एव स्वाभाविक सवाद प्रयुक्त हुए है।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि अपनी कहानियो मे सवाद सौन्दर्य का निर्वाह करने मे आचार्य जी एक सीमा तक सफल रहे हैं। उन्होंने अपनी कहानियो मे अधिकतर उन्हीं सवादो का प्रयोग किया है जो क्रियोत्तेजक, गतिशील और भावोद्बोधन करनेवाले हैं।

कहानियों में वातावरण-सृष्टि

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासो की भाँति अपनी कहानियो मे भी देशकाल तथा वातावरण के चित्रण पर विशेष ध्यान दिया है, यद्यपि उपन्यासो की भाँति कहानियो मे विस्तार नहीं प्राप्त होता फिर भी उनमे सजीवता की न्यूनता नहीं है। कहानियो मे स्थान का सकोच होता है अत अत्यन्त सक्षेप में ही घटना तथा पात्रो से सम्बन्धित स्थान, काल तथा वातावरण की ओर इगित कर देने मे ही कहानीकार की कुशलता समझी जाती है। आचार्य जी ने अपनी कहानियो मे देशकाल तथा वातावरण का चित्रण करते समय इस तथ्य का सदैव ध्यान रखा है।

कहानियो मे देशकाल और वातावरण निर्माण का प्रथम सोपान है 'परिस्थितियोजना' इसका प्रधान उद्देश्य होता है सम्पूर्ण कथानक के भीतर आई हुई क्रियाओ और परिणामो का तर्क सगत क्रमन्यास। यथार्थता को कल्पना की सीढियो से ऐसा सजाना चाहिए कि किसी घटना अथवा मर्म के पूर्व की समस्त परिस्थितिया कडी के रूप मे सगठित मालूम पडे। पाठक को यह विदित होना चाहिए कि अमुक कार्य के पहले उसके अनुकूल कारण किस रूप में उपस्थित थे। परिस्थितियो की सीढी चढकर ही कोई परिणाम शिखर पर चमत्कृत हो सकता है।[1] इस बात का आचार्य जी ने अपनी कहानियो में विशेष ध्यान रखा है। उदाहरण के रूप मे हम उनकी प्रसिद्ध कहानी 'दुखवा मैं कासे कहू मोरी सजनी' को ले सकते है। किस प्रकार बादशाह के हृदय मे अपनी प्राण प्रिय पत्नी सलीमा के प्रति विराग उत्पन्न होता है और किस प्रकार उसके विषपान करलेने के पश्चात् उसकी निर्दोषिता का प्रमाण मिल जाने पर उनके हृदय मे उसके प्रति अनुराग और अपने कृत्य पर पश्चाताप होता है इसका

---

१. कहानी का रचना, विधान डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ. १६९।

अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण कथाकार ने प्रस्तुत किया है। कथाकार ने सलीमा की मृत्यु और बादशाह के विराग की घटना को सजीव, स्वाभाविक एवं यथार्थ बनाने के लिए तदनुरूप कारण एवं परिस्थितियाँ प्रस्तुत की है। इसी प्रकार की परिस्थिति योजना उनकी प्रसिद्ध कहानी 'खूनी' में देखी जा सकती है। खूनी ने किस प्रकार अपने प्रधान के कहने से अपने मित्र की हत्या की और उसकी हत्या के पश्चात् किस प्रकार वह अपने से ही घृणा करने लगा, इसका बड़ा ही सजीव एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण कथाकार ने प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार कहानीकार ने 'लालरुख', 'बावर्चिन', 'पतिता', 'मास्टर साहब', 'टार्च लाइट', 'जीवन्मृत', 'मुहब्बत' आदि कहानियों में गतिविधियों एवं कार्यकलापों का चित्रण अपने पूर्व की परिस्थितियों के आधार पर ही किया है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आचार्य जी की समस्त कहानियों में परिस्थिति योजना प्राप्त होती है। उनकी कितनी ही कहानियों में जिनमें इतिवृत्त की नितान्त न्यूनता है, परिस्थिति योजना को स्थान नहीं मिल पाया है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'नहीं', 'धरती और आसमान', 'युगलांगुलीय', 'लम्बग्रीव' आदि कहानियों को ले सकते हैं।

कहानियों में वातावरण निर्माण का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है, पीठिका। वास्तव में 'कहानी का प्रतिपाद्य आधेय होता है और उसे प्रभविष्णुता प्रदान करने वाली आधारिक वस्तु होती है पीठिका या आधार' इस पीठिका को हम दो भागों में रखकर देख सकते हैं प्रथम प्रकृति सज्जा तथा दूसरा देश काल चित्रण। आचार्य जी के उपन्यासों के वातावरण पर विचार करते समय हम इन दोनों तत्वों पर विस्तार से लिख चुके हैं, यहाँ केवल हम उनकी कहानियों में प्राप्त इन दोनों तत्वों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

आचार्य जी की कहानियों में पीठिका रूप में प्रयुक्त प्राकृतिक चित्र-विधान के कई सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं। उनकी 'प्यार', 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' 'भिक्षुराज' 'हल्दी घाटी में' आदि कहानियों में प्रकृति-चित्रण पीठिका रूप में अत्यन्त ही प्रभावकारी हुआ है। 'प्यार' में मेहरुन्निसा के दुःखमय जीवन की झलक वर्षा के घनघोर अन्धकार के चित्रण के पश्चात् दी जाती है।[१] 'दुखवा मैं कासे कहूँ ' में सलीमा और बादशाह के सुखमय जीवन का परिचय ज्योत्स्ना की धवल छटा दिखलाने के पश्चात् दिया जाता है। इस प्रकार की पीठिकाओं से कहानियों का वातावरण अत्यन्त मुखर एवं स्वाभाविक हो उठा

१. पतिता, कहानी संग्रह, प्यार, पृ. ३७।

हैं। आचार्य जी की इस प्रकार की कुछ ही कहानियाँ हैं, किंतु जो भी कहानियाँ हैं उनमें 'प्रसाद' की कहानियों की तरलता एवं प्रौढ़ता है किंतु विस्तार एवं गठन उनसा नहीं है। आचार्य जी ने प्रकृति चित्रण की यह पद्धति कहानी के आरम्भ में ही नहीं, कहीं-कहीं मध्य में भी प्रयुक्त की है। उदाहरण के लिए हम 'हल्दीघाटी', 'लालारुख', 'वार्षिक' 'प्यार' आदि कहानियों को ले सकते हैं। 'प्यार' कहानी के मध्य का एक अंश देखिए ईद का दिन था, सन्ध्या का समय। रंग महल में जश्न मनाया जा रहा था। मेहरुन्निसा अपने कक्ष में कालीन पर बैठी, अस्तगत सूर्य की नजर बाग में पड़ती आड़ी तिरछी सुनहरी किरणों को निहार रही थी।[1] वैसे आचार्य जी की कहानियों में स्वतंत्र रूप से प्रकृति चित्रण कम ही प्राप्त होता है। अधिकांशतः उनकी कहानियों में प्रकृति चित्रण मानव व्यापार के साथ आया है। उपर्युक्त उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझा जा सकता है।

पीठिका निर्माण का दूसरा तत्व है देश-काल-चित्रण। देश काल चित्रण से हमारा तात्पर्य स्थानीय चित्र विधान से है। 'कहानी की घटनाएँ, क्रियाएँ इत्यादि किसी स्थान विशेष पर सिद्ध होती हैं। अतः यदि उस स्थान के विस्तृत विवरणों के साथ उनका संयोग पूर्णतया बैठ जाय तो उसी में एक सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। विषय के विस्तार के साथ यदि देश-खण्ड का प्रकृत-परिचय हो जाय तो विषय-बोध में यथार्थता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार के देशकाल विशेष की संयोजना से विषय के प्रति बड़ा कुतूहल उत्पन्न हो जाता है और उसमें एक प्रकृत्व विधायक सजीवता लहरा उठती है। इस प्रकार के स्थानीय विवरणों और साज-सज्जाओं की सजावट में या तो भाषा मौन देती है अथवा स्थानीय यथार्थ जीवन की झलक।'[2] आचार्य जी के उपन्यासों के देशकाल एवं वातावरण पर विवेचन करते समय हम इस पर विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं। कहानियों में देश-काल का चित्रण उपन्यासों की भाँति विस्तार से नहीं है वरन् सांकेतिक है। आचार्य जी ने अपनी ऐतिहासिक कहानियों का निर्माण सजीव वातावरण की पीठिका पर ही किया है। 'अम्बपालिका', 'भिक्षुराज', 'प्रबुद्ध', 'लालारुख', 'वार्षिक', 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' आदि अतीत के अन्तराल में मुखरित कहानियों में देश और काल की प्रौढ़ व्यंजना देखी जा सकती है। कहीं-कहीं शब्दों के माध्यम से ही आचार्य जी ने अपनी कहानियों

१ पतिता, कहानी संग्रह, प्यार, पृ० ५६।

२ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ. १७७।

मे स्थानीय चित्र विधान को अधिकाधिक उभाड कर रखने का प्रयत्न किया है। ऐसी कहानियो मे प्रादेशिक्ता पूर्ण रूप से उभर आई है। उदाहरण के लिए हम उनकी रजवाडो एव राजपूतो से सम्बन्धित कहानियो को ले सकते है। जिस प्रकार से अपने 'गोली' उपन्यास मे उन्होंने कुछ राजस्थान मे प्रचलित शब्दो का प्रयोग करके उसे स्थानीय रग से रग दिया है उसी प्रकार से उनकी इन कहानियो मे भी एक दो शब्दो के कारण ही प्रादेशिक्ता की झलक आ गई है। 'अन्नदाता', 'कडखे की ताल', 'धौंसे' आदि शब्दो का प्रयोग कहानीकार ने इसी कारण से किया है। कही-कही आचार्य जी ने देशकाल का चित्रण केवल परिचयात्मक ढग से ही किया है। कुछ स्थलो पर वे देशकाल का सकेत करने के लिए केवल किसी इतिहास प्रसिद्ध पुरुष अथवा वस्तु का उदाहरण देकर ही आगे बढ गए हैं। किसी-किसी कहानी मे तो आचार्य जी ने परिस्थिति एव अवस्था का चित्रण एक साथ व्यजनात्मक रूप मे प्रस्तुत किया है। यहाँ उनकी प्रसिद्ध कहानी 'हल्दी घाटी मे' का एक उदाहरण ही विषय को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा। 'तीस हजार योद्धा उपत्यिका के समतल मैदान मे व्यूहबद्ध खडे थे। घोडे हिनहिना रहे थे और योद्धाओ की तलवारें झनझना रही थी। उस समय धूप कुछ तेज हो गई थी, बादल फट गए थे। सुनहरी धूप मे योद्धाओ के जिरह बख्तर और उनके भाले की नोकें बिजली की तरह चमक रही थी। वे सब लौह पुरुष थे—सच्चे युद्ध के व्यवसायी, जो मृत्यु के साथ खेलते थे और जिन्होने जीवन को विजय कर लिया था। वे देश और जाति के पिता थे। वे वीरो के वशधर और स्वय वीर थे। वे अपनी लोहे की छाती की दीवारें बनाए निश्चल खडे हुए थे। चारण और भटगण कडखे की ताल पर विरद गा रहे थे। धौंसे बज रहे थे। घोडे और सिपाही सब कोई उतावले हो रहे थे।'[१]

इसमे परिस्थिति और अवस्था का एक साथ वर्णन करके तत्कालीन देशकाल एव वातावरण को सजीव करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार की कहानियो मे परिपार्श्व और वातावरण का इतना आकर्षण और वेग रहता है कि पाठक इनसे कभी भी दूर नहीं जा पाता। पाठक का इस प्रकार की कहानियो से सीधा साधारणीकरण होता जाता है। आचार्य जी की ऐतिहासिक एव भावात्मक कहानियो की सबसे बडी विशेषता उनके वातावरण निर्माण मे ही है। जैसा कि हम पीछे दिखला चुके हैं कि आचार्य जी ने तीन शैलियो से

---

१ मेरी प्रिय कहानियाँ, आचार्य चतुरसेन, हल्दी घाटी मे, पृ- १२४।

वातावरण का निर्माण किया है। प्रथम कहानी की मुख्य संवेदना आरम्भ होने के पूर्व कहानी के आरम्भिक वर्णनो द्वारा, दूसरे-पात्रो के नाटकीय कथोपकथनो द्वारा तीसरे दृश्य विधान, रूप वर्णन, एव भाव चित्रण के माध्यम के द्वारा–उन्होंने अपनी कहानियो मे वातावरण की सृष्टि की है।' इस प्रकार अपनी इन कहानियो मे वातावरण प्रस्तुत करने मे कहानीकार ने अपनी आश्चर्यजनक प्रतिभा का उदाहरण दिया है, फलत इन कहानियो मे ऐतिहासिकता के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य अपूर्व ढग से प्रस्तुत हुआ है। वस्तुत वातावरण प्रधान कहानियो मे कवित्वपूर्ण भावना उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति नाटकीय स्थितियो की अवतारणा और उसमे चरित्रो के सघर्ष इसकी मुख्य विशेषतायें है।[१]

आचार्य जी मूलत उपन्यासकार या कहानीकार—

पीछे हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो और कहानियो के चार प्रमुख तत्वो कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन एव वातावरण पर विचार कर चुके हैं। अब हम यहाँ यह रखने का प्रयत्न करेंगे कि आचार्य जी मूलत उपन्यासकार हैं या कहानीकार। इसे ज्ञात करने के लिए हम निम्न कसौटी पर आचार्य जी के उपन्यासो और कहानियो के चारो तत्वो को कस कर परखने का प्रयत्न करेंगे।

'यदि लेखक की प्रवृत्ति कथानक को बडा करने की ओर हो, अथवा कहानी के भीतर कहानी भरने की आकाक्षा दिखाई पडे, अथवा देशकाल की कथा को व्यापक भूमि पर उपस्थित करने की ओर उसकी अभिरुचि हो तो समझना चाहिए कि उसकी मौलिक वृत्ति उपन्यास की ओर है।'[२] यदि इस कसौटी पर आचार्य जी के उपन्यासो और कहानियो के कथानको को परखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वे मूलत उपन्यासकार हैं, कारण अपनी कहानियो मे भी उनकी अपने उपन्यासों की भाँति कथानक के भीतर कथानक रखने की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'अम्बपालिका', 'पूर्णाहुति', 'मूल्य', 'वसत' आदि कहानियो को ले सकते हैं। जिनके कथानकों पर आगे चलकर उन्होंने अपने कुछ विशालकाय उपन्यासो का निर्माण किया। इस प्रकार एक कथानक की प्रसार भूमि पर दूसरे कथानक की अवतारणा यह

---

१. हिन्दी कहानियो की शिल्पविधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायणलाल, पृ० ३२३।

२. कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ० २१-२२।

सूचित करती है कि कथानक की व्यापकता की ओर लेखक का विशेष आग्रह है। यह स्थिति उनको मूलत उपन्यासकार घोषित करती है।' कथानक के अतिरिक्त आचार्य जी की कहानियो के चरित्र-चित्रण, कथोपकथन एव वातावरण आदि तत्वो के विषय मे भी लगभग यही बात कही जा सकती है। कहानी के इन तत्वो पर भी उनका उपन्यासकार रूप छाया हुआ है। जिससे उनका कहानीकार रूप अधिक निखर नही पाया है। उनकी प्रतीकात्मक कहानियाँ अवश्य इस तथ्य का अपवाद कही जा सकती हैं।

अध्याय ८

आचार्य चतुरसेन का भाषा एवं लेखन शैली

उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन जी की भाषा एवं लेखन शैली

किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशो का प्रयोग, वाक्यो की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। एक विद्वान के मत से शैली विचारो का परिधान है। पर यह ठीक नही, क्योंकि परिधान या शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उसकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से उसके विचार अलग नही हो सकते, वैसे ही उन विचारो को व्यक्त करने का ढग भी उससे अलग नही हो सकता। अतएव शैली को विचारो का परिधान न कह कर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ सगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।[1]

दूसरी ओर भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहो का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने मे समर्थ होती हैं। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द हैं जिन्हे उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व समझना चाहिए।[2] यदि इसको एक वाक्य मे कहना चाहे तो कहा जा सकता है कि भाषा भावाभिव्यक्ति का माध्यम है और उस माध्यम के प्रयोग की रीति या विधि शैली है। शैली के द्वारा ही कोई भी लेखक अपनी रचना पर अपने व्यक्तित्व की छाप डालता है। रचना मे अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए लेखक शैली की ही सहायता लेता है। वह जिस वस्तु का भी चित्रण करेगा, अपने ढग से, अपने अनुभव, विचार, कल्पना, अनुभूति वातावरण, सस्कार एव शिक्षा के अनुसार। इन सबके कारण उसकी भाषा, तर्क-शैली और व्यजना प्रणाली मे जो नवीनता, अपनत्व एव मौलिकता रहती है, वही उसकी

---

१. साहित्यालोचन—डा. श्याम सुन्दरदास-पृ० ३०२।

२ साहित्यालोचन—डा श्याम सुन्दरदास-पृ० ३०४।

शैली कहलाती है। निर्जीपन एवं नवीनता के साथ-साथ शैली में सरलता, रोचकता, सजीवता, स्वाभाविकता, प्रवाहपूर्णता, ओज एवं प्रभाव आदि गुण अपेक्षित है। वाक्य गठे हुए सरल, रोचक एवं शृंखलाबद्ध हों उनमें गति हो, स्वाभाविक प्रवाह हो, यह तभी सम्भव हो सकेगा जब शब्द संतुलित, चुस्त, भावानुकूल एवं आवश्यक होंगे। अनावश्यक शब्दों के प्रयोग से शैली का प्रवाह अवरुद्ध और गति शिथिल हो जाती है। अतः ऐसे शब्दों के प्रयोग से उपन्यासकार को सदैव बचना चाहिए।

शैली को अधिक से अधिक स्वाभाविक एवं सरस बनाने के लिए उसमें पात्रानुकूल एवं वातावरण के अनुकूल शब्दों का ही प्रयोग करना उचित है। उपन्यास की शैली संकेतात्मक न होकर विवृत्तात्मक होती है, क्योंकि उसे पूर्ण वातावरण और उसमें रस और भावों की सृष्टि करनी होती है। अतः पात्र की शिक्षा, संस्कृति और मानसिक धरातल के अनुरूप ही उसकी भाषा होनी चाहिए। इसके लिए पांडित्यपूर्ण, व्यंग्ययुक्त भाषा से लेकर ठेठ प्रादेशिक और ग्राम्य भाषा तक का प्रयोग यथावश्यक रूप में किया जाता है।[1] हिंदी भाषा के कई रूप प्रचलित हैं। साहित्यिक हिन्दी, बोलचाल की सरल मुहावरेदार हिन्दी, प्रचुर अरबी फारसी शब्दों से युक्त उर्दू आदि। उपन्यासकार पात्रानुकूल भाषा निर्माण के लिए लगभग हिंदी के सभी प्रचलित एवं अप्रचलित भाषा रूपों का व्यवहार अपने उपन्यासों में करता है।

आचार्य चतुरसेन जी की भाषा—

आचार्य चतुरसेन जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। यद्यपि भाषा के विषय में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है भाषा के विषय में मैं बहुत लापरवाह हूँ। विचारों के प्रवाह में तेजी से जब लिखने लगता हूँ, तो भाषा भागती, दौड़ती, लड़खड़ाती, गिरती-पड़ती पीछे-पीछे भागती चली आती है। पीछे मुड़कर मैं देखता नहीं।[2] स्पष्ट है आचार्य जी का प्रमुख ध्येय कथा कहने का रहता है, वह अपने पाठक के हृदय को सरस कहानी द्वारा ही पकड़ना चाहते हैं, और उस कहानी को वे सीधे-सादे सरल ढंग से कहते चले जाते हैं, भाषा का शृंगार स्वयं ही होता चले तो ठीक, अन्यथा उसे संवारने के लिए वे रुकते नहीं हैं। तो भी उनकी भाषा पर्याप्त सशक्त है।

---

१ काव्यशास्त्र—डा. भगीरथ मिश्र- पृ ८८-८९।

२ चतुरसेन त्रैमासिक-सम्पादिका कमल किशोरी प्रथम अंक निदाघ २०१२-पृ० १०७।

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों की भाषा खड़ी बोली है। किंतु उन्होंने भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये यथा अवसर विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों के शब्दों का व्यवहार किया है। इसी कारण उनके उपन्यासों में कितने ही प्रकार की भाषा का प्रयोग मिलता है। आचार्य जी पात्रानुकूल भाषा कुलवाने के पक्ष में थे, अतः उपन्यासों में भाषावैविध्य लाना अनिवार्य था ही। उनके विभिन्न प्रकार के उपन्यासों में विभिन्न प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है। साधारणतः हम उनके उपन्यासों की भाषा को तीन वर्गों में रख सकते हैं—

१ ऐतिहासिक उपन्यासों की भाषा।
२ सामाजिक उपन्यासों की भाषा।
३ वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भाषा।

ऐतिहासिक उपन्यासों की भाषा कुछ कठिन है, कारण उपन्यासकार ने उसे पात्र एवं देशकाल के अनुकूल ढालने का प्रयत्न किया है। भाषा द्वारा ही उसने तत्कालीन वातावरण को सजीव किया है। दूसरे प्रकार के उपन्यासों की भाषा सीधी-सादी और सरल है। तीसरे प्रकार के उपन्यासों की भाषा भी सरल है। किन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने खुलकर वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग किया है। अपने 'खग्रास' नामक उपन्यास में वैज्ञानिक वातावरण उपस्थित करने के लिए एवं तथ्यों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अंग्रेजी के कितने ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। इससे यत्र-तत्र भाषा कुछ दुरूह अवश्य हो गई है, किन्तु इन शब्दों के प्रयोग से उपन्यासकार वैज्ञानिक वातावरण उभारने में सफल रहा है। सरसता तीनों प्रकार की ही भाषाओं का प्रधान गुण रहा है। पात्र एवं देशकाल के अनुरूप सशक्त भाषा होने के कारण भाषा के उपयुक्त व्यक्तीकरण में उपन्यासकार को पूर्ण सफलता मिली है। (यद्यपि उनके कुछ प्रारम्भिक उपन्यासों की भाषा यत्र-तत्र शिथिल है, जिससे उनमें भावों के उपयुक्त व्यक्तीकरण में शिथिलता का समावेश स्पष्ट प्रतीत होता है।) अगले पृष्ठों में हम उसके तीनों ही प्रकार के उपन्यासों में प्राप्त शब्द भंडार, मुहावरों, लोकोक्तियों, सूक्तियों आदि पर विस्तार से विचार करेंगे।

आचार्य चतुरसेन जी की लेखन शैली—

आचार्य चतुरसेन जी की लेखन-शैली पर सर्वत्र उनकी 'लौह-लेखनी' की छाप है। उनकी शैली सरल, रोचक, प्रवाहपूर्ण, चुस्त एवं स्वाभाविक है। ओज, माधुर्य एवं प्रसाद गुण तो उसमें सर्वत्र ही व्याप्त हैं। क्लिष्टता, दुर्बोधता

एव अस्पष्टता से उन्होंने सदैव बचने का प्रयत्न किया है। इसी से उनके भावो एव विचारो की अभिव्यक्ति का ढग, पद रचना, वाक्यो का गठन, शब्द-शक्तियो का उचित प्रयोग आदि सशक्त एव प्राजल रहा है। हाँ, उन स्थलो पर जहाँ उन्होंने अपना आचार्यत्व प्रदर्शित करना चाहा है, शैली कुछ क्लिष्ट एव दुर्बोध हो गई है। उसमे वक्तृत्व का आवेश आ गया है। ऐसी शैली का प्रयोग उपन्यास मे वाछनीय नही है। वस्तुत उपन्यास मे शैली के अन्तर्गत वस्तु-चयन, कथा कहने को विधि उसका सगठन, पात्र सयोजना, कथोपकथन एव वातावरण निर्माण करने की विधि आदि सभी आ जाते हैं। अन्य अध्यायो मे हम उपन्यास के विभिन्न तत्वो पर विचार करते समय, उनके प्रस्तुत करने की शैली पर प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ केवल हम उनकी लेखन शैली पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

जिस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी के तीन प्रकार के उपन्यासो मे तीन प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई हैं उसी प्रकार उनके तीनो प्रकार के उपन्यासो की लेखन शैली मे भी भिन्नता है। ऐतिहासिक उपन्यासो की शैली मे सामाजिक उपन्यासो की शैली से कही अधिक प्रवाह है। यद्यपि सरसता एव सरलता दोनो ही प्रकार के उपन्यासो की शैलियो मे समान है। वैज्ञानिक उपन्यासो मे पारिभाषिक शब्दो के आधिक्य के कारण शैली क्लिष्ट हो गई है। किन्तु सरसता उसमे भी कम नही है। अब हम उनके तीनो ही प्रकार के उपन्यासो मे प्रयुक्त विभिन्न शैली रूपो पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

साधारणत उपन्यास लिखने की पाँच शैलियाँ प्रचलित हैं —१ वर्णनात्मक, २ आत्मकथात्मक, ३ पत्रात्मक, ४ डायरी एव ५ मिश्रित शैली।

आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यास वर्णनात्मक आत्मकथात्मक एव मिश्रित शैली मे ही लिखे गए है। आत्मकथात्मक शैली मे केवल 'गोली' एव 'पत्थर के दो बुत' नामक उपन्यास ही हैं, शेष वर्णनात्मक एव मिश्रित शैली मे लिखे गए है। इन तीन प्रकार की शैलियो मे लिखे उपन्यासो मे कितने ही प्रकार की शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं। सुविधा की दृष्टि से हमने उनके तीनो ही प्रकार के उपन्यासो मे प्रयुक्त शैलियो को तीन भागो मे विभक्त किया है।

१ **शैली का बाह्य रूप**—इसमे हम उसकी पद योजना, प्रयोग कौशल, अलकारो एव शब्द शक्तियो आदि के प्रयोगो को ले सकते हैं। इसमे हम अलकृत सरस, गुम्फित, उक्ति प्रधान आदि शैली रूपो को रख सकते हैं।

२ शैली का आन्तरिक रूप—इसमे हम विभिन्न भावो की अभिव्यजना, विचारो की अभिव्यक्ति एव अन्य आन्तरिक गुणो को ले सकते है। इसमे भावात्मक शैली, विश्लेषणात्मक शैली, व्यग्यात्मक शैली उपदेशात्मक शैली पात्रानुरूप शैली, रसानुरूप, अवसरानुरूप शैली आदि विविध रूपो को लिया जा सकता है।

३ शैली का मिश्रित रूप—इसमे दोनो ही प्रकार की शैलियो का सामजस्य प्राप्त होता है। इसमे हम नाटकीय शैली को ले सकते हैं। साथ ही शैली के इस रूप मे ही हम वर्णनो एव रेखा चित्रो को भी ले रहे हैं। कारण ऐसे स्थानो पर जहाँ एक ओर वाक्यो की योजना, उचित शब्दो के प्रयोग एव अलकारो के आश्रय से उपन्यासकार चित्र को साकार करता है, वहीं कल्पना, सतर्कता एव विभिन्न सूक्ष्म भावो से उसे ओतप्रोत कर उसे सजीव एव प्राणवान बनाता है।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यास लिखने की शैलियो में क्रमिक विकास —

आचार्य चतुरसेन जी के प्रारम्भिक उपन्यासो मे वर्णनात्मक शैली की ही प्रधानता है। इसमे वह एक सर्वज्ञ की भाति आता है। और पाठको को सम्बोधित कर प्रत्येक पात्र की भावनाओ की अभिव्यक्ति कर उससे उसका परिचय कराता हुआ चलता जाता है। वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष वस्तुओ एव भावो का चित्रण करने के साथ-साथ कथा भी कहता चलता है। कथा की गुत्थियो को सुलझाने के लिए उपन्यासकार ने इस शैली के साथ-साथ सवादात्मक या नाटकीय शैली का भी समावेश किया है। उसने अपने उपन्यासों मे अपनी बात को स्पष्ट करने और कथा को गति प्रदान करने के लिए पत्रो, आत्म-विश्लेषणो, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो, सवादो आदि सभी का आश्रय लिया है, जिससे उसके उपन्यासो की शैली मिश्रित शैली के अधिक निकट पहुँच गई है। पाठक से अत्यधिक नैकट्य स्थापित करने के लिए उसने अपने दो उपन्यासो 'गोली' एव 'पत्थर युग के दो बुत' को आत्म कथानक शैली में लिखा है। इसमे उसकी शैली की प्रभावपूर्णता एव भावमयता तो बढी ही है, साथ ही उसके क्षेत्र का विस्तार भी हुआ है।

प्रस्तुत अध्याय मे हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो में प्राप्त शैली के बाह्य, आन्तरिक एव मिश्रित तीनो ही रूपो का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। साथ ही हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि उपन्यासकार जिस बात को विचारता है, अथवा जिस बात को वह कहना चाहता है, क्या अपनी उस बात को ज्यों की त्यो शैली के माध्यम से प्रभावशाली ढग से प्रकट कर सका है। •

शैली का बाह्य रूप.—उपन्यासकार अपनी शैली को अलंकारों, मुहावरों, लोकोक्तियों, एवं उक्तियों से साज संवार कर प्रस्तुत करता है। यद्यपि वह इन समस्त अलंकारों का प्रयोग अपने भावों की सबल अभिव्यक्ति के लिए ही करता है, किंतु इनका वही महत्व है जिस प्रकार एक सुन्दर रमणी के लिये वस्त्रों एवं आभूषणों का। जिस प्रकार बिना वस्त्रों एवं आभूषणों के रमणी की सुन्दरता नहीं निखर पाती। उसी प्रकार शैली के बाह्यरूप के निखरे बिना भावों की आंतरिक कोमलता भी नहीं निखर पाती। इस दृष्टि से शैली के बाह्य रूप का बड़ा महत्व है। शैली के बाह्य रूप में हम निम्न शैली रूपों को रख सकते हैं –

१ *काव्यात्मक अथवा सरस शैली.*—

भावात्मक एवं रसात्मक स्थलों पर उपन्यासकार भावुक हो उठता है। वह यह भूल जाता है कि वह गद्य लिख रहा है। उसका गद्य-काव्यकार का रूप निखर आता है और उसकी शैली लक्षणा और व्यंजना का आश्रय ले आगे बढ़ने लगती है। इस प्रकार की शैली में उक्तियों एवं मुहावरों की प्रधानता है। भाव, अनुभाव एवं मार्मिकता को एक साथ उपन्यासकार ने ऐसे स्थलों पर अनुस्यूत किया है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए केवल कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। 'सोमनाथ' उपन्यास का एक उदाहरण देखिए, भस्मांकदेव, दामो महता से कहते हैं –

'यह क्या बात है दामो, पाटन की राजनीति तारों की छाँह में चलती है।'

'राजनीति और ज्ञान नीति दोनों ही तारों की छाह में चलें तो ठीक है। सूर्य के प्रकाश में तो उनकी गूढ़ता भंग होती है। तभी तो देव रात-रात भर अध्ययन करते हैं।'[१]

'तारों की छाह में' का अर्थ लक्षणा से ही स्पष्ट होता है।

' ·और उनके साथ ही सिंहल के मुक्ताओं के सम्हारे हुए कुन्तल केश वायु से लहरा कर जैसे उस नृत्य का अनुकरण करने लगे, फिर मृदुल मृणाल भुजाएँ विषधर नाग की भाँति हिलोरें मारने लगी, यह सब देखकर दर्शक सुधबुध खो बैठे।'[२]

१. सोमनाथ, पृ १२५।
२ सोमनाथ, पृ. २२।

केवल ऐतिहासिक उपन्यासो मे ही नही वरन् उनके सामाजिक उपन्यासो मे भी इसी प्रकार की सरस शैली प्राप्त होती है। उनके 'अपराजिता' नामक उपन्यास का एक उदाहरण देखिए –

'राज आँखों से हीरा-मोती बखेरती चली आई। ठाकुर पत्थर की मूर्ति की भाँति आराम कुर्सी पर पडे रह। वहाँ उनकी कोठी की उस राह पर कितने हीरा मोती बिखरे-सो अन्धे ठाकुर न देख सके।'

'मृदुल मृणाल भुजाएँ विषधर नाग की भाँति हिलोरें मारने लगी' एव 'हीरा मोती बखेरना आदि का अर्थ अभिधा से स्पष्ट न होकर लक्षणा से ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार की शैली मे हम उनकी मुहावरो एव लोकोक्तियो से जडी हुई शैली को भी रख सकते है। उनकी भाषा का विश्लेषण करते समय हम आगे दिखलाएंगे कि उन्होने अपनी शैली को काव्यात्मक एव लाक्षणिक बनाने के लिए किस प्रकार खुलकर मुहावरो का प्रयोग किया है। इन मुहावरो एव लोकोक्तियो का सामान्यत अभीष्ट अर्थ लक्षणा के द्वारा ही निकाला जा सकता है।

अलकृत शैली :—भाषा को निखारने के लिए उपन्यासकार ने स्थान-स्थान पर अलकारो का भी आश्रय लिया है। इससे भाषा तो निखरी ही है, साथ ही वातावरण भी सजीव हो उठा है। ऐसे स्थलो पर उनकी शैली सरस, सुन्दर एव प्रवाहपूर्ण है। अलकारो से अलकृत एव कल्पना से पूर्ण होने के कारण उनकी इस प्रकार की शैली कविता के अधिक निकट पहुँच गई है।

'सोमनाथ' महालय की आरती का विवरण देखिए :—

' हजारो घन्टाओ का स्वर, महाघन्ट का रव और दुन्दुभी की मेघगर्जना सब मिलकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे देवाधिदेव अभी ताण्डव-नृत्य कर रहे हैं और पृथ्वी पर भूचाल आ गया हो।'[1]

गगा का सत्वन भी दृष्टव्य है।

'क्षण भर मे गगा की कला मूर्तिमान हो उठी। माधुर्य की नदी उसके कठ से बह चली। उसमे भक्तिभाव और विलास तैरने लगा। '[2]

के नृत्य का भी एक चित्र देखिए —

' मण्डप के उन रत्न-दीपो के प्रकाश मे वह शतदल श्वेत कमल-सी किशोरी, जब अपना समस्त अनाघ्रात सौरभ लेकर लोगो की दृष्टि मे चढी, तो

---

१. : पृ २०।
२. सोमनाथ, पृ. २१।

जन-समूह मे उन्माद की आँधी आ गई। जन समूह मुग्ध-मौन अवाक् रह गया।'[1]

उपन्यासकार ने क्रमश आरती, स्तवन एव नृत्य के वर्णनो को अलकृत शैली मे मूर्तिमान् किया है। इसी प्रकार उसने सुन्दरियो के अग सौंदर्य के स्पष्ट करने के लिए भी अलकारो का आश्रय लिया है। गन्धर्वो की नगरी की दिव्यागनाओ का शृ गार देखिए 'इन सुन्दरियो के कानो के हीरे के कुन्डलों की अमद आभा से वह कमरा ऐसा जगमगा रहा था, मानो तारागण के प्रकाश से आकाश देदीप्यमान हो रहा हो।[2]

रावण की पत्नी चित्रागदा का रूप भी दर्शनीय है —

' कमल की पखुडी के समान उसके लाल अधर मद-मद हिल रहे थे। वह कोई सुख-स्वप्न देख रही थी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे चद्रमा की चादनी वहाँ सिमटी पडी हो।'[3]

राम की अर्धांगिनी सीता के रूप को भी उसने उपमा अलकार के द्वारा स्पष्ट किया है। देखिए —

'अहा, इस शीलवती के अग को तो इसके वस्त्रो ने भी नहीं देखा होगा, जैसे आत्मा को शरीर नही देख पाता।[4]

इन सभी उदाहरणो मे भावो, चित्रो एव अग सौंदर्य को उपन्यासकार ने अलकारो द्वारा बडी सुघडता से स्पष्ट किया है। आचार्य चतुरसेन जी ने पात्र के रूप तथा भगिमाओ की छाप पाठको के हृदय पर अधिक से अधिक उभारने के लिए उपमाओं का खुल कर प्रयोग किया है। शोमना (सोमनाथ) का रूप देखिए —उसका रग चम्पे के ताजे फूल के समान अथवा आम के फूले हुए बौर के समान अथवा केले के नवीन पत्ते के समान था।[5] चौला (सोमनाथ) फूलो के समान कोमल थी[6], वह शुक्र नक्षत्र की भाँति देदीप्यमान और चादनी की भाँति व्यापक, शीतल और वज्रमणि की भाँति बहुमूल्य और दुष्प्राप्य दारवीय

१ सोमनाथ, पृ- २१।
२. वयं रक्षामः पृ- २०३।
३. वय रक्षाम· पृ २०४।
४. वय रक्षाम. पृ. ३६६।
५. सोमनाथ, पृ ६४।
६. सोमनाथ, पृ. २७६।

सुषमा की भाँति शनयौर शुभ्र थी।[1] चम्पा (गोली) का रूप यदि चटक चाँदनी में खिली चमेली के समान है तो कुवरी का शृंगार, पानी में भरे बादलो में बिजली की झलक के समान।[2]

आचार्य चतुरसेन जी ने हृदय के भावों को चेहरे पर दुःख सुख के समय पड़ने वाले चिन्हों को भी उपमाओं एवं उत्प्रेक्षाओं के द्वारा बड़ी कुशलता से उभारा है। अपमान की बात सुनकर 'उसका (सरला का) मुंह पानी भरे वर्षोन्मुख बादल के समान भारी हो गया।'[3] राज (अपराजिता) ने आश्चर्य एवं लज्जा से बड़े-बड़े पलक उठाकर ब्रज की ओर देखा।'[4] उन पलकों पर जैसे हिमालय का बोझ लदा था।'[5] ठाकुर (अपराजिता) पत्थर की मूर्ति की भाँति बैठे रहे।'[6] आदि।

आचार्य चतुरसेन जी ने सेना की भयकरता एवं विशालता प्रकट करने के लिए भी कितनी ही उपमाएँ दी हैं। देखिए —(महमूद की सेना) 'महासर्प की तरह रेंगती हुई भारत भूमि पर अग्रसर हुई'[7] देखते ही देखते अमीर की सेना ने इस तरह गढ़ी घेर ली, जैसे साँप कुन्डली मारकर बैठ जाता है।[8] (महमूद की सेना) इस प्रकार मरुस्थली में धँस रही थी, जैसे साँप बाबी में घुसता है।'[9] और मरुस्थली भी कैसी' जहाँ मृत्यु-रेत आँधी से आँख मिचौनी खेलती थी।'[10]

इसी प्रकार उन्होंने वीरता, शौर्य, उत्साह आदि को प्रकट करने के लिए भी अलकारों का प्रयोग किया है। देखिए '—भीमदेव के तोरण में प्रवेश करते समय ऐसा ज्ञात हुआ "जैसे प्रभास का धर्मक्षेत्र वीररस में डूब गया। जैसे

---

१. सोमनाथ, पृ २३।
२. गोली, पृ. ८८।
३ उदयास्त, पृ १७३।
४. अपराजिता, पृष्ठ ७।
५ अपराजिता, पृष्ठ १३७।
६. अपराजिता, पृ १३२।
७ सोमनाथ, पृ ९७।
८. सोमनाथ, पृ ११०।
९ सोमनाथ, पृ. ११८।
१०. सोमनाथ, पृ, १०६।

साक्षात् भगवान् सोमनाथ, शिव रूप तज रौद्र रूप में अवस्थित हो गए।'[१] वीरता को स्पष्ट करने के लिए भी उसने अलंकारों का आश्रय लिया है। जैसे कमालखानी के योद्धा महमूद की महासैन्य को चीरते चले गए—'जैसे खरबूजे को चाकू चीरता है।'[२] 'सेना के समुद्र को वे अठ्ठासी वीर इस प्रकार पार कर रहे थे, जैसे मगरमच्छ पानी को चीरता जा रहा हो।'[३]

इस प्रकार के अलंकारों के प्रयोग से उनकी शैली अलंकृत होने के साथ साथ प्रवाहपूर्ण एवं प्रभावशाली भी हो गई है।

अलंकारों से बोझिल एवं गुम्फित शैली—

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने 'वयं रक्षाम' उपन्यास में भाषा का रुचिकर श्रृंगार किया है। इसमें कई स्थलों पर वे अलंकारों के प्रवाह में वर्णन सतुलन खो बैठे हैं। ऐसे स्थल अलंकारों से बोझिल हो गए हैं, उनमें न कथा की गति रही है न प्रवाह ही। यहाँ एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। चित्रांगदा (वयं रक्षाम) का रूप वर्णन देखिए—' उन सुन्दरियों के बीच घिरी हुई चित्रांगदा, नक्षत्रों के बीच चन्द्रकला के समान सुशोभित होने लगी। वह उत्फुल्ल शतदल कमल के समान प्रसन्नवदना चल चपल मकरन्द-लोलुप भ्रमर-लोचना, हंसगामिनी, कमल-गन्धा चित्रांगदा गन्धर्वराज कन्या, काम-संजीवनी सी प्रतीत हो रही थी। उसके लहरों के समान मनोहर त्रिवलियुक्त मन्दोदर को देख रावण इस प्रकार चलायमान हो गया जैसे समुद्र चन्द्रकला को देख चलायमान हो जाता है।[४]

इसी प्रकार मदालसा (वयं रक्षाम) के रूप का भी अलंकारों से बोझिल वर्णन देखिए:—

उसकी मृग-शावक जैसी तरला-विलोला चक्षुपी, फूलों से गुथी हुई सुदीर्घा वेणी, प्राणियों को कामोचित फल देने वाली है। उसके चन्द्र-तिलक शोभित ललाट, दुर्लभ रक्तोत्पल कोकनद-मुखश्री, अवर्ण्य है। आताम्र मधुमत्त उसके अधरोष्ठ का अमृतपान पुण्य शेष जन ही कर सकते हैं। [५] मदालसा

१. सोमनाथ, पृ. २६३।
२ सोमनाथ, पृष्ठ ३९५।
३. सोमनाथ, पृष्ठ ३९५।
४. वयं रक्षामः पृ. २००।
५. वयं रक्षामः पृ ३१४-३१८।

का यह रूप वर्णन चार पृष्ठो तक चला है। चुन चुन कर उपन्यासकार ने इस वर्णन को अलकारो से सजाया है । किंतु वास्तव मे सत्य यह है कि इस प्रकार के अलकारो से बोझिल एव गुम्फित शैली के प्रयोग ने उसके 'वय रक्षाम' उपन्यास का सौदर्य नष्ट कर दिया है।

शैली के बाह्य सौंदर्य को निखारने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासो मे उक्तियो का भी बड़ी कुशलता से प्रयोग किया है । आगे उनकी भाषा पर विचार करते समय हम उनकी उक्तियां, सूक्तियो आदि पर विस्तार से विचार करेंगे।

अत मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी शैली के बाह्य सौंदर्य को अधिक निखारा है। जैसा कि हम पीछे दिखला चुके हैं कि जहाँ उन्होने शैली क बाह्य सौंदर्य को अधिक निखारने के लिए उस पर बलात् अलकारो को लादने का प्रयत्न किया है वहाँ उनकी शैली का आन्तरिक सौंदर्य उसके बाह्य सौंदर्य के नीचे दबकर समाप्त हो गया है। ऐसे स्थलो की शैली न प्रवाहपूर्ण ही रही है, न स्वाभाविक ही। किंतु जिन स्थलो पर कथा प्रवाह को स्पष्ट करने के लिए चरित्र तथा व्यक्तित्व को उभारने के लिए एव भावो को निखारने के लिए उसने अलकारो का प्रयोग किया है, उन स्थलो की शैली अलकृत होने के साथ-साथ स्वाभाविक, सरस, रोचक एव प्रवाहपूर्ण रही है।

शैली का आतरिक रूप —

इसमे लेखक का हृदय पक्ष प्रधान रहता है। ऐसे स्थलो की भाषा प्रवाहमयी एव सीधी-सादी होती है। इसमे हम पात्रो के मानसिक द्वन्द्वो, उनके हृदय गत भावो को साकार करने वाले स्थलो को रख सकते हैं। भावात्मक शैली, विश्लेषणात्मक शैली, उपदेशात्मक, भाषण, पात्रानुरूप आदि विविध शैली रूप इसमे रखे जा सकते हैं। इस शैली का अवसर से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सुखात्मक और दुखात्मक दोनो ही अवसरो मे हमारा अतर प्रभावित होता है। अत इनमे शैली भी प्रभावित हुए बिना नही रह सकती। इसी कारण आचार्य चतुरसेन जी की शैली विभिन्न अवसरो पर विभिन्न प्रकार की है।

भावात्मक शैली के विभिन्न उदाहरण :—

१ मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो के शब्द चित्र—आचार्य चतुरसेन जी के पात्रो की सजीवता का रहस्य उनके आन्तरिक और बाह्य दोनो गुणो के समान

प्रकाशन में है। उन्होंने क्रियाशील मानव के तो सजीव चित्र दिए ही हैं, साथ ही *उनके विचारशील मानव के चित्र भी पूर्ण एवं सजीव हैं।* अपनी भावात्मक शैली के आश्रय से ही आचार्य चतुरसेन जी विचाररत मानव का प्रत्यक्ष चित्र खींचने में पूर्ण सफल रहे हैं। इसी कारण उनके उपन्यासों में मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के शब्द बड़े ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी शैली कोमल, सजीव, चित्रात्मक एवं स्पष्ट है। मस्तिष्क के प्रत्येक द्वन्द्व प्रत्येक भाव को आकर्षक ढंग से उपन्यासकार प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल रहा है।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। आशा निराशा के मानसिक द्वंद्व का एक उदाहरण देखिए—

आभा अपने पति अनिल को त्यागकर रमेश के साथ चली जाती है। पति-गृह त्यागने के पश्चात् उसे अपनी त्रुटि का ज्ञान होता है। उस अवस्था का चित्रण उपन्यासकार ने बड़ा ही सजीव किया है—

उसने सोचा—निस्सन्देह मैं गृह त्यागिनी हुई, कुल त्यागिनी हुई, मैंने पति को, पुत्री को त्याग दिया, पर मैं पतित होने से बच गई। मेरा घर छूट गया है, पर गृहिणीत्व मेरी आत्मा में कायम है। मेरा पति बिछुड़ गया है, पर मेरा पत्नीत्व मुझमें सुरक्षित है। मेरी पुत्री मुझसे छिन गई है, किन्तु मेरा मातृत्व वैसा ही अक्षुण्ण है, *भले ही अनिल मुझे स्वीकार न करे, भले ही पुत्री मुझे न* मिले, मेरे लिए उस घर का द्वार बंद हो जाए। परन्तु मैं गृहिणी हूँ, पत्नी हूँ और माता हूँ। स्त्री-जाति की तीनों बहुमूल्य धरोहर मैंने खोई नहीं है। अब यदि मरना भी पड़े तो क्या चिंता।[१]

आभा की आन्तरिक ग्लानि, उसका अपने कुकृत्य पर पश्चाताप एवं उसकी हार्दिक खीझ और अन्त में उठकर पुन उत्थान के पथ पर बढ़ चलने की प्रेरणा यह सभी इस एक चित्र में साकार हैं। पाठक उसके इन हार्दिक उद्गारों को पढ़कर, उसे कुल त्यागिनी एवं पति त्यागिनी, जानते हुए भी उसके प्रति सहृदय हो उठता है। आभा इस अन्तर्द्वंद्व के पश्चात् अपनी खोई हुई सहानुभूति को पाठकों से पुन प्राप्त कर लेती है।

'आभा' ही का एक और उदाहरण देखिए। पत्नी के चले जाने के पश्चात् पति की मानसिक दशा को इसमें उपन्यासकार ने शब्दबद्ध कर दिया है।

---

१. आभा, पृ. ६३।

मैंने उसे चला जाने दिया। रोका नहीं। उसके उन शब्दों की चोट ताजा थी। पर अब देखता हूँ, उसने अपनी भूल तभी समझ ली थी। एक बार यदि मैं उससे कहता—आभा, आओ, अपने घर मे आओ, तो वह क्या न आती? और रमेश। उसका मुँह उस समय कैसा ठीकरे के समान निष्प्रभ हो गया था। वह भी समझ रहा था कि मैं कैसी भयानक गलती कर रहा हूँ?

परन्तु अब। क्या मैं उसके पास जाऊँ।[1]

इसी प्रकार 'बगुला के पंख' का एक उदाहरण देखिए। जुगनू जन्म से भंगी था, किन्तु ऊँची जाति का बनने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु उसके जन्म-जात-संस्कार, उसको अपने में समेट हुए थे। बाह्य वातावरण मे वह भले ही प्रसन्न हो किन्तु उसके हृदय मे हीन भाव भरे हुए थे। परशुराम की फटकार के पश्चात् उसके हृदय की प्रतिक्रिया देखने योग्य है—

"पर आज वह सर्वत्र अपने को हीन व्यक्ति समझ रहा था। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह जहां बैठा है, जो कुछ कर रहा है, और जहाँ रह रहा है, जो कुछ देख सुन रहा है। उन सबके लिए वह नितान्त अयोग्य है। जैसे उसे अपने आपका मुलम्मा दीख रहा था। उसे यह याद करके अपने मे एक सिहरन-सी उठ रही थी कि जैसे अभी-अभी सारी दुनिया इकट्ठी होकर चिल्लाकर कह उठेगी, 'अबे ओ भंगी के बच्चे, तेरी यह जुर्रत? कि तू भले आदमी का ढोंग बनाकर यहां बैठा लोगों की आँखों मे धूल झोंक रहा है।' वह अपने मे ही सकुचाया-सा, लज्जित-सा चुपचाप जैसे-तैसे अपना काम करता जा रहा था।'[2]

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणों मे उपन्यासकार ने बड़ी ही सरल शैली में पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के चित्र साकार कर दिए है। पात्रों की आन्तरिक व्यथा, उनका मानसिक पश्चाताप उनके चरित्र को उभारने में पूर्ण सफल रहा है। आचार्य जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों मे भी इसी शैली का बड़ी सफलता के साथ निर्वाह किया है। यहा एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा।

'सोमनाथ' मे महाराज अजयपाल का धर्म संकट देखने योग्य है—महमूद अपनी सम्पूर्ण वाहिनी के साथ भारत को आक्रांत करने के लिए बढ़ता चला आ रहा है। उसने महाराज अजयपाल से आगे जाने के लिए राह माँगी है, न देने पर युद्ध की चुनौती दी है। उस समय की महाराजा की दशा देखिए—

१ आभा, पृ ८७-८८।
२ बगुला के पंख, पृ. ४१।

महाराज अजयपाल को कोई ओर छोर नही मिला। वह सोचने लगे अवश्य ही अमीर को राह देना पाप है, परन्तु पाप का भागी क्या मैं ही हूँ ? यह अभागा भारत देश क्यो खण्ड खण्ड है। क्यो नही एक सूत्र मे सगठित है। सब लोग छोटे-छोटे राजा बने बैठे हैं। वे सब अपनी ही अकड मे मस्त हैं। इतना बडा विशाल भारत देश कैसे विदेशी लुटेरो के हाथ लूटा जाता है। यह तो हम देखते ही हैं, परन्तु सब हाथ पर हाथ धरे बैठे है। कोई किसी की नही सुनता, फिर मैं ही क्या करूँ ? मेरी शक्ति ही कितनी, हैसियत ही क्या ? पाप ही है तो सबका है। मैं यदि सुलतान का विरोध करता हूँ, तो मेरा तो सर्वनाश होगा ही, यह समृद्ध मुलतान शहर भी लूट और आग की भेंट होगा। यह क्या पाप नही होगा ? मैं जिस देश का राजा हूँ, क्या उसे बचाना मेरा धर्म नही है ? क्या वह पाप इस पाप से भी बडा होगा ?[१]

महाराज अजयपाल के एक एक मानसिक भाव को उभारने मे उपन्यासकार ने मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो के शब्दचित्र दिए हैं, वहाँ उसकी शैली-मर्मस्पर्शी, आकर्षक सजीव एव चित्रात्मक हो गई है। उसकी इस शैली मे एक एक भाव को, एक एक मानसिक द्वन्द्व को साकार करने की पूर्ण क्षमता है, तभी उसके यह शब्द चित्र इतने सजीव एव सफल हो सके हैं। उपर्युक्त शब्द चित्र पढने के पश्चात् हमारे समक्ष एक विचारशील एव सचिन्त प्राणी आ खडा होता है। वह कुछ सोच विचार कर जीवन सग्राम म अग्रसर होनेवाला चिन्तनशील मानव ज्ञात होता है, कठपुतली की भाति धागा खीचने ही कार्यक्षेत्र मे कूदकर अनेक प्रकार के शारीरिक कौशल का प्रदर्शन करनेवाला निर्जीव मानव नही। किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व वह अपनी मानसिक तैयारी कर लेता है, तभी आगे पग उठाता है। उपर्युक्त चारो ही उदाहरणो मे हम यह विशेषता देखते हैं। आभा, अनिल एव भुवन तीनो ही अपने अतीत पर विचार कर अगला पग उठाने को प्रयत्नशील हैं। महाराज अजयपाल भी अपनी कायरता को दूसरो का पाप कहकर छिपाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उपर्युक्त चारो ही अन्तर्द्वन्द्व परिस्थिति, अवसर एव स्थान के पूर्ण उपयुक्त है।

उपर्युक्त उदाहरणो मे हमने विभिन्न अवसरो पर, विभिन्न परिस्थितियो म पडे हुए मनुष्यो के अन्तर की हलचलो को कुशलता के साथ उभरा हुआ देखा है। वास्तव मे आचार्य चतुरसेन जी को मानव के अन्तकरण की सूक्ष्म वृत्तियो का पूर्ण ज्ञान था। उन्हे इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि ऐसे अवसर पर

१. सोमनाथ, पृ १००।

वैसे प्राणी के मन मे वैसी बात उपजती है, तभी उन्हे मानव की आभ्यन्तरिक वृत्तियो के सूक्ष्म निरूपण मे पूर्ण सफलता मिली है। किंतु उन स्थलो पर जहाँ उनकी शैली सरलता और सरसता का अचल त्यागकर कृत्रिम हो गई है, वहाँ उनकी विद्वता के नीचे कितनी ही सूक्ष्म वृत्तियाँ दब गई हैं।

सुख दुःख मे पडे हुए मानव की विभिन्न आतरिक वृत्तियो का सूक्ष्म चित्रण भी आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे प्राप्त होता है। जहा पर उपन्यासकार ने किसी सुअवसर पर किसी सुखात प्रसग का चित्रण किया है, वहाँ उसकी शैली कोमल, आकर्षक एव हृदय मे उत्साह एव सात्विक भाव उत्पन्न करने वाली है। विभिन्न उपन्यासो मे चित्रित प्रणय वर्णन, प्रिय सान्निध्य, विवाह, पर्व आदि अवसरो के वर्णनो को उदाहरण के लिए हम ले सकते है।

कुअवसरो के प्रसगो की शैली का रूप इससे भिन्न है। यह हृदय की दुःखात्मक वृत्तियो के प्रकाशन मे अद्वितीय है। इसमे हृदय की कारुणिक भावनाओ के उद्रेक की पूर्ण शक्ति है। आचार्य जी के उपन्यासो मे ऐसे स्थल अधिक हैं। 'नगरवधू के अम्बपाली हर्ष मिलन, चम्पा की राजकुमारी एव सोम की विदा, प्रसेनजित के दुःखद अन्त का दृश्य एव उपन्यास का अत ऐसे ही मार्मिक स्थल हैं। 'सोमनाथ' मे तो ऐसे स्थलो की भरमार है ही। इस प्रकार की शैली की सबसे बडी विशेषता है कि वह हृदय मे दुःखानुभूति का उद्वेग कराकर एक उत्साहहीन वातावरण का दुर्गमम्य मानसिक दृश्य उपस्थित करने मे पूर्ण सफल रही है।

सुअवसरो एव कुअवसरो से पूर्व के वातावरण एव परिस्थितियों के निर्माण के लिए उसने प्रलाप, आवेश प्रार्थना आदि शैलियो का प्रयोग किया है।

प्रलाप शैली —

ऐसे भावात्मक स्थलो पर जहाँ पर पश्चाताप के साथ-साथ उपन्यासकार ने प्रार्थना एव उपालम्भ का भी बडी सतर्कता से प्रयोग किया है, वहाँ हम उसकी प्रलापशैली के उदाहरण देख सकते हैं। ऐसे स्थलो पर आचार्य चतुरसेन जी की शैली हृदय मे कचोट उत्पन्न करने वाली, आवेश एव ओज से पूर्ण होती है। 'बगुला के पख' का एक उदाहरण देखिए —शोभाराम शिक्षित सभ्य एव सुन्दर सभी कुछ है किंतु वह जन्म से रोगी है। उसे पद्मा-सी सुन्दरी पत्नी प्राप्त है, किंतु वह स्वय रुग्ण होने के कारण पत्नी की आकाक्षाओ को सतुष्ट नही कर पाता। उसे इस बात का हृदय से पश्चाताप है कि इस अवस्था मे उसने विवाह

क्यों किया ? एक स्त्री का जीवन क्यों व्यर्थ नष्ट किया ? इसी पश्चाताप के आवेश में वह अपनी पत्नी से कहता है—मैं निस्सन्देह अपने को क्षमा नहीं कर सकता। मैं सदा का रोगी हूँ, जान बूझकर मैंने तुम्हें अपने रुग्ण शरीर के साथ बाँध कर स्वार्थी का सा आचरण किया है। मैं जानता हूँ तुम प्रेम के उस प्रसाद को प्राप्त नहीं कर सकी जिसको प्राप्त करने का तुम्हारा हक था। पर क्या कहूँ जिस क्षण तुम पर मेरी नजर पड़ी, मैं संयत न रह सका। संयम और त्याग सब भूल कर मैंने तुम्हें प्राप्त कर लिया। तुम्हें भूखों मार डालने की नियत से। पर मैं करूँ भी क्या ? तुम्हें देखते ही मेरी सारी चेतना व्यग्र हो उठी। सारी हड्डियाँ उत्तेजित हो उठीं। पर तभी मैंने यह भी जान लिया कि हाय, यह मैंने क्या किया तुम्हारे हृदय की कली खिलाने की मुझमें सामर्थ्य ही नहीं है। परन्तु भोगलिप्सा का मूल्य भी इतना है, वह प्राणों का सम्पूर्ण स्पन्दन है, चेतना की सबसे ऊँची तान है, यह मैं जानता न था। उसे तो मैं तुम्हारी आँखों में पढ़ता गया, जानता गया। घबराता गया, परेशान होता गया। लज्जा और वेदना से छटपटाता गया।'[1]

शोभाराम के इस प्रलाप में एक ओर उसके हृदय की छटपटाहट, घबराहट, व्याकुलता एवं वेदना को उपन्यासकार शब्दबद्ध करने में पूर्ण सफल रहा है तो दूसरी ओर मर्मस्पर्शी कोमल एवं आकर्षक शैली के द्वारा उसने चित्र को पूर्ण सजीव बना दिया है।

इसी प्रकार ऐसे स्थलों पर जहाँ उपन्यासकार ने किसी पात्र विशेष के दयनीय एवं विनय युक्त आतरिक भावों को व्यक्त किया है, वहाँ उसकी शैली प्रार्थनापूर्ण हो गई हैं। ऐसे स्थलों पर उसने कोमल, मर्मस्पर्शी, हृदय को आकर्षित एवं द्रवित करने वाले एवं शान्त तथा प्रभावपूर्ण वातावरण उपस्थित करने वाले शब्दों का प्रयोग किया है। 'वैशाली की नगरवधू' का एक उदाहरण देखिए —सोमप्रभ ने महाराज बिम्बसार को द्वन्द्व युद्ध में परास्त कर दिया है। वह सम्राट का वध करने जा ही रहा था, कि गिड़गिड़ाती हुई अम्बपाली उसके सामने आ जाती है। उसी समय का दृश्य देखिए —

'सोम ने अपना चरण सम्राट के वक्ष पर से नहीं हटाया। न उनके कंठ में खड्ग। उन्होंने मुँह मोड़कर अम्बपाली को देखा। अम्बपाली दौड़कर सोमप्रभ के चरणों में लोट गई। उसकी अश्रुधारा से सोम के पैर भीग गए। वह कह रही थी—उनका प्राण मत लो सोम, मैं उन्हें प्यार करती हूँ। परन्तु मैं कभी भी

१. बगुला के पंख, पृ. ३४।

राजगृह नहीं जाऊँगी। मैं कभी इनका दर्शन नहीं करूँगी। स्मरण भी नहीं करूँगी। मैं हतभाग्या अपने हृदय को विदीर्ण कर डालूँगी। उनका प्राण छोड़ दो, प्रिय दर्शन सोम, उन्हें छोड़ दो। वे निरीह, शून्य और प्रेम के देवता हैं। वे महान् सम्राट् हैं। उन्हें प्राण-दान दो। मेरे प्राण ले लो—प्रियदर्शन सोम, ये प्राण तो तुम्हारे ही बचाए हुए हैं, ये तुम्हारे हैं इन्हें ले लो, ले लो।'[1]

अम्बपाली के प्रत्येक शब्द में उसकी दयनीयता, कदाकारिता, हृदय की सिहरन, मस्तिष्क की कचोट और आंतरिक वेदना एवं व्यथा टपकी पड़ रही है। उसकी गिड़गिड़ाहट में प्रभावित करने की शक्ति है, और यही शक्ति इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता है।

२. आवेश शैली :—

ऐसे स्थलों पर जहाँ पर उपन्यासकार किसी पात्र विशेष के आंतरिक रोष को व्यक्त करना चाहता है, वहाँ उसने आवेश शैली का आश्रय लिया है। ऐसे अवसरों पर उसने हृदय से सघन भावों को एक साथ ही नहीं उड़ेल दिया है वरन् उसने पात्र के विचारों को प्रभावपूर्ण ढंग से रखने के लिये वक्तृत्व के साथ-साथ आवेश का भी योग दिया है, जिससे उसकी शैली मर्मस्पर्शी होने के साथ साथ आवेश पूर्ण हो गई है। 'सोमनाथ' का एक उदाहरण देखिए। अपनी प्रेमिका शोमना के मुख से धर्म का नाम सुनकर देवस्वामी (अथवा फतहमुहम्मद) अपने आंतरिक रोष को रोक नहीं पाता। वह हिन्दू धर्म की कटु आलोचना करता हुआ, आवेश पूर्ण शब्दों में अपनी प्रेमिका से कहता है 'धर्म प्यारी शोभना, वह धर्म जिसने तुम जैसी कुसुम कोमल अमल धवल रमणी-रत्न को वैधव्य के दुर्भाग्य से बाँध रखा है और मेरे उछलते हृदय को लातों से दलित किया है—ऐसा नहीं था जब तुम्हारे पिता मेरे मन्त्र पाठ करने पर तलवार लेकर मारने दौड़े थे—तब किसी ने मुझ पर दया की? सभी ने कहा मारो साले शूद्र को, वेद पढ़ता है नीच। अधर्मी। अब उस धर्म की तुम अभी तक दुहाई देती हो।'[2]

देवा के आन्तरिक रोष को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से उपन्यासकार ने रखने का प्रयत्न किया है। देवा, शोभना से प्रेम करता है किंतु हिंदू धर्म के सामाजिक एवं धार्मिक बन्धन उसके मार्ग को अवरुद्ध किये खड़े हैं। वह शोभना को प्राप्त करने के लिए ही यवन धर्म स्वीकार कर लेता है किंतु आज उसकी

१. वैशाली की नगरवधू, पृ ७३३।
२. सोमनाथ, पृ २८१।

प्रेमिका शोभना ही उसे धर्म का भय दिखलाती है। ऐसे अवसर पर उसके मुख से नि सृत यह आवेश पूर्ण उद्‌गार कितने स्वाभाविक हैं।

४ भाषण एव सबोधन शैली—

आदेश एव प्रार्थना शैली के गुणो के समन्वय से भाषण सबोधन शैली का निर्माण होता है। इस प्रकार की शैली मे ओज एव प्रासाद दोनो ही गुण रहते है।

'उदयास्त' का एक उदाहरण देखिए। आनद स्वामी अर्धशिक्षित ग्रामीणो को सबोधित करते हुए कहते है।

'स्वामी जी कुछ देर को चुप हो गए, फिर उन्होंने धीर गम्भीर स्वर मे कहा—आप सुख चाहते हैं पर दुख का सृजन करते हैं। शाति चाहते हैं पर अशाति का साधन उत्पन्न करते हैं। विश्वास चाहते हैं, पर विश्वासघात करते हैं। प्यार चाहते हैं पर कपट करते हैं, जीवन चाहते हैं, पर मृत्यु की ओर दौडते चले आ रहे हैं।"[१]

इसमे आवेश की मात्रा ही अधिक है, अत इसमे भाषण शैली से सबोधन शैली के गुण अधिक हैं। 'सोमनाथ' उपन्यास का एक भाषण शैली का उदाहरण देखिए। इसमे आवेश के परिपार्श्व मे प्रार्थना शैली के गुण हैं। महमूद सोमनाथ महालय पर चढाई करने के पूर्व गजनी म अपने सैनिको को धर्म के नाम पर उत्तेजित करते हुए कहता है।

'जब सलामी और नजराने की रसुमात पूरी हो चुकी तो उसने जलद गम्भीर स्वर मे एक हाथ ऊँचा करके कहा"—'मैं अमीर महमूद खुदा का बदा वही कहूँगा जो मुझे कहना चाहिए। रसूले पाक और खुदा के नाम पर—जिसके समान दूसरा कोई नही है—मैं अमीर महमूद खुदा बदा आज ईद मुबारक के साथ तुमसे, जो मेरी रकाब के जानिसार साथी हैं, और जिनके घोडो की टागो ने आधी दुनियाँ रौंदी है, वही कहूँगा जो मुझे कहना चाहिए। हम चल रहे हैं, अपनी सबसे बडी मुहिम को फतह करने, जिसकी इन्तजारी फिरदोसी और अल्बरूनी उस काफिर जमीन पर कर रहे हैं, जिनकी हर दौ दीनदारो के लिए है। दोस्तो, मैं जानता हूँ, तुम्हारी तलवारो की धार तेज है, तुम्हारे घोडे तरोताजा हैं, और तुम्हारे घोडो की जीनें, जिन्ह तुम पिछली बार चाँदी-सोने से भर लाये थे, खाली हो रही हैं और तुम मेरे दोस्तो, उन्हे फिर से भरने के लिए बेचैन हो। "[२]

---

१ उदयास्त-पृ० २२० ।
२ सोमनाथ-पृ० ९३ ।

प्रस्तुत उदाहरण मे उत्तेजना दिलाने के लिए आवेशपूर्ण शब्दो का और उद्बोधन के लिए सयत एव ओजपूर्ण शैली का प्रयोग किया गया है।

व्यग्यात्मक शैली—

आचार्य चतुरसेन जी के व्यग्य चुटीले, तीखे एव सीधे प्रहार करने वाले होते है। जहाँ पर उन्होने किसी कुरीति, अवविश्वास अथवा हिंदुओ के पारस्परिक वैमनस्य का चित्रण किया है, वहाँ उनकी शैली व्यग्यात्मक हो गई है। कुरीतियो एव धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचारो का वर्णन करते समय आचार्य जी की शैली प्राय व्यग्यात्मक एव तीखी है। 'बहते आँसू' 'गोली' 'बगुला के पख' आदि उपन्यासो म इसके अनेको उदाहरण देखे जा सकते हैं। 'सोमनाथ' का एक उदाहरण देखिए। महमूद ने धर्मगजदेव के समीप महाराज अजयपाल को मार्ग खाली करने के लिए अपना दूत बनाकर भेजा है। महाराज अजयपाल की बातें सुनकर धर्मगजदेव अपने क्रोध को रोककर व्यग्य करते हुए कहते हैं—

'महाराज, आप सिन्ध नद के दिग्पाल हैं। सो आपने अपना कर्तव्य पालन न कर प्राण बचाने का श्रेय लाभ किया। यह आपने क्षत्रियो की नवीन मर्यादा स्थापित की। आपने इस युक्ति से मुलतान बचा लिया, और अब रहा सहा पुण्य लाभ करने सुल्तान की दासता करके उनका दूतत्व करते हुए, उसे देव-स्थान नष्ट करने पट्टन ले जा रहे हैं। आप ही ने लोहकोट के सुल्तान को मार्ग देने को राजी किया था, यह आपकी कीर्ति मैं सुन चुका हूँ। महाराज, आपकी इस कीर्ति का स्वर्ग मे बखान करने आपके दादा धोधाबापा स्वर्ग पहुँच चुके हैं। जिन्होने आपको बचपन मे घुटनो पर खिलाया था। महाराज अजयपाल, आपने चौहानो को अच्छा मार्ग दिखाया—आप जैसे शूरवीर तलवार के धनी तो शत्रु के गोइन्दे बनें, और आपके वृद्ध पूज्य पुरुष रणस्थली मे मृत्यु के भोग बने? आप सपादलक्ष के उपकार के ही विचार से आए थे, अतत यह राज्य भी तो आप ही का है।'[1]

धर्मगजदेव के इन वाक्यो मे कितना व्यग्य है, कितनी तीक्ष्णता है किंतु उसका प्र [illegible] त्यक्ष हो रहा है।' 'सिन्ध नद के दिग्पाल' और 'दासता और दूतत्व' 'शूरवीर' होकर भी शत्रु के 'गोइन्दे' बनना आदि परस्पर विरोधी शब्दो को रखकर ही उपन्यासकार ने व्यग्यात्मक शैली का निर्माण किया है। 'अतत यह राज्य भी तो आप ही का है।' मे करारा व्यग्य है। किंतु यह अर्थ व्यजना से व्यजित हो सकता है।

१ सोमनाथ-पृ० १८१-१८२।

जिन स्थलो पर आचार्य चतुरसेन जी ने सामाजिक अथवा धार्मिक कुरीतियो पर व्यग्य किया है, उन स्थलो पर उनकी शैली प्रत्यक्ष चोट करने वाली है, किन्तु जहाँ पर उन्होने किसी राजनीतिक कुरीति पर चोट कसी है अथवा किसी राजनीतिज्ञ के मुख से व्यग्य करवाया है वहाँ चुटकी लेने वाला अप्रत्यक्ष व्यग्य है। वे ऐसे अवसरो पर रुक-रुक कर चोट कसते हैं, जिससे वे चोट खाने वाले की तिलमिलाहट भी दिखा सकें। ढोग और अध विश्वासो पर वे प्रत्यक्ष और करारी चोट करते हैं, उनकी तिलमिलाहट वे न दिखलाना चाहते है और न स्वय देखना ही। इसी कारण से उनकी व्यग्यात्मक शैली परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनो ही प्रकार की है।

शैली के आन्तरिक रूप के विभिन्न उदाहरण देने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'जिस प्रकार भाव परिवर्तन के साथ-साथ भाव प्रकाशन के रग ढग मे परिवर्तन आ जाता है उसी प्रकार से आचार्य चतुरसेन जी की शैली का आतरिक रूप भी भावो के अनुरूप ही परिवर्तित होता रहा है। जिस प्रकार हमारे हृदय म विभिन्न भावो का जब उद्वेव होता है तो मुख से उन्ही भावो को व्यक्त करने वाली शब्दावली स्वय नि सृत होने लगती है उसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी के पात्र के हृदय मे जब कोई भाव आता है, तो वह उसे प्रकट करने के लिए सानुकूल शब्दावली एव तदर्थ रूप व्यजक शैली स्वत साथ लिए आता है। यही कारण है कि उनके प्रत्येक भाव का रेखाचित्र बडा ही सजीव है।

शैली का मिश्रित रूप—

इसमे हम वाह्य-दृश्यो एव विविध वस्तुओ के वर्णन एव रेखा-चित्र को रख सकते हैं। वाह्य-दृश्यो एव विविध वस्तुओ के वर्णनो के अन्तर्गत हम उन सभी दृश्यो एव वस्तुओ का परिगणन कर सकते हैं जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय के विषय हो किन्तु यहाँ हम सुविधा की दृष्टि से आचार्य जी के उपन्यासो मे प्राप्त वाह्य दृश्यों एव विविध वस्तुओ के वर्णनो को दो वर्गों मे रखकर देख सकते हैं—

१. रूप-चित्रण—

इसमे हम मनुष्य वर्ग के चेष्टा, आकृति, रूप, क्रिया आदि के विभिन्न वर्णनो को ले सकते हैं। इसमे उपन्यासकार द्वारा वर्णित विभिन्न पात्रो के रेखा चित्र, उनके सौंदर्य वर्णन आदि को रखा जा सकता है।

२. दृश्य-चित्रण—

रूप चित्रण के अतिरिक्त इस वर्ग मे इसी प्रकार के वाह्य दृश्यो चित्रणो को रखा जा सकता है। इसमे राज सभा, महालय, मंदिर, नदी, वाटिका, युद्ध, चुनाव आदि के वर्णनो एव अत्याचारो, प्रणय, नृत्य, आदि के रेखा चित्रो को लिया जा सकता है।

रूप-चित्रण की शैली—

आचार्य चतुरसेन जी के रूप-चित्रण बड़े ही सजीव एव आकर्षक हैं। ऐसे स्थलो की भाषा-शैली गठी हुई, चुस्त एव चुभती हुई है। एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य नाप - तोल कर तराश कर ऐसा रखा हुआ होता है, कि चित्र स्वय साकार हो उठता है।

पात्र-चित्र एवं सौंदर्य चित्रण—

पात्रो के रेखा-चित्रो को साकार करने मे आचार्य जी पूर्ण सफल हुए हैं। ऐसे चित्रो मे पात्र का व्यक्तित्व, उसका प्रत्येक अग, प्रत्येक रूप स्पष्ट एव पूर्ण उभरा हुआ होता है। बड़े मिर्या (सोना और खून प्रथम भाग पूर्वार्द्ध) का एक चित्र देखिए—

'असल मुगल खून। मोती के समान रग। उम्र अस्सी के पार, लम्बे पट्टे बगुला के पर जैसे सफेद। बड़ी-बड़ी आँखें, जिनमे लाल डोरे, भारी-भारी पपोटो के बीच से झाँक कर प्यार और शान को निमत्रण देती हुई। कद लम्बा, किसी कदर दुबले पतले, कमर कमजोर नही। कमर जरा झुकी हुई। दाढ़ी खसखसी—बहुत सावधानी से तराशी हुई। जो उनके रुआबदार चेहरे पर बहुत भली लगती थी। आँखो पर अभी चश्मा नही लगा। सुर्मा लगाते थे। सिर पर मखमली ऊनी कामदार टोपी। पैर मे अलीगढ़ी पायजामा और बसन्ती के असली मसावत् के काम के जूते। बदन पर जामदानी का अँगरखा, उस पर कामख्वाब की नीमास्तीन। हाथ मे अमरूद की कीमती तस्वीह, प्रतिक्षण सरकती हुई। पान की लकीरो से आरास्ता ओठ, निरतर हिलते हुए। दाँतो की बत्तीसी असली कायम, जिन पर पान की लाल झक, ठीक अनार के दानो की शोभा को मात करती हुई। यही थे मियां सुरहोद मुहम्मद खा, रईस बड़ागांव।'[1]

बड़े मियां का सम्पूर्ण चित्र, ज्यो का त्यो उपन्यासकार ने खींच दिया है। 'असल मुगल खून' से उनकी बहादुरी एव उच्च कुलोद्भव होने की पुष्टि होती

१ सोना और खून प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध पृ. २३।

है, उनके व्यक्तित्व वर्णन को पढ़कर वृद्धावस्था में भी पूर्ण स्वस्थ होने की बात ज्ञात होती है। और सरकती हुई तस्बीह और निरन्तर हिलते हुए होठों से *उनकी धर्म प्राणता प्रकट होती है।* इस छोटे से रेखा-चित्र में ही उसने सभी कुछ भर दिया है। इसी प्रकार का आचार्य चतुरसेन जी के एक नारी पात्र का चित्र भी देखिए—

'पद्मा देवी की आयु छब्बीस बरस की थी। रंग उसका गोरा था, जिसमें खून टपका पड़ता था। उसके लावण्य में स्वास्थ्य की कोमलता का अद्भुत मिश्रण था। उसकी आँखें काली और बड़ी-बड़ी थी। कोये उज्ज्वल-श्वेत थे। *उन आँखों में तेज और आकांक्षा दोनों ही कूट-कूट कर भरी थी।* अनुराग और आग्रह जैसे उनमें से झाँकता था। पद्मा देवी के बाल गहरे काले तथा आपाद चुम्बी थे। वे मुलायम और घूँघर वाले भी थे। भौहे पतली और कमान के समान मुड़ी थी। कान छोटे, गर्दन सुराहीदार और उरोज उन्नत थे। शरीर उसका छरहरा था।'[1]

इस रेखा चित्र में आचार्य चतुरसेन जी ने पद्मा के व्यक्तित्व को तो साकार किया ही है, *साथ ही "आकांक्षा" 'अनुराग' और 'आग्रह'* से पूर्ण नेत्रों का चित्रण करके आपने उसके आंतरिक गुणों को भी इस रेखा चित्र में उभार दिया है। ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों के समान उनके पौराणिक *उपन्यासों के पात्रों के भी रेखा चित्र बड़े सजीव है। 'वयं रक्षाम'* की मंदोदरी का रूप वर्णन देखिए—

'तपाए हुए सोने के समान उसका रंग था। क्षीण कटि और स्थूल *नितम्ब थे। वह सोलह सुलक्षणों से युक्त थी। उसके केश काले, सघन, घूँघर-*वाले थे। वे पाद चुम्बन कर रहे थे। भौंहे जुड़ी हुई, जंघाएँ रोमरहित, गोल, दाँत सटे हुए थे, नेत्रों के समीप का भाग, नेत्र, हाथ, पैर, टखने और जघाएँ सब समान और उभरे हुए थे। नख, अँगुलियों की गोलाई के समान गोल थे। हस्ततल उतार चढ़ाव वाला, चिकना, कोमल और सुन्दर था। उँगलियाँ समान थी। शरीर की कांति मणि के समान उज्ज्वल थी। स्तन पुष्ट और मिले हुए थे। नाभि गहरी थी तथा उसके पार्श्व भाग ऊँचे थे।'[2]

---

१. बगुला के पंख-पृ. ३१।

२. वयं रक्षाम पृ ८८।

टिप्पणी—'चरित्र चित्रण' वाले अध्याय में रूप चित्रण की शैली, चरित्र तथा व्यक्तित्व को स्पष्ट करने की शैली आदि पर विशेष प्रकाश डाला जा चुका है।

इस रेखा चित्र मे रूप की पूर्णता अवश्य है किंतु मदोदरी का आतरिक व्यक्तित्व नही उभर पाया है। वैसे यह चित्र बडा ही सजीव एव चुस्त है।

यह सत्य है कि आचार्य चतुरसेन जी के पात्र चित्र सजीव एव पूर्ण होते हैं। उनमे चुस्ती बाकापन एव स्वाभाविकता भी कम नही होती, किंतु कही-कही पर उनके पात्रो के रेखा चित्र इतने विस्तृत हो गए हैं कि उनकी सजीवता जाती रही है। स्थूल विवरणो के नीचे उनका व्यक्तित्व दब गया है। 'वय रक्षाम' मे तो ऐसे रेखा चित्रो का बाहुल्य ही है।

आचार्य चतुरसेन जी ने एक साथ कई पात्रो के रेखा चित्र भी चित्रित किए हैं। ऐसे चित्र सक्षिप्त किंतु चुस्त, उभरे हुए किंतु साकेतिक होते हैं। उनके पात्र चित्रो की सर्वप्रमुख विशेषता है, उनकी पूर्णता एव सजीवता। चित्र के प्रत्येक अग को उपन्यासकार ने सुघडता के साथ उभारा है। चित्र का प्रत्येक अग गाढा, प्रत्येक रेखा पूर्ण एव प्रत्येक अग विकसित एव पुष्ट है। उन्होने कही पर हल्के हाथ से रग भरते हुए रेखा चित्र को स्पर्श किया है तो कही उनमे पूर्ण रग भरते हुए। इसी कारण से उनके पात्रो का बाह्य रूप चित्र तो पूर्ण एव भरा पूरा है आतरिक भावो के भी आलेखन और उद्‌घाटन मे वे पूर्ण सफल हुए हैं।

अपने 'वय रक्षाम' नामक उपन्यास मे उन्होंने पात्रियो के नख शिख वर्णन भी किए हैं।[1] रीतिकालीन आचार्यों की परिपाटी पर गद्य मे लिखे गये ये नख शिख वर्णन नीरस एव अस्वाभाविक हो गए हैं। इस प्रकार के प्रयोगो के कारण ही आचार्य चतुरसेन जी का 'वय रक्षाम' उपन्यास, उपन्यास न रहकर एक चमत्कार ग्रथ सा बन गया है।

दृश्य-चित्रण की शैली—

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे दृश्य चित्रण भी अत्यन्त सजीव एव प्राणवान् हैं। जिस दृश्य का भी उन्होंने वर्णन करना चाहा है, बडी सफलता के साथ किया है। जिस युग के चित्र को उपन्यासकार ने खीचना चाहा है, उसी युग के वातावरण के अनुकूल वह खीचने मे पूर्ण सफल रहा है। ऐसे स्थलो पर उसकी शैली विश्लेषणात्मक, विवरणात्मक एव कुछ कुछ काव्यात्मक हो गई है। शुचि एव रमणीय स्थानो की रमणीयता का वर्णन करते समय उपन्यासकार ने तदनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कोमल शब्दो से पूर्ण

---

१. वयं रक्षाम· आचार्य चतुरसेन-पृ. ४९८।

शैली का प्रयोग किया है। प्रासाद, महालय, मंदिर, आश्रम आदि रचनाओं के वर्णन उसी प्रकार की शैली मे हुए हैं। उदाहरण के लिए 'सोमनाथ' उपन्यास मे वर्णित सोमनाथ महालय का एक रेखा चित्र देखिए—

'महालय का अन्तर्कोट कोई बीस हाथ ऊँचा और छै हाथ चौडा था। सैनिक आसानी से उस पर खडे हो सकते थे। अन्तर्कोट के सिंह द्वार के ठीक सामने गणपति का भव्य मंदिर था। उसी पर नक्कार खाना था। जिसमे पहर - पहर पर चौघडियां बजती थी। इस द्वार के दोनो पार्श्वो मे दो विशाल दीप स्तम्भ थे, जिन पर संगतराशी का अत्यन्त शोभनीय काम हो रहा था। प्रत्येक स्तम्भ पर प्रतिदिन सहस्त्र दीप जलते थे, जिनका प्रकाश दूर से समुद्र के पथगामी जहाजो को सोमनाथ महालय के ज्योतिर्लिंग की दिशा का भान कराता था। इन विशाल और ऊँचे दीप स्तम्भो के शिखर पर दो विशालकाय गण स्थापित थे, जो श्वेत मर्मर के थे। दक्षिण दीप स्तम्भ के सम्मुख चन्द्र कुण्ड था, जिसके विषय म प्रसिद्ध था कि उसमे स्नान करने से सर्वरोग मुक्ति होती है, तथा मनोकामना सिद्ध होती है।[१]

इसमे सोमनाथ महालय का रेखाचित्र इतना उभरा हुआ है कि हम किंचित प्रयत्न मात्र से अपनी कल्पना द्वारा मानस क्षेत्रो से उसको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। इसी प्रकार 'वय रक्षाम' के अशोक वाटिका[२], जनक वाटिका[३], आदि के 'वैशाली की नगरवधू' के अम्बपाली के प्रासाद[४], नील पद्म प्रासाद[५], पुष्पकरिणी[६] आदि के राजसूय यज्ञ[७] आदि एवं सोमनाथ के अन्य अनेक विवरणो को रख सकते हैं।

राजदरबार आदि के रेखा चित्र—

आचार्य चतुरसेन जी के प्राचीन दरबारो, नगरो आदि के चित्र, गोष्ठी बडे सजीव हैं। उन्होने तत्कालीन राज दरबारों की सजधज को अपनी वर्णनात्मक शैली द्वारा सजीवता प्रदान की है। जहाँ महालय, आश्रम एव मंदिर

१. सोमनाथ-पृ. १७।
२. वय रक्षाम पृ. ५०५-५०७,
३. वय रक्षाम पृ ३६३।
४ वैशाली की नगर वधू-पृ ६२।
५ वैशाली की नगरवधू पृ. २८।
६ वैशाली की नगरवधू-पृ. ३६।
७ वैशाली की नगरवधू-पृ ३७५-७७।

आदि के विवरणो मे शुचिता एव रमणीयता है वहाँ प्राचीन राज दरबारो आदि के रेखा चित्रो मे तडक-भडक, राज-धज एव बनाव सिंगार की प्रधानता है। ऐसे स्थलो पर प्रयुक्त शैली अपने चटख एव चुस्त प्रभाव के कारण बडे सजीव चित्रो का निर्माण करती है । उदाहरण के लिए हम 'आलमगीर' नामक उपन्यास के शाहजहाँ के दरबार का एक चित्र लेते हैं—

"आम खास का दरबार आज खास तौर पर सजाया गया था । उसका प्रत्येक खम्भा जरी के काम के बहुमूल्य परदो से मढा गया था। छत मे रेशमी चदोवे लगे थे जिसमे रेशम और जरी के फुदने टके हुये थे । फर्श पर बहुत बढिया नर्म रेशमी कालीन बिछे थे। बाहर एक बडा भारी खीमा पडा था जो सहन मे आधी दूर तक फैला हुआ था। उसके चारो ओर चाँदी की पत्तियो से मढा हुआ कटहरा लगा था। इस खीमे मे लकडी के तीन बडे खम्भे जडे थे जो दूर से जहाज की मस्तूल की भाँति दीख पडते थे। इस खीमे के बाहर की ओर लाल रग का कपडा लगा था और भीतर मछलीपट्टम की छीट थी। आम खास की सारी दीवारें कमखाब और जरी के काम के दुशालो से ढक गई थी और जमीन बहुमूल्य सुन्दर कालीन से भर गई थी।"[१]

उपर्युक्त रेखा चित्र मे मुगल दरबार का एक सजीव रेखाचित्र है। यदि बारीकी देखा जाय तो यह अपनी कुछ विशेषताओ के कारण 'वय रक्षाम' 'नगरवधू' एव 'सोमनाथ' आदि उपन्यासो मे वर्णित हिन्दू राजदरबारो से बिल्कुल भिन्न दीख पडता है।

युद्ध एवं अत्याचारों के रेखा-चित्र—

आचार्य चतुरसेन जी के युद्ध एवं अत्याचारो के रेखा चित्र बडे ही सजीव हैं। युद्ध के वर्णन करते समय उन्होंने सदैव देश काल का ध्यान रखा है। 'वय रक्षाम' एव 'नगर वधू' मे प्राचीन भारत की युद्ध परिपाटियो के सफल चित्र अकित है, तो 'सोमनाथ' एव 'आलमगीर' मे मध्यकालीन भारत के युद्धो मे। 'सोना और खून' मे हम १९वी शताब्दी के युद्ध कौशल को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। यहां हम तीनो ही प्रकार की युद्ध परिपाटियो के एक-एक उदाहरण दे रहे हैं—

प्राचीन भारत की युद्ध परिपाटी का एक चित्र —

'वय रक्षाम' से शम्बर-सग्राम का एक रेखा चित्र देखिए —'दोनो ही

---

१. आलमगीर-पृ. ४।

पक्ष के भट आमने सामने हो युद्ध करने को विकल हो उठे। आर्यों के प्रधान सेनापति ने महाशुचि व्यूह का निर्माण किया। उस व्यूह के दक्षिण पार्श्व पर साठ अतिरथ यूथप, और वाम पार्श्व मे साठ पचरथ यूथप अपने यूथो सहित आसीन हुए। मध्य मे गज-सैन्य और केंद्र मे पाचालपति दिवोदास और उसकी देवसेना। अग्रभाग मे दशरथ अपने दस सहस्त्र अतिरथो के साथ। शम्बर ने अपनी सेना का अर्ध-चद्र व्यूह रचा। उसके मध्य मे गज सैन्य के साथ वह स्वय रहा। आगे-पीछे और पार्श्व मे छत्तीस छत्रधारी राजा।

व्यूहबद्ध होने के बाद ही दोनो सेनाओ मे रणवाद्य बज उठे। देखते ही देखते दोनो ओर से शस्त्र चलने लगे। जय जयकार का महाशब्द होने लगा। बाणो से आकाश छिप गया। शस्त्रो के परस्पर टकराने से आग निकलने लगी। हाथी, घोडे और सुभट मर-मर कर गिरने लगे। उनके रुधिर की नदी बह चली। जिसमे मृत वीरों के शरीर ग्राह से तैरने लगे। कोई सुभट सुभट से द्वद्व करने लगा। किसी ने अर्धचद्र बाण से किसी का सिर काट लिया। किसी के मर्म-स्थल मे बाण घुस जाने से वह चीत्कार कर धूर्णित सा भूमि पर गिर गया।

प्राचीन भारत मे किस प्रकार व्यूहबद्ध होकर सैन्य परस्पर युद्ध करती थी, इसका अत्यत सजीव एव स्वाभाविक चित्रण उपर्युक्त उद्धरण मे आचार्य चतुरसेन जी ने किया है।

मध्य कालीन भारत की युद्ध परिपाटी का एक चित्र —

'सोमनाथ' उपन्यास के पुष्कर के विकट युद्ध का एक विवरण देखिए — 'दूसरे दिन सूर्योदय से प्रथम ही राजपूतो को सावधान होने का अवसर न दे, अमीर ने अपने दुर्धर्ष घुडसवारो को ले अकस्मात् धावा बोल दिया। इस कार्य से प्रथम तो राजपूत-सैन्य मे घबराहट और अव्यवस्था फैली। पर तुरत ही राजपूत तलवारें ले लेकर टूट पडे। देखते ही देखते वे अपने छोटे-छोटे दल बना कर अमीर की सेना मे धँस पडे। हाथो हाथ मारकाट होने लगी। रुण्ड मुण्ड कटकर पृथ्वी पर पडने लगे। मेरो की सेना जो बर्छी के युद्ध मे अप्रतिम थी, अपनी नोकीली बर्छियाँ ले लेकर यवनो का सहार करने लगी। उनकी बर्छियाँ शत्रुओ की अतडियाँ बाहर खींच लाए बिना शरीर से बाहर निकलती न थी। समदार तलवारो के करारे घाव खा-खाकर शत्रु हाहाकार कर उठे।'[२]

---

१. वय रक्षाम: पृ १९९।

२ सोमनाथ, पृ १८७।

१९ वीं शताब्दी की युद्ध परिपाटी का एक चित्र —

'सोना और खून' में १९वीं शताब्दी की युद्ध परिपाटी के अनेक रेखा-चित्र हैं। उदाहरण के लिए उपन्यासकार द्वारा चित्रित 'खिड़की संग्राम का एक रेखाचित्र देखिए —"पहली मार्क की मुठभेड़ उ-फिन्टो की पैदल बटालियन से हुई—जो अँग्रेजी सेना के वाम पार्श्व में सातवीं पैदल देशी रेजीमेंट को धकेलती हुई दनादन बढ़ती जा रही थी। शीघ्र ही अंग्रेज सेना के सिपाहियों ने अपनी पंक्तियाँ दृढ़ कर ली और स्थिति को सम्हाला। अब वे दृढ़तापूर्वक मराठा सेना का प्रतिरोध करने लगे। कदाचित् उन्हें धोखा देने को—उनकी दृढ़ता देख चालाक उ-फिंटो ने अपनी बटालियन को तीव्रता से पीछे हटने का आदेश दिया। उन्हें पीछे हटते देख—अंग्रेजी सेना ने उन पर धावा बोल दिया। जिससे वे अपने पीछे वाली गोरी रेजीमेंट से बहुत अंतर पर आगे बढ़ आए।"[1]

यदि साधारण दृष्टि से भी देखें तो भी उपर्युक्त तीनों रेखा चित्रों का अंतर स्पष्ट हो जाता है। प्रथम में प्राचीन परिपाटी के महाशुचि व्यूह का वर्णन है। दोनों ही दल व्यूहबद्ध हो जाने के पश्चात् ही युद्ध प्रारम्भ करते हैं। यूथप, अर्धचंद्र बाण आदि शब्द भी प्राचीन वातावरण निर्माण में सहायक होते हैं। द्वितीय वर्णन में मध्यकालीन युद्ध परिपाटी का सजीव रेखा चित्र है, इसमें व्यूह बांधने की इतनी चिंता नहीं दीख पड़ती। प्रत्येक दल अपनी रक्षा में सतर्क और दूसरे को परास्त करने के लिए कटिबद्ध है। इसमें बर्छियों एवं तलवारों का युद्ध दर्शनीय है। अंतिम उदाहरण में १९वीं शताब्दी की युद्ध परिपाटी है। इसमें यूथप, व्यूह आदि शब्दों के स्थान पर बटालियन आ गई है। इन तीनों ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी ने प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक तीनों ही प्रकार की युद्ध परिपाटियों का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया है। वे इनका वर्णन करते समय भी बड़े सतर्क रहे हैं, जिससे उनके युद्ध वर्णन बड़े ही सजीव एवं रोचक बन पड़े हैं।

अत्याचारों का रेखाचित्र :—

युद्ध वर्णनों के साथ-साथ आचार्य चतुरसेन जी ने तत्कालीन राजाओं के अत्याचारों के रेखा चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। यह रेखा-चित्र जहाँ एक ओर पाठक के हृदय में युद्ध के प्रति वितृष्णा उत्पन्न करते हैं, वहीं दूसरी ओर पीड़ित

१. सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध, पृ. १९७।

व्यक्ति के प्रति हार्दिक सहानुभूति भी। आचार्य चतुरसेन जी के 'बिना चिराग का शहर' नामक उपन्यास का एक उदाहरण देखिए —

'इसी समय जल्लाद तेज छुरे लेकर आए। और असल काम शुरू हुआ। आहिस्ता से पहिले पेट के नीचे से कमर तक उसकी खाल तराशी गई और इसके बाद उसे चीमटों से पकड़कर खींचा जाने लगा। असह्य यंत्रणा से राजा कराहने लगा। पर शीघ्र ही उसकी कराहना भी धीमी पड़ गई। और वह फिर बेहोश हो गया। जल्लाद अपना काम तेजी से करते चले और उसके सीने तक की खाल समूची उधेड़ ली गई। देखते ही देखते राजा एक जीवित मांस का लोथड़ा रह गया। राजा यद्यपि इस समय बेहोश था, पर वह जीवित था। और सांस ले रहा था। चूंकि जिंदा खाल खींचने का शाही हुक्म था। इसलिए जल्लादों ने खाल खींचने में जल्दी की। उन्हें भय था कि कहीं वह खाल खींचने से पहिले मर न जाय।'[१]

प्रस्तुत रेखा चित्र कितना सजीव है। जल्लाद की सतर्कता एवं निर्भयता, राजा की निरीहता एवं तड़पन, असह्य यंत्रणा के कारण उसकी दर्दनाक कराह, मूर्छा का प्रेयसी रूप में कुछ समय के लिए आना और फिर रूठकर चली जाना, मृत्यु का मुंह फेर लेना, अपने ही राजा की जिंदा खाल खिंचते हुए देखना और आह न भर पाना आदि सभी भावों को कुशलता से उपन्यासकार ने प्रस्तुत चित्र में उभारा है। यह रेखा चित्र इतना मर्म-स्पर्शी एवं सजीव है कि पाठक पढ़ते ही रोमांचित, आतंकित एवं क्रोधित हो उठता है। आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में इसी प्रकार के अनेक रेखा चित्र भरे पड़े हैं।

नृत्य आदि के सजीव वर्णन —

एक ओर आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में जहाँ युद्ध की घुमड़न हैं, अत्याचारियों के नृशंसताओं के रेखा चित्र हैं वहीं दूसरी ओर सुन्दरियों के नृत्य की सुन्दर झलक, वाद्ययंत्रों की सुमधुर ध्वनि, घुंघरुओं की छनछनाहट के विवरणों से भी उनके उपन्यास भरे पूरे हैं। 'सोमनाथ' उपन्यास का निम्न उदाहरण देखने योग्य है —

'मृदंग पर थाप पड़ी और कोमलपद की हल्की ठोकर से सुनहरी घुंघरू बज उठे छन्न। मृदंग ने दौड़ मारकर फिर थाप मारी, और घुंघरू बजे छन्न-छन्न। फिर तो नूपुर शोभित लाल कमल से वे चरण श्वेत प्रस्तर के उस सभा-

१. बिना चिराग का शहर, पृ. १०७।

भवन के विस्तार को छू छूकर ऊधम मचाने लगे। घुंघरुओं की झकार जैसे लोगो के हृदयो मे ज्वार-भाटा उत्पन्न करने लगी।

नृत्य का सम्पूर्ण चित्र पूर्ण सजीव है। इसमे उपन्यासकार ने अत्यत सूक्ष्म पर्यवेक्षण से कार्य लिया है। घुंघरुओ की ध्वनि, मृदग के स्वर एव कोमलपदो की थिरकन तक को उसने प्रस्तुत चित्र मे उभार दिया है।

इसके अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे गाँव, नगर, कूप, वाटिका, बाजार नदी, पर्वत, वृक्ष, जलाशय, गढ, किले आदि के भी विस्तृत एव सजीव वर्णन प्राप्त होते है। इतना ही नही राजदरबार, राज व्यवस्था, आदि के विवरण विभिन्न वर्गों के जीवन की झाकी भरे सजीव चित्रण भी उनके उपन्यासो मे दर्शनीय हैं। इन सभी का वर्णन हम 'देशकाल एव वातावरण सृष्टि' नामक अध्याय मे कर चुके हैं। यहाँ पर हमने जो कुछ उदाहरण दिये है उनसे हमारा उद्देश्य आचार्य जी की लेखन शैली पर प्रकाश डालना मात्र रहा है। आचार्य जी की कहानियो की लेखन शैली भी बहुत कुछ उनके उपन्यासो के समान ही [redacted]।

अभी तक हमने आचार्य चतुरसेन जी की लेखन शैली का विवेचन किया अब उनके शब्द भडार, मुहावरो एव लोकोक्तियो के प्रयोगो पर भी एक दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा। जैसा कि हम पीछे दिखला चुके है कि आचार्य जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनके उपन्यासो मे तीन प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है। आगे हम उनके तीनो ही प्रकार के उपन्यासो म प्रयुक्त शब्द भडार पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

सस्कृत, पाली, प्राकृत आदि के शब्द.—

आचार्य चतुरसेन जी ने विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए सस्कृत, पाली एव प्राकृत के कितने ही तत्सम और तद्भव शब्दो का प्रयोग अपने उपन्यासो मे किया है। 'वैशाली की नगरवधू' एव 'देवागना' (मदिर की नर्तकी) आदि मे सस्कृत के शब्दो का प्रयोग प्रभाव-वृद्धि एव वातावरण सृष्टि के लिए ही किया गया है, किन्तु 'वय रक्षाम' मे आग्रहवश ही सस्कृत बहुला भाषा का प्रयोग हुआ है। इसमे कही-कही तो सस्कृत मिश्रित भाषा प्राप्त होती है, तो कही सम्पूर्ण परिच्छेद ही सस्कृत मे है।[२] बहुधा अनार्य महत्पुरुषो का कथोप

१. सोमनाथ, पृ २२

२ वय रक्षाम: आचार्य चतुरसेन पृ. ३६४, ३६५।

कथन संस्कृत मे कराया गया है।[1] ग्रंथ का समर्पण पत्र भी संस्कृत मे है। और 'इति व्याख्या' भी संस्कृत मे।[2] ग्रंथ की समाप्ति मन्दोदरी विलाप पर हुई है यह विलाप भी संस्कृत मे ही है।[3] ऐसा आचार्य चतुरसेन जी ने इस उपन्यास मे क्यो किया ? इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होने एक स्थान पर लिखा है संस्कृत का मैं पडित नही हूँ। जीवन के आरम्भ मे कुछ संस्कृत पढ़ी अवश्य थी, अब सब भूलभाल गया। गत चालीस वर्षों मे संस्कृत से प्राय नाता ही टूट गया। यदा-कदा कभी कुछ पढ़ लेता था, परन्तु अब इस उपन्यास के लिखने के समय बासी कढी मे उबाल आ गया। सो यह भी एक चमत्कार कहना चाहिए।[4] भले ही आचार्य चतुरसेन जी को यह चमत्कार प्रिय लगा हो किंतु इस प्रकार खड़ी बोली की भाषा का प्रयोग करके उसमे स्थान-स्थान पर संस्कृत के पैबंद लगाना उचित नही प्रतीत होता। इस प्रकार भाषा के साथ खिलवाड करना सर्वथा अनुचित है। तुलसी ने 'मानस' मे किसी दूसरे ही भाव से संस्कृत भाषा का प्रयोग किया था, उनका उद्देश्य किसी प्रकार के 'चमत्कार प्रदर्शन' का नही रहा था। 'वय रक्षाम' 'नगरवधू' आदि उपन्यासकार ने विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग किया है, वहाँ रचमात्र भी कृत्रिमता की गंध या पांडित्य प्रदर्शन नही ज्ञात होता, प्रत्युत शब्दो के प्रवाह को देखकर तो ऐसा आभास होता है कि वे शब्द प्रकृतित अपने उचित स्थान पर स्वय आकर जम गये हो, अपरिवृत्तिसह हो गए हो।

विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करने वाले शब्द—

यहाँ हम आचार्य चतुरसेन जी द्वारा प्रयुक्त कुछ उन संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं के शब्दो को प्रस्तुत कर रहे हैं, जो विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए उपन्यासो मे प्रयुक्त हुए हैं।

तत्कालीन वातावरण-परिचायक शब्द

इसमे हम पारिवारिक, सामाजिक एव सैनिक क्षेत्र से सम्बद्ध वस्तुओ के नामो, सामत वर्ग के द्योतक नामो, न्यायालय एव अन्य प्राचीनता द्योतक

---

१ वय रक्षाम. पृ २२७ से २२८ तक। ३६१-३६२, ३६४-३६५, ३६६, ७४१-७४३।

२. वय रक्षाम समर्पण एव इति।

३. वय रक्षाम पृ. ७५१ [illegible] ७५७ तक।

४ चतुरसेन त्रैमासिक, निदाघ सं० २०१२ प्रथम अंक पृ. १०७।

नावों आदि को ले सकते हैं। जैसे सयागार, प्रागण (नगरवधू पृष्ठ १२) अलिंद, प्रकोष्ठ, गर्भगृह, दडधर (न० व० ९२) नगरसेट्ठि, श्रेणिक, सामन्तपुत्र (न० व० १२) अतरायण, हट्ट (न० व० १३) तोरण (पृ० ९७) सन्निपात, महाबलाधिकृत, छन्दशलाका, श्रेष्ठिचत्वर (पृ० १३) आमात्य (न० व० १३) तूर्य (न० व० १३) भतेगण (न० व० १५) आयुष्मान् (न० व० १५) सधिविग्राहिक, अट्टी रक्षक (न० व० १२४) कृत्या, निष्क, (न० व० १२७) मधुगोल्क, मैरेय, माध्वीक दाक्षा (न० व० १२९) साकृत्य, वासस्तरी, अर्घपात्र, समित्पाणि (न० व० १४२-१४३) अष्टकुल, सर्वजनभोग्या (न० व० ३०) गणपति, गणनायक, (न० व० ३१) वीथिका, सेट्ठिपुत्र, अहत, अतरायण पण्य, धमचलु, काषाय वस्त्र, प्रवृजित, (न० व० ६०) दिशा प्रमुख, स्नातक, अजानीय, उपानय (न० व० १२१) स्वस्तिको, शालाकाएँ, तोगा, उपानत, कार्तिक, कौशेय, परिधान (न० व० १२२) तैलाभ्यग, कचुक, क्षौम प्रावार, दण्डस्यक (न० व० ४४५) चीनाशुक, लोघरेणु, सालक्तक, अगुकात, गण्डस्थल, स्फटिक चषक (न० व० ४६८) गवाक्षो, कक्ष, शृङ्गार गृह (न० व० ४७४) कुसुम, दुकूल, उपाधान (४७७, ७८) दस्यु, आप्यायित (७५३) आदि कितने ही शब्द प्राप्त हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने इसी प्रकार के लगभग दो हजार से भी कुछ अधिक शब्दो जो अपने विशिष्ट समकालीन पारिभाषिक अर्थ मे हैं तथा जिनका प्रचलन चिरकाल से बन्द हो गया था का प्रयोग अपने उपन्यासो मे विषयानुकूल वातावरण निर्माण के लिए किया है।

विभिन्न मनोभावो को प्रकट करनेवाले कुछ शब्द—

उपन्यासकार वही सफल हो सकता है जिसको विभिन्न स्वभावो एव रुचियो का प्रशस्त ज्ञान हो एव अन्तर्जगत् की विभिन्न सूक्ष्म वृत्तियो का वह मर्मज्ञ हो। किंतु केवल आभ्यन्तर वृत्तियो के ज्ञान मात्र से ही वह सफल नहीं हो सकता, जब तक उन सूक्ष्म वृत्तियो को ज्यो की ज्यो चित्रित कर देने के लिए उसका शब्द भडार भी विस्तृत न हो। आचार्य चतुरसेन जी का शब्द भडार विस्तृत था इसमे सन्देह नही। इसी कारण से वे अपने उपन्यासो के अधिकाश स्थलो पर प्राप्त विभिन्न मनोभावो को उपयुक्त शब्दो द्वारा ज्यो के त्यो व्यक्त करने मे पूर्ण सफल हुए हैं। जहाँ पर उन्हें जिस प्रकार के मनोभावो को व्यक्त करना हुआ है, उन्होंने बिल्कुल उसी भाव को उभार देने वाले शब्दो को प्रयुक्त किया है। उदाहरण के लिए जहाँ उन्होंने आश्चर्य प्रकट कराया

है, वहां उनके शब्द अपने मे कुछ कुतूहल, कुछ विस्मय, कुछ रहस्य लिए होते हैं और इन्ही शब्दो के ब्याज से वे रहस्यपूर्ण वातावरण प्रस्तुत कर देते हैं। कही कोई 'चमत्कृत होकर दातो तले उँगली दबा हँसता है। '(सोमनाथ पृष्ठ १०२) तो कही कोई मुह से आधे शब्द बोल और आधे दबा कर अचकचाया सा आश्चर्य प्रकट करने लगता है। जहाँ उन्हे प्रोत्साहन पूर्ण स्थलो को सँवारना हुआ है, वहाँ उन्होने छोटे छोटे किंतु तीक्ष्ण एव चुभते हुए शब्दो को स्थान दिया है। क्रोध एव आवेश व्यक्त करने के लिए उन्होंने ओजपूर्ण एव भारी शब्दो का प्रयोग किया है। इसी प्रकार से उन्होने अपने सम्पूर्ण कथा साहित्य मे विभिन्न मनोभावो को प्रकट करने के लिए तदनुरूप शब्दो का प्रयोग किया है। गत पृष्ठो मे उनकी शैली का विश्लेषण करते समय हम इस बात पर विस्तार से विचार कर चुके है।

अरबी, फारसी के शब्द —

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने कथा-साहित्य मे अरबी, फारसी के शब्दो का प्रचुर प्रयोग खुलकर किया है। वे पात्रानुकूल भाषा बुलवाने के पक्ष मे थे, अत उनके अधिकाश मुसलमान पात्र अरबी, फारसी प्रधान भाषा मे वार्तालाप करते हैं। इतना ही नही उनके अधिकाश हिंदू पात्रो को भी जब मुसलमान पात्रो से वार्तालाप करना होता है, तो उनके भी वार्तालापो मे अरबी, फारसी के शब्दो का बाहुल्य दीख पडता है। आचार्य चतुरसेन जी के उन ऐतिहासिक उपन्यासो–मे जिनका सम्बन्ध यवनो से है–अरबी, फारसी के शब्दो का बाहुल्य देखा जा सकता है। 'सोमनाथ' और 'आलमगीर नामक उपन्यासो में भाषा हमारे इस कथन की प्रमाण हैं। नीचे के कुछ अवतरणो से हमारी बात स्पष्ट हो जावेगी। पुष्पाकित शब्दो पर ध्यान दीजिए —

'तुम भी बहुत मुतफिक्र❀ मालूम होते हो '(आलमगीर पृष्ठ ६७)।

'कयामतबर्पा❀ होने वाली है '।

'हुजूर इस फर्माबर्दार❀ पर हमेशा शाकी बने रहते हैं'।

'तुम लोग मेरी कमजोरियो❀ को दरगुजर❀ करते चलो' (आमलगीर पृष्ठ ६८)।

'खुदा तुम्हे सुर्खरू❀ करे।' (आलगीर पृष्ठ ६९)।

' और ताकयामत❀ मैं तुम्हारी इन्तजारी❀ करूँगी।' (आलमगीर पृष्ठ १०५)।

' आपको अगर इल्म-नजूमकुफ़॰ दीख पड़ता है ' (सोमनाथ पृष्ठ २२१)।

'यह तो इत्तफाक़॰ पर मौकूफ़॰ है ' (सोमनाथ पृष्ठ २९०)।

'मेरी सुल्तान से एक इल्तजा॰ है ' (सोमनाथ पृष्ठ २९०)।

' तुम्हारे कदमों॰ में सदके॰ करता हूँ ' (सोमनाथ पृष्ठ ४४५)।

' अय बुजुर्ग॰, तुझ पर आफरीं॰, तू कौन है ? अपना नाम बता कर महमूद को ममनून॰ कर' (सोमनाथ पृष्ठ ३९३)।

' और आपके वालिद मरहूम॰। खुदा उन्हें जन्नत॰ दे।' (धर्मपुत्र पृष्ठ ४)।

' मैं यह अर्ज करके आता हूँ कि आपकी ड्योढ़ियों पर जहर खाकर॰ जान हलाक॰ कर लूँ ?' (धर्मपुत्र पृष्ठ ३४)।

' मुद्दत से इश्तियाक॰ था आज देख लिया। ' (धर्मपुत्र पृष्ठ ४१)।

' मेरे लिए तो यह पाकपरवर्दगार॰ है। ' (धर्मपुत्र पृष्ठ १५१)।

' अपने रोजगार धन्धों में मसरूफ॰ रहते हैं, ' (बगुला पृष्ठ ६९)।

' जी हाँ, हुजूरेआला॰ हमारे आका॰ ' (बगुला पृष्ठ ६८)।

'आपका इस्मेगिरामी॰ ' (बगुला पृष्ठ ६८)।

' उसका वालिद॰ हाजिर आता है।' (बगुला पृष्ठ ७५)।

'निहायतपाकीजा॰। ' (बगुला पृष्ठ ७५)।

'वे रूमवर्ष॰ होते होंगे। ' (बगुला पृष्ठ ८१)।

'आप तो निवकादानाबीना॰ हैं।' (बगुला पृष्ठ ९१)।

वाक्यों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी उर्दू उपन्यास के कुछ वाक्य उद्धृत कर दिये गए हों। आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यासों में इस प्रकार के अरबी, फारसी के शब्दों की संख्या लगभग ढाई हजार के होगी। कुछ नमूने और देखिए—

आरजू (आलम॰ ६८) हिम्मतवर (आलम॰ ६८) आखिल, लोटमन, रहमी दयानतदारी, फरिश्ता, बेहूदा॰, पेशानी, वारिस, महफूज (आलम॰ ६८-६९) अमलदरामद, बाशिन्दे, पोशीदा, मुकम्मिल हिज्रो, दस्तदाजी (आलम॰ ७०-

७१) जा निसार (सोमनाथ २१५) मौसूफ, गैबी मदद, बगावत, इल्तजा, मुहिम (सोम० पृष्ठ २९०) कद्दावर (सोम० ३०६) ममनून, रुतबा, आलीजाह (सोम० ३०८) रकाब (सोम० ३५४) फराखदिली, कुमैनमर्दानगी, इस्तमरारदारी, खिदमतगार (धर्मपुत्र पृष्ठ ३३) तकसीर (गोली ७५) मुशाहरा, तकिया कलाम (गोली पृष्ठ १९३) मश्शाक, गजल, लुत्फ, शोरी जबान (बगुला पृ० १४) शगल (बगुला ४९) तल्लिया (पृष्ठ ५०) ।

कुछ गलत शब्दो का भी प्रयोग देखिए —

' दस्तरखान मे शरीक हो गए ।' होना चाहिए दस्तरखान पर शरीक हो गए ।

'अकेले महर की रकम पर क्या मौसूफ है ' (धर्म० ३९) होना चाहिए मौसूफ के स्थान पर मौकूफ ।

'दावतो ही का सीगा बँधा रहता है ' (धर्मपुत्र ३९) होना चाहिए दावतो का सिलसिला ही बँधा रहता है ।

'हुजूर इल्म मौसीकी के माहिर कामिल हैं । ' (धर्म० ४४) होना चाहिए हुजूर इल्म मोसीकी के उस्तादे कामिल हैं ।

'तो किसी दिन ज्यारत कर आऊँ इजाजत है' (धर्म० ४५) होना चाहिए तो किसी दिन हाजरी दूँ इजाजत है' कारण ज्यारत का प्रयोग मृतक के लिए होता है ।

' अम्मी और मैं एक लहमे को भी जुदा न हुए थे ।' (धर्म० ५१) होना चाहिए अम्मी, और मैं एक लमहे को भी जुदा न हुए थे ।

'गो कि बहुत शरीफ और आमिल हैं ' (धर्मपुत्र ७) होना चाहिए आमिल के स्थान पर आलिम ।

अंग्रेजी शब्द —

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे अंग्रेजी शब्दो का भी बाहुल्य प्राप्त होता है । इन शब्दो का प्रयोग दोनो रूपो मे हुआ है उपन्यासकार ने स्वय कुछ कहने के लिए इनका प्रयोग किया है और शिक्षित और अशिक्षित पात्रो द्वारा भी वे व्यवहृत हुए हैं। कुछ पारिभाषिक अंग्रेजी शब्दो का भी प्रयोग उपन्यासकार ने अर्थ की सम्पूर्णता के लिए किया है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द ही पर्याप्त होगे। जैसे विजिट (बगुला के पख ३५) फोटोग्राफी, रील, अलबम (बगुला के पख पृ० ३८) पेमट, टिप (बगुला के पख पृ० ५०) रेस्टोरेंट, आडर (बगुला के पख ६८) कन्ट्रैक्ट, मीटिंग, स्लिप (बगुला के

पस १०७) पालिश्ड, जेलेसी (बगुला के पंख १७०) आफ्टरआल, वंडरफुल फार हेवेंस सक (बगुला के पंख १७०) केडेंटशिप, एन्ट्री, रेजीमेंट, कमांड, डिस्पेंच (सोना और खून प्रथम भाग १७४) टाइप, एडीशन, क्लीन शेव्ड (धर्मपुत्र पृ० ३०) हाबी (धर्मपुत्र ३१) जैसोमिन, यरबीना, सिटरन, एसेंसो (पृ० ८०) एनेजमेंट, आर्योआकम (धर्मपुत्र पृ० ८५) आदि कितने ही अंग्रेजी शब्दों का उन्होंने अपने उपन्यासों में व्यवहार किया है। यदि 'वयास' में प्राप्त अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को भी ले लिया जाय तो आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त अंग्रेजी के शब्दों की संख्या दो हजार से शायद ही कुछ कम रह जाय। किंतु आचार्य चतुरसेन जी ने अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते समय इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि विदेशी शब्दों के बहुवचन हिंदी व्याकरण के अनुसार ही बनाये जायें। देखिए रेस्टोरेंटों, आर्डरों (बगुला के पंख पृष्ठ ६८) अफसरों, मिनिस्टरों, फर्मों, (गोली २१४) कौंसिलों, कम्युनिस्टों आदि।

विदेशी भाषाओं के शब्दों के बाहुल्य से आचार्य चतुरसेन जी की भाषा कई स्थलों पर कृत्रिम हो गई है। जहाँ तक अरबी, फारसी अथवा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भाषा को स्वाभाविक एवं पात्रानुकूल बनाने के लिए किया गया है, वहाँ तक तो एक सीमा तक उसका समर्थन किया जा सकता है किंतु जहाँ आचार्य चतुरसेन जी ने स्थिति, घटना अथवा कथा प्रगति की विवेचना करने के लिए अरबी, फारसी अथवा अंग्रेजी के अप्रचलित एवं अनावश्यक शब्दों को बलात् भाषा पर आरोपित किया है। वहाँ उनकी भाषा कृत्रिम एवं अस्वाभाविक हो गई है।

प्रान्तीय शब्द —

आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी भाषा को पात्रानुकूल एवं स्वाभाविक बनाने के लिए विभिन्न बोलियों एवं अन्य प्रांतों की भाषाओं का प्रयोग किया है। आपने ऐसे शब्दों का प्रयोग भाव को अधिक निखारने एवं वातावरण उत्पन्न करने के लिए ही किया है।

राजस्थानी के शब्द:—

अपने 'गोली' उपन्यास में राजस्थानी वातावरण उत्पन्न करने के लिए उपन्यासकार ने कितने ही राजस्थानी शब्दों का यथा स्थान प्रयोग किया है। उदाहरण देखिए—

'मेरा रसोड़ा अलग था। राजा मेरे ही साथ खासा बारोगनाऽ था।' (गोली पृ० १०)।

विविध भोज्य पदार्थ अटाले के लोग परसते रहते।' (गोली पृ० ११)।

' उन्हें वे पडदायत बना लेते थे।' (गोली पृ० १६)।

'घरजाताकर® वह था जो घर ही मे उत्पन्न हुआ हो' (गोली पृ० १९)।

' प्रतिदिन एक दिन का पेटियाअटाले® से मिलता था। पटिया का अभिप्राय आटा, दाल, चावल, घी, ईंधन, तरकारी आदि है।' (गोली पृ० २३-२४)।

'ढाढिनें माड गाली, दारूडो दरबारा, पियो उमराव।' (पृ० २५)।

'हम उसके सिवाने® मे आ पहुँचे ' (पृ० २९)।

'वह छपरखट® पर सोती, मैं गुदडी पर' (पृ०३१)।

'म्हारा ढोला, बेगी आओ जी। (पृ० ८८)।

इसी प्रकार घणी (पृ० ३२) धौंसा (पृ० ३३) अबलक, राबूजा, कुम्मैत, बछेरा (पृ० ३५) लम्पा (पृ० ३७) ढोक (पृ० ४७), पसाव (५४) पीढी (७४) माड, बेगी, म्हारा, दारूा मेण, वेण, रोफेर, किण (पृ० ८८) ठाकरडे (पृ० १०२) गोठ (१९५) बाटी, चूरमा (पृ० ३२०) पधारी (पृ० २६१) आदि कितने ही राजस्थान मे प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'गोली' उपन्यास मे प्राप्त होते हैं। इनसे जहाँ एक ओर भावो की अभिव्यक्ति मे सहायता प्राप्त होती है वही दूसरी ओर वातावरण निर्माण मे भी।

इसी प्रकार बँगला के भी कुछ शब्दो का प्रयोग आचार्य चतुरसेन जी के कथा साहित्य मे प्राप्त होता है। यथा हुईल, पापे (सोना और खून) प्रथम भाग उत्तरार्द्ध ३६२ कहीं-कहीं उन्होंने वातावरण सजीव करने के लिए प्रातीय भाषाओ के पूरे-पूरे वाक्य दे दिए हैं। बगाली का एक उदाहरण देखिए—'वे भागते जाते थे और कहते जाते थे—'ब्रह्महत्या हुईल ? कालिकाता अपवित्र हुईल। देश पापे परिपूर्ण हुईल। फिरिंगर धर्माधर्म ज्ञान नाईं।।।' (सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृष्ठ ३६२)।

आचार्य चतुरसेन जी के प्रारंभिक उपन्यासो मे एक दो ब्रजभाषा के शब्द भी प्राप्त हो जाते हैं देखिए—

छोरे (आत्मदाह पृष्ठ २१) लुगाई आत्मदाह (पृष्ठ २१) नैन बहते आँसू (पृष्ठ ८१) आदि।

इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के मनोभावो को प्रकट करने वाले शब्दो ध्वनतशील एव अनेकानेक प्रचन्ति, आनुकरणिक शब्दो के प्रयोग भी आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो म प्राप्त होते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी का शब्द भडार विस्तृत है। उनके शब्द भडार पर एक दृष्टिपात करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने अपने उपन्यासो म कई भाषाओ का प्रयोग किया है। यदि 'वय रक्षाम' मे सस्कृत एव सस्कृतगर्भित भाषा का प्रयोग हुआ है तो 'आलमगीर' मे उर्दू फारसी और अरबी भाषा के शब्दो का बाहुल्य है। सोना और खून', 'वगावत' आदि उपन्यासो मे अँग्रेजी के शब्दो का भी आचार्य चतुरसेन जी ने डटकर प्रयोग किया है। वास्तव मे उनका लक्ष्य अपनी बात को समझाने, अपने भावो को स्पष्ट करने की ओर ही विशेष रहा है, इसके लिए नि सकोच उन्होंने सभी प्रकार शब्दो का प्रयोग किया है।

मुहावरे, उक्तियो एव लोकोक्तियो क प्रयोग—

केवल विभिन्न भाषा विभाषा एव बोलियो के शब्द भडार को ही देख-कर हम किसी व्यक्ति को तब तक सफल भाषा नायक नही कह सकते जब तक वह उनका प्रयोग करना भी कुशलता एव चातुरी से न जानता हो। आचार्य चतुरसेन जी मे यह गुण था, तभी 'सोमनाथ' 'गोली' आदि उपन्यासो मे उनकी वाक्य रचना गठी हुई और अभिप्रेत अर्थ को यथावत् द्योतित करने वाली है। आचार्य जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे मुहावरे एव लोकोक्तियो का प्रयोग उतना नही हुआ है जितना उनके सामाजिक उपन्यासो मे। आचार्य जी का विश्वास था कि ऐतिहासिक उपन्यासो मे आधुनिक लोकोक्तियो को बलात् ठूसने से उनकी कलात्मक महत्ता न्यून हो जाती है। अत इसी प्रकार से उन्होंने मुहावरो एव लोकोक्तियो का प्रयोग बडी सतर्कता के साथ किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

महमूद (सोमनाथ) ने विश्वासघात करके अपने प्रतिद्वद्वी महाराज धर्मगजदेव को समाप्त कर दिया। तलवार के भरपूर वार से 'महाराज आकाश से टूटे नक्षत्र की भाँति पृथ्वी पर गिर पडे।'[1] महाराज की मृत्यु के पश्चात् 'लोग हजार-हजार मुख से गजनी के दैत्य को गालियाँ देने और कोसने लगे।'[2] किंतु जब उसका सामना पडा तो वही विश्वासघाती 'अमीर धन खजाना कोष

१ सोमनाथ-पृ १९९।
२. सोमनाथ-पृ. २००।

छिना कर, बेंत से पिटे हुए कुत्ते की भांति दर्रे से निकल कर ताबडतोड भागा।'[१]

उपर्युक्त उदाहरणो मे आचार्य चतुरसेन जी ने भावो एव क्रिया को अधिक स्पष्ट करने के लिए मुहावरो का कितना सटीक प्रयोग किया है। इसी प्रकार क्रिया का अनुभव तीव्र करने मे सहायता प्रदान करने वाले कुछ अन्य मुहावरे भी देखिए—

' ऐसा करो जिससे साप मरे न लाठी टूटे।'[२]

'तो जहाँ पनाह, कम्बल जैसे-जैसे भीगता है भारी होता है।'[३]

'यहाँ यह चूहेदानी मे चूहे की भांति फसा।'[४]

इसी प्रकार आश्चर्य का भाव व्यक्त करने के लिए कितनी सुन्दरता से निम्न मुहावरे का प्रयोग किया गया है—

'इस किले की विशाल आकृति तथा सुन्दर और चित्ताकर्षक सौंदर्य देखकर दर्शक मुगल वैभव पर उगली दातो दबाते थे।'[५]

अपनी बात को लक्षणा एव व्यजना द्वारा स्पष्ट करने के लिए उन्होने कितने ही मुहावरो की रचना की है। कुछ और देखिए—

'शाहजादे और शाहजादियाँ नाक तक विलास और ऐश्वर्य मे डूबे रहने पर भी सुखी न थे।'[६]

'बादशाह ने बहुत कहा कि तुम आस्तीन के साप को पल्ले बाधने हो।'[७]

'हुजूर, वे सुबह के चिराग हैं।'[८]

' जिनमे वह फूल कर कुप्पा हो जाता है।'[९]

यह हुए आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे प्राप्त मुहावरे

---

१. सोमनाथ-पृ. २१६।
२. सोमनाथ-पृ २४८।
३. सोमनाथ-पृ. २५४।
४. सोमनाथ-पृ. ४७२।
५ आलमगीर-पृ. ३।
६ आलमगीर-पृ. ३५।
७. आलमगीर-पृ. १२३।
८. आलमगीर-पृ. १२५।
९ आलमगीर-पृ. १७२।

अब हम उनके सामाजिक उपन्यासो मे प्राप्त मुहावरो पर एक दृष्टि डाल्ते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के सामाजिक उपन्यासो मे बोलचाल मे प्रयुक्त होने वाले मुहावरो का सौंदर्य और भी निखरा हुआ है। इनमे उनकी चलती हुई सरल, सरस, प्राजल एव स्वाभाविक भाषा एव दैनिक जीवन मे प्रयुक्त होने वाले मुहावरे एव लोकोक्तियो का मणि काचन सयोग प्राप्त होता है। उनके सामाजिक उपन्यासो मे बिखरे हुए इस प्रकार के कुछ मुहावरे ही हमारी बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होंगे देखिए—चम्पा (गोली) अपनी असहाय दशा का वर्णन कर रही है—

' परतु मेरी दशा पर कटे पक्षी के समान थी।'[१]

' वह केसर—जो मुझ अधी की लकडी थी, मेरी जीवन-नैया की खिवैया थी, इस बार वह भी मुझ से बिछुडी।'[२]

इन दोनो ही मुहावरो द्वारा उपन्यासकार ने चम्पा की निरीहता एव असमर्थता को स्पष्ट कर दिया है। यदि 'पर कटे पक्षी' से उसकी विवशता एव निरीहता प्रकट होती है तो दूसरी ओर 'अधी की लकडी' से केसर के प्रति उसका विश्वास एव आस्था। उसके मुहावरे भावो की उत्कर्ष व्यजना मे भी सहायक रहे हैं देखिए—

'पर, मैं जीती मक्खी नहीं निगलूंगा।'[३]

अरे, वह पक्का हिंदू सभाई, मुसलमानो को तेल मे छोंकर देखता है।'[४]

'ये सब फालतू बातें हैं अरुणा, हमे यह जहर का घूट पीना ही होगा।'[५]

'सब बातो मे पुरानी बातो की लीक पीटने से नहीं चलेगा।'[६]

उन्होंने अपनी बात को अधिक मर्मस्पर्शी एव सजीव बनाने के लिए जन जीवन मे प्रचलित मुहावरो का खुलकर प्रयोग किया है। देखिए—

---

१. गोली-पृ ९६।
२. गोली-पृ. २१७।
३. धर्मपुत्र-पृ ५९।
४. धर्मपुत्र-पृ. ६१।
५. धर्मपुत्र-पृ. ६१।
६. धर्मपुत्र पृ. ६८।

'मेरा लाल तो खा गई, अब मेरी छाती मूग दलेगी।'[1]

' इस तरह मरे बैल-से दीदे क्या निकालती है।'[2]

'मर्दों ने हमारे लिए कैसे बंधन और रोक लगा रक्खे हैं और आप, आगे नाथ न पीछे पगहा।'[3]

'तुम्हारे घर मे सब दूध धोय है '[4]

'बस, आंख फूटी, पीर गई। '[5]

इसके अतिरिक्त कितने ही मुहावरे और लोकोक्तियो का प्रयोग आचार्य चतुरसेन जी की रचनाओ मे प्राप्त होता है। इन कुछ उदाहरणो से ही उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, प्रयोग नैपुण्य एव भाषा पर अधिकार स्पष्ट हो जाता है। आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यासो मे लगभग दो सौ मुहावरे एव लोकोक्तिया प्राप्त होती हैं।

उक्तिया एव सूक्तियाँ —

आचार्य चतुरसेन जी प्रेमचद की भाँति अपने उपन्यासो मे स्थान-स्थान पर सूक्तिया भी देते चलते हैं। उनकी यह सूक्तिया मर्मभेदिनी एव अनुभूतिमूलक होती हैं। इनमे जीवन के सच्चे अनुभवो का सार रहता है और इसीलिए यह हृदयस्पर्शी होती हैं। देखिए —

'बिना दम्भ के धर्म और सिद्धि का कारबार चलता भी नही।'[6]

'अविवेक के सम्मुख विवेक नही चलता। जहाँ अविवेक है वहाँ विवेक सावधान रहता है।'[7]

'जहाँ स्त्री शरीर पुरुष शरीर की दासता करते हैं, जहाँ इच्छा होते ही क्रीत दासियाँ वासना और कामना की निर्जीव पूर्ति करती हैं, जहाँ प्यार की प्रतिष्ठा नही है जहाँ केवल वासना ही वासना है, वहाँ प्यार की पीडा के मिठास की अनुभूति कैसे हो सकती है।'[8]

बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ. ११।
२. बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ १८।
३. बहते आसू (अमर अभिलाषा) पृ. २७।
४. बहते आसू (अमर अभिलाषा) पृ. ४४।
५ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ. ४४।
६. सोमनाथ, पृ ९९।
७. सोमनाथ, पृ० १४८।
८ सोमनाथ, पृ. ४४४।

'झुकने के समय झुकना और अकड़ने के समय अकड़ना राजनीति है।'[1]

यह उक्तियाँ पात्र के मनोभावों एवं घटनाओं पर दी हुई उपन्यासकार की टिप्पणियाँ ज्ञात होती हैं। उन्होंने जीवन के तथ्यों का उद्घाटन भी इन सूक्तियों द्वारा किया है। देखिए —

'जिन्होंने कष्ट कभी देखा नहीं, जो कभी दरिद्रता से मिले नहीं, जिनके हृदय में दया के स्थान पर लालसा, प्रेम के स्थान पर वासना, और सहानुभूति के स्थान पर स्वार्थ भरा हुआ है, वे गरीबों पर क्यों दया करें ?'[2]

'मनुष्य अपनी कुटेव और अंध-विश्वास द्वारा हानि उठाता है, पर सब दोष विधाता और भाग्य को देता है। यह कैसे अंधेर की बात है।'[3]

'भगवान् सुख सब ही को देते हैं, पर सुखी सब किसी को नहीं कर सकते।'[4]

आचार्य चतुरसेन जी की उक्तियों में मनोवैज्ञानिक अर्थांतरन्यास के उदाहरण बड़ी सरलता के साथ देखे जा सकते हैं। उन्हें कथा कहते समय पात्र के अंतर का उद्घाटन करने का जब भी अवसर प्राप्त हुआ है, वे चूके नहीं हैं। उन्होंने पात्र के बाह्य एवं आतरिक क्रिया को किसी न किसी साधारण मनोवैज्ञानिक सत्य के मेल में लाकर दिखलाने की चेष्टा की है। आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यासों में इस प्रकार की उक्तियों की संख्या लगभग १३८ के है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी का भाषा ज्ञान व्यापक एवं शब्द भंडार अपरिमेय था। कहीं-कहीं असावधानी के कारण उनके उपन्यासों में भाषा की कुछ भूलें अवश्य रह गई हैं। यहाँ उन पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुपयुक्त न होगा।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त भाषा विषयक न्यूनताएँ.—

आचार्य चतुरसेन जी भाषा के विषय में लापरवाह रहे हैं, इसी कारण असावधानी के कारण उनके उपन्यासों की भाषा यत्र-तत्र दोषपूर्ण हो गई है।

---

१. सोमनाथ, पृ. ४९० ।
२. बहते आंसू (अमर अभिलाषा), पृ. २१ ।
३ बहते आंसू (अमर अभिलाषा), पृ. ५० ।
४. बहते आंसू (अमर अभिलाषा), पृ. ७१ ।

उसमे लिंग दोष, वचन दोष, औचित्य दोष, पुनरुक्त दोष, दुष्क्रमत्व दोष एव वाक्य दोष कई स्थानो पर आ गए हैं। यहाँ हम सक्षेप मे उनके उपन्यासो मे प्राप्त उपर्युक्त दोषो पर विचार करेंगे —

लिंग दोष —

आचार्य चतुरसेन जी के वाक्यो मे लिंग-विपर्यय बहुधा प्राप्त होता है। कुछ उदाहरण देखिए —

'मैं अपनी एक पुस्तकालय बना रहा हूँ।'[1] (पुस्तकालय के साथ 'अपना' शब्द का प्रयोग होना चाहिए)।

'कोमल पद की हल्की ठोकर से सुनहरी घुघरू बज उठे छन।'[2] (सुनहरे होना चाहिए)।

' पर फिर भी उनका पराजय ही हुआ।'[3] ('उनकी' पराजय ही हुई, होना चाहिये था।

' लाल चन्दन, पद्माक्ष ऐसी ही नुस्खा❀ मुझे पिलाया जा रहा था।' (नुस्खा के साथ 'ऐसा ही' शब्द प्रयोग होना चाहिए था)।

'मेरे जैसे❀ प्रत्यक्ष दृष्टा और मुक्त-भोगी और कौन आपको दूसरा मिलेगा। (चम्पा कह रही है अत यहाँ पर 'मेरी जैसी' होना चाहिए)।

वचन दोष —

इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों मे वचन दोष भी दो स्थलो पर प्राप्त हैं, देखिए—

'सारा उपकूल श्वेतभागो❀ से भरा था।'[4] (श्वेत झाग होना चाहिए)।

औचित्य एवं अप्रयुक्त दोषः—

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे इस प्रकार के दोषो का आधिक्य है। उन्होंने कई स्थानो पर शब्द-औचित्य पर ध्यान नही दिया है। किस शब्द का प्रयोग किस अवसर पर किस भाव को व्यक्त करने के लिए करना चाहिए, किस शब्द के साथ कौन सा शब्द प्रचलित है, आदि बातो पर ध्यान रखने मात्र से ही उपन्यासकार इन दोषो से मुक्त हो सकता था। किंतु आचार्य

१. बगुला के पख, पृ० १३७।
२. सोमनाथ, पृ २२।
३. सोमनाथ, पृ २३९।
४. वय रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ० ८७।

चतुरसेन जी ने कुछ स्थलो पर इस ओर ध्यान नही दिया है, फलत भाषा का कलात्मक सौंदर्य नष्ट हो गया है देखिए—

'क्रोध से थरथराता रावण फणी की भाँति हुँकार※ करके खडा हो गया।'[१] (सर्प फुत्कारता है हुंकारता नही)।

'इत्र और सुगधो की देशी विलायती शीशियाँ मेरे अग पर बिखेरता रहना※।'[२] (इत्र बिखेरा नही उँडेला या छिडका जाता है)।

'हिलकियाँ※ बाँधकर रो उठे।'[३] हिलकियों के स्थान पर हिचकियाँ होना चाहिए। (और हिचकियाँ भी बाँधी नही जाती वरन् स्वय बँध जाती हैं)।

'किसकी※ साडी है यह, इतनी महान्※ है।'[४] साडी※ महान् नही होती, हाँ सुन्दर अवश्य हो सकती है।

' सच पूछिये तो वे 'वाटेड' के कालमो मे धीरेंद्र को ढूँढ रहे थे।'[५]

'वाटेड' के स्थान पर 'लास्ट' (lost) होना चाहिए। नौकरी के लिए 'वाटेड' कालम देखना तो ठीक है किंतु खोये हुए भाई के लिए वाटेड कालम को देखना कुछ उचित नही दीख पडता।

' सभास लोग उन पर चँवर ढालते※ थे।'[६]

(चँवर डुलाया जाता है ढाला नहीं)।

'दोनो वीर गदा लेकर परस्पर गुथ※ गए।'[७]

(गुथ गए के स्थान पर भिड गए अधिक उपयुक्त होता)।

'रावण ने क्रोधोन्मत्त होकर इस प्रकार दानव को मथा जैसा आँटा गूँधा जाता है।'[८] '(मथा शब्द के स्थान पर दला शब्द अधिक उपयुक्त होता)।

---

१ वय रक्षाम', पृ ७१।
२ गोली, पृ. १०।
३. गोली, पृ. ६४।
४. अपराजिता, पृ ३९।
५ आत्मदाह, पृ. २३८।
६ गोली, पृ १२५।
७ वयं रक्षाम', पृ ७२।
८. वय रक्षाम , पृ ८४।

इसी प्रकार उन्होने अपने 'आलमगीर' नामक उपन्यास मे एक स्थान पर 'कट्टर मित्र' शब्द का प्रयोग किया है।'[1] 'कट्टर' शब्द का प्रयोग शत्रु के साथ प्रचलित है, मित्र के साथ नही।

पुनरुक्त दोषः—

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो म यत्र-तत्र पुनरुक्त दोष के भी दर्शन हो जाते है, देखिए —

' जब वह लौटकर आई, पहर दिन चढ गया था। सूरज की धूप छनकर कोठरी मे आ रही थी।'[2] धूप सूरज की ही होती है, चन्द्रमा की नही। अत सूरज शब्द का प्रयोग यहाँ व्यर्थ हुआ है।

'इसी समय दानवेंद्र की मूर्छा टूटी। उसने अपनी भागती हुई दानवेंद्र की सेना को निवारण किया।'[3] यहाँ 'अपनी' एव दानवेंद्र का एक साथ प्रयोग असगत है। दोनो एक ही अर्थ के द्योतक हैं। अत इसमे पुनरुक्त दोष है।

इसी प्रकार उनके उपन्यासो मे वाक्यो की भी पुनरुक्ति प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए हम उनके 'आलमगीर' उपन्यास का एक उदाहरण ले सकते हैं। इसमे जो बात जिन वाक्यो मे पृष्ठ १० पर कही गई है, वैसी ही पृष्ठ ३९ पर भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार जो बात उन्होंने पृष्ठ २९ पर कही है पृष्ठ ८२ पर भी उसकी पुनरावृत्ति हुई है।

दुष्क्रमत्व-दोषः—

जहाँ लोक या शास्त्र विरुद्ध क्रम हो वहाँ यह दोष माना जाता है। एक दो उदाहरणो से बात स्पष्ट हो जायेगी।

'कभी-कभी तो एक रात की बारी के लिए उन्हें अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना एकाध गहना भी दे डालना पडता था। '[4] क्या गहने का मूल्य सर्वस्व से भी अधिक था? जब सर्वस्व कहा जा चुका है तब उसके आगे कुछ कहना व्यर्थ है।

'देवराज, प्रसन्न होकर क्रोध रोकिए।'[5] वास्तव मे प्रथम क्रोध रुकने

---

१. आलमगीर, पृ. १८७।

२. गोली, पृ, ५२।

३. वय रक्षाम पृ. ७१।

४ गोली, पृ १३९।

५ वय रक्षाम, पृ. १३३।

पर ही प्रसन्न हुआ जा सकता है अतः 'होना चाहिए' क्रोध रोक कर प्रसन्न हूजिए ।

वाक्य दोष —

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में वाक्य दोषों की भी न्यूनता नहीं है । कहीं पर उनके वाक्यों में शिथिलता आ गई है तो कहीं अस्पष्टता । कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे —

'सुसज्जित रथ आ उपस्थित हुआ। वह मणि-काञ्चन के सहयोग से विचित्र चित्रकला द्वारा विश्वकर्मा ने बनाया था।'[1] इस वाक्य में 'वह' के स्थान पर 'उसे' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था ।

'किंतु पराजय किया किसने ?'[2] इसमें 'किया' के स्थान पर 'की' का प्रयोग उचित था ।

'सोरठ का राव प्रसन्नता का हास्य हसा ।'[3] (हास्य हसा का प्रयोग अशुद्ध है)

'इसके जवाब में औरंगजेब ने थोड़े से वमदार बम चलाए और चुप हो रहा ।'[4]

'कैसा भयानक और दारुण नाचना पड़ा इस अभागे बादशाह को ।'[5]

'नाच' शब्द के अभाव में यह वाक्य अस्पष्ट एवं शिथिल है । (वास्तव में होना चाहिए था 'दारुण नाच नाचना पड़ा ।')

इस घटना को एक वर्ष व्यतीत हो गये हैं ।'[6] '(कई वर्ष' 'होना चाहिए अथवा होना चाहिए' एक वर्ष व्यतीत हो गया ।

इन समस्त दोषों को देखने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि भाषा संवारने में आचार्य चतुरसेन जी ने किंचित् मात्र भी सावधानी से कार्य लिया होता तो उनके लिए इन दोषों का निराकरण असम्भव न था । वास्तव में उपर्युक्त दोषों का कारण उनका अज्ञान नहीं, वरन् असावधानी ही है ।

---

१ वयं रक्षामः पृ. ६७ ।
२. वयं रक्षामः पृ. ७५ ।
३ सोमनाथ, पृ २४३ ।
४. आलमगीर, पृ. २३९ ।
५. सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध, पृ ११६ ।
६ मास्टसाहब, पृ ३७ ।

अध्याय ९

आचार्य चतुरसेन के विचार एवं जीवन दर्शन

विचार एवं जीवन दर्शन

मनुष्य के ऐहिक एव क्षणभगुर जीवन का शाश्वतसार उसके विचार और कार्य हैं। कार्यों पर पूर्ववर्ती अध्यायो मे यथास्थान विचार किया जा चुका है। विचार कार्य के भी चिरस्थायी परिणाम अथवा प्रेरणा तत्व हैं। अतएव आचार्य चतुरसेन जी के साहित्य के अध्ययन के प्रसग मे उनके विचारो एव जीवन दर्शन का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

एक स्थान पर मुशी प्रेमचन्द ने कहा है मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। इस विषय मे आचार्य चतुरसेन जी का दृष्टिकोण प्रेमचन्द से भी अधिक विस्तृत है। उनका तो कथन है मैं अपने उपन्यासो को कथानक पर आधारित नही रखता, विचारो पर आधारित करता हूँ। विचार भी मैं परिस्थितियो से उत्पन्न मानता हूँ। इसलिये अपने उपन्यास मे मैं जब किसी नये विचार की स्थापना करना और उसे पाठको के समक्ष पेश करना चाहता हूँ, तो उसके प्रथम परिस्थितियो का रेखा चित्रण करना आवश्यक समझता हूँ। इसके लिये मुझे पात्रो ही मे से कुछ को चुन लेना पड़ता है। इस शैली मे यह स्वाभाविक है कि कथानक उपन्यास का मूलाधार न होकर अवलम्बन मात्र ही बनकर रह जाये। आप इसे खुशी से मेरी अपनी नई परिपाटी कह सकते हैं। परन्तु इसके लिये मुझे दोष नही दे सकते। मैं प्रेमचद और देवकीनन्दन खत्री के काल का उपन्यासकार नही हूँ कि समस्या कथानक और मनोरजन पर आधारित रह जाये। मैं तो शत प्रतिशत विचारो पर आधारित हूँ।[1]

स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो मे विचारो का अधिक प्राधान्य है।

---

१. आजकल, जनवरी १९५९ पृ. ५९।

अपने उपन्यासो के संबध मे आचार्य चतुरसेन जी का उपर्युक्त कथन सर्वथा सत्य नही है। यह कहा जा सकता है कि समाज की कुछ परिस्थितियो को देखकर उनके मन मे विभिन्न विचार उत्पन्न हुए, और उन विचारो के अनुरूप उन्होंने अपने कथानक को चुनने और संगठित करने का प्रयत्न किया। परन्तु केवल इस बात से हम उनके उपन्यासो को समग्रतया विचारो पर आधारित नही कह सकते। विचारो पर आधारित उपन्यासो मे प्रमुखत वैचारिक द्वंद्व को लेकर चलने वाली रचनायें आती है। और इस प्रकार की कृतियो का ज्वलंत उदाहरण हमारे समक्ष तुल्सी का मानस शेक्सपियर का हेमलेट, भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' आदि हैं। इस कोटि की रचनाओ मे आचार्य चतुरसेन जी की कुछ ही कृतियाँ आ सकती हैं। जैसे, नगरवधू, उदयास्त, अप्रास आदि।

किंतु आचार्य चतुरसेन जी के अन्य अनेक उपन्यास जैसे सोमनाथ, रक्त की प्यास विचारो पर आधारित नही कहे जा सकते।

उपन्यास अथवा कहानी मे उपन्यासकार अपने विचारो को दो ही प्रकार से मुख्यत व्यक्त करता है। प्रथम स्थान-स्थान पर उपन्यासकार स्वय उपस्थित होकर अपने विचार, जीवन की अथवा पात्रों की आलोचना प्रत्यालोचना प्रस्तुत करता चलता है। इसको स्पष्ट विचाराभिव्यक्ति की पद्धति कहा जा सकता है। किंतु यह पद्धति अधिक प्रौढ उपन्यासो मे स्थान नही प्राप्त कर पाई है, कारण इससे कथानक मे अस्वाभाविकता, कृत्रिमता एव बोझिलता आ जाती है। साथ ही इससे कथाकार अपने उच्च स्थान को त्याग कर एक उपदेशक एव प्रचारक के रूप में ही सामने आ पाता है, परन्त रचना की कलात्मकता अक्षुण्ण नही रह पाती है। आचार्य चतुरसेन जी के प्रारम्भिक उपन्यासो मे यत्र-तत्र यही प्रवृत्ति उभरी हुई है। इसी कारण से उनका कला-त्मक सौंदय अधिक निखर नही पाया है।

दूसरी रीति को हम अप्रत्यक्ष विचाराभिव्यक्ति की पद्धति कह सकते हैं। इसम कथाकार स्वय प्रत्यक्ष म आकर नाटककार की भाँति अपने विचारो को पात्रो के क्रियाकलाप तथा घटनाओं के माध्यम द्वारा प्रस्तुत करता है। इससे उसके विचारों का स्पष्टीकरण तो हो ही जाता है, साथ ही कथा विकास एव चरित्र चित्रण भी निखरा हुआ रहता है।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने कथा-साहित्य मे दोनो ही रीतियों का प्रयोग किया है। इन दोनो का सानुपातिक समन्वय उनके प्रौढ़ उपन्यासों मे अधिक सुन्दरता से हुआ है।

प्रस्तुत अध्याय मे हम आचार्य जी के विचारो एव जीवन दर्शन को स्पष्ट करने के लिये केवल उनके 'कथा साहित्य' का ही आश्रय न लेकर उनके सम्पूर्ण प्रकाशित एव अप्रकाशित साहित्य का आश्रय लेंगे। साथ ही उनके विचारो को और अधिक स्पष्ट करने के लिये हम उनके अपने द्वारा प्राप्त विचारो का (जो हमे आचार्य चतुरसेन जी से पूछने पर प्राप्त हुये थे) भी उपयोग करेंगे।

इस प्रकार अध्ययन के अन्तर्गत तीन स्रोतो से प्राप्त विचारो का अध्ययन किया जा रहा है—

१. उनके उपन्यास और कहानियो मे प्राप्त विचार।
२ अन्य प्रकाशित एव अप्रकाशित साहित्य मे प्राप्त विचार।
३. उनसे प्रत्यक्ष भेंट द्वारा प्राप्त विचार।

आचार्य चतुरसेन जी के सम्पूर्ण विचारो को हम चार विभिन्न वर्गों मे रखकर देखने का प्रयत्न करेंगे —

प्रथम—साहित्यिक विचार।
द्वितीय—राजनीतिक विचार
तृतीय—सामाजिक विचार
चतुर्थ—आध्यात्मिक विचार

उनके सामाजिक एव आध्यात्मिक विचारो पर मनन करने से उनका अपना स्वय का जीवन-दर्शन भी स्पष्ट हो जाता है। राजनीतिक विचारो मे भी जहाँ उन्होंने विभिन्न वादो पर विशेषकर गाधीवाद पर अपने विचार प्रकट किए हैं, वहाँ भी उनका जीवन-दर्शन प्रत्यक्ष उभर कर आया है।

साहित्यिक-विचार

साहित्य की व्याख्या—

आचार्य चतुरसेन जी का कथन है 'साहित्य जीवन का इति-वृत्त नही है। जीवन और सौन्दर्य की व्याख्या का नाम साहित्य है। बाहरी संसार मे जो कुछ बनता बिगडता है, उस पर से मानव-हृदय विचार और भावना की रचना करता है, वही साहित्य है।'[१] इसी कारण से आचार्य जी साहित्यकार को 'साहित्य का निर्माता नही, उद्‌गाता' मानते हैं। उनका कथन है 'साहित्यकार केवल बासुरी मे फूक भरता है। शब्द-ध्वनि उसकी नही, केवल फूंक भरने का कौशल है। इसीलिए साहित्यकार का आनन्द उसका अपना नही, सबका है।

१. वयं रक्षाम: पूर्व निवेदन पृ० २।

पक्षी जैसे अपने आनन्द मे मगन होकर गाता है, कवि वैसे नही गाता। कवि का गान तो माता का दूध है। सतान के लिए। मा का दूध पीकर जैसे अवोध बालक जीवन और विकास पाता है। उसी प्रकार कवि की नाद ध्वनि सुनकर जगत जीवन की राह पाता है, उसका स्वर जगत के लिए है। जगत के लाखो करोडो, अरबो जनो के लिए। कवि जो कुछ सीखता है, जो कुछ अनुभव करता, वह मरता नही। वह एक मन से दूसरे मन मे, एक कान से दूसरे कान मे एक काल से दूसरे काल मे मनुष्य की बुद्धि और भावना का सहारा पाकर जीवित रहता है। यही साहित्य का सत् रूप है।'[1] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी साहित्य को सामाजिक हित का साधन मानते हैं और इस प्रकार साहित्य का उद्देश्य गोस्वामी तुलसीदास की भाँति ही मानते हैं। उनका कथन है 'साहित्य का आदर्श ऐसा होना चाहिए जिसकी पुनीत गगा मे स्नान करके कोटि-कोटि मानव-हृदय चिरकाल तक पाप ताप से रहित होकर निर्मल और सबल होते रहे।'[2]

इसी कारण से आचार्य जी ने साहित्य के सत्य को अत्यन्त उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। उनका कथन है 'साहित्य के द्वारा मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय से अमरत्व की याचना करता है। साहित्य का सत्य ज्ञान पर अवलम्बित नही है, भाव पर अवलम्बित है। एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को धकेल फेंकता है। नये आविष्कार पुराने आविष्कारों को रद्द करते चले जाते हैं। पर हृदय के भाव पुराने नही होते। भाव ही साहित्य को अमरत्व देता है। उसी से साहित्य का चिर सत्य प्रकट होता है।'[3]

किन्तु आचार्य चतुरसेन जी साहित्य के इस सत्य को असल सत्य से भिन्न मानते हैं। उन्होने स्पष्ट कहा है 'असल सत्य और साहित्य के सत्य मे भेद है। जैसा है वैसा ही लिख देना साहित्य नही है। हृदय के भावो की दो धाराएँ हैं, एक अपनी ओर आती है, दूसरी दूसरो की ओर जाती हैं। यह दूसरी धारा बहुत दूर तक जा सकती है। विश्व के उस छोर तक। इसीलिए, जिस भाव को हमे दूर तक पहुँचाना है, जो चीज़ दूर से दिखानी है, उसे बडा करके दिखाना पडता है। परतु उसे ऐसी कारीगरी से बडा करना होता है, जिससे उसका सत्य रूप बिगड न जाय, जैसे छोटे फोटो का इन्लार्ज किया जाता

१. वातायन आचार्य चतुरसेन पृ. १४६।
२. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास आचार्य चतुरसेन पृ. ४५।
३ वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ. ३।

है। जो साहित्यकार मन के भाव के इस छोटे-से सत्य को बिना विकृत किए इतना बड़ा इन्लार्ज करके प्रकट करने की सामर्थ्य रखता है कि सारा संसार उसे देख सके, और इतना पक्का रंग भरता है कि शताब्दियां-सहस्राब्दियां बीत जाने पर भी वह फीका न पड़े, वही सच्चा और महान साहित्यकार है।'[१] इस प्रकार उनके दृष्टिकोण से साहित्यकार का उत्तरदायित्व उसके दृष्टिपथ में न केवल सम सामयिक समाज होता है, वरन् युग-युग का समाज होना चाहिए। हम कह सकते है कि आचार्य चतुरसेन जी के कुछ उपन्यासो मे जैसे 'वय रक्षाम' और 'सोना और खून' के अन्तर्गत यह दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है।

आचार्य चतुरसेन जी साहित्य मे 'सत्य शिव-सुन्दरम्' की स्थापना के समर्थक थे। इसी कारण से उन्होंने लिखा है 'केवल सत्य की ही प्रतिष्ठा से साहित्यकार का काम पूरा नही हो जाता। उस सत्य को उसे सुन्दर बनाना पड़ता है। साहित्य का सत्य यदि सुन्दर न होगा तो विश्व उसे कैसे उसे प्यार करेगा ? उस पर मोहित कैसे होगा ? इसलिए, सत्य मे सौंदर्य की स्थापना के लिये आवश्यकता है संयम की। सत्य मे जब सौन्दर्य की स्थापना होती है, तब साहित्य कला का रूप धारण कर जाता है।'[२]

इस प्रकार 'सत्य मे सौंदर्य का मेल होने से उसका मंगल रूप बनता है। यह मंगल रूप ही हमारे जीवन का ऐश्वर्य है। इसी से, हम लक्ष्मी को केवल ऐश्वर्य की ही नही मंगल की भी देवी मानते है। जीवन जब ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो जाता है, तब वह स्वयं आनन्द-रूप हो जाता है। और साहित्यकार ब्रह्मांड के प्रत्येक कण को 'आनन्दरूपममृतं' के रूप मे चित्रित करता है। इसी को वह कहता है 'सत्य-शिव-सुन्दरम्'।'[३]

आदर्श और यथार्थ

आचार्य चतुरसेन जी को यथार्थवादी कथाकार कहा जाता है। कुछ आलोचको ने तो उन्हें प्रकृतिवादी कथाकार भी कहा है।[४] स्वयं आचार्य चतुरसेन जी ने यथार्थ और आदर्श पर विचार करते हुए लिखा है 'यथार्थ की स्थापना को मैं उपन्यास की सबसे बड़ी कला समझता हूँ। यथार्थ का अर्थ है

१. वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ ३।
२. वयं रक्षामः पृ. ३।
३. वयं रक्षाम. पृ ३ व ४।
४. हिन्दी उपन्यास मे यथार्थवाद त्रिभुवनसिंह।

सत्य परन्तु सत्य को प्रभावशाली बनाने के लिये उसमे कृत्रिम अभिव्यञ्जनाओ का मिश्रण करना पडता है। इससे सत्य के व्यक्त परिमाण मे अन्तर पड जाता है। परन्तु व्यक्त परिमाण का अन्तर सत्य की भावमूर्ति को विकृत नही करता। केवल परिमाण से वृहतत्व लाता है। साहित्य का सच्चा यथार्थ तो वही है, जिसमे वृहतत्व मे सत्य का रूप अविकृत रहे।'[1] आचार्य चतुरसेन जी ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण भी दिए हैं। उनका कथन है 'जैसे छोटे-फोटो का इन्लार्जमेन्ट करने पर चित्र की आकृति बडी हो जाने पर भी उसका अविकृत रूप रहना आवश्यक है। गायक तार स्वर मे भी गायेगा, मन्द स्वर मे भी। पर स्वर मे अचल रहेगा स्वर का अचलत्व ही उसकी कला का सत्य है। गायक एक ही राग को, जो उसके मानस पटल पर उभर रहा है, भिन्न भिन्न वाद्ययन्त्रो पर एक दूसरे के अन्तर से ध्वनित करेगा। पर राग वही होगा। उसका वाह्य रूप भिन्न होने पर भी अभ्यन्तर एक है वह एक सत्य की प्रतिष्ठा भूमि पर स्थिर है वही यथार्थ है।'[2]

इस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी का मत है कि सत्य का मूल स्वरूप एक ही है। उसी पर आधिक्यरूप, सक्षिप्त या विस्तृत रूप विभिन्न कथाकार चित्रित करते हैं। उनके विवरण-विस्तार मे यथार्थता का कम या अधिक रूप स्पष्ट होता है। किंतु आचार्य चतुरसेन जी श्री सुमित्रानदन पत की भाँति निम्न दृष्टिकोण मे विश्वास रखते थे। मेरी दृष्टि मे सब वादो की कसौटी लोकमगल मे निहित है। यदि हमारे यथार्थवादी निरीक्षण-परीक्षण मानव मगल के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं तो वे अभिनदनीय हैं अन्यथा उन्हे पारस्परिक विद्वेष, पूर्वाग्रह तथा कटुता का ही विज्ञापन समझना चाहिए।'[3]

इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी ने नग्न यथार्थ को भी प्रश्रय नही दिया। उनका कथन है 'परन्तु नग्न होना सत्य नही है। मर्यादा और संयम ही सत्य को नग्नता से पृथक करते हैं। अभिप्राय यह कि सयम से साधना सम्पन्न होती है और साधना से निवृत्ति एक प्रचड प्रवृत्ति बन जाती है। यह साहित्यकार का काम है—कि वह प्रवृत्ति को काबू मे रक्खे। प्रवृत्ति साधक के शयना-

---

१ मेरी उपन्यास विषयक धारणाएँ समालोचक पृ. ४३।

२ मेरी उपन्यास विषयक धारणाएँ समालोचक पृ. ४३।

३. समालोचक यथार्थवाद विशेषाक फरवरी, १९५९ मंगलचरण श्री सुमित्रानन्दन पत पृ० १।

गार का एक दीपक है जिसमे आलोक का सौंदर्य है। यदि प्रवृत्ति को यत्न-पूर्वक सयम से सीमित न रखा जायगा, तो वह आलोक के सौंदर्य को जलाकर खाक कर देगा।'[१] निश्चय है कि यह सयम न केवल जीवन की मर्यादा की रक्षा करते हुये विकास को प्रेरित करता है, वरन् कला को भी अधिकार गभीर एव सुस्पष्ट प्रकट करता है।

आचार्य चतुरसेन जी ने यथार्थ का चित्रण करते समय सयम की नितान्त आवश्यकता को स्वीकार करते हुए एक स्थान पर लिखा है 'चिरतन सत्य के साथ-साहित्य के इस बाह्य और अभ्यतर भेद को जो वस्तु एकत्व प्रदान करती है, वह है सयम। सयम से साधना सम्पन्न होती है। साधना से निवृत्ति एक प्रबल प्रवृत्ति बन जाती है। जिससे कलाकार अपनी कला को अपने मे ही नही समेट सकता। अपनी कला को विश्व मे आपूर्य-माण करने के लिए उसे नाद ध्वनि का आश्रय लेना पडता है। नादध्वनि मे यदि कला डिग जाय तो कला भ्रष्ट हो जायगी। सयम ही से साधना कला का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् उसमें सौंदर्य का उदय होता है। वही सौंदर्य सत्य का अधिष्ठित रूप है। दूसरे शब्दो मे वह यथार्थ का शाश्वत सत्य रूप है।'[२]

यद्यपि आचार्य चतुरसेन ने यहाँ पर साहित्य के सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये यथार्थ की ही चर्चा की है। फिर भी उनका यह मर्यादित यथार्थ और सत्य का एक शाश्वत तथा मूलभूत रूप उनके आदर्श का ही सकेत करता है। हाँ, यह आदर्श यथार्थ मे परिवेष्ठित है, इसमे सदेह नही।

आचार्य चतुरसेन जी ने इसीलिए सत्य के अनेक रूप मानते हुये लिखा है 'सत्य के अनेक रूप है सुन्दर भी और असुन्दर भी। परतु सत्य का सुदर रूप सयम और साधना के परिणाम का अतिरेक है तथा साधना का सम्पूर्ण वैभव है, वैभव मैं उसे इसलिए कहता हूँ कि वह साधक की आवश्यकताओ के अतिरिक्त है उसकी तृप्ति से परे है। इसलिये आनद की पृष्ठभूमि उसी पर आधारित है। आनद साधना का चरम ध्येय है। अथच सौंदर्य से साधक का प्रयोजन का सम्बन्ध नही है आनद का सबध है। यदि प्रवृत्ति से सयम का सम्पर्क घट जाय तो साधक का विवेक भ्रष्ट हो जायगा और उसका वैभव जो सयम और साधना का अतिरेक है—वासना का रूप धारण कर लेगा। और हीनता से परिपूर्णता की ओर बढता हुआ साधक आवेश मे आकर स्वेच्छा

१ समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणायें पृ० ४३।
२. समालोचक मेरी उपन्यास विषयक धारणायें पृ० ४३।

चारी और असयत हो उठेगा। तब वह सौदर्य की नही कामविकारो की सृष्टि करेगा।'[१]

सत्य चित्रण सबधी उपर्युक्त विचारो से स्पष्ट है कि साहित्य मे जीवन के सत्य का चित्रण करते समय आचार्य चतुरसेन जी सयम को महत्वपूर्ण समझते है। प्रश्न यह है कि सयम का आधार क्या है? उसकी कसौटी क्या है? जैसा कि पहले उनके विचारो से प्रकट है, वह है सामाजिक मगल और युग-युग व्यापी कलाकार की दृष्टि। इन दोनो पुलिनो से मर्यादित होकर साहित्य मे जीवन के यथार्थ चित्रण की धारा आगे बढने की गति तथा समाज एव पाठक को तरल करने की विशेषता प्राप्त करती हुई अपने आनदरूपी सागर से मिल सकेगी। कहने की आवश्यकता नही कि यह आनदरूपी सागर भी मर्यादा का प्रतीक है। अतल और अति विस्तृत होते हुये भी वह अपनी सीमाओ मे बधा है। साहित्य का यथार्थ भी ऐसा ही होता है।

साहित्य मे कल्पना—

आचार्य चतुरसेन जी साहित्य मे कल्पना का प्रयोग अनिवार्य समझते हैं। उनका कथन है 'साहित्य मे सत्य के बराबर ही कल्पना का मूल्य है। यथार्थ और कल्पना के मेल से साहित्य मे सत्य की स्थापना होती है। यथार्थ जिस प्रकार एक सम्पूर्ण सत्य है—कल्पना भी वैसा ही सम्पूर्ण सत्य है। इसी कारण यथार्थ से कल्पना का मेल होने पर भी सत्य दूषित नही होता। बाह्य जगत के एक बडे सत्य, यथार्थ का अपना महत्व है और कल्पना का अपना।'[२] यथार्थ के साथ कल्पना का सयोग, उसमे रमणीयता, रजकता एक पूर्णता सयोजित करता है।

आचार्य चतुरसेन जी कथा साहित्य को केवल लोकरजन की वस्तु ही नहीं मानते हैं उनका कथन है 'जो लोग साहित्य को कोरी भावुकता का उद्दीपक मानते हैं मैं उनसे सहमत नही हूँ।'[३] वे साहित्य के विचारो को मगलमय रूप देने के पक्षपाती हैं। इसी कारण से उन्होने साहित्य द्वारा विभिन्न वादो के प्रचार की निंदा की है। वे यथार्थवाद के प्राकृत स्वरूप को उचित मानते हैं किंतु उसमे मार्क्स या फ्रायड के सिद्धान्तो के बलात् आरोपित कर देने को अनुचित समझते

---

१ समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणाएं पृ० ४४।
२ समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणाएं पृ० ४४
३. समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणाएं पृ. ४५।

है।''[1] यह प्राकृत स्वरूप सहज लोकग्राह्य एव लोकानुमोदित रूप मे होना चाहिये।

अश्लीलता का प्रश्न

साहित्य मे अश्लीलता का प्रश्न प्राय उठाया जाता है। एक प्रकार का चित्रण एक युग मे श्लील है, तो दूसरे युग मे अश्लीलता की कोटि मे आ जाता है। अत यह प्रसग महत्वपूर्ण है। आचार्य चतुरसेन जी ने इस पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। इस सबध मे आचार्य चतुरसेन जी का मत औरो से कुछ भिन्न है। इस विषय पर उनसे हुये वार्तालाप को मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। 'बगुला के पख' के कुछ स्थल प्रस्तुत प्रबंध लेखक को कुछ अश्लील लगे थे। अत उसने नि सकोच कह डाला था। आपके उपन्यासो के कुछ स्थल अश्लीलता के समीप पहुँच जाते है। क्या यह ठीक है ?

आचार्य चतुरसेन जी कुछ समय तक गम्भीर रहे। तत्पश्चात् उन्होने इस प्रश्न के उत्तर मे मुझसे स्वय एक प्रश्न कर डाला था 'तुम्हे मेरे किन उपन्यासो मे अश्लीलता लगी ?' इतना कह कर आचार्य चतुरसेन जी मेरी ओर किंचित गम्भीरता के साथ देखने लगे। कुछ रुक कर उन्होने पुन कहा 'बहुत से तरुण विद्यार्थी मुझसे मिलने और साहित्य चर्चा करने आते है। उनसे मैं सर्व प्रथम एक प्रश्न पूछता हूँ—कि मेरी लेखन शैली के सबध मे तुम क्या जानते हो ? तो वे जरा झेंपते से कहते है, आपके साहित्य मे अश्लीलता का पुट रहता है। विचारो का तारतम्य नही मिलता। इस पर मैं पूछता हूँ—मेरा कौन सा उपन्यास पढा तुमने। तो वे कहते हैं—उपन्यास तो नही पढा—पर हमारे अध्यापक ने यह पढाया। 'किंतु तुम तो रिसर्च करने जा रहे हो, दूसरे की बातो पर चलोगे तो कैसे कार्य चलेगा ?'

'किंतु मैंने तो स्वय अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रश्न किया है' मैने तुरत उत्तर दिया।

'मुझे भी ऐसी आशा थी, किंतु यह तो बतलाओ तुम्हें अश्लील कौन से अश लगे ?' गम्भीरता से आचार्य चतुरसेन जी ने पूछा।

इसी 'बगुला के पख' के कुछ अश अति यथार्थवाद के निकट पहुँच गये हैं। इसके अतिरिक्त 'वय रक्षाम' के वह अश जहा आपने उन्मुक्त-विहार का चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त मेरी बात पूर्ण भी न हो पाई थी कि आचार्य चतुरसेन जी ने हँसते हुये बीच ही मे मुझे रोकते हुये कहा 'समझा। इन अशो

---

१. समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणाएँ पृ. ४८, ४९।

को तुम अश्लील समझते हो। तुम आज भी आदर्श के सुन्दर परिधान मे आवेष्टित तथ्य एव चित्र चाहते हो। किंतु अब युग काफी आगे निकल चुका है।'

'किंतु यथार्थ के नाम पर नग्नता का चित्रण करना क्या आप उचित समझते हैं ?' मैंने नि सकोच प्रश्न किया।

'कभी नही' आचार्य चतुरसेन जी ने उत्तर देते हुए कहा था यथार्थ की स्थापना को मैं उपन्यास की सबसे बडी कला समझता हूँ। यथार्थ का अर्थ है सत्य। परन्तु नग्न होना सत्य नही है। मर्यादा और सयम ही सत्य को नग्नता से पृथक करते हैं। अभिप्राय यह कि सयम से साधना सम्पन्न होती है और साधना से निवृत्ति एक प्रचड प्रवृत्ति बन जाती है। यह साहित्यकार का काम है कि वह प्रवृत्ति को काबू मे रखे। 'आचार्य जी ने पुन कुछ रुक कर कहा था' अब रहा अश्लीलता का प्रश्न ? एक बात स्पष्ट है, मैंने अपने जीवन में सयम को आरोपित किया है। सयम मेरे सघर्षमय जीवन का प्रयास है। सयम को मैं कला का प्राण मानता हूँ। सयम मे से ही कला का प्रकृत सौदर्य प्रकट होता है। फिर भला मैं वासना को कैसे प्रश्रय दे सकता हूँ। परन्तु शृ गार को जीवन मे आत्मसात करने के मैं पक्ष मे हूँ। शृ गार को मैं जीवन का सबसे बडा वरदान मानता हूँ। यह भी मैं समझता हूँ कि शृ गार का सम्पूर्ण आनन्द सयम मे ही है।'

इसके पश्चात् उन्होने अश्लीलता और शृ गार पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था 'कामशास्त्र की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सम्पूर्ण शृ गार सम्भोग से प्रथम ही प्रथम है। सभोग के बाद जो अवसाद आता है—वहा शृ गार का नामोनिशान ही नही रहता। और दूसरी बात यह कि जब शृ गार को वासना आक्रांत करती है तभी सम्भोग क्षण आता है। इसी से मनीषीगण वासना रहित शृ गार ही का आनन्द ग्रहण करते हैं। साहित्य मे जहाँ शृ गार आप देखेंगे—वह भले ही उद्दाम हो—परन्तु वासना से अछूता होता है। मेरे 'वय रक्षाम' के प्रथम और दूसरे परिच्छेदो मे यही बात प्राप्त होती है। जो कोई भी शृ गार को वासना समझते हैं वे शृ गार रस के अनाडीजन हैं।'

आचार्य चतुरसेन जी ने कुछ रुककर पुन कहा 'अश्लीलता शृ गार रस के अन्तर्गत नही है। वह वीभत्स रस के अन्तर्गत आती है। मुझे याद नही कि मैंने कही एक अक्षर भी अश्लील लिखा हो। मैं तो अपने को अत्यन्त सयत लेखक समझता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे जीवन मे जितनी शृ गार की बहुलता है। वीभत्स और अश्लीलता का उतना ही अभाव है। शृ गार और अश्लीलता के

भेद को न समझकर ही बहुत लोग पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय साहित्य मनीषियों पर अश्लील भाषण का दोषारोपण करते है, ये लोग नही जानते कि वहां जीवन का सत्य कला की दुर्निवार पुकार कर रहा है। ऐसे लोगो के दांत कच्चे, मन कच्चे और हृदय दुर्बल है। दृष्टिकोण नीरस और जीवन धाराएँ सूखी हुई है।"

अन्त मे आचार्य चतुरसेन जी ने कहा 'एक बात और—पौरुष और शौर्य एक ही बिन्दु पर सपात करते है। पौरुष शृंगार, क्षमता और वीरत्व दोनो ही का द्योतक है। अत सम्पूर्ण पौरुष शक्ति सम्पन्न पुरुष ही शृंगार का वासना रहित आनन्द भोग कर सकता है।

इससे स्पष्ट है कि अश्लीलता भावो और अगो के सुन्दर रूप के उद्घाटन मे नही है वरन उस चित्रण मे है जिसमे हमारी सुरुचि पर आघात हो, जिसमे हमारी वासना जाग्रत हो।

साहित्यकार कौन ?

इस विषय पर भी आचार्य जी का मत अन्य विद्वानो से भिन्न है। उन्होने लिखा है 'साहित्यिक को मै किसी भी देशकाल, समाज, राष्ट्र और धर्म का आदमी नही मानता। मै इस बात के मानने से भी इन्कार करता हूँ कि उसका इन सबके प्रति कोई कर्तव्य है। जो साहित्यिक, भले भी वह कवि हो या उपन्यासकार, देशभक्ति, राष्ट्रीयता, धर्म आदि की रेखायें खीचता है। मै उसे निकृष्ट साहित्यिक समझता हूँ। मेरी दृष्टि मे सच्चा साहित्यिक वह है जो मानवीयता के प्रति उत्तरदायी है। जो ऐसी कला का निर्माण करता है, जो मानवीयता के धरातल को ऊँचा उठावे। मै यह सिद्धात नही मानता कि कला कला के लिए है और कला को विकसित करने के लिए साहित्यिक को जीवन में नग्न हो जाना चाहिए।'[1] इसी कारण से उनका कथन है कि 'मैं कला को प्रचार साधन भी नही समझता, और इसी से प्रोपेगेन्डिस्ट कभी भी उच्च साहित्यिक नही हो सकता। फिर भले ही वह टाल्सटाय हो या गांधी। हिन्दी के आधुनिक काल के सर्वोत्तम उपन्यासकार प्रेमचन्द और कवि मैथिलीशरण मे यही दोष रह गया है। अन्य भारतीय साहित्यकारो

१. साहित्य संदेश अक्टूबर-नवम्बर १९४० उपन्यास अंक, पृ. १७४, ७५। आचार्य जी का पत्र संपादक के नाम।

की भी यही दशा है, मैं भी उनमे हूँ। ये सब अपने देश, अपनी जाति, अपने समाज, अपने राष्ट्र के गीत गाते रहे है।'[1]

किन्तु ऐसे लोगो को आचार्य चतुरसेन जी पूर्ण साहित्यिक नही मानते। उनका कथन है 'साहित्यिक वह है--जो महामानव है वह अपनी रचनाओ मे अति मानवो की रेखायें निर्माण करता है। जिसके द्वारा विश्व का मानव समाज जीवन के रहस्यो से परिचित होता है। अति मानव की सृष्टि जब तक साहित्यकार नहीं करता, तब तक उसकी रचनाएँ मानव मस्तिष्क पर अपनी मुहर नही लगा सकती—और अति मानव का निर्माण वह उस समय तक नही कर सकता, जिस समय तक वह स्वय महामानव न हो। महामानव होने पर तो वह देश, काल जाति, शब्द-समाज आदि के क्षुद्र बन्धनो मे बधा नही रह सकता—वह तो मानव कल्याण, मानव-स्वभाव, मानव हितैषणा, मानव रहस्य का चित्र खीचेगा, विश्व के मनुष्यो को जीने और मरने का ढग बतायेगा। उसके जीवन पथ पर प्रकाश बिखेरेगा, उन्हे उगली पकड़कर जीवन के इस छोर से उस छोर तक सकुशल पहुँचाएगा। वह भूतल पर मानव को निर्भय करेगा। उसे आनन्द देगा। वह सब मनुष्यो का पितामह, सब मनुष्यो का प्रतिनिधि, सब मनुष्यो का ज्ञान केन्द्र है। वह वास्तव मे महामानव है। वह अमर है, अतएव वह नवीन है, वह विश्व मे ओत प्रोत है।'[2]

इसी प्रकार सच्चे साहित्यकार की परिभाषा करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने एक स्थान पर और लिखा है' सच्चा साहित्यकार मिथ्या बकवाद नही करता। उसकी मनोवृत्तियो का अन्तर्वेग, मानवलोक ससार उसके प्रागण मे फैले हुए वन, पर्वत नदी, जगल, नगर, नागरिक, दरिद्र, धनी, जीवन, मृत्यु, हास्य और रुदन को देखता है। उसी की प्रतिध्वनि उसका साहित्य है। यह प्रतिध्वनि जितनी सत्य होगी उतनी ही शाश्वत एव चिरायु होगी। सच्चा साहित्यकार वह है जो विचारो को मूर्त करे, सस्कृति को मूर्त करे, आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करे, जो साहित्यकार ऐसा करता है वह अपने काल के बाद के मनुष्यो का नेता है। मनुष्य तत्व का प्रतिनिधि है। वह मनुष्यो के आदर्श का विचार करके 'अतिमानवो का निर्माण करता है, और अपनी नाद ध्वनि के सकेत पर कोटि-

---

१. साहित्य सदेश अक्टूबर-नवम्बर १९४० उपन्यास अक (पृ १७४-७५ आचार्य जी का पत्र सम्पादक के नाम)

२ साहित्य सदेश भाग ४ अक २-३ अक्टूबर नवम्बर १९४०।

कोटि नर समूहों को उसी लक्ष्य बिन्दु पर केंद्रित करता है। वही सच्चा साहित्यकार है।'[१]

उपर्युक्त दृष्टिकोण निश्चयत आदर्शवादी है, यह निर्विवाद है। इसी प्रसंग मे 'साहित्यकार का कर्तव्य' विषय पर उनके विचार द्रष्टव्य है।

साहित्यकार का कर्तव्य

जैसा हम प्रथम ही कह चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासो को केवल मनोरंजन के लिए ही नही लिखा है, वरन् उनका उद्देश्य समाज के पथ-प्रदर्शन का भी रहा है। ऐसे आचार्य जी तो इस मत के अनुयायी हैं कि साहित्यकार किसी कर्तव्य-विशेष से बधा नही होता। वे उसका कर्तव्य किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए न मानकर सम्पूर्ण मानव- समाज के लिए मानते है। इसी कारण से वे कला कला के लिए है, कला स्वात सुखाय है आदि को कभी भी न मान सके। उन्होने तो सत्य शिव सुन्दरम्' को साहित्य का प्राण माना है। इसी कारण से उन्होने साहित्यकार के कर्तव्य का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है 'कलाविद् का अन्तस्तल वास्तव मे कोई फोटोग्राफी का कैमरा नही है। वह तो स्फुरणशील, जीवनमय, जाग्रत आलोक की दिव्य प्रभा से जगमगाता हुआ कल्पना का महा प्रागण है। उसमे भूत, भविष्य और वर्तमान का जनपद, जीता, मरता और सघर्ष करता है। कलाविद् यह सब देखता है, वह केवल विश्व के सघर्ष को देखता ही नही है, उस सघर्ष की धारा को गतिमयी भी बनाता है। वह जनपद का गुरु, पथ प्रदर्शक और नेता है। वह कोटि-कोटि निरीह मनुकुल को जीवन के इस छोर से उस छोर तक निरापद ले जानेवाला है। इसलिए उसका यह कर्तव्य है कि वह सावधानी से यह सोचे कि कैसे वह मानव जनपद का तमोगुण और रजोगुण—बहुल प्रकृति से उद्धार करके उसकी आत्मा मे सतोगुण का दिव्य तेज और निर्मल प्रकाश भर दे। यह कार्य वह जितनी सफलता, कुशलता और शक्ति से सम्पन्न कर सकता है, वह उतना ही अमर कलाकार हो जाता है। वही मानव जनपद का पिता, नेता, नियन्ता है। वह अमर है।'[२]

आचार्य जी के इस कथन मे भी उनका आदर्शवादी रूप ही मुखरित हुआ है। उनके विचार का कलाकार निश्चयत आदर्शवाद को लेकर चलने वाला ही व्यक्ति हो सकता है।

---

१ मौत के पजे मे जिंदगी की कराह पृ १२९।

२. हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास आचार्य चतुरसेन पृ० ४८-४९।

आचार्य चतुरसेन जी इसके अतिरिक्त साहित्यकार के कुछ अन्य कर्तव्य भी मानते हैं। उनका कथन है विश्व युद्ध से मनुष्य ने चार बातें सीखी—१ विश्व के सब मनुष्य एक हैं, वे परस्पर भाई-भाई हैं, अभय हैं, और विश्व के सम्प्रदायों के अधिपति हैं। २ मानव विश्व की सबसे बड़ी इकाई है, उसकी पूजा, आत्मनिष्ठा, निर्भय विश्व विचरण तथा भोग सामर्थ्य अविजनगेय वस्तु हैं। ३ जगत सत्य है, भूत सम्पदा मानव उत्कर्ष का साधन है। ४ 'कला' और 'विज्ञान' मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क हैं, दोनों को विचार-कौशल से एकीभूत करके उस मानव-कल्याण और मानव विभूति वर्धन में लगाना चाहिए, जिससे मनुष्य 'दोषहीन' हो।[१] इन चारों ही तथ्यों को मूर्तरूप देना आचार्य जी साहित्यकार का कर्तव्य मानते हैं। निश्चय ही साहित्यकार के सम्बन्ध में यह बहुत ऊँची और उदात्त धारणा है।

राजनीतिक विचार

आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी रचनाओं में कई स्थानों पर विभिन्न राजनीतिक समस्याओं एवं उसमें बोझिल विभिन्न वादों पर भी विचार प्रकट किए हैं, यद्यपि उनके यह विचार अधिक राजनीतिक रूप नहीं धारण कर पाये हैं, कारण उन्हें एक सीमा तक राजनीति चर्चा के प्रति अरुचि थी। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं लिखा है "मुझे राजनीति का अजीर्ण ही है। राजनीति का मेरे ऊपर वही असर होता है, जो अफीम का होता है। चार मित्र यदि मेरे पास बैठकर राजनीति चर्चा करें तो मुझे झट नींद आ जायगी। यों मुझे नींद कम ही आती है।"[२] किन्तु तो भी उन्होंने कितनी ही प्रमुख राजनीतिक समस्याओं पर विचार किया है, और वह भी नितान्त मौलिक रूप से। उनके अन्तिम उपन्यास तो इन्हीं राजनीतिक समस्याओं और उनके समाधानों से पूर्ण हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के राजनीतिक विचार बड़े ही उत्तेजक हैं। 'सोना और खून' नामक उपन्यास पर प्रश्न करने पर आचार्य चतुरसेन जी ने मुझसे कहा था 'इस उपन्यास में तो मैं केवल अँग्रेजों के भारत में आने, रहने और जाने का एक आवेशपूर्ण लेखा जोखा मात्र पेश कर रहा हूँ, पर मेरा मुख्य काम तो दूसरा ही है। मैं आपको देशभक्ति, राष्ट्रप्रेम और स्वाधीनता की भावना से रहित करना चाहता हूँ, जिसमें आप आज एड़ी से चोटी तक डूबे हुए हैं। मेरे

१ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, आचार्य चतुरसेन, पृ० २९-३० ।
२. वातायन, पृ० १३६ ।

तीन मारे हैं—१, देशभक्ति का नाश हो, २ राष्ट्रवाद का नाश हो, ३ स्वाधीनता की भावना का नाश हो।

इसके अतिरिक्त सन् १८५७ के गदर के विषय मे भी उनका दृष्टिकोण दूसरा से भिन्न है। उनका कथन है 'मैंने इस उपन्यास मे तीन नकार स्थापित किये हैं। देखें इस बारे मे दूसरो की प्रतिक्रिया क्या होती है। वे तीन नकार यह हैं—

और फिर प्रश्नोत्तर के रूप म इन नकारो की उन्होंने व्याख्या शुरू की—

'क्या अंग्रेजो ने सही माने मे भारत को जीता ?'

'नहीं'।

'क्या सत्तावन का विद्रोह देश भक्तो ने किया ?'

'नही।'

'भारत की वर्तमान आजादी मे सन् सत्तावन की कोई प्रतिक्रिया थी ?'

'नही।'

तनिक रुककर बात जारी रक्खी 'पहले नकार के बारे मे मेरी दलील यह है कि इगलैंड के किसी सम्राट ने भारत के किसी राजे, नवाब के विरुद्ध कभी किसी प्रकार की युद्ध घोषणा नही की, न उसने कभी एक सैनिक और न एक पैसा ही भारत के किसी युद्ध मे भेजा। जब यह सब कुछ नही हुआ तो अँगरेजो के भारत जीतने का सवाल ही पैदा नहीं होता।'

इसके बाद दूसरे नकार की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि सन् सत्तावन के विद्रोह मे जो लोग लडे उनमे एक भी देशभक्त नही था। उस समय भारत एक भौगोलिक नाम था। जब भारत उस समय एक राष्ट्र और एक देश ही नही था तो राष्ट्रीयता और देशभक्ति का सवाल ही पैदा नही होता। इसके विपरीत इगलैंड एक देश और एक राष्ट्र बन चुका था। अंग्रेज चाहे कितने ही लोभी, स्वार्थी और धूर्त थे, मगर उनमे देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना सर्वोपरि थी। यही उनकी सफलता का विशेष कारण था। अगर हम भी उनकी तरह देशभक्त और राष्ट्रवादी होते तो उन्हें सिक्खो, गुरखों और दूसरे भारत-वासियो से कदाचित सहायता न मिलती। और वे इस विद्रोह के बाद कभी जम न पाते।

'जब सत्तावन के विद्रोह की कोई राष्ट्रीय परम्परा नही तो जाहिर है कि वर्तमान आजादी मे भी उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं।'[1]

---

१ आचार्य चतुरसेन, लेखक और मानव, श्री हसराज 'रहबर' धर्मयुग दिसम्बर १, १९५७ पृ० १४।

देश, राष्ट्र और राष्ट्रीयता

स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी का देश, राष्ट्र, राष्ट्रीयता, स्वाधीनता आदि पर भी विश्वास नही है। उनका कथन है देशभक्ति और राष्ट्रवाद एक ही चीज है, जो अंग्रेजो की हमे देन है। देश इस का सबसे भयङ्कर खूनी देवता है। प्राचीन युग मे असभ्य जातियो ने कभी अपने किसी देवता को इतनी नरबलि न दी होगी, जितनी इस खूनी देवता को आज का सभ्य ससार दे रहा है। जब तक देशभक्ति और राष्ट्रवाद जिंदा है मनुष्य-मनुष्य से नही मिल सकता।[१] उन्होने 'राष्ट्रीयता' को मनुष्य के खून के गारे से खडी की गई इमारत कहा है। आचार्य चतुरसेन जी के विचार से देशभक्ति और राष्ट्रीयता आज के युग की सर्वाधिक भयानक वस्तुएँ हैं। उनका कथन है युद्ध समाप्त हो गया साम्राज्य विध्वस हो गये, परतु *राष्ट्रीयता का कङ्काल अभी तक खडा है। वह ससार के भूखे, नगे रोगी,* असहाय भयभीत मनुष्यो को तीसरे भीषण युद्ध के लिये उकसा रहा है। कोरिया मे हिरोशिमा के हत्यारे अमेरिकन अपने डालर के जोर से मनुष्यो का लोहू बहा रहे हैं। लोग मृत्यु नही चाहते, युद्ध नही चाहते, परतु ये राष्ट्रपथी पूजीवादी उन्हे आराम से बैठने नही देत। आवश्यकता है कि सारे ससार के मनुष्य एक स्वर से चिल्लाएँ राष्ट्रीयता का नाश हो, पूजीवाद का नाश हो।

मैं कहता हूँ मेरा कोई राष्ट्र नही, मेरा कोई देश नही है ससार के सब मनुष्य मेरे भाई है, मेरा कोई मनुष्य शत्रु नही है, मैं कभी किसी से नही लडूगा। लडाई और झगडे की जड इस राष्ट्रीयता का नाश हो, दूसरों के पसीनो की कमाई पर मौज मजा करने वाले नी हत्यारे पूजीवाद का नाश हो। मनुष्य को अभय, मनुष्य को अभय, मनुष्य को अभय। हम सब एक हैं।[२]

यह एक साहित्यकार की तिलमिलाती आत्मा का स्वर था, जो आचार्य चतुरसेन जी के शब्दो मे प्रकट है।

स्वाधीनता

आचार्य चतुरसेन जी ने 'स्वाधीनता' को भी गुलामो की आवाज माना है। उनका कथन है 'गुलामी के बधन स्वाधीनता की पुकार करने से नहीं कटेंगे अपने मे साहस, तेज और अहिंसा तथा औरो के साथ सहयोग करने से कटेंगे।'[३]

---

१ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ १८०।

२ मौत के पजे मे जिंदगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ ३१।

३. मौत के पजे मे जिंदगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ ३३।

अत स्वाधीनता के भूत को मस्तिष्क से निकाल डालिये। जहाँ स्वाधीन होने की चाह नहीं वहाँ दासता की भी हस्ती नहीं। सम सहयोग जीवन की सबसे बड़ी सफलता है।[1]

स्पष्ट है वे स्वाधीनता की भावना से ही भय खाते हैं। उनका विश्वास भावना पर अधिक आधारित है।

इन अनेकों क्रान्तिकारी विचारधाराओं के पश्चात् उनकी विचारधारा साम्यवाद एवं गांधीवाद से आ टकराती है। वे प्रारम्भ में साम्यवादी विचारों को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं तो अन्त में वे गांधीवाद की ओर बरबस मुड़ गए हैं। प्रारम्भ में साम्यवादियों की भाँति ही घोषणा करते हुए उन्होंने कहा है साम्यवादियों ने राष्ट्रीयता की दीवारों में सुराख करके अपने पैर बाहर निकाले हैं अर्थात् वे कहते हैं दुनियाँ के दलितो, मजदूरो, एक हो जाओ। इसका व्यापक प्रभाव ससार के सभी राष्ट्रों पर है। सारे ससार में केवल १० प्रतिशत बड़े आदमी अपने देश की सरकारों के साथ हैं। और नब्बे प्रतिशत साम्यवादी झंडे के नीचे अपनी-अपनी सरकारों के प्रति विद्रोह की आग सुलगाते भी रहे हैं। पर मैं तो साहित्यकार के नाते राष्ट्रवाद की दीवार को ढहाने पर आमादा हूँ, जिससे केवल पैर ही नहीं, बल्कि हो नहीं सारे ससार के स्त्री पुरुष एक स्वार्थ, एक भ्रातृ भावना, एक सहयोग में जुट जायें। इसी से आज आपसे यह कहता हूँ कि मेरा अपना कोई देश नहीं, धर्म नहीं, समाज नहीं और इन सबके प्रति मेरा कुछ कर्तव्य भी नहीं। मैं तो सारे ही ससार के नर नारियों को अपना सगा भाई मानता हूँ।[2] इससे स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी की विचारधारा साम्यवाद, गांधीवाद से होते हुए मानवतावाद की ओर उन्मुख है।

साम्यवाद, गांधीवाद और मानवतावाद

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने साहित्य में साम्यवाद और गांधीवाद का समन्वय प्रस्तुत किया है और अन्त में वह मानवतावाद की ओर उन्मुख हो गये हैं। उनकी विचारधारा को समझने के लिये प्रथम हमें मार्क्स और गांधी के सिद्धान्तों को भी समझना आवश्यक है। अत यहाँ हम सक्षिप्त में इन दोनों के सिद्धान्तों को देकर उस कसौटी पर आचार्य चतुरसेन जी के विचारों को कसने का प्रयत्न करेंगे।

---

१. मौत के पंजे से जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ ३५।

२. वातायन, आचार्य चतुरसेन पृ. १८०-१८१।

मार्क्स के अनुसार अर्थ ही जीवन का विधायक है। युग का राजनैतिक और सामाजिक घटनाक्रम तात्कालिक आर्थिक प्रक्रिया से प्रभावित रहता है और सामाजिक और राजनैतिक विकास आर्थिक वर्गों के सघर्ष के आधार पर होते हैं।'[1] इस सघर्ष की भविष्य गति का उल्लेख करते हुए मार्क्स गति की विभिन्न स्थितियो मे विभिन्न वर्गों की स्थितियो मे क्या परिवर्तन होगा इसकी ओर स्पष्ट सकेत करता है। लेकिन मार्क्स भाग्यवादी नही है। उसका कहना है कि मनुष्य आर्थिक परिस्थितियो की अवश्यभाविता के प्रभावो से बच नही सकता, लेकिन यह प्रभाव परोक्ष नही होता। मनुष्य की इन प्रभावो के प्रति प्रतिक्रिया होती है, और वे युग की सामान्य आर्थिक परिस्थितियो से प्रभावित होने पर भी काफी हद तक अपने वातावरण को बदल सकते हैं। अगर सारी समाज व्यवस्था उत्पादन के सम्बन्धो से निर्धारित है तो इन सम्बन्धो मे परिवर्तन करके समाज के दोषो को दूर किया जा सकता है। अगर वर्तमान अवस्था मे पूँजी पर लगान ब्याज और नफे के रूप मे व्यक्तिगत अधिकार है लेकिन उसके अधिकाश का उत्पादन और वितरण की व्यवस्था कायम की जानी चाहिये, जिसमें व्यक्तिगत लगान, ब्याज और नफे की सम्भावना न हो। यदि पूँजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य गति तीव्र होकर खुद व्यवस्था को कमजोर और जर्जर बना दे, तो प्राप्य साधनो के द्वारा क्रमश पूँजीपतियो को उत्पादन के साधनो से च्युत करके सामाजिक क्राति को स्वाभाविक क्रम और दिशा पर ले जाया जा सकता है।'[2]

इस प्रकार मार्क्स ने जीवन मे आर्थिक नियतिवाद की स्थिति को स्वीकार करके भी नियतिवादिता को कही प्रश्रय नही दिया है। मार्क्स का कहना है कि समाजवादी कार्यक्रम का धर्म है कि वह श्रमिको को यह बताए कि अपनी आतरिक महत्ता को वास्तविक रूप किस तरह दिया जाना चाहिये और स्वाभाविक आर्थिक सघर्ष को किस प्रकार सुयोजित राजनैतिक सघर्ष का रूप देकर सत्ता हासिल करना चाहिये।'[3] यह राजनैतिक सघर्ष क्रातिमूलक भी हो सकता है और विकास मूलक भी और सघर्ष का यह स्वरूप विभिन्न देशो की विशिष्ट परिस्थितियो पर निर्भर है। मार्क्स ने कहा है 'राजनैतिक सत्ता हासिल करने के साधन देश और काल के अनुसार बदल सकते हैं।'[4] लक्ष्य

1 Recent, Political thought, P. W Coker P. 51
2 Recent, Political thought, P W Coker P. 52-53
3 Recent, Political thought, P W Coker P. 54
4. Recent, Political thought, P W Coker P. 59

राजनैतिक सत्ता की प्राप्ति है, साधन कोई भी हो मार्क्स के अनुसार समाजवाद की स्थापना के लिये वर्ग संघर्ष अनिवार्य शर्त है ।

मार्क्स अपने इस दर्शन मे भौतिकपदार्थों को सबसे अधिक महत्व देता है ।'[1] धर्म, आत्मा, आनन्द, रस, ईश्वर आदि का उसके दर्शन मे कोई स्थान नही है ।'[2] दूसरी ओर गाँधीवाद यह मानकर चलता है कि मानवी संबधो की सार्थकता आर्थिक, राजनैतिक और विधिगत साधनो से नही, नैतिकता और धर्म से संभव है, और अर्थ नही, सत्य मानव जीवन का आधार है । जीवन के हर क्षेत्र मे गाँधीवाद विज्ञान और भौतिकता पर आश्रित रहने का विरोधी है । गाँधी जी का चरखा भारतीय जीवन मे आये हुए औद्योगीकरण के विरुद्ध घर और गाँव की अभेद्यता और आत्मनिर्भरता का प्रतीक है । उनका पंचायत राज औद्योगिक सम्यता के वर्ग संघर्ष के विरुद्ध पुरातन कृषि सम्यता की सहकारिता के महत्व का प्रतीक है । उनका हरिजन आंदोलन सामाजिक न्याय और समता का प्रतीक है ।'[3]

गाँधी जी के सिद्धांतो को निम्नलिखित तत्वो के रूप मे देखा जा सकता है —

१ ईश्वर, सत्य, अहिंसा मे विश्वास ।

२ 'सादा जीवन उच्च विचार' से विश्वास और दानव यंत्रो के बहिष्कार और चरखे के प्रचलन के द्वारा आत्मनिर्भर गावो की स्थापना ।

३. वर्ग संघर्ष के सिद्धांत और आर्थिक नियतिवाद मे अविश्वास ।

---

1. The material sensuously perceptible world to which we belong is the only reality .... our consciousness & thinking however suprasensuous they may seem are the product of a material bodily organ the brain. Matter is not a product of mind but mind itself is merely the highest product of matter.
   Karl Marx
   (Quoted by J. Stalin in his essay on his & dialectical - materialism, page 20).
2. Karl Marx-selected works Vol. I page 269.
3. Hindustan standard 3-10-54.

इस प्रसंग मे अप्टलन क्लोज लिखित 'एशिया के विद्रोह' मे लेखक को दिये गये गांधी जी के उत्तर का उद्धरण पर्याप्त होगा। 'मैं आपको यह समझाना चाहता हूँ कि पश्चिमवासियो से भी पश्चिमवाद ज्यादा खतरनाक है। मेरा विश्वास है कि पश्चिमवाद एक धोखा है, जो अपने भक्तो को नाश की ओर लिये जा रहा है। सस्कृति प्रधान तत्व है, शासन गौण है। हमे ऐसा शासन चाहिये जो हमारी सस्कृति तथा जीवन व्यवस्था को सर्वोपरि माने, जो हमारे पुरातन हस्त कौशल को बढावा दे, जो हमारे अन्त करण को कल कारखानो की दुर्गन्ध और धुएँ से सूँघ न पाये। यह मिथ्या है कि जीवन तभी सुखी समझा जाए जब नाना वस्तुओ का सचय हो, तरह-तरह के आराम की चीजें हो मैं चाहता हूँ कि अग्रेज कारखाने मिटा दें, रेलें उखाड डालें, अग्रेजी शिक्षा बन्द कर दें।'[१]

इन आधार भूत तत्वो की सम्प्राप्ति के लिये अहिंसा और सत्याग्रह की ग्राह्यता गांधीवाद की अपनी विशेषता है। गांधीवाद लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किन्ही भी अन्य साधनो का नही, वरन् सत्य और अहिंसा का ही प्रयोग मानता है। इन्ही के द्वारा गांधीवादी सर्वोदय, सबके कल्याण का विश्वास रखते हैं। धीरेन्द्र मजूमदार ने समझाया है 'वर्ग विषमता के लिये क्रांति की प्रक्रिया क्या हो? दो ही तरीके हो सकते हैं—एक वर्ग सघर्ष का हिंसात्मक तरीका, दूसरा, वर्ग परिवर्तन की अहिंसात्मक क्रांति उन्मूलन की प्रक्रिया हिंसा की प्रक्रिया है इसलिये गांधी जी वर्ग-परिवर्तन की अहिंसक क्रांति का आह्वान करते हैं। वे बिना उत्पादन किये गुजारा करनेवाले वर्ग को सामाजिक उत्पादन मे शामिल होकर उत्पादक वर्ग मे विलीन होने के लिये कहते है।

(नवप्रभात ३-१०-५४ पृष्ठ ५)

गांधी जी क्रान्ति को हिंसा के रास्ते से नही, हृदय परिवर्तन के रास्ते से लाने की बात कहते हैं। तभी तो वे चाहते हैं कि जमीदार और पूँजीपति अपने को किसानो मजदूरो का ट्रस्टी समझें।'[२]

मार्क्सवाद और गांधीवाद के इस सक्षिप्त परिचय के बाद अब हम आचार्य चतुरसेन के विचारो पर विमर्श करेंगे।

---

१ सारथी, ३-१०-५४, पृ ९।

२. प्रेमचन्द, एक अध्ययन, राजेश्वर गुरु, पृ १०२-१०३।

महाराज बिम्बसार से वह अपने सौन्दर्य का सौदा कर बैठी।[1] महाराज बिम्बसार इसी के कारण वैशाली पर आक्रमण करते हैं[2] किंतु अपने सेनापति सोमप्रभ के कारण उन्हें अन्त में सन्धि करनी पड़ती है।[3] उपन्यास के अन्त में अम्बपाली के जन्म का रहस्य ज्ञात होता है। उसके पिता आर्य वर्षकार एवं माता आर्या मातंगी हैं। सोमप्रभ उसका भ्राता है। अन्त में वह अपने जीवन से निराश होकर बौद्ध धर्म ग्रहण कर भगवान् बुद्ध की शरण में चली जाती है।

चरित्र-निर्माण का प्रेरणा स्रोत—

प्रस्तुत चरित्र का निर्माण केवल कल्पना पर ही आधारित नहीं है, वरन् इस चरित्र से उपन्यासकार कई बार स्वप्न में साक्षात्कार कर चुका था। इस चरित्र के निर्माण की प्रेरणा उपन्यासकार को सर्वप्रथम एलोरा और अजन्ता की गुफाओं के स्त्री चित्रों से प्राप्त हुई थी। इस विषय में उसका कथन उल्लेखनीय है' · अम्बपाली की एक स्थिर मूर्ति का एक चित्र भी मेरे मस्तिष्क में अंकित होता गया। बहुत दिन पूर्व एलोरा और अजन्ता की गुफाएँ देखी थी। अब उनके स्त्री-चित्रों को मैं घण्टों देखकर अम्बपाली की उनमें व्यक्ति करने लगा। धीरे-धीरे अम्बपाली की एक लोकोत्तर मूर्ति मेरे मानस पर अंकित हो गई। तथाकथित उस प्राचीन कानून ने मुझे अम्बपाली का हिमायती बना दिया। मैंने साहित्य और शृंगार के रस में उस मूर्ति को डुबकियां दे देकर उसे अपने साथ इस प्रकार अभीभूत कर लिया कि एक दिन, जब मैं शीतल स्निग्ध चाँदनी में सोया हुआ था, तो मैंने आकाश में वह उज्ज्वल, सजीव मूर्ति स्पष्ट देखी। उसके होठ हिलते हुए, आंचल हवा में फरफराता हुआ, नेत्र आवाहन करते हुए स्पष्ट मैंने देखे। मेरे शरीर के सम्पूर्ण जीव रोम कल्पना के वशीभूत हो गए और मैंने कहा 'नाचो अम्बपाली।' और अम्बपाली ने नाचा। मैंने इन्हीं आंखों से उसे स्वच्छ नील गगन में चन्द्रमा के उज्ज्वल आलोक में उसे नाचते देखा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी आकाश में ही उसके निकट पहुँच गया हूँ। मैं उसके श्वास से निकलते हुए सौरभ और नृत्य से झंकृत पैंजनियों की ध्वनि प्रत्यक्ष अनुभव करता रहा। एकाएक मुझे प्रतीत हुआ कि वह मूर्ति गायब हो गई और मैं वेग से नीचे आ गिरा।

---

१. वैशाली की नगरवधू, पृ० २२६ से २५८ तक।
२. वैशाली की नगरवधू, पृ० ७३१ से ७३४ तक।
३. वैशाली की नगरवधू, पृ० ७३४ से ७४६ तक।

सम्भवत मेरे मुंह से चीख या शब्द निकला था, और पत्नी ने उठकर मुझे सावधान किया था। मैंने तुरत उठकर उस नृत्य का वर्णन लिखा, जिसका संशोधित रूप इस उपन्यास मे कलमबन्द है।[1] यही स्वप्न मे देखा अम्बपाली का रूप और सौन्दर्य ही प्रस्तुत चरित्र के निर्माण का प्रेरणा स्रोत है।

शारीरिक रूप रंग और व्यक्तित्व—

अम्बपाली की जिस मूर्ति की आचार्य चतुरसेन जी ने स्थापना की है, वह देवी न होकर देवी और मानवी न होकर मानवी है। उस मूर्ति को वे जितना शुद्ध, संस्कृत और उच्च भावनायुक्त बना सकते थे, बनाया है। वह डोरी भी नही है, पत्थर भी नही है निष्प्राण भी नही है। हाड मास की स्त्री है। दया, उदारता, स्नेह के साथ आत्म-सम्मान गर्व और त्याग की चरम शक्ति अपने व्यक्तित्व मे समेटे हुए है।[2] किंतु इतना सब होते हुए भी वह 'नगरवधू' है, साधारण कुल वधुओ के अधिकारो से वंचित। अम्बपाली के अप्रतिम शारीरिक सौन्दर्य का प्रथम परिचय उपन्यासकार ने इस प्रकार दिया है 'अम्बपाली ने शुभ्र कौशेय धारण किया था। उसके जूडाग्रथित केश-कुन्तल ताजे फूलो से गूंथे हुए थे। ऊपरी वक्ष खुला हुआ था। देहयष्ठि जैसे किसी दिव्य कारीगर ने हीरे के समूचे अखन्ड टुकडे से यत्नपूर्वक खोदकर गढी थी। उससे तेज, आभा, प्रकाश, माधुर्य, कोमलता और सौरभ का अटूट झरना झर रहा था। इतना रूप, इतना सौष्ठव, इतनी अपूर्वता कभी किसी ने एक स्थान पर देखी नही थी। उसने कठ मे बडे बडे सिंहल के मोतियो की माला धारण की थी। कटिप्रदेश की हीरे-जडी करधनी उसकी क्षीण कटि को पुष्ट नितम्बों से विभाजित सी कर रही थी। उसके सुडोल गुल्फ मणिखचित उपानत से, जिनके ऊपर स्वर्ण पैंजनिया चमक रही थी, अपूर्व शोभा का विस्तार कर रही थी। मानो वह सभागार मे रूप, यौवन, मद, सौरभ को बखेरती चली आई थी।[3] उसके इस रूप के प्रभाव को भी देखिए जनपद लुटा-सा, मूर्छित-सा, स्तब्ध सा खडा था। आज वैशाली का जनपद देख रहा था कि विश्व की यौवन श्री अम्बपाली की देहयष्ठि मे एकीभूत हो रही थी। जिसे देख जनपद स्तम्भित, चकित और जड हो गया था। वह अपने को, जीवन को और जगत् को भी भूल गया

---

१ वैशाली की नगरवधू भूमि पृ ७७९ से ७८० तक।
२. वातायन-आचार्य चतुरसेन पृ २६।
३ वैशाली की नगरवधू पृ १८ से १९ तक।

१ व्यक्तित्व के भीतर पात्र का आकार, रूप, रग, वेप-भूषा आदि सम्मिलत रहती है जिसके द्वारा हम उसे पहचानते है। यदि उपन्यास के भीतर इन बातो का विवरण नही होता, तो हम अपनी कल्पना और अनुभव के आधार पर उसके व्यक्तित्व का एक रूप बना लेते है। यह व्यक्तित्व जितना ही प्रभावशाली हो तथा अन्य सजातीय पात्रो से भिन्न जान पडे उतना ही अच्छा होता है।

२ बौद्धिक गुणो के भीतर उसका अध्ययन, चतुरता, सकट मे बुद्धि वैभव आदि की विशेषताएँ आती हैं। इसके लिए उसके गुण यदि लोक कल्याणकारी हुए तो हम सम्मान और प्रशसा करते हैं और यदि अकल्याणकारी है, तो हम निंदा करते हैं। इन गुणो का हमारे ऊपर प्रभाव पडता है।

३ चारित्रिक गुणो का प्रभाव सबसे अधिक पडता है। उसके भीतर दूसरो के सुख मे सुखी और दुख मे दुखी होने की कितनी शक्ति है, वह कितना सवेदनशील और भावुक हैं, परिस्थितियो का घात प्रतिघात सहकर भी उसमें कितनी करुणा और सहृदयता है, इन बातो पर हमारा ध्यान उसके प्रति प्रेम या घृणा का भाव जाग्रत होता हैं चारित्रिक विशेषताओ मे उसके आचरण और दूसरो के प्रति व्यवहार को परखा जाता है। अत. इन विशेषताओ का प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण उपन्यासकार की कुशलता का अग है।'[1]

पीछे हमने आचार्य चतुरसेन जी के पाच प्रमुख चरित्रो का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उसमें हम चरित्र के इन तीनो ही गुणो पर प्रकाश डाल चुके हैं। आचार्य जी के अधिकाश पात्रो मे चरित्र चित्रण की उपर्युक्त तीनो ही विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। जैसा कि हम उनके पात्रो की शारीरिक विशेषताओ एव रूप रग पर प्रकाश डालते हुए दिखला चुके हैं कि उन्होने चरित्र के व्यक्तित्व को पूर्णरूप से उभारने के लिय पात्रो की आकृतियो, उनके रूप रग एव चाल-ढाल को बडे ही सतुलित एवं सधे हाथो से चित्रित किया है। जिससे प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व समानरूप से उभरा हुआ दीख पडता है। उनका प्रत्येक पात्र अपनी कुछ मौलिक विशेषताओ के कारण वर्गगत होते हुए भी सम्पूर्ण समाज मे सहज ही पहचाना जा सकता है। जैसे समाज के प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न होता है उसी प्रकार से उनके उपन्यास के प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व, उसके कार्यकलाप, उसके विचार, व्यवहार, आदर्श एव सिद्धात भिन्न हैं, वे अपनी स्वय की कुछ विशेषताओ के कारण मौलिक हैं। उनके ऐतिहासिक पात्रो के व्यक्तित्व भी कम उभरे हुए नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व मे

१. काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र, पृ ८६।

भी पूर्णता है। यद्यपि इतिहास मे उस पात्र के व्यक्तित्व के कुछ सकेत मात्र ही प्राप्त होते हैं। किंतु इन सकेतो के आधार पर ही आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक पात्रो के स्पष्ट, पुष्ट एव पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण किया है। 'पात्रो के व्यक्तित्व को निखारने के साथ-साथ उन्होने चरित्रो को अधिक सजीव, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक, मौलिक एव कथा के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है।

सजीवता—

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासो के पात्रो का सबसे प्रधान गुण है कि वे सजीव हैं। वे काल्पनिक होते हुए भी काल्पनिक से न लगकर हमारे जीवन म देखे सुने और सम्पर्क मे आय व्यक्तियो के समान लगते हैं। उनके दुख से हम अपने को दुखी और सुख से अपने को सुखी अनुभव करते हैं। उनके साथ हमारे हृदय मे भी ममता, घृणा, सौहार्द, करुणा, प्रेम आदि के भाव स्वत जागने लगते हैं। ये पात्र हमारे चारो ओर चलने-फिरने, उठने-बैठने वाले प्राणी ही ज्ञात होते हैं। ये कही बेगाने देश के वासी नही, हमारे ही दुख सतापपूरित ससार के निवासी लगते हैं। मानव की दुर्बलता असबलता सभी की इन कल्पना चित्रो मे प्राण प्रतिष्ठा करके आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी इस काल्पनिक सृष्टि को हमारे सामने ला खडा किया है। 'इनके रूप रग, बोल चाल, कार्यप्रणाली, मनोदशा, रहन-सहन सबका इतना जीवन्त वर्णन किया गया है कि हमे वास्तविकता का भ्रम हो जाता है। परिस्थितियो के घात-प्रतिघात मे ढले हुए इनके चरित्र मानव-सौंदर्य एव सीमा के प्रतीक हैं। इसी कारण चरित्र-चित्रण कला मे आचार्य जी एक सीमा तक सफल कहे जा सकते हैं। यदि पात्र हमे काल्पनिक देश के लगें, उनके आचरण साधारण मानवो से भिन्न हो, वे मानव से भिन्न हो, वे मानव-सृष्टि के प्राणी न ज्ञात होकर काल्पनिक सृष्टि के प्राणी ज्ञात हो तो निश्चित ही वे हमारी सहानुभूति न प्राप्त कर सकेंगे। ऐसे पात्र सजीव न होकर निर्जीव कठपुतली के समान आचरण करते से ज्ञात होंगे। ऐसे निर्जीव पात्र न कथा को गतिवान् करने मे समर्थ होंगे और न ही हमारे स्मृति-कोष मे सुरक्षित रह सकेंगे। 'अलौकिकता तथा निर्जीवता पात्रो के व्यक्तित्व का साधारणीकरण नहीं होने देती। वे हमारे राग विराग के पात्र नही बन पाते। पात्र निर्माण मे लेखक की कल्पना-शक्ति की परीक्षा होती है। इसी शक्ति के द्वारा पात्रो का व्यक्तित्व ऐसा बन जाता है कि वे हमे आकर्षित करते हैं। थैकरे कहा था कि मैं अपने पात्रो का अनुशासन करने म असमर्थ हो जाता हूँ। वे

गाँधीवाद की ओर

आचार्य चतुरसेन जी प्रारम्भिक सिद्धान्तों में मार्क्स के अनुयायी हैं। उन्होंने 'वैशाली की नगरवधू' में उन शोषक राजाओं और ब्राह्मणों को स्पष्ट चुनौती दी है, जो गरीबों की असहायावस्था में पूरा लाभ उठा रहे थे।[१] 'गोली' की भूमिका में भी उन्होंने स्पष्ट शब्दों में चुनौती दी है 'मैं बिना शक यह चाहता जरूर हूँ कि अविलम्ब इन भूत राजा महाराजाओं की पेंशनें जब्त कर ली जायें और यह रकम इन सताई हुई साठ हजार पवित्रात्माओं (गोलियों) में बाँट दी जाय। सरकार हमारी अहिंसक है। समन्वयवादी है। पचमेल मिठाई की उसकी दूकान है। चाहे रंग में वह भड़कती है। तिरंगा झंडा फहराती है, और तिरंगी चाल चलती है। उसके राज्य में भला राजाओं को क्या भय। मैं तो जरूर यह चाहता हूँ कि जैसा मैं मेहनतकश हूँ वैसे ही ये राजा लोग भी बनें। मुझे यदि एक बार प्रधान मंत्री बना दिया जाय तो मैं पहली कलम से इन राजाओं को भाखरा बांध पर एक-एक टोकरी और एक-एक कुदाल देकर भेज दूँ। जिससे उनका अपच भी दूर होगा और मरने के प्रथम कुछ दिन वे ईमानदारी से अपनी कमाई के टुकड़े खायेंगे।'[२] स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी के इन विचारों में उनका क्रान्तिकारी रूप उभरा हुआ है। वे मार्क्स की ही भाँति पूँजीपतियों एवं जमींदारों के घोर विरोधी हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में पग-पग उनका विरोध किया है। उन्होंने अपने 'उदयास्त' नामक उपन्यास में एक पात्र के मुख से कहलाया है ' ... ये बड़ी शान वाले और रईस जमींदार हम पर जो गुलामी का बंधन लादे हुए हैं, जो जुल्म करते रहे हैं, इससे समाज में ही घुन लग गया है। असल में यह किसी एक आदमी का कसूर नहीं है, इसी से मैं सिर्फ राजा साहब को इसके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराता। यह तो परंपरा से चली आती बुराई है।'[३] और इस बुराई को वे जड़ मूल से नष्ट करने के पक्ष में हैं। इस विषमता को दूर करना मार्क्स भी चाहता है और गांधी भी। अतः मूल में दोनों ही की विचारधारा एक है। इसी कारण आचार्य चतुरसेन जी की रचनाओं में दोनों ही प्रकार की विचारधारायें मूल से प्राप्त होती हैं। दोनों ही सिद्धान्तों के लक्ष्य एक ही हैं किन्तु उनको प्राप्त करने का साधन भिन्न है।

---

१. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १६४-१६५।

२. गोली, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, टूटे हुये सिंहासन चीत्कार कर उठे, पृ ४।

३. उदयास्त, आचार्य चतुरसेन, पृ. ४५।

एक हिंसा को साधन बनाकर चलता है तो दूसरा अहिंसा को। यहीं पर आचार्य चतुरसेन जी की विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वे साधनों के संबंध में गांधी जी को आदर्श मानते है। इसीलिए उन्होंने एक स्थान पर कहा कि 'कार्लमार्क्स ने सामाजिक विकास का उत्कृष्ट मार्ग यूरोप के सम्मुख रक्खा। उसने बताया कि कैसे संसार के पीड़ितो को पीड़कों से बचाकर उनका संगठन किया जा सकता है। पर इस कार्य में खयाल उसे नहीं आया, उसने तो यही कहा कि सारे संसार के पीड़ितो को एकत्र होकर पीड़कों का संहार कर डालना चाहिए। उस ने ऐसा ही किया परन्तु यदि सब पीड़ित एकीभूत हो जायें तो पीड़कों को मारने की आवश्यकता ही न रह जायेगी।
कार्लमार्क्स की यह नीति काटे से काटा निकालने जैसे रही। उसने समाजवाद के काटे से राष्ट्रीयता के काँटे को निकालना चाहा। उसने कहा सशस्त्र क्रांति करके पूंजीपतियो को मारो पर टालसटाय ने कहा—'नहीं पूंजीपतियो के लिए शस्त्र ग्रहण न करो।' रूस मे आशिक रूप से यह प्रयोग सफल हुआ।
महावीर और बुद्ध ने सत्य अहिंसा को बहुजन हिताय की भावना से प्रचारित किया था, पर वह साम्प्रदायिक दलदल म फस गया। उस अहिंसा का राजनैतिक क्षेत्र मे उपयोग करने का श्रेय गाधी जी को है।'[1]

आचार्य चतुरसेन जी साम्यवाद की अपेक्षाकृत गाधीवाद के अधिक समीप दीख पडते हैं उन्होने अपने नाटक 'पगध्वनि' म ही सत्याग्रह, राजनीति, धर्म, पूंजी, हिंसा, अहिंसा आदि को पात्र रूप मे प्रस्तुत किया है। इन सब के परस्पर वार्तालाप द्वारा वे अन्त म इसी निष्कर्ष मे पहुँचे हैं कि समाज, देश और विश्व का कल्याण अहिंसा और सत्य का अनुसरण करके ही सम्भव है।[2]

गाधीवाद से मानवतावाद की ओर—

आचार्य चतुरसेन जी का गाधीवाद आगे चलकर मानवतावाद की ओर उन्मुख हो गया है। गाधी जी का देवता मनुष्य है गाधी जी ने इसकी पूजा की है। पूजा का स्वरूप था सेवा, सत्य, अहिंसा। उन्होने इसीलिए एक स्थान पर लिखा है 'मार्क्स ने यूरोप मे प्रथम बार, मनुष्य देवता के दर्शन किय पर सम्पूर्ण देवता के नहीं केवल उनके चरणो के

---

१ पगध्वनि, आचार्य चतुरसेन, दो शब्द, पृ २७-२८।
२ पगध्वनि, आचार्य चतुरसेन, पृ ८२-९७।

परतु गाधी ने उस देवता के सम्पूर्ण दर्शन किये और उसे अपना इष्टदेव बनाया।

भारतीय जनो को उसने उस देवता की पूजा करने को प्रेरित किया—पर सम्प्रदाय, धर्म और राष्ट्रीयता एव देशभक्ति के जाल मे फँसे हुए मनुष्यो ने गाधी के प्रसाद को चखा-पर देवता की पूजा नही की। फलत भारत अँग्रेजो के चगुल से छूटा पर उनके लाये हुए देवता के जाल मे अभी तक फँसा है, फसकर कठिनाइयो मे गिरता जा रहा है।'[1] आचार्य चतुरसेन जी ने चुनौती देते हुए कहा है 'जिन्हे अपने भावी खतरो का ख्याल हो जिन्हे अपने भावी पीढ़ियो पर तरस हो—उन्हे अब भी समय है, वे इस अपूजित देवता को धूल से उठाकर उसकी पूजा करें और सारी मनुष्य जाति का भावी सकट टालें।'[2]

सत्य और अहिंसा—

उनका कथन है कि सत्य ने ही मनुष्य को देवता बनाया। सत्य की पूरी राह चलकर 'मनुष्य' देवता सत्य के उस छोर पर बैठा है। जहाँ गाधी उसे छोड गये हैं। जिसे उसकी पूजा करनी हो, वह सत्य की पूरी राह चल कर उसके निकट जाए। जो वहाँ जावेगा, वह उस देवता का दास, सेवक, आधीन न बनेगा। स्वय देवता बन जायेगा। सब मनुष्य देवता बन जायेंगे। जिसके विचार शुद्ध, अकपट, जीवन भय रहित, ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर रहित सब मनुष्यो के मस्तिष्क ज्ञान से और हृदय प्यार से भरे हुए। सही और सच्चा गणतत्र यही सगठित हो सकता है। वहाँ जहाँ गाँधी का वह अपूजित देवता सत्य की राह के उस छोर पर अकेला बैठा है।'[3]

आचार्य चतुरसेन जी ने अहिंसा को सत्य की राह दिखलानेवाली पथ प्रदर्शिका माना है। स्पष्ट है कि उन्होने गाधी के प्रमुख सिद्धातो को पूर्णरूप से स्वीकार किया है। 'अपराजिता' मे उन्होने गाधीवादी सिद्धातों के द्वारा ही गृह की जटिल समस्याओ का भी समाधान प्रस्तुत किया है। अन्त मे आचार्य चतुरसेन जी इसी निष्कर्ष से पहुँचे है कि 'अब ससार के समस्त संघर्षो का अत होना चाहिए। और मनुष्य को अपनी प्रज्ञा अहिंसा को सौंप देनी चाहिए। मार्क्स ने विरोध के मुकाबले मे विरोध खडा किया किंतु उसने

१. मौत के पंजे में जिंदगी की कराह पृ. १५१-५२।
२. मौत के पंजे मे जिंदगी की कराह पृ. १५२।
३. मौत के पंजे मे जिंदगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृ १५५।

यह नही सोचा कि काटा निकालने के प्रयत्न मे यदि काँटा निकलने के प्रथम ही काँटे की नोक यदि उसी मे टूटकर भीतर रह जाय तो कितना कष्ट होगा। समाजवाद के काटे से राष्ट्रीयता का काटा निकालने का प्रयत्न किया गया। किंतु परिणाम सुखकर कहाँ हुआ ? ज़ार ने जबरदस्ती लोगो को लडने भेजना चाहा, पर लोगो ने लडने से इन्कार कर दिया और शाही समाप्त हो गई। इसी प्रकार पूजीवाद से सहयोग त्याग दीजिये पूजीवाद ढह जायेगा। और उसकी यही सीधी राह है। मेरी बात मानिये, अपरिग्रह को अपनाइये, अहिंसा का हाथ पकडिए और सीधे सत्य की राह पर गाधी के देवता की बिरादरी मे मिल जाइये।'[1]

आचार्य चतुरसेन जी के इन विचारो से पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि वे साम्यवादी सिद्धान्तो से अधिक गाधीवादी सिद्धातो के पक्षपाती है।

समाज में समानता

आचार्य चतुरसेन जी ने समाज मे समानता लाने की विधि भी गाधीवादी रूप से ही स्वीकार की है। उन्होने अपने उपन्यास 'उदयास्त' मे इस विषय पर एक अत्यन्त सुन्दर प्रसग प्रस्तुत किया है। उसमे स्वामी जी एव सुरेश का वार्तालाप उल्लेखनीय है। सुरेश स्वामी जी से पूछते है 'परन्तु देश और राष्ट्र की बात तो जुदा है व्यक्तिगत स्वाधीनता तो सभी को मिलनी चाहिए' इस पर स्वामी जी उत्तर देते हैं 'तुम्हारी तरह सब लोग सोचते हैं सुरेश! इसी से आज पति पत्नी से, भाई भाई से, पत्नी पति से पुत्र पिता से और मित्र मित्र से स्वाधीन रहने मे ही जीवन का लाभ समझते हैं। और इससे समाज मे समता विश्वास और शान्ति छिन्न भिन्न हो रही हैं। वह देखो राजा का महल सामने खडा है, इसकी ईंटो को एक पर एक रखकर जो दीवार बनाई गई है उसके खिलाफ ईंटें फरियाद कर रही है। वे तुम्हारे न्याय का विरोध कर रही हैं। उन्हे तुमने एक के ऊपर एक मिलाकर संदा क्यो ? उनकी दीवार चुनी क्यो यह ईंटें स्वाधीन होना चाहती हैं। इन ईंटो को स्वतत्र कर दो महल को दहा दो। ईंटो को बखेर दो और दुनिया को स्वाधीनता का सच्चा स्वरूप दिखा दो।'

'तो आप क्या यह कहना चाहते हैं कि समाज का सगठन एक दूसरे की पराधीनता से होगा ? क्या आप पुरानी सामन्तशाही के पोषक हैं ? आप चाहते हैं कि कुछ लोग ऊपर रहे और बाकी सब उनके बोझ से पिस सकें।'

---

१. मौत के पजे मे जिंदगी की कराह, आचार्य चतुरसेन, पृ १६०।

'नही रे भाई नही । मैं यह नही चाहूँगा । मैं सबका सम सहयोग चाहता हूँ । मैं नही समझता कि सब लोग कभी बराबर हो सकेंगे । पैर पैर रहेगे सिर सिर रहेगा । पैर अपना काम करेंगे और सिर अपना मैं केवल यह चाहता हूँ कि पैरों का सिर से सम सहयोग रहे । पैरो को सिर का बोझा ढोना असह्य न हो और सिर पैर मे एक कॉटा चुभे तो उसे सावधान कर दे इसी का नाम है सम सहयोग ।

'आपका अभिप्राय यह तो नही कि सब मनुष्य समान नही हैं ।'

'मेरा यही अभिप्राय है मनुष्य बुद्धि जीवी है और सामाजिक प्राणी है । बुद्धिजीवी होने के कारण वह निरन्तर विकासशील है । मनुष्य का विकास व्यक्ति मे है, समष्टि मे नही । शरीर चेतना और परिस्थिति यह मनुष्य के व्यक्तित्व को वैशिष्ट्य देती है । इसी से साधारण मनुष्य से बुद्ध, ईसा, शकर, दयानन्द, गाधी निकलते है, जो युग युग तक करोडो मनुष्यो के शासक होते हैं । इसी से सब मनुष्य समान नही हो सकते । परन्तु इस असमानता मे भी एक शृ खला है, व्यवस्था है, तारतम्य है उसी से समाज सुन्दर, सम्य और शिष्ट बनता है ।

'परन्तु इस असमानता के सामजस्य और तारतम्य के क्या आधार हैं ।'

'तुम तो सगीत के पडित हो । उस दिन तुम हारमोनियम बजा रहे थे तुम भलीभाँति समझते हो कि हारमोनियम के सब स्वर भिन्न-भिन्न हैं परन्तु उनकी भिन्नता मे भी एक तारतम्य है । अनुक्रम है । उसी से उसमें राग का सर्जन होता है यदि सब स्वर एक से होते आरोह अवरोह, तार, मन्द, मन्द्र, क्रम न होता कोमल और शुद्ध स्वर न होते तो क्या राग मूर्त होता ।'

'नही होता ।'

'बस, यही बात है । समाज मे धनी भी हैं निर्धन भी, विद्वान भी है मूर्ख भी, दुर्बल भी हैं, निर्बल भी, प्रगतिशील भी है और अनुपत्त भी । आज है, सदा से रहे है, सदा से रहेंगे । व्यक्ति का यह वैशिष्ट्य ज्यों ज्यों सभ्यता और विज्ञान की शक्ति का विकास होगा बढता जायेगा । अब समाज का हित इसमे हैं कि सबका सम सहयोग हो । प्रत्येक एक दूसरे के सहायक और पूरक हों । सारा समाज एक शरीर की भाँति जीवनयापन करे । वेद मे लिखा है कि समाजरूपी विराट पुरुष के सिर हाथ पैर धड यह सब भिन्न वर्गीय जन है । मुख भोजन खाता है तो समान भाव से सारे शरीर की पुष्टि होती है । यही सामाजिक जीवन के सुख की कुजी है ।'

'किंतु जब तक समाज मे ऊँच-नीच, छोटे-बडे की भावना बनी है उसमें सहयोग कैसे हो सकता है ।'

'आत्म समर्पण के द्वारा । समाज का प्रत्येक व्यक्ति बिना शर्त दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण कर दे तो यह सम सहयोग आसानी से हो सकता है । देखो तुम नगर गाँव बस्ती बसाते हो, परस्पर मिल जुलकर व्यापार करते हो, फर्म बनाकर, कम्पनी बनाकर, परस्पर के सहयोग से बड़े-बड़े केंद्र बनते हैं । सीमित उद्योग संस्थाओं मे धनी भी हैं, निर्धन भी । किसी के लाखों रुपये लगे है, किसी के केवल कुछ सौ ही रुपये हैं, पर हैं सब भागीदार जो अपने हिस्से के सीमित लाभांश से न्यायत संतुष्ट है ।'[1]

मैंने अपने मत की पुष्टि के लिए कुछ लम्बा उद्धरण अवश्य दिया है किन्तु इससे हमारे इस मत की पुष्टि हो जाती है कि आचार्य चतुरसेन जी साम्यवादी ढग से समानता लाने के इच्छुक कभी भी न थे ।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि गाँधी जी के सभी प्रमुख सिद्धांतों, अहिंसा, सत्य और असहयोग पर आचार्य चतुरसेन जी का मार्क्सवादी सिद्धातो से अधिक विश्वास था । वे गाँधी की भाँति ही अहिंसात्मक ढंग से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देना आवश्यक समझते थे कि जिन परिस्थितियो में शोषक के लिये अपने मन परिवर्तन के सिवा कोई चारा बाकी न रह । 'प्रजातान्त्रिक तरीके को स्वीकार करके गाँधी जी चलते हैं । मार्क्स भी अपने कार्यक्रम का पहला अग इसी को मानता है जब वह प्रजातन्त्र की लड़ाई जीतने की बात कहता है । यदि कोई फर्क है तो इतना ही कि गाँधी जी प्रजातन्त्र को धर्म नीति मान कर चलते है और मार्क्स केवल नीति धर्म । लेकिन इस प्रसग मे मार्क्स और गाँधी मे कही कोई विरोध नही । मार्क्स का कथन है कि श्रमिकों को अपनी शोषित जाति का सगठन करके सत्ता हासिल करना होगा । इतना करके उन्हें शोषण की परिस्थितियाँ समाप्त करने का काम करना होगा ।'[2]

गणतन्त्र तथा जनतन्त्र

आचार्य चतुरसेन जी गाँधी जी के सिद्धातो को आदर्श अवश्य मानते थे, किंतु वे वर्तमान कांग्रेसी राज्य से संतुष्ट नही थे । उन्होंने स्पष्ट कहा है 'निस्सदेह कांग्रेस का पतन हो रहा था और उसके पतन का मुख्य कारण था अयोग्य व्यक्तियों को दायित्व के पद देना । इसे वे लोक जन जागरण का अग मानते और जनता को ऊँचा उठाने का एक सूत्र कहते थे । परन्तु इसमें समाज और व्यवस्था दोनो के ही ढाँचे मे जो एक बेढगापन आता जा रहा था, इसकी

१ उदयास्त, आचार्य चतुरसेन, पृ ७९-८१ ।

२ प्रेमचन्द, एक अध्ययन, डा० राजेश्वर गुरु, पृ १०५ ।

और कांग्रेस आँख उठाकर नहीं देख रही थी।'[1] 'गणतंत्र' को आचार्य चतुरसेन जी इस कांग्रेसी राज्य के पतन का कारण मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'गणराज्य' जनता का खून चूसने वाला खटमल है। उनका कथन है 'गणतंत्र से जनतन्त्र भारत के लिए अधिक उपयुक्त है' कारण 'गणतंत्र का सबसे भारी और सबसे प्रधान दोष तो यह है कि उसमें 'योग्यतम' व्यक्ति को अधिकार नहीं मिलता। गुटों के प्रतिनिधियों को अधिकार मिलता है, चाहे उनमें योग्यता हो या न हो। इसके विपरीत जनतंत्र में 'योग्यतम' व्यक्ति को अधिकार प्राप्त होता है। हमारे इस भारतीय 'गणतंत्र' में भी यह दोष उत्पन्न हो गया। राज्य में सिखों के, हरिजनों के, हिंदू सभा के, व्यापारियों के, समाजवादियों और साम्यवादियों के, जन संघियों के और न जाने किन किनके प्रतिनिधियों का अयोग्य भेड़ बकरियों का रेवड़ भरना पड़ा। अंग्रेजों के राज्य में जिन कुर्सियों को सर फिरोजशाह मेहता, महामना मालवीय, पंजाब केसरी लाजपत राय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोखले, श्री निवास शास्त्री ने सुशोभित किया, उन पर दूध बेचने वाले, अखबार बेचने वाले, ईमान धर्म बेचने वाले बैठे मौज-मजा कर रहे हैं। मिनिस्टरों के दिन ईद और रात दिवाली में परिणत हो गये हैं। वे अपने विषयों को नहीं जानते, अपने विभागों के कार्य कलाप से अज्ञात हैं परन्तु वे अमुक दल के प्रतिनिधि हैं, इसलिये हमारी सरकार को कहीं न कहीं उन्हें मिनिस्टर, गवर्नर, राज्यपाल या खाक बलाय कुछ बनाकर माल मलीदे उड़ाने और चैन की बंसी बजाने का प्रबंध करना पड़ा है। और इस प्रकार गलत रीति पर एकत्रित विरोधी तत्वों से पार्लियामेन्ट भर गई है। और जवाहर लाल जैसे समर्थ पुरुष भी उनके जाल में उलझ कर जनहित का कोई काम नहीं कर पा रहे हैं। देश में रिश्वतखोरी, चोर बाजारी, षड्यन्त्र, डाकेजनी, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था, असन्तोष, भुखमरी और भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है।'[2] इसी कारण से वर्तमान राज्य से किसी भी धर्मावलम्बी की आस्था नहीं रह गई है।'[3] इतना ही नहीं आचार्य चतुरसेन जी ने 'गणतंत्र' के दूसरे दोष की ओर भी इंगित करते हुये कहा है 'इस गणवाद में एक दोष यह भी है कि जिन गुटों के प्रतिनिधि इस गणतन्त्र को चलाते हैं,

---

१ बगुला के पंख, आचार्य चतुरसेन, पृ. ५७।

२. उदयास्त, आचार्य चतुरसेन, पृ. १८६, तथा मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन, पृष्ठ ११९-२०।

३. उदयास्त, आचार्य चतुरसेन, पृ १८७, तथा मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन, पृ. १२०।

उनमे परस्पर कोई प्रेम और विश्वास की भावना नही होती । एक दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्धा का भाव बना रहता है । प्रत्येक गुट अपनी छोटी से छोटी स्वार्थ कामना की पूरी सिद्धि चाहता है और दूसरो की बडी से बडी आवश्यकता को तुच्छ समझता है ।'[१]

इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी 'गणतन्त्र' की अपेक्षा 'जनतन्त्र' के पक्ष मे है । उनका कथन है 'जनतन्त्र उस व्यवस्थित सद्गृहस्थ कुटुम्ब के समान है, जो हृदय के गहरे स्नेह, विश्वास, त्याग, सहानुभूति और सहयोग के वातावरण से परिपूर्ण है। जहाँ भाभियाँ हँसकर प्यार बखेरती हैं, पत्नियाँ सौभाग्य चरण से आगन को पवित्र करती हैं। बच्चे आनन्द की किलकारी भरते है। पकवान बनते हैं। त्योहार आते है सगीत होता है, आनन्द और शान्ति का समुद्र हिलोरें मारता है। छोटे से बडे तक मर्यादा के साथ बँधे रहते है। छोटे बडो के चरण छूने मे पुण्य मानते हैं और बडे छोटो पर आशीर्वाद की वर्षा करते हैं। छोटा बडा होने का किसी को हर्ष विषाद नही होता । यही जनतन्त्र मनुष्य का सच्चा जनतन्त्र है ।'[२]

वे भारत मे इसी को लाने के इच्छुक हैं किन्तु उन्हे कोई भी शक्तिवान दल इस पथ पर चलने वाला सामने नही दीखता। गाँधी का नाम लेकर चलने वाली पार्टी कांग्रेस भी आज व्यर्थ सिद्ध हो चुकी है। इसी कारण आचार्य चतुरसेन जी ने कहा है 'कांग्रेसी इस 'गणतन्त्र' को 'जनतन्त्र' का रूप नही दे सकते। क्योकि वे राष्ट्रवादी हैं, देश भक्त हैं, मनुष्य भक्त नही। वे देश और राष्ट्र के लिये मनुष्यो को कट मरने की सलाह दे सकते है। मनुष्य के लिये देश और राष्ट्र को लात नही मार सकते।'[३]

इतना ही नही आचार्य चतुरसेन जी की समाजवादी और साम्यवादी दलो पर भी आस्था नही है। उनका तो कथन है 'ये साम्यवादी और ये समाजवादी सिर्फ पीडितो की हिमायत लेते हैं। उन्हे विद्रोह करना, झझट करना सिखाते हैं। उनकी सारी नीति हिंसा और प्रतिहिंसा पर आधारित है। वे सबको समान बनाना चाहते हैं, पर प्रेम सौहार्द, विश्वास और सहयोग से नही,

---

१ उदयास्त, आचार्य चतुरसेन, पृ० १८७, तथा मौत के पजे मे जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन, पृ १२०-२१ ।

२ उदयास्त, आचार्य चतुरसेन, पृ १८८, तथा मौत के पजे मे जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन, पृ १२१ ।

३. मौत के पजे में जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ १२२ ।

डंडे के बल पर, मारपीट कर। ऐसा न कभी हुआ न होगा। रूस की सफलता को ये आदर्श मानते हैं। पर अभी तेल की धार देखो। यह सफलता कितने रक्तपात कितने हत्याकांड कितने विप्लव से मिली है। और अभी इसका ओर-छोर क्या है? फिर जहां 'डिक्टेटर' का अबाध शासन है, वहाँ जनतंत्र कैसा ?'[1]

वास्तव में आचार्य जी गांधीवादी सिद्धान्तों के द्वारा ही वास्तविक 'जनतंत्र' सम्भव समझते हैं। कांग्रेस 'जनतंत्र' लाने में इसी कारण से असफल रही, उसने गांधीजी के सिद्धांतों को पूर्णरूप से त्याग दिया था। आचार्य चतुरसेन जी का कथन है 'जनतंत्र तो वह जिसमें जन-जन में शक्ति हो, सहयोग हो, विश्वास हो, आसक्ति हो, अपनापन हो, गहरी एकता हो, जन-जन का जन-जन के प्रति त्याग का परम ध्येय हो।'[2] और यह तभी सम्भव है जब राज्य गांधीवादी सिद्धांतों द्वारा संचालित हो।

युद्ध और शांति

आचार्य चतुरसेन जी ने युद्ध और शांति की समस्या पर भी पर्याप्त गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उन्होंने युद्ध क्यों? युद्ध के परिणाम एवं उसके रोकने के उपायों पर भी विस्तार से विचार किया है। 'वैशाली की नगर वधू' में भगवान बादरायण व्यास और सम्राट बिम्बसार के वार्तालाप द्वारा आचार्य चतुरसेन जी ने राज्यों में परस्पर युद्ध क्यों होते हैं, इस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। सम्राट के प्रश्न पर भगवान् बादरायण का कथन है। 'फिर भी सम्राट, विरक्त सदैव कर्तव्य पर विचार करेगा, और सम्राट अधिकारों पर। ये ही अधिकार युद्ध, रक्तपात और अशांति की जड़ हैं, यद्यपि वे सदैव जनपद हित और व्यवस्था के लिए किये जाते हैं।' इस पर सम्राट का उत्तर है।

'अविनय क्षमा भगवन्, इस युद्ध, रक्तपात और अशांति में भी एक लोकोत्तर कल्याण भावना है। भगवन् भलीभांति जानते हैं कि छोटे स्वतंत्र राज्य छोटे-छोटे स्वार्थों के कारण परस्पर लड़ते रहते हैं, साम्राज्य ही उन्हें शान्त और समृद्ध बनाता है। साम्राज्य में राष्ट्र का बल है, साम्राज्य जनपद की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है।'[3]

---

१. मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह-आचार्य चतुरसेन-पृ. १२२।
२ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह-आचार्य चतुरसेन-पृ १२३।
३. वैशाली की नगर वधू-आचार्य चतुरसेन-पृ २५४।

यहाँ आचार्य चतुरसेन जी ने जहाँ एक ओर युद्ध क्यों इस पर प्रकाश डाला है, वहाँ उसकी अनिवार्यता पर भी विचार किया है। अपने 'उदयास्त' नामक उपन्यास में उन्होंने वर्तमान समस्याओं में युद्ध की अनिवार्यता एवं दो युद्ध जिन परिस्थितियों में हुए पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[1]

आचार्य चतुरसेन जी के युद्ध विषयक विचारों में भी निरंतर विकास होता गया है। आचार्य जी प्रारम्भ में युद्ध के पक्ष में थे। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व (सन् १९३४ में) उन्होंने अपने उपन्यास 'आत्मदाह' में सुधीन्द्र की चिंताधारा प्रस्तुत कर अपना स्वयं का मत देने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है 'सुधीन्द्र बहुत सोचते युद्ध क्या पशु धर्म है ? जैसा कुछ विद्वानों का मत है। अनंत काल से युद्ध होते आये हैं। युद्धों से सदा जातियाँ बनती बिगड़ी रही हैं, युद्ध भविष्य में भी होंगे। सुधीन्द्र ने महात्मा गाँधी के अहिंसातत्व पर बहुत विचार किया था। परन्तु गीता का हिंसा धर्म उनके विचारने का विषय था। परिजनों को मार डालने की युक्तियों पर सुधींद्र विचार किया करते थे। उनका खयाल था कि आज जो हमारे देश के नवयुवक निस्तेज और निराश हैं, देश ढीला और अनेक पापों में फंसा है, उसका कारण एकमात्र यही है कि हमारे देश में सम्मुख युद्ध का प्रोग्राम नहीं। जिस दिन हमारे देश में युवकों के सामने युद्ध का जीवन आ जायेगा, उस दिन देश के युवकों को काम ही काम है। उस दिन उत्साह, आनंद और जीवन की नदी बह जायेगी। सुधीन्द्र उस दिन की काल्पनिक तस्वीर देखते थे, जब देश के वीर युवक सैनिक वेश में व्यवस्था से चलते नजर आयेंगे।'[2] किंतु द्वितीय महायुद्ध के भीषण परिणामों को देख लेने के पश्चात् शीघ्र ही उनकी विचारधारा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ था। 'नगर वधू' तक आते-आते वे युद्ध के विपक्ष में हो चुके थे। सोम और आचार्य शाम्बव्य काश्यप के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है। सोम कहता है 'मैंने सीखा है, ये युद्ध मानवता के प्रतीक नहीं, पशुता के प्रतीक हैं। मनुष्य में ज्यों-ज्यों पशुत्व कम होकर मानवता का विकास होगा वह युद्ध नहीं करेगा। जब वह पूर्ण मानव होगा तो उसमें से युद्ध भावना नष्ट हो जायगी। वह रोषहीन सतृप्त मानव होगा।'[3]

---

१ उदयास्त-आचार्य चतुरसेन-पृ ९४-९५।

२. आत्मदाह-आचार्य चतुरसेन-पृ २५५।

३. वैशाली की नगर वधू-आचार्य चतुरसेन-पृ ८७।

दूसरे महायुद्ध की वीभत्स लीलाएँ देख कर ही आचार्य चतुरसेन जी गांधीवादी सिद्धान्तो की ओर उन्मुख हो गए थे। उन्होने 'उदयास्त' मे आनंद स्वामी के मुख से इसी कारण योरोप के महाराष्ट्रो की निंदा करवाते हुए कहलाया है। 'भलाई इसी मे है कि भारत उनका अनुकरण न करे। गांधी जी ने भारत को सीधी राह दिखाई है। मनुष्य के प्रति मनुष्य का आत्म समर्पण। कर्त्तव्य पर अधिकारो का बलिदान। भारत यदि इस पथ पर चलेगा तो वह विश्व का नेतृत्व करेगा। ससार के मानवो को अभयदान जीवनदान देगा।'[१]

आचार्य चतुरसेन जी प्रथम युद्ध को एक अनिवार्य तत्व मानते थे, किंतु अत मे उन्होने घोषणा कर दी थी 'युद्ध का देवता मर गया। लोहू और लोहा जिनका नारा था वे मरण शरण हुए साम्राज्यवाद का महल ढह गया और उसी के साथ पूँजी सत्ता और अधिकार खत्म हो गए। अब विराट् पुरुष का जन्म हो चुका है, विज्ञान और कला उसे विरासत मे मिले हैं। आओ, हम उसे कर्तव्य की वेदी पर प्रतिष्ठित करके सस्कृति की सम्पदा से सम्पन्न करें, जिससे वह अपने जीवन मे विश्व की सबसे बडी इकाई होकर मनुकुल को अभय करे। आओ पहिले हम युद्ध के देवता को दफन करें।'[२]

आचार्य चतुरसेन जी ने इस युद्ध के देवता को मार डालने का श्रेय 'अणु महास्त्र' को दिया है। उनका कथन है कि इसके प्रयोग होते ही 'युद्ध' शब्द निरर्थक हो गया।' अब मनुष्य के सामने दो ही मार्ग हैं या तो वह अपने अपूर्ण मानव तत्व को एकबारगी ही त्याग कर सम्पूर्ण पशु बन जाये तथा इस, और इस जैसे महास्त्रो से अपना सर्वतोभावेन विध्वस कर ले, या अपने मे व्याप्त पशुत्व को एकबारगी ही निकाल फेंके, और 'पूर्ण पुरुष' होकर विश्व की सम्पदाओ का निर्भय भोग करे। निश्चय ही उसे दूसरा मार्ग चुनना होगा।'[३]

आचार्य चतुरसेन जी ने युद्ध करवाने का श्रेय इन राजनीतिज्ञो के मत्थे मढा है। उन्होंने इसी कारण से अपने 'सग्रास' नामक उपन्यास मे उसकी प्रमुख पात्री प्रतिमा के मुख से स्पष्ट कहलाया है 'पापा कहते हैं कि राजनीतिज्ञों

१. उदयास्त-आचार्य चतुरसेन-पृ. ८२।
२. मौत के पजे मे जिन्दगी की कराह-आचार्य चतुरसेन-पृ. १६२।
३ मौत के पंजे मे जिन्दगी की कराह-आचार्य चतुरसेन-पृ १६३।

के हाथ से जन-जीवन छीन कर वैज्ञानिकों और साहित्यकारों को जन-जीवन का नेतृत्व प्रदान कर दिया जाय। यह शर्म की बात है कि वैज्ञानिक आज फौजी आदेश का यन्त्रवत् पालन कर रहे है।'[१]

'खग्रास' के गूढ पुरुष वास्तव मे आचार्य चतुरसेन जी स्वय हैं। वे ही एक वैज्ञानिक के रूप मे प्रस्तुत उपन्यास मे आए है। जिन दिनो आचार्य चतुरसेन जी प्रस्तुत उपन्यास लिख रहे थे, मैं उनके समीप ही था। मुझसे उन्होंने हँसते हुए कहा था शुभ तुमने जितने भी वैज्ञानिक और राजनीतिक प्रश्न करके मेरे विचारो को कुरेदा था, उन सभी का समाधान मैंने स्वय एक वैज्ञानिक बन कर प्रस्तुत उपन्यास मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। तुमने उसी प्रकार मेरे विचारो को कुरेदा है, जिस प्रकार तिवारी ने उस गूढ पुरुष के विचारो को कुरेदा था।' इतना कहकर आचार्य जी खुल कर हँस पडे थे।

मैं इस विषय के उस वार्तालाप को यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ 'आपने अपना यह उपन्यास किस वस्तु से प्रभावित होकर लिखा ?'

'सन् १९५८ से। यह वर्ष विज्ञान जगत में अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है जैसे मैं तो अब यह मानने लगा हूँ कि बिना विज्ञान और साहित्य का का समन्वय हुए विश्व आगे नही बढ सकता। विज्ञान और साहित्य का समन्वय कैसे हो प्रश्न यह है स्पष्ट है, गद्य का सबसे निखरा रूप है उपन्यास। अतः उपन्यास को माध्यम बनाकर ही विज्ञान को साहित्य के अन्दर लाया जा सकता है और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मैंने यह वैज्ञानिक उपन्यास लिखा है।'

'विज्ञान की यह उन्नति क्या मानवता के लिये हितकारी होगी ?'

'अवश्य किंतु यदि उसका उपयोग मानवता के सृजन के लिए हो विनाश के लिये नहीं। मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि विज्ञान का उपयोग सृजन के कार्यों मे हुआ तो मनुष्य की औसतन आयु बढ जायगी कैंसर, हृदय रोग रक्त चाप और सिफलिस इन चार रोगो का अभी तक कोई निश्चित निदान नही है किंतु मुझे पूर्ण विश्वास है कि अगले दस वर्षो मे विज्ञान इन रोगो पर विजय पा लेगा तब निश्चित ही मनुष्य अकाल मृत्यु से बच सकेगा।' कुछ रुक कर उन्होंने आगे कहा 'परन्तु शर्त यह है कि युद्ध के बादल वैज्ञानिक आविष्कारों पर न छा जायें।'

---

१ खग्रास-आचार्य चतुरसेन-पृ० २७६।

'आपने अपने इस उपन्यास मे एक भारतीय वैज्ञानिक को सर्वोपरि दिखला दिया है क्या यह आपका पक्षपात नही है ?'

'कदापि नहीं, कारण मैंने भारत को शान्ति दूत माना है, और वह भारतीय वैज्ञानिक शान्ति का ही पक्षपाती है उसके समस्त वैज्ञानिक आविष्कार शान्ति के लिये है विनाश के लिये नही इसलिए मैंने उसे सर्वोपरि दिखलाया है। परोक्ष मे मेरा सकेत यह है कि भविष्य मे सर्वोच्च वैज्ञानिक वही होगा जिसके चरण शान्ति की ओर बढेंगे, विनाश की ओर नही। विज्ञान शान्ति मे साधक होगा, बाधक नही, ऐसा मेरा अपना विश्वास है।'[1]

आचार्य चतुरसेन जी विज्ञान और साहित्य को युद्ध और शांति से सदैव सम्बन्धित समझते रहे। उनका कथन था कि विश्व शांति विज्ञान और साहित्य के द्वारा ही सम्भव हो सकेगी। उन्होने विज्ञान के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को ही मान्यता दी है। उनका कथन है 'विज्ञान के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आध्यात्मिक रहा है। भौतिकवादी दृष्टि से ससार जिस सूत्र से बँधा है, उसके अन्त तक पहुँच चुका है। अब इसे या तो कुछ नई कल्याणकारी स्थिति मे आना पडेगा या नष्ट हो जाना होगा।'[2] उनका वैज्ञानिक प्रगति का मापदण्ड भी भिन्न है। वे उस राष्ट्र को सर्वशक्तिशाली मानते हैं जो विज्ञान को मानव मात्र के लिए मृत्युदूत न बनाकर मुक्तिदूत बनाना चाहता है।'[3] तिवारी और वृद्ध पुरुष के पारस्परिक वार्तालाप द्वारा आचार्य चतुरसेन जी ने अपने विज्ञान के भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। यहाँ हम उस वार्तालाप का कुछ अश उद्धृत कर रहे हैं। तिवारी वृद्ध पुरुष से प्रश्न करते हैं क्या हो—

—अच्छा हो भारतवर्ष आपकी सामर्थ्य को जान जाय।'

'क्यों।

'वज्ञान की समर्थ ज्योति भारत मे जगमग है यह दुनियाँ के कितने आदमी जानते हैं।'

'तो इससे क्या ? विज्ञान के सबध मे तो भारतीय दृष्टिकोण विश्व के दृष्टिकोण से निराला है, उसे दुनिया को जानना चाहिए।'

---

१. धर्मयुग, आचार्य चतुरसेन, व्यक्तित्व और विचार, शुभकार्य नाथ कपूर, ९ अगस्त सन् १९५४, पृ. ८

२. खग्रास, आचार्य चतुरसेन, पृ ३१०।

३. खग्रास, आचार्य चतुरसेन, पृ. २७६।

'वह दृष्टिकोण कैसा है ?'

'विज्ञान के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आध्यात्मिक रहा है। भौतिकवादी दृष्टि से ससार जिस सूत्र से बँधा है, उसे अत तक पहुँचा चुका है। अब इसे या तो कुछ नई कल्याणकारी स्थिति मे आना पडेगा या नष्ट हो जाना होगा।'

'परन्तु मैं तो यह समझता हूँ कि भारत वैज्ञानिक प्रगति मे बहुत पिछडा हुआ देश है।'

'केवल तुम ही ऐसा समझते हो यह बात नही। भारत मे भी लोग ऐसा ही समझते हैं। जब वैज्ञानिक प्रगति की बात आगे आती है तो हमारे देश के लोग हीनता का अनुभव करने लगते हैं ?'

'इसका कारण क्या है ?'

'बिल्कुल स्पष्ट है। साधारणतया यह समझा जाता है कि जिस देश के वैज्ञानिक अणुबम और हाईड्रोजन बम बनाना नही जानते, वह प्रगति के हिसाब से बडा देश नही है। विश्व की राजनीतिक तराजू का भी यही मान है। यह बात केवल भारत ही से सम्बन्धित नही है, अन्य देश भी ऐसा ही अनुभव करते है।'

'परतु आप समझते हैं कि उनका यह अनुभव गलत है।' निस्सन्देह विज्ञान के प्रति यह एक गलत दृष्टिकोण है। इससे ससार के बहुत देश गुमराह हो रहे हैं।'

'किंतु आप विज्ञान के विकास को क्या स्वीकार ही नही करना चाहते।'

'क्यो नही। परन्तु मैं समझता हूँ प्राचीन भारतीय मनीषी विज्ञान को सत्य की खोज का साधन मानते थे। मैं तो चाहता हूँ कि भारतीयो के मन मे उनकी मान्यता का समादर हो, तो भारत की प्रगति सही अर्थ मे हो सकती है।'

'कृपा कर अपना अभिप्राय साफ-साफ कहिए।'

'साफ ही सुनो। कोई देश किस हद तक वैज्ञानिक प्रगति कर गया है, इस उसकी ध्वसात्मक शक्ति को देखकर आँकना भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। भारत तो मानव समाज के कल्याण मे सहायक होने की क्षमता होने के अनुसार ही विज्ञान की सफलता आकना चाहता है।'

'तो आप बडे राष्ट्रो की इस वैज्ञानिक प्रगति को तुच्छ समझते है ?'

'मैं उसके प्रति सम्मान की भावना नही रखता। मैं तो यह कहता हूँ कि मानव जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने योग्य कोई छोटा सा भी आविष्कार हो तो उसे इस भयानक विध्वंसात्मक शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझना चाहिए।'

'क्या हमारे देश के वैज्ञानिको का यही मत है ?'

'शायद नही है। वे जानते हैं कि हमे भी राष्ट्रों के समाज मे रहना पड रहा है। वस्तु के मूल्यांकन का जो तरीका सब प्रमुख राष्ट्रों का है वे उससे प्रभावित हैं।'

'आपकी समझ मे यह ठीक नही है ?'

'यह दुर्भाग्य की बात है कि विज्ञान की प्रगति जारी रहे और ससार मे वैज्ञानिक वातावरण न पैदा हो।'

'आप समझते हैं कि ससार का वातावरण वैज्ञानिक नही बन रहा है ?'

'मैं तो समझता हूँ कि ससार का जो वातावरण बन रहा है, वह विज्ञान के लिए द्रोहात्मक है।'

'यह आप किस आधार पर कहते हैं ?'

'ससार मे तनाव बना हुआ है। यह तो तुम भी मानोगे और उसका असर केवल आर्थिक एवं राजनीतिक विचारों को ही नही वरन् विज्ञान की शुद्धता को भी कम करता जा रहा है। विज्ञान की प्रगति की अनिवार्य शर्त है सत्य के प्रति पूर्ण सम्मान।'

'क्या आज की वैज्ञानिक प्रगति मे सत्य के प्रति सम्मान नही है ?'

'ससार मे तनाव रहते पर सत्य के प्रति सम्मान कैसे रह सकता है ?'

'आप समझते हैं कि विज्ञान जन-कल्याणकारी नही है ?'

'यदि उससे साथ छेड़-छाड़ न की जाय तो निश्चय ही विज्ञान मानव जाति का कल्याण ही करेगा। परन्तु विश्व के तनाव के कारण इसका उपयोग राजनीतिक गुट विशेष अथवा सिद्धान्त विशेष के लोगो का स्वार्थ साधने मे होता है और अब तो विज्ञान का यह दुरुपयोग चरम सीमा पर पहुँच चुका है।'

'कैसे ?'

'क्या तुम देख नही रहे—अब तो बड़े कहे जाने वाले राष्ट्र भी विमूढ की भांति यही सोचने लगे हैं कि आगे क्या ? और इसका उत्तर उनके पास नही है।'

'आपके पास है ?'

'हाँ, मैं कह सकता हूँ कि इसका एकमात्र उत्तर है कि विज्ञान की सफलता उसकी मानव समाज के कल्याण मे सहायक होने की क्षमता ही है।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण आचार्य चतुरसेन जी के 'युद्ध और शान्ति' विषयक विचारो पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

आचार्य चतुरसेन जी ने भारत को जो विश्व की तीसरी शक्ति माना है, वह भी विज्ञान के कारण नही, 'शान्ति की शक्ति के कारण। उनका कथन है, सारे ससार का ध्यान इस शक्ति पर केन्द्रित हो रहा है और ससार के जन नायको की नजर मे भारत का स्थान बहुत ऊँचा है। आज बहुत से राष्ट्र भारत को शान्ति का स्तम्भ मानते है। उन्हे विश्वास है कि भारत सब देशो की प्रगति और स्वाधीनता का इच्छुक है। उसने अपनी स्वाधीनता के अल्पकालीन समय मे यह प्रमाणित किया है कि यदि सहिष्णुता और पारस्परिक सद्भावना से काम लिया जाय तो सब विभिन्न विचारधाराएँ साथ साथ जीवित रह सकती हैं। यह कितनी बडी बात है कि भारत सभी समस्याओ को लोकतन्त्रात्मक विधियो से सुलझाने की पद्धति अपना रहा है।[2]

आचार्य चतुरसेन जी ने यह स्वीकार किया है कि भारत के समक्ष केवल शान्ति का ही मार्ग है, युद्ध से वह सदैव के लिए नष्ट हो जावेगा। उन्होने स्वय कहा है पर हमारे (भारत के) पास न काफी युद्ध सामग्री है, न हमारी स्थिति ही इस योग्य है कि हम लडाई के धक्के सम्हाल सके। हम गरीब हैं। हमारी आजादी बच्चा है। हम तो शान्ति की गोद मे ही पनप सकते हैं, इसी से वे इस ससार मे शान्ति स्थापना के कार्य मे दौड धूप कर रहे हैं। क्योकि वह जानते हैं लडाई कही भी छिडे हमारे देश को वह तबाह किए बिना न छोडेगी।[3]

निश्चय ही ये विचार बडे ही उपयुक्त और उपयोगी है।

अन्त मे आचार्य चतुरसेन जी ने यह भी स्वीकार किया है कि यदि विश्व भारत के शान्ति मार्ग का अनुगमन नही करता तो उसे विवश होकर इस मार्ग का अनुकरण करना पडेगा, अन्यथा उसे युद्ध की भयानक ज्वाला मे जलना

---

१. खग्रास, आचार्य चतुरसेन, पृ ३१० से ३१२ तक।

२. खग्रास, आचार्य चतुरसेन, पृ. २७३।

३. उदयास्त, आचार्य चतुरसेन, पृ. २०१।

होगा। आचार्य चतुरसेन जी अन्त मे घोषणा करते हुए कहते है परन्तु 'अणु महास्त्र' का आज मानव मस्तिष्क पर बिल्कुल ही नया और अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है, इससे वह रोष को दबाने की नहीं, अपने से दूर निकाल फेंकने की सोचने लगा है। उसकी चेतना मे स्वच्छ विचारधारा का उदय हुआ है, और अब उसके 'पूर्ण पुरुष' होने का युग आ गया है। इस युग मे वह सर्वथा रोषहीन होकर विचार सामर्थ्य से अपना सगठन करेगा। बडे-बडे क्रुद्धजन निरर्थक फूत्कार कर, आकण्ठ रक्त स्नान कर मरणशरण हुए। 'लोहू और लोहा' जिनका नारा था, उनकी बेहद दुर्दशा हो गई। मानव रोष की निस्सारता विश्व ने देख ली। जातियो के भाग्य पलट गए। विश्व रेखायें बदल गईं। इन सबसे मानुष ने अब चार बातें सीखी हैं —

१ विश्व के सब मनुष्य एक से हैं। वे परस्पर भाई-भाई हैं, समान हैं, अभय हैं, और विश्व की सम्पदाओ के अधिपति है।

२ मानव विश्व की सबसे बड़ी इकाई है। उसकी पूजा, आत्मनिष्ठा, निर्भय विश्व विचरण तथा भोग सामर्थ्य कविजनगेय वस्तु है।

३ जगत सत्य है, भूत सम्पदा मानव उत्कर्ष का साधन है।

४. 'कला' और 'विज्ञान' मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क है। दोनो के विचार कौशल से एकीभूत करके उसे मानव विभूति वर्धन मे लगाना चाहिये, जिससे मनुष्य 'रोषहीन' हो।[1]

आचार्य चतुरसेन जी के इस निष्कर्ष से भी स्पष्ट हो जाता है कि वह मार्क्सवादी सिद्धान्तो की अपेक्षाकृत गाधीवादी सिद्धातो की ओर अधिक उन्मुख हैं।

जन संख्या की समस्या

आज की बढती हुई जन सख्या की ओर भी आचार्य चतुरसेन जी का ध्यान गया है। उनका कथन है आज रूस और अमेरिका खतरनाक बम बनाने मे लगे हैं परन्तु विश्व का सबसे बडा खतरनाक बम जन सख्या का प्राधिक्य है जिसे ससार भर के मनुष्य तैयार करने मे जुटे हैं लाखो व्यक्ति भोजन की खोज मे रहते हैं।[2] इसी कारण से उन्होने 'सतति निरोध' के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है।

---

१. मौत के पजे मे जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन, पृ १६४-६५।

२ 'खग्रास' आचार्य चतुरसेन, पृ. २७५।

इसके अतिरिक्त उन्होंने भारत के साम्यवादी दल[1], चीन समस्या[2], कश्मीर समस्या[3], एवं भारत मे मुसलमानो की स्थिति[4] पर भी विचार किया है। 'उदयास्त' और 'खग्रास' नामक उपन्यासो मे उनका विचार क्षेत्र केवल भारत ही न रहकर विश्व हो गया है। अत उसमे उन्होने विश्व की प्रमुख राजनैतिक समस्याओ पर भी प्रकाश डाला है।

इससे आचार्य चतुरसेन जी के बहुमुखी जागरूक व्यक्तित्व का प्रमाण मिल जाता है।

सामाजिक विचार

स्त्री-पुरुष

आचार्य चतुरसेन जी ने नारी तत्व पर, पुरुष और स्त्री के सम्बध पर, नारी के महत्व पर, उसकी स्वाधीनता और शिक्षा पर, उसके धर्म और उसके कर्तव्य क्षेत्र पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया है। उनकी लगभग सभी प्रधान रचनाओ मे उनकी नारी भावना अत्यन प्रखर रही है। 'नगर बधू' की अम्बपाली, सोमनाथ, की शोभना' और 'चौला', 'गोली' की चम्पा, 'उदयास्त' की प्रमिला, 'अपराजिता' की राज, 'अदल बदल' की विमला, 'आभा' की आभा, दो बुत' की माया और रेखा के बल पर ही यह उपन्यास इतने सशक्त बन सके हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के नारी विषयक विचार भी बड़े ही क्रातिकारी हैं। उन्होंने स्त्री को पुरुष की जिंदा दौलत कहा है।[5] साथ ही उनका कथन है कि नारी को 'रत्न' तो अवश्य कहा गया है किन्तु उसका मूल्य इन पुरुषो की दृष्टि मे कानी कौडी के बराबर नही है। क्योकि वह हीरे मोती के बराबर दुर्लभ नही है। सुलभ है। पानी की भाँति अति सुलभ। किंतु यदि स्त्रियाँ दुर्लभ हो जायँ तभी वास्तविक मूल्य को जाना जा सकेगा।'[6]

---

१. 'उदयास्त' आचार्य चतुरसेन, पृ १४९-१५३।
२. 'खग्रास' आचार्य चतुरसेन, पृ. १४३-१४४।
३ 'खग्रास' आचार्य चतुरसेन, पृ. १४४-१४७।
४ 'धर्मयुग' आचार्य चतुरसेन पृ. १७०-७१।
५ उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ ५२ मौत के पजे मे जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृ १०३।
६. उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ. ५२-५३।

अपनी कहानी 'सोने की पत्नी' मे उन्होंने अपने इन्ही विचारो की पुष्टि की है। किंतु नारी के विषय मे उनका यह स्वयं का दृष्टिकोण न था, यह तो पूंजीवादी समाज की नारी विषयक धारणा है। आचार्य चतुरसेन जी ने नारी के जिस रूप को आदर्श माना है, वह निश्चित ही बडा भव्य है। उन्होंने मातृत्व को नारी की चरम सार्थकता माना है। प्रेमचन्द की भांति उनका भी यह विश्वास था कि मातृत्व के अतिरिक्त नारी के और जो रूप हैं, वे मातृत्व के केवल उपक्रम हैं, और जो रूप अपने उद्देश्य से विरत हो जाते हैं, वे नारी के आत्म सौंदर्य को कुरूप कर देते हैं। पुरुष नारी के इसी रूप का पुजारी है क्योंकि यही रूप उसे कुपथो से बचाकर जीवन कल्याण की दिशा मे ले जाता है।' अपनी कहानी' 'दूध की धार' मे उन्होंने अपने इन्ही विचारो को प्रधानता दी है।

वासना लोलुप पुरुष 'नारी' के शरीर को ब्याज मानते हैं। उनकी दृष्टि म प्रेम की पूंजी तभी सार्थक होती है, जब ब्याज मिलता रहे।[1] किंतु आचार्य चतुरसेन जी का विश्वास है कि 'आज की स्त्री पुरुष की सपत्ति—परिग्रह बनकर नही रह सकती। वह पुरुष की सच्चे अर्थो मे सगिनी, समभागिनी बनकर रहेगी। पुरुष यदि स्त्री के इस प्राप्तव्य को देने मे यदि आज आना कानी करता है तो निस्सदेह उसे स्त्रियो से ऐसी खूनी लडाई लडनी पडेगी जैसा आज तक मनुष्य-इतिहास मे मनुष्य ने इस स्त्री सम्पत्ति को अपहरण करने के लिए भी युग-युग मे कभी नही लडी। फिर भी उसकी जीत नही होगी। जीत होगी स्त्री की यह मैं अभी से कहे देता हूं। और पुरुषो को खासकर पतियो को यह नेक सलाह देता हूं कि वे अब केवल परिणय-प्रेम और सहृदयता से स्त्री को अपनी जीवन सगिनी बनाना सीख लें, जिससे उनका घर बसा रहे।[2] आचार्य चतुरसेन जी की यह भविष्यवाणी नारी के महत्व और पुरुष के सबंध को भली भांति स्पष्ट करती है।

स्त्री-पुरुष संबंध

स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बंध के विषय मे भी आचार्य चतुरसेन जी का मत है 'स्त्री पति की अर्धांगिनी और जीवन सगिनी है। वह भी उसी की भांति उस घर की स्वामिनी है जैसे उसका पति। दोनो परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, स्त्री न बच्चा पैदा करने या पुरुषो को भोगने की वस्तु है, न

१. आभा आचार्य चतुरसेन पृ. ४४।
२. 'अदल बदल' आचार्य चतुरसेन भूमिका नए युग का सबसे कठिन प्रश्न।

आज्ञाकारिणी दासी है, ऐसा मेरा मन्तव्य है ।'[1] अपराजिता की राज अपने श्वसुर से, अपने पति से इन्ही विचारो को लेकर जीवन पर्यन्त सघर्ष रत रही थी ।

जहाँ तक नारी और पुरुष के सबध का और उसकी श्रेष्ठता का प्रश्न है, आचार्य चतुरसेन नारी को पुरुष से कही श्रेष्ठ मानते हैं। अपने 'अदल बदल' नामक उपन्यास मे उन्होने डाक्टर, सेठ जी एव मालती देवी के वार्तालाप द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम प्रस्तुत वार्तालाप का कुछ अश उद्धृत कर रहे है ।

मालती कहती है 'परन्तु पुरुष के शरीर मे बल है ।'

उत्तर मिलता है 'तो स्त्री के हृदय मे शक्ति है "

'फिर भी पुरुष सदा से समाज का स्वामी रहा है ।'

'पर समाज की निर्मातृ देवी स्त्री है। पुरुष, पुरुष है, स्त्री देवी है। पुरुष मे प्राण शक्ति की न्यूनता है। पुरुष मे सामर्थ्य का व्यय है स्त्री मे आय। इसी से नारी शील सस्कार की जितनी वश वर्तिनी है उतना पुरुष नही ।'

'यह कैसे ।'

'आप देखते नही कि नारी जिसे एक बार स्पर्श करती है उसे अपने मे मिला लेती है अपनापन खोकर ।'

'पुरुष तो केवल जानना और देखना चाहता है, अपनाना नही ।'

'नारी भी तो ।'

'नारी निष्ठा के कारण वस्तु ससर्ग मे आकर लिप्त हो जाती है, जबकि पुरुष उससे अलग रहता है ।

'तो इसी से क्या पुरुष नारी से हीन हो गया ?'

'क्यो नही, जहाँ तक प्रतिष्ठा का सवाल है, नारी पुरुष से आगे है ।'

'कहाँ ?'

'अपने सारे जीवन मे, नारी की प्रतिष्ठा प्राणो मे है पुरुष की विचारो मे। इसलिए नारी सक्रिय है और पुरुष निष्क्रिय। इसी से पुरुष भगवान का दास है परन्तु नारी पत्नी है। पुरुष भक्ति देता है स्त्री प्रेम। पुरुष विश्व को केन्द्र मानकर आत्मप्रतिष्ठा की चेष्टा करता है और स्त्री आत्मा को केंद्र मानकर विश्व प्रतिष्ठा करती है। इसी से समाज रचना और परिपालन मे वही प्रमुख है।'

---

१. अपराजिता आचार्य चतुरसेन पृ. ६४ ।

'फिर भी वह पुरुष पर आश्रित है।

'यह कृत्रिम है। वास्तव में नारी केन्द्रमुखी शक्ति है और पुरुष केन्द्र विमुखी। नारी संसर्ग से ही पुरुष सभ्य बनता है। नारी से ही धर्म सदा टिका है। एक अग्नि है दूसरा घृत। अग्नि में घृत की आहुति पड़ने ही से यज्ञ सम्पन्न होता है। स्त्री पुरुष का जब संयोग होता है तब उसे यज्ञ धर्म कहते हैं, सच्चे यज्ञ का यही स्वरूप है।'

'परन्तु सृष्टि कर्ता पुरुष है।'

पुरुष मन की सृष्टि करता है, नारी देह की सृष्टि करती है। पुरुष जीवात्मा को जगा सकता है पर उसके आकार की रचना नारी ही करती है।

'पुरुष हिरण्य गर्भ है।'

'नारी विराट प्रकृति है।'

'पुरुष स्वर्ग है।'

'नारी पृथ्वी'

'पुरुष ताप शक्ति का रूप है।'

'नारी यज्ञ शक्ति है।

'संक्षेप में, समाज के दो समान रूप हैं, एक नर दूसरा नारी। दोनों एक वस्तु के दो रूप हैं। दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण वस्तु बनती है।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चतुरसेन जी ने पुरुष और नारी के सम्बंधों, प्रकृतियों तथा कार्यों का सूक्ष्म और सत्य विवेचन किया है।

नारी का कर्तव्य एवं कार्यक्षेत्र

नारी के कर्तव्य एवं उनके कार्यक्षेत्र पर भी आचार्य चतुरसेन जी ने कई स्थानों पर विचार किया है। वे नारी जागरण के पक्षपाती थे, नारी समानता के समर्थक थे किंतु उसकी स्वच्छन्दता के वे कभी समर्थक न हो सके। अपनी कहानी 'युगलांगुलीय' में उन्होंने दो भिन्न विचारों की युवतियों का चित्रण करके अपनी इसी विचारधारा की पुष्टि की है। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित नारी को उन्होंने क्षीण कलेवरा स्रोतस्विनी की और भारतीय नारी को पुष्पिता पुष्करणी की उपमा दी है। उनका कथन है पाश्चात्य नारी, निरन्तर प्रवाहित अनवरत अग्रसर होती हुई है तो भारतीय नारी अपने घर के आंगन में बंद और पुष्पिता है। आचार्य चतुरसेन जी ने परिवार के लिए भारतीय नारी को ही सार्थक माना है। उनका कथन है 'भारतीय नारी परतन्त्र नहीं स्वतंत्र

१ अदल बदल आचार्य चतुरसेन पृ. ८१ से ८३ तक।

है। उसको किसी ने बाँधकर नहीं रखा है, वह तो स्वय ही स्वेच्छा से कर्म बधन मे बध गई है। परतु उसका यह बन्धन साधारण नही है। उसने ससार की प्रलयकारिणी शक्ति को अपने साथ बांध रखा है। दूसरे शब्दो मे नारी शयनगृह का दीप है जो स्वय जलकर स्निग्ध प्रकाश प्रदान करता है। उसका प्रधान कार्य है आनन्द दान करना। यदि नारी सगीत और कविता की भांति अपना अस्तित्व सम्पूर्ण सौंदर्यमय बना डाले तो उसके जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो गया। वास्तव म नारी मानव समाज की मर्मस्थली है।'[१] इसी कारण नारी के कार्यक्षेत्र को उन्होने कभी भी सकुचित नही माना। उनका कथन है 'मनुष्य प्रतिदिन कर्म चक्र से कितनी धूल गर्द उड़ाते हैं, कितनी मलिनता बखेरते हैं, उसे तो कार्य कुशल हाथो से नारी ही प्रतिक्षण साफ करती है। फिर उसका कार्यक्षेत्र सकीर्ण कैसे हुआ। मानव ससार की सारी ही व्याधियाँ भूख-प्यास, शान्ति और रोग-शोक ये सभी तो उसी के कार्य क्षेत्र मे उत्पात मचाते हैं, जिनका शमन धैर्यमयी लोकवत्सला नारी ही तो प्रतिदिन करती है।

इस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी ने नारी के कार्यक्षेत्र को व्यापक तो बतलाया है, किंतु उनका विश्वास था कि यह प्रिय लगने वाले सिद्धात बन्धन मुक्त आधुनिकाओ को मोहने मे सर्वथा असमर्थ रहेंगे, कारण आज की स्त्रियो मे से मातृत्व और विवाह दायित्व की भावना नष्ट हो रही है। और पुरुषो के प्रति घृणा के भाव उनमें उत्पन्न होते आ रहे हैं। परिणामस्वरूप समाज मे यौन अनाचार और नैतिक अराजकता व्याप्त होती जा रही है। जो समाज के लिए एक भयानक अभिशाप है। इसके लिए आचाय चतुरसेन जी पूजीवादी समाज को ही उत्तरदायी ठहराते हैं। इसीलिए उन्होने भारतीय स्त्रियो के लिए एक तीसरा मार्ग भी खोज निकाला है। उनका यह तीसरा मार्ग है सर्वोदय का। उनका कथन है 'समाज की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करके एक ऐसा सुश्रृखल उत्पादन प्रणाली का सगठन किया जाय जिसका लक्ष्य सर्वोदय हो। उसमे पुरुषों के साथ स्त्रियो का भी सामाजिक उत्पादन मे महत्वपूर्ण भाग हो। वैवाहिक और पारिवारिक जीवन के दायित्व को सम्भालने के लिए स्त्रियो को वेतन अवकाश यथेष्ट मिले। और मातृत्व का सुचारु रूप से सम्पादन करने के लिए सब सम्भव सुविधाएँ उन्हे नि शुल्क प्राप्त हो। ऐसी अवस्था मे नारी पुरुष की सही अर्थो म जीवन सगिनी बन सकती है। उसे मातृत्व का दायित्व लेने मे उत्साह

१ मेरी प्रिय कहानियाँ युगलागुलीय पृ २९८-९९।

होगा और वह विकृत आधुनिका भी न बन पाएगी।[1] इतना ही नहीं वे साम्यवादी ढग से नहीं सर्वोदय की प्रणाली से 'सम्पूर्ण गृह कार्य को भी एक सार्वजनिक उद्योग मे परिणत कर देना चाहते हैं। जिससे स्त्रियाँ गृहकार्य की तुच्छता, एक रसता तथा श्रमभार से ऊब न उठें। और विवाह बंधन और मातृत्व उन पर तनिक भी बोझिल न होने पाए।[2] इस परिस्थिति में नारी निश्चित रूप से मुक्त भाव से आत्म विकास प्राप्त कर सकती है।

नारी स्वतंत्रता एवं समानाधिकार

जहाँ तक नारी स्वतंत्रता एव समानाधिकार का प्रश्न है, आचार्य चतुर सेन जी एक सीमा तक इसके पक्ष मे थे। उनका कथन था 'वास्तव मे नारी की प्रतिद्वन्द्विता पुरुषो से राजनीतिक नहीं है। वह तो केवल ठोस आर्थिक समानाधिकार चाहती है। आदिमकाल की नारी सामाजिक उत्पादन मे खुलकर भाग ले सकती थी। आज की नारी भी तभी सच्चे अर्थों मे समाज की स्वतंत्र अंग बन सकेगी, जब वह, आधुनिक उत्पादन प्रणाली मे अपना महत्व-पूर्ण भाग प्राप्त कर सकेगी। तभी नारी माता, पत्नी और सखी का पद सार्थक कर सकेगी।'[3]

प्रेम, विवाह एवं वासना

प्रेम को आचार्य चतुरसेन जी ससार की सर्वाधिक पवित्र वस्तु मानते हैं। वे प्रेम को आत्मा का भोजन मानते हैं। उनका विचार था कि प्रेम के बिना जीवन निरर्थक है। वे प्रेम हीन जीवन को उस रात के समान मानते थे, जिनमे चाँद हो ही नहीं।'[4] वे प्रेम को चेतना का सबसे कोमल उद्वेग मानते थे।'[5] इसी कारण से प्रेम को शाश्वत एव जीवन से भी स्थायी वस्तु कहा करते थे।[6]

प्रेम की परिभाषा करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने एक स्थान पर लिखा है 'प्रेम क्या है—इसे बहुत कम आदमी जानते हैं। मन मे आत्मा को विभोर

---

१ उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ- ६३।
२. उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ- ६३।
३. उदयास्त-आचार्य चतुरसेन- पृ ६४।
४. उदयास्त-आचार्य चतुरसेन-पृ. १११।
५. पत्थर युग के दो बुत-आचार्य चतुरसेन-पृ. १०२।
६. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ. ८५।

कर देने वाली कुछ भावनाएँ-सी उठती हैं—वह प्रेम है। प्रेमानुभूति के कारण मनुष्य भौतिक जीवन से बहुत पृथक हो जाता है।'[1] अपनी प्रेम की इस व्याख्या को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने एक स्थान पर कहा है—'जिसके लिए अधिक से अधिक त्याग किया जाय उसके लिए अधिक से अधिक प्रेम करना कहा जायगा। त्याग का ही सात्विक नाम प्रेम है, और प्रेम की क्रिया का नाम प्यार।'[2] प्यार हृदय का मुख्य व्यापार है। परन्तु चूंकि हृदय के दो अस्तित्व हैं—एक शरीर, दूसरी आत्मा, इसलिए उसके प्यार के भी दो ही रूप हैं। शरीर-प्यार तो शरीर का केंद्र चाहता ही है, परन्तु आध्यात्म-प्यार आत्मा से सीधा सम्बन्ध रखता है। यह बात तो सच है कि आध्यात्म प्रेम ही यथार्थ प्यार है। पर प्रकृति का स्वरूप ही यह है कि आध्यात्म-प्यार के लिए शरीर प्यार का अवलम्ब चाहिए ही।'[3] और इसी शरीर प्यार के अवलम्बन के लिए विवाह का आश्रय लेना श्रेयस्कर समझा जाता है। प्रेम की भाँति 'विवाह भी एक आत्मिक संबंध है और शारीरिक भी। वैवाहिक जीवन की सार्थकता तभी है जब शारीरिक संबंध आत्मिक संबंध में परिणत हो जाए। स्त्री पुरुष और पति पत्नी का साहचर्य तभी पूरा हो सकता है।'[4] विवाह के बाद नर और नारी, पति और पत्नी बन जाते हैं। भले ही उस समय तक दोनों में कोई भी आकर्षण उदित न हो, पर वह अर्ध चेतन मस्तिष्क में उपस्थित रहता है। और ज्यों ही दोनों नर-नारी पति-पत्नी के रूप में एकत्र होते हैं, यह आकर्षण उदग्र होता है, परन्तु एकाकी नहीं रहने पाता, नर-नारी का सम्पर्क उसे सम्पूर्ण शारीरिक रूप देता है। पर पति पत्नी का संबंध उसे आध्यात्मिक रूप देता है। इसी से नर-नारी जब पति-पत्नी की भाँति इस प्रेमाकर्षण में आबद्ध होते हैं, तब वह ऊपर से शारीरिक और अभ्यन्तर से आध्यात्मिक होता है। इसी से वह समुद्र की भाँति शान्त, गंगा की लहरों की भाँति पवित्र और शीतल, एवं वसन्त की सुषमा की भाँति प्राणोत्तेजक हो जाता है और वास्तव में जीवन का वही चरमोत्कर्ष बन जाता है। परन्तु वही आकर्षण जब पति पत्नी की मर्यादा से रहित नर नारी के बीच स्थापित हो जाता है, तब उसमें न संयम का बंधन होता है,

---

१. बगुला [redacted] पंख-आचार्य चतुरसेन-पृ. १५९।
२. आत्मदाह-अचार्य चतुरसेन-पृ. ३०४।
३ आत्मदाह-आचार्य चतुरसेन-पृ १७९।
४. पत्थर युग के दो बुत-आचार्य चतुरसेन पृ १००।

न आध्यात्मिकता का पुट। वह उदग्र शारीरिक होता है, और कभी-कभी वह पाशविकता की सीमा को भी लाँघ जाता है।'[1] इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी विवाह को अनिवार्य मानते हैं। प्रेम के नाम पर आँख मिचौनी का खतरनाक खेल खेलना वे पसंद नहीं करते।

आचार्य चतुरसेन जी प्रेम एवं विवाह में संयम को एक अनिवार्य तत्व समझते हैं। उनका विश्वास था 'जहाँ स्त्री शरीर पुरुष शरीर की दासता करते हैं, जहाँ इच्छा होते ही दो शरीर वासना और कामना की निर्बाध पूर्ति करती है, जहाँ प्यार की प्रतिष्ठा नहीं है, जहाँ केवल वासना ही वासना है, वहाँ प्यार की पीड़ा के मिठास की अनुभूति कैसे हो सकती है।'[2] उनकी विचार-धारा आभा के निम्न वाक्यों से और स्पष्ट हो जाती है।' यदि हम प्रेम के स्वरूप को ठीक तौर पर समझना चाहते हैं, तो हमें उसमें से उन तमाम बाहरी शारीरिक आकांक्षाओं को निकाल बाहर करना चाहिए। मैं तो यह समझती हूँ कि प्रेम का आधार यदि शारीरिक वासनाएँ ही हो, तो वह प्रेम संसार की सारी ही आपदाओं का मूल कारण हो सकता है। स्त्री हो चाहे पुरुष, उसमें विलास-भावना एक शराबी की वह उत्सुक और अशान्त अवस्था है जिसमें वह नित्य नवीनताओं को खोजता है, पर तृप्त नहीं हो सकता।'[3] आचार्य चतुरसेन जी वासना को विशुद्ध शारीरिक ही मानते हैं। इसीलिए उनका कथन है कि वासना की पूर्ति का भी एक मार्ग हमें चुनना है। और वह मार्ग संयम का सहयोग ही है। संयम के सहयोग से वासना सीमित और स्वस्थ रूप में रहती है।'[4] उनका विश्वास था 'कि वासना और संयम का संघर्ष विवाह में ही समाप्त होता है।'[5]

केवल ऐन्द्रिय प्रेम-वासना को वे उचित नहीं समझते थे। उनका कथन था कि यह प्रेम-वासना मूढ़ विलासिता को बढ़ाती है, जिससे पुरुष निकम्मा और स्त्री दुर्बल हो जाती है।'[6] इसीलिए इसे उन्होंने पतन का सीधा मार्ग माना है।[7] उनकी आभा रमेश से कहती है 'काव्य और साहित्य में भले ही

१. आभा-आचार्य चतुरसेन पृ ६२-६३।
२ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन-पृ ४४४।
३. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ. ६६।
४. आभा-आचार्य चतुरसेन पृ. ६६।
५. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ६६।
६. आभा-आचार्य चतुरसेन पृ ५६।
७. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ५६।

स्त्री पुरुष के इस प्रेम व्यापार को आनद के सर्वोच्च शिखर पर बैठा दिया जाय, परतु यथार्थ मे इस प्रेम को छक कर भोगा नही जा सकता। शीघ्र ही अजीर्ण हो जाने का भय है।'[१] साथ ही यह प्रेम मनुष्य के किसी कार्य मे कभी सहायता नही पहुँचाता, विघ्न बहुत करता है। कभी-कभी तो जीवन इससे दूभर हो जाता है। बहुधा भारी बधन देता है।'[२] इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी ने प्रेम से सयम को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया है। अन्त मे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सयम और प्रेम दोनों मिलकर विवाह सस्था को जन्म देते हैं। वैवाहिक जीवन को अमर बनाते है। विवाह की मर्यादा और प्रतिज्ञा का भग सयम का उल्लघन है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्रेम ने सयम का साथ छोड दिया और वासना का पल्ला पकड लिया, निस्सदेह, यह न समाज के लिए कल्याणकारी है न व्यक्ति के लिए।[३] वे सयम को जीवन का पथ प्रदर्शक मानते है।'[४] उनका दृढ विश्वास था कि यदि प्रेम का सयम से अटूट गठबधन नही हुआ, तो प्रेम पतन को जायज और आनददाता के रूप मे उपस्थित करेगा।'[५] इसीलिए उन्होंने माना है कि प्रेम का सयम से अटूट सबध वैवाहिक बधन है।'[६] आचार्य चतुरसेन जी का दृढ विश्वास था कि विवाहित होने पर नर और नारी, नर और नारी नही रहते पति और पत्नी बन जाते हैं। फिर वे एक साथ रहे, या अलग अलग। वे अपने सतीत्व और पत्नीत्व को नर नारी से पृथक नही कर सकते।'[७] इसी कारण से उन्होंने नारी का रक्षा कवच पत्नीत्व को माना है। उन्होने आभा के मुख से कहलाया है 'पत्नीत्व सर्वत्र नारी की रक्षा करता है। उसका नारीत्व कलुषित होने पर भी पत्नीत्व शिशिर-वत-धौत-पद्म सा बना रहता है।[८]

आचार्य चतुरसेन जी विवाह से पूर्व के प्रेम को उचित नही समझते। अपने उपन्यास 'नीलमणि' मे विनय के मुख से स्पष्ट कहलाया 'पहले प्रेम करके

१. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ. ५६।
२. आभा आचार्य चतुरसेन-पृ ५६-५७।
३. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ. ५७।
४. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ. ५७।
५. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ. ५९।
६ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ. ५९।
७. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ १२१।
८. आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ. १२१।

पीछे विवाह करता, यह सिद्धात सुनने मे ही अच्छा है, पर यह सर्वथा अव्यवहार्य है। यदि इस पर अमल किया जायगा तो जीवन की पवित्रता, सतीत्व, पत्नी होने की योग्यता सब कुछ खतरे मे पड जायगी। पुरुष भी गिरने से बच नही सकता, पर स्त्री की जैसी सारे ससार मे सामाजिक स्थिति है, उससे स्त्री का सर्वनाश होने का इस सिद्धात से भारी भय है।"[1] इसी कारण से वह युवक एवं युवती के स्वय के निर्वाचन से माता पिता के वर वधू के निर्वाचन को अधिक श्रेष्ठ समझते है।[2] सामाजिक दृष्टि से यह अधिक पारिवारिक सुख और सगठन का आधार बन रहा है।

सफल दाम्पत्य जीवन

आचार्य चतुरसेन जी ने केवल नर नारी अथवा पति पत्नी के सम्बध एव कर्तव्य पर ही विचार नही किया है, वरन् सफल दाम्पत्य जीवन के लिए किन किन गुणो की आवश्यकता है इस ओर भी सकेत किया है। आचार्य चतुरसेन ने वैवाहिक जीवन की बहुत कुछ सफलता पति पत्नी के सम सभोग पर मानी है। उनका कथन है पति पत्नी सम्बन्ध से घर का कुछ भी सम्बध नही है। विवाह का मूलाधार 'हृदय' है 'घर नही।

आचार्य चतुरसेन जी ने स्त्री के लिए कोमलता और पुरुष के लिए कठोरता के गुण आवश्यक माने हैं। आभा अपने पति अनिल से पुरुष के लिए कुछ आवश्यक गुण बतलाते हुए कहती है "तुममे कुछ त्रुटिया है जो तुममे नहीं होनी चाहिए थी। प्रथम तो यह कि तुममे चरित्र की कठोरता नही है, जिसका किसी भी पुरुष मे होना अत्यन्त आवश्यक है। मेरा मतलब यह कि तुम कमजोर प्रकृति के आदमी हो। मर्द की कठोरता के स्थान पर तुममे स्त्रियोचित कोमलता है। इसके अतिरिक्त तुम इतने आदर्शवादी हो कि यह नही देख सकते कि तुम उस दुनिया मे रह रहे हो जहा स्वार्थसिद्धि, और अपने उद्देश्यो की सिद्धि ही प्रधान है। इसी से तुम आदर्शो की पूजा करते रहते हो। और चतुर मित्रो से दुनिया की घुडदौड मे पिछड जाते हो। तुम्हारी सरल प्रकृति से वे लाभ उठाते है। तुम्हारी ही जिम्मेदारी पर तुम्हारे आत्म सम्मान की भावना को विकसित कर, तुम्हे सारहीन स्वप्नो मे लीन कर वे आगे बढ जाते हैं। तुम दूसरो को भी अपना सा सच्चा और सरल समझते हो। तुममे जितनी विशेषताएँ हैं, इसकी आधी विशेषताएँ किसी भी आदमी को

---

१. नीलमणि-आचार्य चतुरसेन-पृ १०८।

२. नीलमणि-आचार्य चतुरसेन-पृ. १०६।

नरपुंगव बना सकती हैं। परन्तु तुम्हें इन्होंने असफल पुरुष बनाया है। तुम सरल हृदय और सद्भावना के व्यक्ति हो तुम त्यागी भी हो विनम्र भी हो अप्रिय बात किसी से कह नहीं सकते। इसी से तुम संकट में आसानी से फँस जाते हो (वास्तव में) पुरुषोचित कठोरता का अभाव और प्रकृति की स्वाभाविक कोमलता-बस, ये दो सद्गुण ही तुम्हारे ऊपर संकट लाने वाले दोष हैं। पुरुष के अपने लिए ये त्रुटियाँ भले ही हानिकर न हों—पर पति के लिए ये त्रुटियाँ बहुधा घातक हो उठती हैं। कारण स्त्री पुरुष दोनों अपने अपने कार्य में अपूर्ण और परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए एक दूसरे के गुण दोष का सीधा प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है, और कभी कभी उसके परिणाम बड़े ही खतरनाक हो जाते हैं। पति और पत्नी दोनों ही को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि एक की पूर्ति के लिए ही दूसरे की सृष्टि हुई है। और स्त्री से पुरुष उतना ही भिन्न है जितना पृथ्वी से आकाश। स्त्रियाँ स्वयं कोमल प्रवृत्ति, सरल स्वभाव, किंतु उच्चाभिलाषिणी होती हैं। वे पुरुषों में कोमलता बर्दाश्त नहीं कर सकतीं। स्त्री स्वयं कोमल और कमजोर होने के कारण पुरुष में कठोरता, दृढ़ता और कभी-कभी पाशविक शक्ति की कामना करती है। पुरुष की इन्हीं विशेषताओं का स्त्री के हृदय में मान है। स्त्री पुरुष को अपने जीवन का अवलम्ब मानती है। इसलिए वह पति में बल ही बल चाहती है—शारीरिक बल, मानसिक बल, और फिर चरित्र बल। किन्तु इन सबसे अधिक विचार की दृढ़ता। स्त्री धन दौलत, गहने, जर जवाहर और सारे संसार के वैभवों को केवल एक हृदयहीन पाशविक शक्ति पर न्योछावर कर देती है। उसे संसार के ऐश्वर्य और आदर्शवाद के खिलौने नहीं चाहिए, उसे चाहिए पहाड़ की महत्ता और शक्ति, जिसमें वह कदम चूमने के लिए प्राण तक दे देती है।'[1] अन्त में नारी के विषय में अपनी सम्मति देती हुई आभा कहती है 'नारी तो नर के मन में प्यार और मद भर देती है। वह जिसे प्यार करती है, उसमें अपनी रक्षा करने और उसे अपना बनाए रखने की क्षमता और शक्ति चाहती है। पुरुषों के दयाभाव और सद्व्यवहार की उसके मन में रत्ती भर भी कीमत नहीं, उसे सिद्ध पुरुष चाहिए, पर्वत के समान सुदृढ़ और अचल, आंधी और तूफान की तो औकात ही क्या, जिसे भूचाल भी अपने स्थान से विचलित न कर सके।'[2]

---

१ आभा—आचार्य चतुरसेन पृ. १२३-१२६।

२. आभा—आचार्य चतुरसेन, पृ. १२६।

प्रस्तुत उद्धरण कुछ लम्बा अवश्य हो गया है किन्तु इसका यहां प्रस्तुत करना इस कारण से आवश्यक हो गया था कि आभा के इन वाक्यों के पीछे आचार्य चतुरसेन जी के नारी विषयक सम्पूर्ण प्रमुख विचार केंद्रित हैं। आभा के उपर्युक्त कथन से सभी का सहमत होना अनिवार्य नहीं है किंतु आचार्य चतुरसेन जी के अपने यही विचार थे। इस प्रबंध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने उससे यही कहा था कि 'आभा' के अन्तिम परिच्छेद में मैंने जो नारी विषयक अपने विचार दिये हैं, उनसे भले ही कोई सहमत न हो किन्तु वे मेरे चालिस वर्ष के अनुभव के परिणाम हैं।

आध्यात्मिक विचार

आचार्य चतुरसेन के आध्यात्मिक विचार मौलिक एवं स्वतंत्र हैं। किसी मतवाद का प्रभाव न होकर उनके विचार अपने निजी अनुभव और प्रयोगों पर आधारित हैं। प्रायः आध्यात्मिक विचारों के प्रसंग में लेखकों के पिटे-पिटाए मत देखने को मिलते हैं। परन्तु आचार्य चतुरसेन जी के विचारों में ऐसी बात नहीं। वे स्वानुभूति, स्वच्छंद और मौलिक होने के कारण बड़े ही रोचक हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे।

जीवन और जगत

आचार्य चतुरसेन जी के अनुसार हर प्रकार की कठिनाई और दुर्गमता के विरुद्ध घोर संघर्ष का नाम ही सच्चा जीवन है।'[१] उन्होंने मानव जीवन को कभी भी मिथ्या नहीं माना। उन्होंने एक स्थान पर इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है, 'लोग कहते हैं कि जीवन स्वप्न है। मैं कहता हूँ, यदि पृथ्वी पर कुछ सत्य है तो जीवन ही है। आत्मा से मेरा परिचय नहीं। चिकित्सक होने के नाते मैंने अनगिनत प्राणियों की मृत्यु होते देखी है। देखी ही नहीं, अनुभूति की है—इससे मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूं, कि मृत्यु और जन्म दोनों ही विशुद्ध दैहिक घटनाएँ हैं, तथा दोनों में कोई तारतम्य नहीं है, इसलिये मेरा यह दृढ़ विश्वास है, कि जन्म भौतिक तत्वों के संयोग से जिसमें किसी विधाता या कर्ता का हाथ नहीं—होता है, तथा मृत्यु भी उसी प्रकार भौतिक तत्वों के विघटन से होती है। एवं मृत्यु के बाद कोई अविनश्वर सत्व, आत्मा, जीव या और कुछ शेष नहीं रह जाता। मृत्यु होते ही व्यक्ति का अस्तित्व कतई खत्म हो जाता है। इसलिए जीवन का मूल्य बहुत है इसकी यत्न से रक्षा

१. बगुला के पंख, आचार्य चतुरसेन, पृ. १२४।

करना, अधिक-से-अधिक इसे सुखी और सम्पन्न बनाना मनुष्य का सर्वोपरि बुद्धिमत्ता पूर्ण कर्तव्य है।'[1]

पाप और पुण्य

आचार्य चतुरसेन जी के विचार से 'दुनिया मे यदि कही पाप है तो वह मनुष्य के मस्तिष्क मे है। जिस दिन ससार से मनुष्य का मस्तिष्क नष्ट कर दिया जाएगा, पाप नष्ट हो जायगा। वास्तव मे मनुष्य के मस्तिष्क मे ज्ञान है इसी से पाप भी वहां है। ज्ञान और पाप का साथ है।'[2] इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी पाप की भावना को आध्यात्मिक नही सामाजिक मानते थे। उनका विश्वास था कि पाप अपराध है, तो पुण्य कर्तव्य। पाप की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है 'पाप वह है जिसमे सामाजिक मर्यादा और अनुशासन नही है।'[3]

पाप-पुण्य की समस्या पर आचार्य चतुरसेन जी ने अपने 'मोती' नामक उपन्यास मे काफी विस्तार से विचार किया है। मोती अपने मित्रों के एक प्रश्न करने पर अपराध और पाप का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहता है।

अपराध कानून की दृष्टि से न करने योग्य कार्य है जिन्हें मनुष्यो ने अपनी सुविधा और व्यवस्था के लिए बना लिया है और आवश्यकतानुसार बनाते-बदलते रहते हैं।'

'और पाप'।

'पाप तो वे दुष्कर्म हैं जिनकी सजा आपका कल्पित परमेश्वर देता है, वह भी सम्भवत. उस जन्म मे, या जन्मातरो मे।'

'और आप पुण्य को क्या कह कर पुकारते हैं।

'आप जिन्हे लगभग पुण्य कहते हैं, मैं उन्हें कर्तव्य कहता हूं। और उनका कोई अच्छा-बुरा फल मनुष्य को नही भोगना पडता जैसा कि आपका झूठा ख्याल है।'[4]

आचार्य चतुरसेन जी भी मोती की भांति पुण्य और कर्तव्य को एक ही वस्तु मानते थे। वे पाप और पुण्य को शुद्ध सामाजिक भावना मानते थे, आध्यात्मिक नही।

---

१. आचार्य चतुरसेन, त्रैमासिक निदाघ २०१२ प्रथम अक।
२. जीवन के दस भेद, आचार्य चतुरसेन, पृष्ठ २६।
३. जीवन के दस भेद, आचार्य चतुरसेन, पृ. २६।
४. मोती, आचार्य चतुरसेन, पृ. ५७-५९।

ईश्वर

आचार्य चतुरसेन जी अनीश्वरवादी हो गए थे। प्रारम्भ में ईश्वर के प्रति उनकी आस्था अवश्य थी किंतु ज्यों-ज्यों वे ईश्वर के नाम पर व्याप्त मायाचार को देखते गए, उनकी आस्था टूटती गई। अन्त में तो उन्होंने 'ईश्वर' को घिसे पैसे के नाम से सम्बोधित करना आरम्भ कर दिया था।[१] उनके बाल सखा डा० युद्धवीरसिंह का कथन है' कई मित्रों का ख्याल है कि यह ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, मगर मेरा अनुभव इसके विपरीत है। वह ईश्वर की खुशामद करने में विश्वास नहीं रखते थे, मगर एक न्यायकारी, सर्वव्यापक परमेश्वर में उनका विश्वास था और अन्त समय तक था।'[२] सम्भव है डा० साहब के कथनानुसार आचार्य चतुरसेन जी अन्त समय तक ईश्वर में विश्वास करते रहे हों किन्तु मुझसे उनकी जो ईश्वर विषयक वार्ता हुई थी, उसमें उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को एकदम अस्वीकार कर दिया था। हाँ, उन्होंने यह अवश्य कहा था कि 'कांकरोली के पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री ब्रजभूषणलाल जी महाराज के संसर्ग सान्निध्य के प्रभाव से मेरी अन्तरात्मा में कभी-कभी आस्तिक्य भाव की ऐसी वेगवती धारा बहती रही है, कि वह सब तर्कों और विवेचनाओं को बहा ले जाती है। 'सोमनाथ' की रचना इसी वेगवती धारा के प्रवाह का परिणाम है। 'सोमनाथ' में आचार्य चतुरसेन जी कुछ समय के लिए ईश्वरवाद की ओर आकर्षित होते अवश्य दीख पड़ते हैं किंतु शीघ्र ही उनका यह ईश्वरवाद, मानवतावाद की ओर उन्मुख हो गया है।'[३] गंग सर्वज्ञ के मुख से जैसे वह स्वयं बोल रहे हों 'देव तो भावना के देव हैं। साधारण पत्थर में जब कोटि-कोटि जन श्रद्धा, भक्ति और चैतन्य सत्ता आरोपित करते हैं तो वह जाग्रत देव बनता है। वह एकदेव कोटि-कोटि जनों की जीवनी-सत्ता का केंद्र है। कोटि-कोटि जनों की शक्ति का पुंज है। कोटि-कोटि जनों की समष्टि है। इसी से, कोटि-कोटि जन उससे रक्षित हैं। परन्तु देव को समर्थ करने के लिए उसमें प्राण प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। वह कोरे मन्त्रों द्वारा नहीं, यथार्थ में। यदि देव के प्रति सब जन, अपनी सत्ता, सामर्थ्य और शक्ति समर्पित करें, तो सत्ता, शक्ति और सामर्थ्य का वह संगठित रूप देव का विराट

---

१. मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन, पृ ४५।

२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ मार्च १९६०, मेरे पुराने मित्र, डा० युद्धवीरसिंह, पृ. ३३।

३. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३२-३३।

पुरुष के रूप में उदय करता है। वास्तव मे भक्त की सामर्थ्य वा समष्टि रूप ही देव की सामर्थ्य है।'[१] अन्त मे मानवतावाद की ओर इंगित करते हुए उनका कथन है 'मनुष्य का जो व्यक्ति रूप है वह तो बिखरा हुआ है, उसमे सामर्थ्य एव कण है। अब, जब मनुष्य का समाज एकीभूत होकर अपनी सामर्थ्य को सगठित कर लेता है, और वह उसका उपयोग स्वार्थ मे नही, प्रत्युत कर्तव्य पालन मे लगाता है, तो यह सामर्थ्य समष्टि मनुष्य की सामर्थ्य होने पर भी देवता की सामर्थ्य हो जाती है।'[२] इससे स्पष्ट है कि मानव मात्र के सगठन के लिए उन्होने ईश्वर की कल्पना को महत्वपूर्ण बतलाया है।

वास्तव मे वे मानव-पूजा को ही ईश्वर की सच्ची पूजा मानते थे। इसीलिये वे विश्व के मनुष्यो को एक ही सर्वभौम जाति चाहते थे।'[३] उनके उपन्यास 'खग्रास' मे उनका ईश्वर सबधी एव उनका मानवतावादी दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है। उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए हम यहां एक उद्धरण दे रहे है।

वैज्ञानिक की पुत्री प्रतिभा अपने पिता के विषय मे तिवारी के प्रश्न करने पर कहती है 'जहां विज्ञान साक्षात मानव की सेवा करने को उपस्थित है, वहां मानव सेवा क्यो करे। यह तो ससार की मूढता है कि उसने मानव को ही इतना हीन बना रखा है कि वह मानव की ही सेवा करते-करते मर मिटता है। भला मानव मानव मे अतर क्या है।

'क्यो। अन्तर तो बहुत है। कोई मूर्ख है, कोई विद्वान, कोई धनी है, कोई निर्धन, कोई बलवान् है, कोई निर्बल। फिर सब समान कैसे ?'

'केवल मानव होने के नाते। प्रत्येक मानव एक ही श्रेणी का है। वह देवता के समान पूजा जाने योग्य है। मानव दुनिया की सबसे बडी इकाई है। उससे बडा विश्व मे और कोई नही है।'

'क्या भगवान् भी नही ?'

'आपका यह कहना आपका दोष नही है। चिरकाल से मनुष्य अपनी सत्ता से बेखबर और मूढ रहा है और उसने अनुमान को प्रमाण करके अपने को छोटा बनाया है।'

---

१ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. ३२-३३।
२ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ ३३।
३. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १६३।

'अनुमान को प्रमाण कैसे ?'

'भगवान एक पुराना अनुमान ही है जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है।'

'तो आप नास्तिक भी हैं ?'

'क्या विज्ञान का विद्यार्थी नास्तिक हो सकता है ? जो एक परमाणु में निहित कोटि कोटि ब्रह्माण्डों के अस्तित्व को भी जानता मानता है।'

'परन्तु वह भगवान् को नहीं मानता ?'

'कैसे मान सकता है जब कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। हजारों वर्ष तक कोटि-कोटि मानवों ने अनुमान को प्रमाण माना, अब वह अपने को जान गया है। वह स्वयं विज्ञान का अधिष्ठाता और ब्रह्माण्ड का स्वामी है, उससे महान् कोई नहीं है।

'एक चोर, जुआरी, कामी, कलंकी, पापी, अपराधी, हत्यारा भी तो मानव है, वह भी क्या देवता के समान पूज्य है ?'

'है नहीं तो क्या ? केवल मानव होने के नाते वह पूज्य है। उसमें जो ये कलुष हैं, सो उसके नहीं, ऊपर से आये हुए हैं, जैसे माँ अबोध बालक को जो अज्ञान के कारण मलमूत्र में लथपथ हो जाता है, धो पोंछकर स्नेह से छाती का दूध पिलाती है, वैसे ही विज्ञजन मानव के सब कलुष दूर करके उन्हें पवित्र और महान् बनाकर देवता बना सकते हैं।'

'एक आदमी यदि स्वभाव से ही अपराधी प्रकृति का हो, उसका सुधार कैसे हो सकता है ?'

'अब तक उसके सुधार के उपाय किए किसने हैं ? न्याय के नाम पर या तो ऐसे अपराधियों को कत्ल कर डाला गया या जेल में ठूँस दिया गया। परन्तु अब देर तक ऐसा न होने पायेगा। विज्ञान अपराध को रोग कहता है। और उसका कहना है कि अब अपराधियों के लिए जेल के स्थान में अस्पताल बनाये जाने चाहिये।'

'आप समझती हैं संसार का प्रत्येक मनुष्य असाधारण सत्व बन सकता है ?'

'वह तो जन्मतः ही असाधारण सत्व है। वह दुनिया की सबसे बड़ी इकाई है।'

'इसी से आप और पापा किसी मानव से सेवा नहीं ले सकते हैं।'

'पापा ने तो मानव की पूजा का प्रन लिया है। वे सब कुछ मानव हित के लिए, मानव को अभय करने के लिए करते हैं। वे मानव से सेवा कैसे ले सकते हैं ?'[1]

---

१ खग्रास, आचार्य चतुरसेन, पृ. २८६-२८८।

अन्त मे आचार्य चतुरसेन जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि ईश्वर एक कल्पना है बहुत पुरानी, केवल श्रद्धा पर आधारित। कोरा अनुमान। मनुष्य की बुद्धि जीवन का रहस्य नही सुलझा सकती। हम अपने जन्म से पहले नही जा सकते। मृत्यु के आगे भी हम कुछ नही देख सकते। हम इतना ही ठीक-ठीक जानते है कि हमारा मनुष्य समाज है। जिसमे असख्य नर नारी बालक, बृद्ध भरे है। वे सब सुखी रह सम्पन्न रहे। हमारे देवता वे लोग हैं जिन्होंने मनुष्यो को सुखी करने, समृद्ध करने मे अपने को खपा दिया है। जिन्होंने जगल काटे, पृथ्वी को जोता, बोया। नागरिकता का विकास किया। ईश्वर के लोभ मे पडकर भटकने से हमे कोई लाभ नही। प्रकृति की सीमा को लाघ नही सकते। हम अपने सभी कर्तव्य यही मनुष्यो के बीच पालन करने हैं। हमे प्रेम करना सीखना चाहिए। इससे हम साहसी और सुखी होगे। यदि हम अपने हृदय मे भलाई और मस्तिष्क में सचाई भरलें, तो हम सारी मानव सतति को सुख शान्ति और समृद्धि की ओर ले जा सकते हैं। जो दुनिया का सबसे बडा पुण्य कर्म है।[1]

स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी ईश्वर पूजा के स्थान पर मानव पूजा को अधिक महत्व देते हैं।

धर्म

आचार्य चतुरसेन जी की कभी भी परम्परागत धर्म पर आस्था नही टिक सकी। वे धर्म के कर्मकाडो आडम्बरो पर कभी भी विश्वास न ला सके। उनका विश्वास था कि इस धर्म ने हजारो वर्ष से मनुष्य जाति को नाकों चने चबवाए है। करोडो नर-नाहरो का गर्म रक्त इसने पिया है, हजारो फूल बालाओ को इसने निर्दया भस्म किया है, असख्य पुरुषो को इसने जिंदा मुर्दा बना दिया है।[2] वास्तव म उनके विचार से धर्म दुनियाँ का सबसे बडा झूठ है। यह कोरे मिथ्यावाद पर आधारित है। जादू टोना, दैवी-शक्तियाँ, मत्र-तत्र चमत्कार, स्वप्न, भविष्यवाणियाँ और प्रकृति से परे की शक्तियो, पर विश्वास धर्म का स्थूल और मुख्य रूप है। धर्म का यह माया महल अध विश्वास पर खडा किया गया है, उसकी दीवारें अधी श्रद्धा से बनी हैं। उसकी छत है ही नही। यह 'धर्म' अज्ञान पुत्र है और दुनियाँ के मनुष्यो को गुमराह करके उन्हें दुख दर्द

१. मौत के पजे मे जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन, पृ ५९-६०।
२ धर्म के नाम पर आचार्य चतुरसेन, पृ ५।

सराबी इसकी नीति है।[1]

पहुचाना उसका पेशा है। संघर्ष, घृणा और खून
ऐसे धर्म पर भला आचार्य चतुरसेन जी कैसे विश्वास कर सकते थे। वास्तव मे इस कर्मकांडी धर्म के पाखंडो एव आडम्बरो ने ही उन्हे अनीश्वरवादी बना दिया था। इस 'धर्म को उन्होंने 'धोबी का कुत्ता माना था।[2] इस धर्म के पाखंडो एव षड्यन्त्रो की बखिया उधेड़ने के लिए ही उन्होंने अपनी युवावस्था म अपनी 'धर्म के नाम पर' पुस्तक जलते हुए शब्दो मे लिखी थी। उन्होंने धर्म के आडम्बरो को कभी भी ईश्वरेच्छा अथवा कर्मफल मानकर सहन नही किया। उनका भी लेनिन की भांति विश्वास था वर्तमान पूंजीवादी देशो मे धर्म की भित्ति प्रमुख रूप से सामाजिक है। वर्तमान धर्म की जड़ें श्रमिक जनता के ऊपर सामाजिक अत्याचार मे पूंजीवादी अपशक्तियो के सामने उनकी खुली हुई बेकसी मे, जिनकी वजह से हर दिन, हर घड़ी, साधारण मजदूरी पेशा लोगो को युद्ध अथवा भूडोल जैसी विशेष घटनाओ से कई हजार गुना भयकर कष्ट और पीड़ा होती है, गड़ी हुई हैं। डर ने देवता को जन्म दिया। पूंजीवादी अधी शक्तियो का डर ही, अधी इसलिये कि उनकी करनी जनता पहले से ही नही देख सकती एक ऐसी शक्ति का जो कि जिंदगी में हर कदम पर मजदूरो और छोटे मोटे व्यापारियो को उस आकस्मिक' 'अप्रत्याशित' 'अलक्षित' बरबादी और नाश से डराया करती है, जिसके फलस्वरूप भिखमगी, दरिद्रता, वेश्यागामिता और भुखमरी का प्रकोप है।

आचार्य चतुरसेन जी ने स्वय भी इस धर्म को समाज के लिए अत्यन्त भयकर माना है। अपने साहित्य में उन्होंने कितने ही स्थानो पर इस धर्म का खडन किया है। 'सोमनाथ' मे उन्होंने देव स्वामी अथवा फतह मुहम्मद के मुख से कहला ही दिया है धर्म प्यारी शोभना, वह धर्म जिसने तुम जैसी कुसुम कोमल कमल धवल रमणी रत्न को वैधव्य के दुर्भाग्य से बाँध रखा है, और मेरे उछलते हृदय को लातो से दलित किया है अब उस धर्म की तुम अभी तक दुहाई देती हो।[3]

देव स्वामी और शोभना, रुद्रभद्र एव कृष्ण स्वामी के चरित्रो को सामने रखकर उन्होंने इन धार्मिक ढकोसलो पर ही गहरी चोट की है। उनकी दृष्टि मे धर्म का कोई रूप नही है।' वास्तव मे वे 'धर्म को तो केवल एक परिस्थिति'

---

१ सोना और खून, आचार्य चतुरसेन, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ११६, साथ ही देखिये उदयास्त, आचार्य चतुरसेन, पृ १०० से १०२ तक।

२. मौत के पजे मे जिन्दगी की कराह, पृ

३. सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ. २८१।

मात्र ही मानते हैं।"[1] उनके विचार से 'धर्म' वह कार्य है, जिसके करने से लोकहित हो, और किसी भी प्राणी को कष्ट न हो।[2] अन्त में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है 'जिससे सार्वजनिक लाभ हो, वही धर्म है, जिससे मनुष्य के प्रति मनुष्य उत्तरदायी हो, वही धर्म है। प्राणी मात्र के लिए कर्तव्य का ज्ञान ही धर्म है। धर्म वही है, जिसके द्वारा मनुष्य अधिक से अधिक लोकोपकार कर सके। धर्म वह है, जिससे हृदय और मस्तिष्क का पूरा विकास हो। दया धर्म है, प्रेम धर्म है, सहनशीलता धर्म है। उदारता धर्म है, सहायता धर्म है, उत्साह धर्म है, त्याग धर्म है। मैं चाहता हूँ, कि आज भारत के सभी नर नारी इसी नवीन धर्म को हृदयगम करें, जिससे उनकी दिमागी गुलामी दूर हो, उनके हृदय और मस्तिष्क कमल की भांति खिल जायें। धर्म वह है, जो स्वाधीनता, प्रकाश और जीवन दे। धर्म वह है, जो जातियों को सगठित करे, प्राणियों को निर्भय करे, जीवन को सुखी करें। धर्म जीवन की आवश्यकता की वस्तु है।[3] वर्तमान समाज और उसकी आवश्यकता का अध्ययन करके ही वास्तविक धर्म के स्वरूप का निर्माण हो सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी का धर्म, मानवता का धर्म है, जो मूलत प्रेम पर आधारित है, किन्तु यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि प्राय बहुत समय तक चलने वाले सभी धर्म इसी प्रकार मानवतावादी भावना को लेकर चलते हैं। परन्तु उसके अनुयायी आगे चलकर उसमे अधविश्वास और आडम्बर आदि समाविष्ट कर देते हैं। सच्चे मानवतावादी धर्म का विकास केवल कथनो से नही हो सकता। वरन् उसके लिए विभिन्न धर्मों के तत्वो एव इतिहासो का मन्थन करके यह समझना होगा कि प्रेम, दया, उदारता, उपकार, सहनशीलता आदि क्या है। क्योकि कठिनाई तब उपस्थित होती है, जब जीवन मे व्यक्ति उनका व्यवहार करने लगता है। इन सब गुणो के प्रारभ मे मनुष्य सच्चा रह सके यह कठिन बात है। शनै शनै उनका पालन दिखावे के लिए होने लगता है और यही हमे एक सर्वन्तर्यामी शक्ति पर विश्वास करना होता है। जो कि प्रत्येक व्यक्ति की सच्चाई देख सके। अतएव आचार्य चतुरसेन जी का यह मानवता धर्म सर्वव्यापी ईश्वर की आस्था के बिना अपूर्ण और अधूरा ही रहेगा।

---

१. जीवन के दस भेद, आचार्य चतुरसेन, पृ ८५
२ आत्मदाह, आचार्य चतुरसेन, पृ. ११६-११७
३. मौत के पजे मे जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन, पृ. ४८

सहायक ग्रन्थ (हिंदी)

१ आचार्य चतुरसेन जी की वे समस्त प्राप्त रचनायें, जिनका कि परिचय अध्याय २ मे दिया जा चुका है।

२ अमिता—यशपाल

३ आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज उपाध्याय

४ आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

५. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

६ उपन्यास कला—श्री विनोद शंकर व्यास

७. उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा—डा० शशिभूषण सिंहल

८. उपन्यास सिद्धांत—श्री श्याम जोशी

९. उखड़े हुए लोग—राजेंद्र यादव

१०. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार—डा० गोपीनाथ तिवारी

११. ऐतिहासिक उपन्यासकार वर्मा जी—डा० शशिभूषण सिंहल

१२. औरंगजेब नामा—अनुवादक राय मुंशी देवी प्रसाद जी

१३. कहानी का रचना विधान—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

१४. कचनार—डा० वृन्दावन लाल वर्मा

१५. कंकाल—श्री जयशंकर प्रसाद

१६. काव्य शास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र

१७. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय

१८. काले फूलो का पौधा—डा० लक्ष्मीनारायण लाल

१९. गर्जन—भगवतशरण उपाध्याय

२०. गोरा—रवीन्द्र नाथ ठाकुर

२१. घर बाहर—रवीन्द्र नाथ ठाकुर

२२. चित्रलेखा—भगवती चरण वर्मा,

२३ जय सोमनाथ—श्री के० एम० मुंशी अनुवादक 'कमलेश'
२४ झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—ड० वृन्दावन लाल वर्मा
२५ तुलसी ग्रन्थावली—तीसरा खंड सम्पादक प० रामचद्र शुक्ल
२६ तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त
२७ तुलसी दर्शन—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र
२८ दिव्या—यशपाल
२९ नया साहित्य नये प्रश्न—आचार्य नददुलारे वाजपेयी
३० नया साहित्य-एक दृष्टि—श्री प्रकाश चद्र गुप्त
३१ नदी के द्वीप—अज्ञेय
३२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
३३ प्रेत और छाया—इलाचद जोशी
३४ प्रेमचन्द-एक अध्ययन—डा० राजेश्वर गुरु
३५ प्रेमचन्द की कहानियों का विश्लेषण—चन्दूलाल दुबे
३६ भगवान परशुराम—श्री के० एम० मुंशी
३७ भारतवर्ष का इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद
३८ भारत का मुगल इतिहास—कृपालसिंह नारग
३९ भारत में अँग्रेजी राज्य—प० सुन्दरलाल तीसरी जिल्द
४० भुवन विक्रम—डा०वृन्दावनलाल वर्मा
४१ महाराज छत्रसाल बुंदेला—डा० भगवानदास गुप्त
४२ मेघनाद वध-माइकेल मधुसूदन दत्त अनुवादक 'मधुप'
४३ मैं इनसे मिला—डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश
४४ मुर्दों का टीला—डा० रांगेय राघव
४५ मृगनयनी—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
४६ रामचरितमानस—तुलसीदास
४७ बाणभट्ट की आत्मकथा—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४८ वोल्गा से गंगा—राहुल
४९ वैदिक साहित्य और संस्कृति—डा० बलदेव उपाध्याय
विचार और विश्लेषण—डा० नगेंद्र
५१ विराटा की पद्मिनी—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
५२ [illegible]रा—भगवतशरण उपाध्याय
५३ स[illegible]पा के सिद्धान्त—डा० सत्येन्द्र
५४ संघर्ष—भगवत शरण उपाध्याय

५५. सस्कृति के चार अध्याय—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'
५६ साहित्य का साथी—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
५७ साहित्यालोचन—डा० श्यामसुन्दर दास
५८ साहित्य परिचय—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
५९. साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र
६० साकेत—मैथिली शरण गुप्त
६१ सिद्धात और अध्ययन—बाबू गुलाबराय
६२ शिक्षा मनोविज्ञान की रूप रेखा—विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी
६३ शेखर एक जीवन—अज्ञेय
६४ हिंदी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव
६५. हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
६६. हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास—प० रामबहोरी शुक्ल एव डा० भगीरथ मिश्र
६७ हिंदी कहानियो की शिल्प विधि का विकास—डा० लक्ष्मीनारायण लाल
६८ हिंदी उपन्यास मे कथा शिल्प का विकास—डा० प्रतापनारायण टंडन
६९. हिंदी साहित्य द्वितीय खंड—डा० धीरेन्द्र वर्मा एव ब्रजेश्वर वर्मा
७०. हिंदी काव्य मे प्रकृति चित्रण—डा० किरण कुमारी गुप्ता
७१. हिंदी का सामयिक साहित्य—प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
७२. हिंदी की कहानियाँ—सम्पादक डा० श्रीकृष्णलाल
७३. हिंदू सभ्यता—डा० राधाकुमुद मुकर्जी अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
७४. हिंदी उपन्यासो मे यथार्थवाद—डा० त्रिभुवनसिंह

सहायक (पत्र-पत्रिकाएँ)

१. आजकल मासिक दिल्ली
२. आलोचना त्रैमासिक दिल्ली
३/ चाद मासिक 'मारवाडी अक' एवं 'फासी अक'
४, चतुरंग त्रैमासिक दिल्ली
५. बुद्धिप्रकाश जुलाई सितम्बर १९३५
६. धर्मयुग साप्ताहिक बम्बई
७. साहित्य संदेश मासिक : ग्रा

८ सुप्रभात मासिक कलकत्ता

९ साप्ताहिक हिन्दुस्तान दिल्ली

१० सजीवन मासिक दिल्ली

११ समालोचना मासिक आगरा

१२ सारथी

सहायक ग्रन्थ (संस्कृत)

आध्यात्म रामायण

वाल्मीकि रामायण

तैत्तिरीय उपनिषद्

सहायक ग्रन्थ (अँग्रेजी)

दि स्टडी आफ लिट्रेचर

डिक्शनरी आफ पाली प्रोपर नेम्स

थेरी गाथा अंग्रेजी अनुवाद

एज्यूकेशनल साइकालोजी रास

ए हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिट्रेचर एमिली लिग्वे एंड लुई कैजामिया

टाक्स आन राइटिंग आफ इंगलिश सिरीज २ आर्लोबिट्स

ऐन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इंडिया पार्ट II आर० सी० मजूमदार एवं एच० सी० रायन दी मुगल एम्पायर इन इंडिया पार्ट II

ऐस्पेक्ट्स आफ दि नोवेल ई० एम० फोरेस्टर

ऐस्पेक्ट्स आफ दि नावेल ई० एम० फारेस्टर

यूसेज आफ हिस्ट्री

रीसेन्ट पोलीटिकल थॉट पी० डब्लू कुकर

कार्ल मार्क्स सेलेक्टेड वर्क्स वोल्यूम १

दि डेवलपमेन्ट आफ इंग्लिश नावेल

भे
मं
मु
मृ
रा
वा
वोल्गा
वैदिक सं
विचार अ
विराटा
रा—
सा के सिद्धान्त—डा० सत्येन्द्र
उपाध्याय
डा० पू०
संघर्ष -भगवत शरण उपाध्याय